वाचकवर श्री उमास्वाति महाराज विरचित

श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

(हिन्दी विवेचन सहित)

।। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्ग :।।

वाचकवर श्री उमास्वाति महाराज विरचित

श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

(हिन्दी विवेचन सहित)

✲ विवेचनकार ✲

सिद्धांत महोदधि परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
प्रेमसूरीश्वरजी महाराज साहेब के पट्टधर
पूज्य आचार्य श्री **हीरसूरीश्वरजी** महाराजा के शिष्य
पूज्य आचार्य श्री **ललितशेखरसूरीश्वरजी** महाराजा के शिष्य
पूज्य आचार्य श्री **राजशेखरसूरीश्वरजी** महाराज

✲ संशोधक ✲

पंडित **श्री पुखराजजी अमीचंदजी कोठारी**

✲ हिन्दी अनुवाद प्रेरक ✲

तपागच्छाधिपति परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रामसूरीश्वरजी महाराजा (डहेलावाले) के शिष्यरत्न
आचार्य भगवंत श्री विजय **जगच्चंद्रसूरीश्वरजी महाराज** (डहेलावाले)

✲ संपादक ✲

मुनि श्री **नयज्ञविजयजी** म.सा.

✲ अनुवादक ✲

मुनि श्री **गोयमचंद्रविजयजी** म.सा.

✲ प्रकाशक ✲

श्रीमद् यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला

एवं

श्री जैन श्रेयस्कर मंडल

आवृत्ति : प्रथम (हिन्दी)
प्रकाशन वर्ष: ई.सं. 2018 **वि.सं.** 2075 **वी.सं.** 2545
प्रति : 2000
पृष्ठ : 326
मूल्य : 225/-
© सर्व अधिकार प्रकाशक के पास सुरक्षित

प्राप्तिस्थान : **श्रीमद् यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला**
एवं श्री जैन श्रेयस्कर मंडल
स्टेशन रोड, मेहसाणा- 384001 (उत्तर गुजरात)

आचार्य सुरेन्द्रसूरीश्वरजी जैन तत्त्वज्ञानशाला
12, श्रेयांसनाथ सोसायटी, धरणीधर देरासर के पीछे
गोदावरी रोड, वासणा, अहमदाबाद-387007
टेलीफोन : 079-26606367

आचार्य सुरेन्द्रसूरीश्वरजी जैन तत्त्वज्ञानशाला
ए-103/104, वासुदर्शन रेसीडेन्सी
ओमकारसूरि आराधना भवन के पास
आर.टी.ओ की गली में, पाल-सुरत-395010

टाईप सेटींग : फर्स्टलुक, चेन्नई, अमितभाई मो. 95975 11135
मुद्रक : पारस प्रिन्ट्स, मुंबई, निलेश पारेख मो. 99691 76432

विवेचक का विवेचन

(गुजराती आवृत्ति से उद्धृत)

प्रस्तुत विवेचन में तत्त्वार्थ–भाष्य के अधिकतर पदार्थों का स्पष्टीकरण किया है। मेरी दृष्टि से भाष्य के जो पदार्थ प्राथमिक या मध्यम कक्षा के अभ्यासु के लिए कठिन महसूस हुए और उन पदार्थों को विवेचन में न लेने पर भी सूत्र के विषय को समझने में कोई बाधा प्रतीत नहीं हुई, वैसे पदार्थ इस विवेचन में नहीं लिए हैं। उनके अलावा भाष्य के प्राय: सभी पदार्थों का मेरी शक्ति अनुसार स्पष्टीकरण किया है। और विशेष स्पष्टता के लिए भाष्य में न हो ऐसे भी पदार्थ कर्मग्रंथ, विशेषावश्यक भाष्य आदि के आधार से यहाँ लिए हैं।

कृतज्ञताभाव

जब में एक ओर मेरी शक्ति का विचार करता हूँ और दूसरी ओर इस ग्रंथ को देखता हूँ तब मेरे सामने – मैं यह कैसे कर सका? – यह प्रश्नार्थ चिह्न उपस्थित होता है किन्तु मेरे वडीलों की कृपादृष्टि का स्मरण होते ही यह प्रश्नार्थचिह्न अलोप हो जाता है। स्व. त्रिशताधिक मुनिगण के नेता परमाराध्यपाद प. पू. परम गुरुदेव आचार्यदेवेश श्रीमद् विजय **प्रेमसूरीश्वरजी महाराज** तथा परम गीतार्थ प. पू. गुरुदेव आचार्यदेव श्रीमद् विजय **हीरसूरीश्वरजी महाराज** की कृपादृष्टि के बिना ऐसा सर्जन मेरे द्वारा नहीं हो सकता, मेरा अंत:करण ऐसी साक्षी देता है। तथा प. पू. परार्थपरायण गणिवर्य (बाद में आचार्य) गुरुदेव श्री **ललितशेखर विजय महाराज** से प्राप्त हुए साद्यंत सहकार के बल पर ही मैं इस ग्रंथ का संपादनकार्य सुखपूर्वक कर सका हूँ। इस वक्त मैं उन तीनों वडीलपूज्यों को नतमस्तक होकर भावपूर्ण अंजलि सपर्पित करता हूँ। कभी किसी पदार्थ में संशय होता तब तत्त्वार्थ तथा उसके संबंधी प्राचीन–अर्वाचीन, प्राकृत – संस्कृत, हिन्दी–गुजराती ग्रंथ सहायक बने हैं अत: मूल ग्रंथ के प्रणेता महापुरुष और उसके संपादक आदि के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करना मेरे लिये अनिवार्य हो जाता है। महेसाणा संस्था की पाठशाला के प्रधान प्राध्यापक पंडितवर्य **श्री पुखराजजी अमीचंदजी** ने, तत्त्वार्थ की विस्तृत नोट आदि का आत्मीय भाव से सावधानीपूर्वक संशोधन करने के बाद, अनेक पत्रों द्वारा प्रशंसा के पुष्पों से दिया हुआ प्रोत्साहन चिरस्मरणीय रहेगा।

– मुनि राजशेखरविजयजी

(बाद में आचार्य विजय राजशेखरसूरि)

प्रकाशकीय निवेदन

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ग्रंथ का पठन–पाठन जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चिरकाल से चला आ रहा है। अनेक गुरुभगवंत तथा अनेक पंडितों ने इस ग्रंथ के बहुत सारे पुस्तक प्रकाशित किये हैं। किन्तु मध्यम क्षयोपशम वाले विद्यार्थी समझ सके ऐसे सरल और मध्यम विवेचन वाले पुस्तक की आवश्यकता महसूस होने के कारण हमने परम पूज्य आ. **श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराज** साहेब के शिष्यरत्न परम पूज्य आ. **श्री हीरसूरीश्वरजी महाराज** साहेब के शिष्यरत्न परम पूज्य **आ. श्री ललितशेखरसूरीश्वरजी** (उस वक्त गणी) महाराज साहेब के शिष्यरत्न विद्वद्वर्य परम पूज्य **आ. श्री राजशेखरसूरीश्वरजी** (उस वक्त मुनि) महाराज साहेब को तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का विवेचन लिखने के लिए विनति की थी। उन्होंने हमारी विनति का स्वीकार करके अथाह प्रयत्न से सुंदर विवेचन तैयार कर दिया जिसका संस्था के **अध्यापक पुखराजजी अमीचंदजी** ने अक्षरश: संशोधन किया था। उस पुस्तक की लोकप्रियता के कारण आज तक अनेक आवृत्तियों की हजारों प्रति मुद्रित हो चूकी हैं।

उस विवेचन का हिन्दीभाषी जिज्ञासु भी लाभ ले सके इस हेतु से तपागच्छाधिपति आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय **रामसूरीश्वरजी महाराजा (डहेलावाले)** के शिष्यरत्न आचार्य भगवंत श्री विजय **जगच्चन्द्रसूरीश्वरजी महाराज** साहेब (डहेलावाले) ने अपने शिष्य **मुनि गोयमचंद्र विजयजी** के पास इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद तैयार करवाया है। पूज्यश्री की श्रुतभक्ति को शतश: नमन करने के साथ हम इस हिन्दी आवृत्ति का प्रकाशन कर रहे हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दीभाषी तत्त्वजिज्ञासुओं को 'तत्त्वार्धाधिगम सूत्र' का अध्ययन करने में प्रस्तुत पुस्तक अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

सुरेशभाई सी.शाह

हसमुखभाई वी.दोशी

मानद् मंत्री

श्रीमद् यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला

एवं श्री जैन श्रेयस्कर मंडल

हिंन्दी आवृत्ति के अवसर पर

पूज्य उमास्वातिजी महाराज द्वारा रचित श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र जैन श्रुत संपत्ति का अमूल्य ग्रंथरत्न है । इस ग्रंथ में जैन प्रवचन के सभी पदार्थों को क्रमबद्ध और वैज्ञानिक शैली से प्रस्तुत किया गया है । इस ग्रंथ का मनन करते हुए एक विचार प्रस्फुटित हुआ कि यदि जिज्ञासुओं को इस ग्रंथ का व्यवस्थित अध्ययन कराया जाये तो उनमें तत्त्वज्ञान की एक मजबूत आधारशिला का निर्माण हो सकता है ।

इस मनोमंथन के फलस्वरूप **'तत्त्वार्थसूत्र परिशीलन'** नाम से एक वर्षीय पाठ्यक्रम की परिकल्पना की गई । पाठ्यक्रम निर्देशक श्री **हितेश सवाणी** ने कडी मेनहत से इसे मूर्त रूप दिया । भारत के विभिन्न शहरों में 1000 से ज्यादा विद्यार्थी इस पाठ्यक्रम में सम्मिलित हुए और स्वयं अध्ययन, तत्त्वार्थ वर्ग, घरबैठे खुले पुस्तक परीक्षा (प्रति 15 दिन पर) इत्यादि आयोजनों के माध्यम से तत्त्वार्थ सूत्र का उत्साह पूर्वक अध्ययन किया । इस आयोजन की सफलता को देखकर इस पाठ्यक्रम को प्रति वर्ष आयोजित करने का निर्णय लिया गया ।

पाठ्यक्रम में पुस्तक के रूप में आचार्य **श्री राजशेखरसूरीश्वरजी म.सा.** के विवेचन को रखा गया है किंतु यह पुस्तक हिन्दी में उपलब्ध न होने के कारण हिन्दीभाषी जिज्ञासु इस पाठ्यक्रम का लाभ नहीं ले पा रहे थे । इस बाधा को दूर करने के लिए मेरे शिष्य **मुनि गोयमचंद्रविजयजी** ने इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद किया है ,जो आपके हाथ में प्रस्तुत है ।

इस अनुवाद में अनुवादक ने मूल गुजराती विवेचन में अनवधान से हुई क्षतियों का भी संमार्जन किया है और कई जगह नई टिप्पणीयाँ भी जोड़ी है । पूज्य आचार्य **श्री राजशेखरसूरीश्वरजी म.सा.** के शिष्य पंन्यास प्रवर **धर्मशेखर विजयजी** म.सा. ने संपूर्ण अनुवाद को पढकर और सुझाव देकर इस प्रकाशन में जो सहयोग दिया है वह हमेशा स्मरणीय रहेगा । हिन्दीभाषा–शुद्धि के विषय में **डॉ. ज्ञानचंद जैन** का सहयोग प्राप्त हुआ है, अत: वे भी धन्यवाद के अधिकारी हैं ।

इस ग्रंथ के अनुवाद का संशोधन, संमार्जन, संपादन **मुनि श्री नयज्ञविजयजी** ने किया है । प्रुफ चेकिंग उन्होनें ही किया है । अत: उनका परिश्रम भी धन्यवादार्ह है ।

तत्त्वार्थ सूत्र के विस्तृत और फिर भी सरल ऐसे विवेचन का हिन्दी साहित्य में जो अभाव था, उसकी पूर्ति इस प्रकाशन से हो रही है । आशा है, इस विवेचन की गुजराती आवृत्ति जितनी ही लोकप्रियता इस हिन्दी आवृत्ति को भी प्राप्त होगी ।

लि.आचार्य विजय जगच्चन्द्रसूरि

कार्तिक कृष्णा पंचमी, वि.सं. 2075
दि. 27.11.2018
वेपेरी जैन उपाश्रय, चेन्नई

प्राक्कथन

(गुजराती प्रथम आवृत्ति में से उद्धृत)

श्री तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की महत्ता-

जैन दर्शन में अनुयोग अर्थात् सूत्र का व्याख्यान करने की पद्धति बहुत ही सुंदर है। उसके चार प्रकार हैं – द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग। इन चार प्रकार के अनुयोग द्वारा उस–उस कक्षा के बाल, मध्यम या पंडित पुरुष सरलता से शासन के हार्द को पाकर साधना की दिशा में आगे बढ़कर साध्य की सिद्धि शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं।

प. पू. युगप्रधान श्री आर्यरक्षितसूरीश्वरजी म.सा. के काल तक ये चारों अनुयोग संकलित अर्थात् एकमेक जुड़े हुए थे। उन्होंने दु:षमकाल आदि के प्रभाव से अल्पबुद्धि वाले शिष्यों को व्योमोह न हो और वे जल्दी समझ सके, इस उद्देश्य से चारों अनुयोगों का पृथक्–पृथक् विभाजन किया।

इनमें छह द्रव्य और उनके गुण–पर्यायों का सुंदर और सूक्ष्मता से युक्त वर्णन जिनमें दिखता है, ऐसे सूयगडांग, समवायांग वगैरह आगम ग्रंथों में तथा सम्मतितर्क, तत्त्वार्थसूत्र, द्रव्य–गुण–पर्याय का रास, नवतत्त्व वगैरह प्रकीर्णक ग्रंथों में मुख्यतया द्रव्यानुयोग का व्याख्यान है। आचार की प्रधानता जिनमें दर्शाई गई है ऐसे आचारांग, दशवैकालिक सूत्र वगैरह आगमों में तथा तीन भाष्य, श्राद्धविधि वगैरह प्रकीर्णक ग्रंथों में चरण–करणानुयोग का व्याख्यान है। गणित का विषय जिनमें प्रधानता से निरूपित किया गया है ऐसे चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति वगैरह आगमों में और क्षेत्रसमास, बृहत्संग्रहणी, षष्ठ कर्मग्रंथ वगैरह प्रकीर्णक ग्रंथों में मुख्यतया गणितानुयोग का सुंदर व्याख्यान है। साधकों की श्रद्धा को सुदृढ़ करने के लिए पूर्व के महापुरुषों के दृष्टांत जिनमें दिए गए हैं ऐसे ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग वगैरह आगम तथा उपदेशमाला, उपदेश प्रासाद वगैरह प्रकीर्णक ग्रंथों में धर्मकथानुयोग का व्याख्यान है।

इन चार अनुयोगों में अपेक्षा से द्रव्यानुयोग सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जीवों को मोक्षप्राप्ति केवलज्ञान से होती है। केवलज्ञान शुक्लध्यान से प्रगट होता है। शुक्लध्यान द्रव्यानुयोग के चिंतन–मनन–निदिध्यासन से सुलभ होता है। यही बात पू. महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा. ने द्रव्य–गुण–पर्याय के रास की पहली ढाल की छठी गाथा में कही है। इसी प्रकार सम्मतितर्क में कहा है कि – चरणसित्तरि और करणसित्तरि में संपूर्ण आदर धारण करने वाले मुनि भी स्वशास्त्र और परशास्त्र के अभ्यास बिना निश्चय से शुद्धसार को नहीं जान सकते। श्री महोपाध्यायजी भी इसी बात को पुष्ट करते हुए कहते है कि द्रव्यानुयोग की विचारणा बिना चरण और करण का कुछ सार नहीं है। साथ–ही–साथ यह भी कहते हैं कि इस द्रव्यानुयोग में जिनका सतत् उपयोग है, ऐसे महापुरुषों को आधाकर्मादि दोष भी नहीं लगते।

ऐसी अनेक बातों का संकलन करने वाली द्रव्यानुयोग की प्रशस्ति द्रव्य–गुण–पर्याय के रास की प्रथम ढाल में मुक्तकंठ से गाई है। विशेष जिज्ञासु को प्रथम ढाल का चिंतन–मनन करना आवश्यक है।

इतनी बात से सहज ही समझ आ जाती है कि श्री जिनशासन में द्रव्यानुयोग कितने महत्त्वपूर्ण स्थान पर है। जैसे – मोक्षपुरुषार्थ के अभाव में प्रथम धर्मादि तीन पुरुषार्थ और धर्मपुरुषार्थ के अभाव में अर्थ–काम ये दो पुरुषार्थ निष्फल हैं, वैसे द्रव्यानुयोग की विचारणा बिना अंतिम तीन अनुयोग भी निष्फल हैं। वे साध्य की

सिद्धि नहीं करवा सकते, ऐसा एक अपेक्षा से अवश्य कहा जा सकता है। इसलिए आत्मार्थियों को द्रव्यानुयोग की विचारणा अत्यंत आवश्यक है।

इस सूत्र में मुख्यतया द्रव्यानुयोग की विचारणा है। तथा साथ–ही–साथ गणितानुयोग एवं चरण–करणानुयोग की भी सुंदर विचारणा की गई है। इसलिए यह सूत्र श्री जैनशासन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

दिगंबर और श्वेतांबर, दोनों संप्रदाय में प्रस्तुत सूत्र का पठन–पाठन काफी समय से चल रहा है। दिगंबर संप्रदाय में तो (कुछ सूत्रों के फेरफार के साथ) इस सूत्र को 'सर्वोपरि मुख्य आगम मोक्षशास्त्र' माना जाता है। वे इस सूत्र के कर्ता 'उमास्वाति' अथवा 'उमास्वामी' को श्री कुंदकुंदाचार्य का शिष्य मानते हैं। परंतु इस ग्रंथ के कर्ता श्री उमास्वाति दिंगबर संप्रदाय के नहीं हैं वे श्वेतांबर संप्रदाय (परंपरा) में ही हुए हैं। इसके लिए विशेष जिज्ञासु प.पू. आगमोद्धारक श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा लिखित 'तत्त्वार्थकर्तृत्वतन्मतनिर्णय:' नामक पुस्तक देखें।

श्वेतांबर संप्रदाय में भी प्रस्तुत ग्रंथ का बहुत महत्त्व है। इस ग्रंथ पर दोनों संप्रदाय के अनेक आचार्यों ने अनेक टीकाएँ एवं अनेक पंडितों ने हिन्दी–गुजराती भाषा में अनेक छोटी–बड़ी पुस्तकें प्रकाशित की है।

यह ग्रंथ मात्र 200 श्लोक से न्यून प्रमाणवाला होने पर भी इसमें जैनदर्शन के सभी मौलिक पदार्थों का संग्रह किया गया है। इसलिए ही 'उमास्वाति जैसा कोई संग्रहकार नहीं है' ऐसा श्री सिद्धहेमव्याकरण में कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्रसूरीश्वरजी म.सा. को भी कहना पड़ा और पूर्व के महापुरुषों ने भी इस ग्रंथ को 'अर्हत्प्रवचन संग्रह' कहा है।

संक्षिप्त ग्रंथ परिचय-

इस ग्रंथ के दस अध्याय हैं। प्रारंभ में प्रस्तावना रूप में 31 गाथा प्रमाण संबंधकारिका ग्रंथकार ने स्वयं ही रची है, जिनका मनन करने योग्य है। प्रथम अध्याय में सम्यक्त्व, जीवादि तत्त्व, तत्त्वविचारणा के द्वार, ज्ञान और सात नय का स्वरूप वर्णित है। द्वितीय अध्याय में जीव का लक्षण, औपशमिकादि भावों के 53 भेद, जीव के भेद, इन्द्रिय, गति, शरीर, आयुष्य आदि वर्णित हैं। तृतीय अध्याय में सात पृथ्वी, नारक जीवों की वेदना तथा आयुष्य, मनुष्य क्षेत्र का वर्णन, तिर्यंच के भेद तथा स्थिति आदि हैं। चौथे अध्याय में देवलोक, देव की ऋद्धि, जघन्य–उत्कृष्ट आयुष्य वगैरह दिखाए गए हैं । पाँचवे अध्याय में धर्मास्तिकायादि अजीव तथा द्रव्य के लक्षण का, छठें में आस्रव का, सातवें में देशविरति–सर्वविरति एवं उनके अतिचारों का, आठवें में मिथ्यात्वादि हेतु से होने वाले बंध का, नौवें में संवर तथा निर्जरा का और दसवें अध्याय में मोक्षतत्त्व का वर्णन है। उपसंहार में 32 श्लोक प्रमाण अंतिमकारिका में सिद्ध का स्वरूप आदि सुंदर रीति से वर्णित है। अन्त में ग्रंथकार की प्रशास्ति दी गई है।

इस ग्रंथ पर अनेक विद्वानों ने विस्तृत विवेचन लिखा है। इस ग्रंथ पर लिखित संस्कृत साहित्य निम्नलिखित है।

तत्त्वार्थसूत्र पर वर्तमान में लभ्य–मुद्रित संस्कृत ग्रंथ

1. स्वोपज्ञभाष्य (2200 श्लोक प्रमाण)।
2. श्री सिद्धसेनगणिकृत भाष्यानुसारिणी टीका (18202 श्लोक प्रमाण)।
3. श्री हरिभद्रसूरिकृत टीका (11000 श्लोक प्रमाण)[1] मुनिराज द्वारा रचित तत्त्वार्थटीप्पण।

[1] श्री हरिभद्रसूरिजी ने 5.5 अध्याय तक की टीका रची है। इस अधूरी टीका को श्री यशोभद्रसूरिजी ने पूर्ण की है।

4. चिरंतन नामक के मुनिराज द्वारा रचित तत्त्वार्थटीप्पण ।

5. प्रथम अध्याय पर महोपाध्याय श्री यशोविजयजी कृत भाष्यतर्कानुसारिणी टीका।

6. भाष्यतर्कानुसारिणी टीका पर श्री दर्शनसूरिजी कृत अतिविस्तृत टीका।

7. यशोविजयजी गणिकृत[1] गुजराती टबा।

8. संबंधकारिका और अंतिमकारिका पर श्री सिद्धसेनगणिकृत टीका।

9. संबंधकारिका पर श्री देवगुप्तसूरिकृत टीका।

तत्त्वार्थसूत्र पर लिखित अलभ्यग्रंथ –

(1) श्री देवगुप्तसूरिजी ने संबंधकारिका की टीका के अंत में कहा है –

इतीयं कारिकाटीका, शास्त्रटीकां चिकीर्षुणा।

संदृब्धा देवगुप्तेन, प्रीतिधर्मार्थिना सता।।

अत: उन्होंने शायद इस सूत्र पर टीका लिखी हो ।

(2) श्री मलयगिरिसूरि म. प्रज्ञापना (पन्नवणा) सूत्र की टीका में कहते हैं –

यथा च प्रमाणबाधितत्वं तथा तत्त्वार्थटीकायां भावितमिति ततोऽवधार्यम्।

इससे संभवित है कि श्री मलयगिरिसूरि म.सा. ने भी तत्त्वार्थ पर टीका लिखी हो।

(3) महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज की प्रथम अध्याय पर लिखित टीका उपलब्ध होने से संपूर्ण तत्त्वार्थ पर टीका रची होने का अनुमान हो सकता है।

दिगंबर आम्नाय में यह ग्रंथ बहुत प्रचलित है। सूत्रों के कुछ फेरफार के साथ इस ग्रंथ को वे स्वयं के संप्रदाय के उमास्वामी जी द्वारा रचित मानते हैं। उनमें भी इस ग्रंथ पर सर्वार्थसिद्धि, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, श्रुतसागरी वगैरह टीकाएँ तथा हिन्दी–गुजराती अनुवाद बहुत प्रकाशित हुए हैं।

इन ग्रंथकार ने 500 ग्रंथ रचे हैं, ऐसा कहा जाता है। उनमें से अभी तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, प्रशमरतिकरण, जंबूद्वीप समास प्रकरण, क्षेत्र समास, श्रावक प्रज्ञप्ति और पूजा प्रकरण लभ्य है।

कलकत्ता की रॉयल एशियेटिक सोसायटी द्वारा मुद्रित तत्त्वार्थभाष्य की एपेन्डीक्स डी. (पृ 44–45) में बताए गए अन्य ग्रंथों में साक्षी रूप लभ्य होने पर उमास्वाति महाराज के वचनों से उनके 500 ग्रंथ के प्रणेता की प्रसिद्धि को पुष्टि मिलती है। तदुपरांत निम्नलिखित पाठ भी उनके वचन होने की संभावना है। इन पाठों में 'वाचक' शब्द का उपयोग किया है, इसलिए ये पाठ उमास्वाति महाराज के हैं, ऐसा मानकर इन पाठों को लिखा है।

भावविजयजी रचित उत्तराध्ययनसूत्र की वृत्ति में निम्नलिखित पाठ हैं– अ. 10, श्लोक 1, पृ.244 B

उक्तं वाचकमुख्यै:–

परिभवसि किमिति लोकं जरसा परिजर्जरीकृतशरीरम्।

अचिरात्त्वमपि भविष्यसि यौवनगर्वं किमुद्वहसि।।1।।

---

① ये यशोविजयजीगणि सुप्रसिद्ध न्यायविशारद यशो. वि.म. नहीं किंतु दूसरे हैं।

शान्त्याचार्य विरचित उत्तराध्ययन सूत्र वृत्ति में निम्नलिखित पाठ हैं–

(1) अ. 2, श्लो. 13, पृ. 93 A

सम्यक्त्वज्ञानशीलानि तपश्चेतीह सिद्धये।
तेषामुपग्रहार्थाय स्मृतं चीवरधारणम्।।1।।
जटी कूर्ची शिखी मुण्डी चीवरी नग्न एव च।
तप्यन्नपि तप: कष्टं मौढ्याद्धि सो न सिद्ध्यति।।2।।
सम्यग्ज्ञानी दयावांस्तु ध्यानी यस्तप्यते तप:।
नग्नश्चीवरधारी वा स सिद्ध्यति महामुनि:।।3।।
इति वाचकवचनम्।

(2) अ. 2 श्लोक, 13 पृ. 95 B

उक्तं च वाचकै: –
शीलवातातपैर्दंशै–र्मशकैश्चापि खेदित:।
मा सम्यक्त्वादिषु ध्यानं न सम्यक् संविधास्यति।।1।।

(3) अ. 4, पृ. 180 A

'सूरिभिरुक्तम्'
धर्मोपकरणमेवैतत् न तु परिग्रहस्तथा।
जन्तवो बहवस्सन्ति दुर्दृशा मांसचक्षुषाम्।।
तेभ्य: स्मृतं दयार्थं तु रजोहरणधारणम्।।1।।
आसने शयने स्थाने निक्षेपे ग्रहणे तथा।
गात्रसड़कोचने चेष्टं तेन पूर्वं प्रमार्जनम्।।2।।
तथा – सन्ति सम्पातिमा: सत्त्वा: सूक्ष्माश्च व्यापिनोऽपरे।
तेषां रक्षानिमित्तं च विज्ञेया मुखवस्त्रिका।।3।।
किंच – भवन्ति जन्तवो यस्मादन्नपानेषु केषुचित्।।4।।
तस्मात्तेषां परीक्षार्थं पात्रग्रहणमिष्यते
अपरं च –
सम्यक्त्वज्ञानशीलानि तपश्चेतीह सिद्धये।
तेषामुपग्रहार्थाय स्मृतं चीवरधारणम्।।5।।
शीलवातातपैर्दंशै–र्मशकैश्चापि खेदित:।

मा सम्यक्त्वादिषु ध्यानं न सम्यक् संविधास्यति।।6।।

तस्य त्वग्रहणे यत् स्यात् क्षुद्रप्राणिविनाशनम्।

ज्ञानध्यानोपघातो वा महान् दोषस्तदैव तु।।7।।

(4) अ. 4, पृ. 191 A

आह च वाचक :– इह चेन्द्रियप्रसक्ता निधनमुपजग्मु:, तद्यथा–गार्ग्य: सत्यकिर्नैकर्द्धिगुणं प्राप्तोऽ नेकशास्त्रकुशलोऽनेकाविद्याबलसम्पन्नोऽपि।।

(5) अ. 4, पृ. 191 B

उक्तं च वाचकै:–

मङ्गलै: कौतुकैर्योगे–र्विद्यामन्त्रैस्तथोषधै:।

न शक्ता मरणात् त्रातुं सेन्द्रा देवगणा अपि।।

तीर्थकल्प में श्री जिनप्रभूसरिजीने, प्रशमरति की टीका में श्री हरिभद्रसूरिजी ने और पंचाशक की टीका में श्री अभयदेवसूरिजी ने भी श्री उमास्वाति महाराज के द्वारा 500 ग्रंथों की रचना का उल्लेख किया है।

ग्रंथकर्ता एवं उनका समय आदि –

उमास्वाति म.सा. के समय का निश्चित निर्णय नहीं है। तत्त्वार्थ भाष्य की प्रशस्ति के पाँच श्लोक, जो इस ग्रंथ के अंत में सार्थ दिए गए हैं, का अर्थ यह है – शिवश्री वाचक के प्रशिष्य और घोषनंदि क्षमण के शिष्य उच्चनागरी शाखा में हुए उमास्वाति वाचक ने तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र की रचना की। वे वाचनागुरु की अपेक्षा से क्षमणमुंडपाद के प्रशिष्य और मूलवाचकाचार्य के शिष्य थे। उनका जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था। विहार करते हुए कुसुमपुर (पाटलिपुत्र–पटना) नामक नगर में पहुँचकर यह ग्रंथ रचा। उनका गोत्र कोभीषणि और उनकी माता का गोत्र वात्सी था। उनके पिता का नाम स्वाति और माता का नाम उमा था।

उमास्वाति म.सा. कृत जंबूद्वीप समास प्रकरण के टीकाकार श्री विजयसिंहसूरि म.सा. उस टीका की आदि में कहते हैं कि उमा माता और स्वाति पिता के संबंध से उनका उमास्वाति नाम हुआ। वाचक का अर्थ पूर्वधर है क्योंकि पन्नवणा सूत्र की टीका में कहा गया है **'वाचका: पूर्वविद:'** ।

इसी प्रकार 'जैन परंपरा नो इतिहास' भाग–1 में पृ. 362 से पृ. 368 तक निम्नलिखित उल्लेख है –

कल्पसूत्र के उल्लेख से समझ सकते हैं कि आर्यदिन्नसूरि के मुख्य शिष्य आर्यशांतिश्रेणिक से उच्चनागरी शाखा निकली। इस उच्चनागरी शाखा में पूर्वज्ञान के धारक और विख्यात ऐसे वाचनाचार्य शिवश्री हुए थे। उन्हें घोषनंदि श्रमण नामक पट्टधर थे, जो पूर्वधर नहीं थे लेकिन 11 अंग के ज्ञाता थे।

पंडित उमास्वाति ने घोषनंदि के पास दीक्षा ली और 11 अंग का अध्ययन किया। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। वे पूर्व के ज्ञान को प्राप्त करने की योग्यतावाले थे। इसलिए उन्होंने गुरुआज्ञा से वाचनाचार्य श्रीमूल, जो महावाचनाचार्य श्री मुंडपादश्रमाश्रमण के पट्टधर थे, उनके पास जाकर पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में उमास्वाति उच्चनागरी शाखा के थे, ऐसा उल्लेख है। उच्चनागरी शाखा श्री महावीर परमात्मा की पाट परंपरा में हुए आर्यदिन्न के शिष्य आर्य शांतिश्रेणिक के समय में निकली है। इससे वाचकवर उमास्वातिजी विक्रम की प्रथम से चौथी शताब्दी तक हुए हो, ऐसा लगता है। इसके अलावा उनका निश्चित

समय अभी तक उपलब्ध नहीं है। उनके संबंध में बहुत लेखकों ने बहुत लिखा है। इसलिए मैं विशेष लिख सकूँ, ऐसा नहीं है, और शायद थोड़ा–बहुत लिखूँ तो भी जैन इतिहास के ज्ञाताओं के सामने 'माँ के सामने ननिहाल के गुण गाने' जैसा ही होगा।

इस पुस्तक के प्रकाशन का प्रसंग –

विक्रम संवत् 2018 में स्वर्गस्थ पंन्यासप्रवर परमपूज्य **कान्तिविजयजी म.सा.** के साथ इस पुस्तक के लेखक पूज्य (वर्तमान में आचार्य) **श्री राजशेखर वि. म.सा.** ने महेसाणा पधारकर दो मास की स्थिरता की थी। तब यहाँ से काशी के पंडितजी अलग हुए थे और भाई श्री रतिलाल तथा पूनमचंद, इन दोनों विद्यार्थियों को सिद्धहेमशब्दानुशासन बृहद्वृत्ति के अंतिम तीन अध्याय का अभ्यास बाकी था। अवशिष्ट अभ्यास उन्होंने पूज्यश्री जे पास किया । उस समय उनका सामान्य परिचय हुआ। तत्पश्चात् उन्हें और मुझे तत्त्वज्ञान का शौक होने से बार–बार प्रसंगोपात्त पत्र–व्यवहार चलता रहने से विशेष गाढ़ परिचय हुआ। वि.सं. 2023 के अहमदाबाद शांतिनगर, चौमासे में उन्होंने स्वयं के द्रव्यानुयोग विषय को विशेष दृढ़ करने के लिए तथा षड्द्रव्यादिक के जिज्ञासु विद्यार्थियों को सरलता से समझाया जा सके, इस हेतु श्री तत्त्वार्थसूत्र पर एक विवेचन तैयार किया। फिर तो सुरत जिले में उनके पू. गुरुदेवश्री की निश्रा में दो स्थल पर आयोजित शिक्षायतन (ग्रीष्मकालीन धार्मिक शिविर) में विद्यार्थियों को वह विषय समझाया गया। तत्पश्चात् वि.सं. 2026 के मुंबई दादर चार्तुमास दरम्यान उन्होंने सुबह के तत्त्वज्ञानवर्ग में आराधना भवन के आराधकों की आग्रहभरी विनति से तत्त्वार्थसूत्र विषय लिया।

अनुपयोग आदि से किसी स्थल पर अशुद्ध पदार्थ लिखा गया हो और उससे जिज्ञासुओं को अशुद्ध समझाया जाए, यह सुसंभवित है। ऐसा हो तो महादोष लगता है। इस आशय से तत्त्वार्थ के विवेचन की नोटबुक निरीक्षण करने के लिए मुझे भेजी। मैंने वह नोटबुक रतिलालभाई से पढ़वाई। उसमें कुछ स्खलनाएँ पूज्यश्री को ज्ञात कराई।

इस तरफ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का अत्यंत महत्त्व होने से जैन श्वेताबंर संप्रदाय में बहुत वर्षों से उसका पठन–पाठन तो चल ही रहा था। विशिष्ट क्षयोपशम वाले साधक टीका वगैरह से उसका ज्ञान ले सकते थे। परंतु मध्यम क्षयोपशम वाले साधकों के लिए तत्त्वार्थसूत्र के विवेचन की कोई पुस्तक मुद्रित न होने से ओर जो मुद्रित पुस्तक थे, वे भी उपलब्ध न होने से मध्यम कक्षावाले हरेक तत्त्वजिज्ञासु इस सूत्र के अभ्यास द्वारा षड्द्रव्यादिक का स्वरूप अच्छी तरह समझकर आत्मतत्त्व समझ सके, इस हेतु तत्त्वार्थसूत्र के अर्थ की पुस्तक संस्था को प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। परंतु संस्था में उस समय लिखकर तैयार कर सके ऐसे विद्वान न होने से एवं जो विद्वान थे, उन्हें भी समय का अभाव होने से प्रसंगोपात्त मैंने संस्था के कार्यवाहकों को पूज्यश्री की तत्त्वार्थ की नोटबुक संबंधी जानकारी दी और इससे हमारी संस्था के कार्यवाहकों ने पूज्यश्री को व्यवस्थित रूप से सुंदर शैली में तत्त्वार्थ का विवेचन लिखने की विनती की और उन्हें भी इस विषय का रस होने से तथा उपर कहे अनुसार उनके पास कुछ विवेचन तैयार होने से कार्यवाहकों की विनति का स्वीकारकर पूज्यश्री ने सतत अथाग परिश्रम कर पुन: इस नोटबुक का निरीक्षण कर अनेक ग्रंथों की साक्षी देने पूर्वक सरल और सुंदर भाषा में विवेचन लिखकर प्रेस कॉपी तैयार कराकर छपवाने की अनुमति दी। इससे इस पुस्तक के प्रकाशन का लाभ संस्था को प्राप्त हुआ। प्रूफ देखने का कार्य भी उन्होंने उनके गुरुदेव परम पूज्य (वर्तमान में आचार्य) श्री **ललितशेखर वि. म.** की संपूर्ण सहायता से सावधानी पूर्वक किया। प्रेस कॉपी तथा मुद्रित फर्मे भी बराबर सूक्ष्मता

पूर्वक चेककर उनकी स्खलनाएँ पूज्यश्री को ज्ञान कराकर सुधारी हैं। तथापि छद्मस्थता अथवा प्रेसदोषादि के कारण स्खलना रह गई हो तो संस्था एवं लेखकश्री को ज्ञान कराने की सुज्ञ महाशयों को मेरी विनति है।

इस पुस्तक के प्रकाशन से ग्रंथ के, मध्यम क्षयोपशम वाले अभ्यासुओं को बहुत सरलता एवं सुगमता रहेगी, ऐसी मेरी मान्यता है।

विवेचनकारश्री के विद्वत्ता आदि गुणों के विषय में यहाँ लिखने की इच्छा होने पर भी उन्होंने मुझे प्रस्तावना लिखने का कहने से पहले ही 'उसमें मेरे उत्कर्ष की बात नहीं ही आना चाहिए' ऐसा कहा होने से उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए उस विषय में कुछ लिखता नहीं हूँ।

श्री पुखराज अमीचंदजी कोठारी

श्रीमद् यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला

एवं श्री जैन श्रेयस्कर मंडल, महेसाणा (उ.गु.)

वीर संवत् – 2502

विक्रम संवत् – 2032

मागसर वद – 10

शनिवार, दि. 27-12-1975

चौदह गुणस्थानक

आत्मा का विकास कैसे होता है, उसका प्रारंभ कहाँ से होता है और अंत कब होता है, इसका स्पष्टीकरण जैनशास्त्रों में विस्तार से किया गया है। जैनशास्त्रों में प्रतिपादित गुणस्थानों को बराबर समझने से इस विषय का स्पष्ट बोध हो जाता है। आध्यात्मिक विकास के बोध के लिए गुणस्थानों की समझ अनिवार्य है। 'गुणस्थान' शब्द ही आध्यात्मिक विकास का सूचन करता है।

गुणों का स्थान, वह गुणस्थान अर्थात् आत्मा में गुणों के प्रगटीकरण से होने वाले आध्यात्मिक विकास की भूमिका। आत्मा में ज्ञानादि गुण हैं ही लेकिन आवृत= ढँके हुए हैं । ज्ञानादि गुणों पर कर्मों का आवरण है। जैसे –जैसे कर्मों का आवरण हटता है, वैसे–वैसे आत्मा के गुण प्रगट होते हैं और आत्मा विकास के पथ पर आगे बढ़ती है कर्मों से आवृत आत्मा के गुणों का प्रगटीकरण ही आध्यात्मिक विकास है। किसी भी जीव का आध्यात्मिक विकास क्रमश: होता है। इसलिए उसकी अनेक भूमिकाएँ हैं। इन भमिकाओं को जैनशास्त्रों में संक्षेप से चौदह विभागों में विभाजित किया गया है। इन्हें चौदह गुणस्थानक कहा जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं – (1) मिथ्यात्व (2) सास्वादन (3) मिश्र (4) अविरत सम्यग्दृष्टि (5) देशविरति (6) सर्वविरति प्रमत्त (7) अप्रमत्त संयत (8) अपूर्वकरण (9) अनिवृत्ति बादर संपराय (10) सूक्ष्मसंपराय (11) उपशांत मोह (12) क्षीणमोह (13) सयोगी केवली (14) अयोगी केवली।

(1) मिथ्यात्व – आत्मा के गुणों पर आठ कर्मों का आवरण है। उनमें मोहनीय कर्म का आवरण मुख्य है। मोहनीय कर्म का आवरण प्रबल हो तो शेषकर्मों का आवरण भी प्रबल होता है। मोहनीय कर्म का आवरण निर्बल होता है तो शेषकर्म भी निर्बल हो जाते हैं। मोहनीय कर्म दूर होने पर शेष कर्म भी अवश्य नष्ट होते हैं। संसार में आत्मा का परिभ्रमण मोहनीयकर्म से होता है। मोहनीय कर्म का आवरण जितना हीन होता है, उतना उत्थान = विकास होता है। मोहनीय के मुख्य दो भेद हैं – (1) दर्शनमोह और (2) चारित्रमोह। दर्शनमोह का कार्य अशुद्ध मान्यता[①] है। चारित्रमोह का कार्य (हिंसादि पाप वाली) अशुद्ध प्रवृत्ति[②] है। जब तक जीव शुद्ध मान्यता वाला नहीं होता, तब उसके विकास का प्रारंभ[③] नहीं होता। और जब तक जीव की प्रवृत्ति शुद्ध नहीं होती, तब तक विकास के पथ पर वह आगे नहीं बढ़ सकता। मान्यता शुद्ध नहीं होती तब तक एक भी गुण वास्तविक रूप से प्रगट नहीं होता। मान्यता शुद्ध तभी होती है जब दर्शनमोह मिट जाए अथवा निर्बल[④] हो। जिनका दर्शनमोह मिटा नहीं है या निर्बल नहीं हुआ है, उन जीवों की मान्यता अशुद्ध होती है। जिनकी मान्यता अशुद्ध होती है उनकी प्रवृत्ति भी अशुद्ध होती है। ऐसे जीव मिथ्यात्व[⑤] गुणस्थानक में होते हैं। मिथ्यात्व यानी अशुद्ध मान्यता।

अशुद्ध मान्यता वाले जीव दो प्रकार के होते हैं– (1) जिनका दर्शनमोह कभी भी निर्बल नहीं हुआ हो। (2) दर्शनमोह को निर्बल कर मान्यता शुद्ध कर पुन: पतित होकर अशुद्ध मान्यता वाले हो गए।

प्रश्न – जब तक मान्यता शुद्ध नहीं होती, तब तक एक भी गुण प्रगट नहीं होता तो मिथ्यात्व को गुणस्थान क्यों कहते हैं?

---

① मिथ्यात्व।

② अविरति।

③ शुद्ध मान्यता के पहले मार्गानुसारिता ,अपुनर्बंधकता, शुक्लपाक्षिकता आदि गुण प्रगट होते हैं। ये गुण शुद्ध मान्यता को प्रगट करने में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से शुद्ध मान्यता आने के पहले भी मार्गानुसारिता वगैरह गुणों से कुछ आध्यात्मिक विकास होता है लेकिन यह अति अल्प होता है। इसलिए मुख्यतया तो मान्यता शुद्ध होने के बाद ही आध्यात्मिक विकास का प्रारंभ होता है।

④ दर्शनमोह का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो।

⑤ यहाँ दर्शनमोह (या मिथ्यात्वमोहनीय) का उदय होता है।

उत्तर – मिथ्यात्व दशा में एक भी गुण वास्तविक रूप से प्रगट नहीं होने पर भी इसे दो अपेक्षा से गुणस्थानक कहते हैं–

(1) जीव की सबसे निम्न कक्षा बताने के लिए। अशुद्ध मान्यता वाले सबसे निम्न कक्षा में हैं। पहला गुणस्थान निम्नतम कक्षा है।

(2) जिन जीवों में अशुद्ध मान्यता (मिथ्यात्व) अति अल्प होने से दया, दान, परोपकार, भवोद्वेग, मोक्षभिलाष आदि प्राथमिक कक्षा के गुण हैं, उन जीवों की अपेक्षा से मिथ्यात्व दशा को गुणस्थान कहा है।

प्रश्न – इन दो अपेक्षाओं में से किस जीव को किस अपेक्षा से प्रथम गुणस्थानक होता है?

उत्तर – एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और भवाभिनंदी [1] संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को पहली अपेक्षा से प्रथम गुणस्थान होता है। अपुनर्बंधक [2] वगैरह जीवों को दूसरी अपेक्षा से प्रथम गुणस्थान होता है।

प्रश्न – कैसी मान्यता शुद्ध कही जाती है?

उत्तर – 'जिनेश्वर भगवान् ने जो कहा है, वही सत्य है' ऐसी मान्यता शुद्ध है।

प्रश्न – इसका क्या कारण?

उत्तर – जगत में सामान्य नियम है कि जिसे जिस विषय में ज्ञान नहीं होता, वह उस विषय के ज्ञाता और विश्वासपात्र का कहा हुआ मानने पर ही सफल होता है। हित–अहित के विषय में हम अज्ञानी हैं। इसलिए जो इस विषय के ज्ञाता हैं और विश्वासपात्र हैं, उनका वचन स्वीकारना चाहिए। जिनेश्वर भगवान् सर्वज्ञ होने से इस विषय में पूर्ण ज्ञानी हैं और वीतराग होने से विश्वासपात्र हैं। जिनेश्वर भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह हमारे हित के लिए ही कहा है, इसलिए 'जिनेश्वर भगवान् ने जो कहा है, वही सत्य है' ऐसी मान्यता शुद्ध है। जिसका कथन जिनेश्वर भगवान् के वचन के अनुसार न हो या उसके विपरीत हो, उसके वचन को मानना अशुद्ध मान्यता है।

प्रश्न – जिनेश्वर भगवान ने क्या कहा है?

उत्तर – (1) परलोक है। जीव स्वयं के शुभाशुभ कर्म अनुसार सुख–दु:ख का अनुभव करता है।

(2) संसार दु:खरूप है। संसार का सुख भी क्षणिक है और परिणाम में दु:खदायक ही है। इसलिए संसार में वास्तविक सुख नहीं है। [3] सच्चा सुख तो मोक्ष में ही है।

(3) मोक्ष प्राप्त करने के लिए जिनोक्त पाँच महाव्रतों [4] का स्वीकार कर त्यागमय जीवन जीना चाहिए।

जिनेश्वर भगवान् ने मुख्यतया ये तीन बिंदु कहे हैं। अन्य जो कुछ है, वह इन बिन्दुओं के अनुसार ही कहा है।

अधिकतर जीव इन तीन बिन्दुओं को नहीं मानते। कुछ जीव परलोक है, ऐसे प्रथम बिन्दु को मानते हैं, लेकिन अन्य दो बिन्दुओं को नहीं मानते। कुछ जीव प्रथम बिंदु के साथ द्वितीय बिंदु भी मानते हैं लेकिन तृतीय बिंदु को नहीं मानते। इन तीनों बिंदुओं को जो माने, वही 'जिनेश्वर भगवान ने जो कहा, वही सत्य है' ऐसी मान्यतावाला है।

प्रश्न – जिनेश्वर देव द्वारा दर्शाई गई दर्शन–पूजन आदि क्रिया करने वाले तो ऐसी मान्यता वाले ही होते हैं ना!

---

① संसार में ही आनंदित होने वाले।
② जो जीव अब कभी भी आयुष्य के अलावा सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध नहीं करेंगे।
③ इस विषय की विशेष समझ के लिए देखें सूत्र 1–1 का विवेचन।
④ पाँच महाव्रतों की समझ के लिए देखें सूत्र 7–1 आदि।

उत्तर – एकांत से ऐसा नहीं कह सकते। जिनेश्वर देव द्वारा कथित धर्मक्रिया करने वाले सभी शुद्ध मान्यता वाले हैं, ऐसा नहीं कह सकते। ऐसे जीवों में भी उपर कहे अनुसार कोई जीव पहले बिंदु को ही स्वीकारते हैं, कोई दो बिंदु ही स्वीकारते हैं। तीनों बिंदु स्वीकारने वाले तो बहुत अल्प होते हैं।

प्रश्न – इसका मतलब यह हुआ कि जिनेश्वर देवकथित धर्मक्रिया करने वाले भी पहले गुणस्थानक में हो सकते हैं। यह समझ बराबर है?

उत्तर – हाँ, गुणस्थानक का आधार बाह्य धर्मक्रिया नहीं है किंतु अंतर के परिणाम हैं। चौथे, पाँचवे या छठें गुणस्थानक की क्रिया करने वाला भी पहले गुणस्थानक में हो सकता हैं। किसी जीव के लिए ऐसा भी हो सकता है कि चौथे या पाँचवे गुणस्थानक की क्रिया करने पर भी छठें गुणस्थानक में हो।

प्रश्न – इस तरह तो क्रिया का महत्त्व नहीं रहता, अंतर के परिणाम का ही महत्त्व है।

उत्तर – यहीं गलती होती है। क्रिया अंतर के परिणाम को जागृत करने में, स्थिर करने में और बढ़ाने में महत्वपूर्ण है। बहुत जीवों में ऐसा होता है कि वे पहले गुणस्थानक में होने पर भी चौथे वगैरह गुणस्थान की क्रिया करते–करते उस गुणस्थान को पा जाते हैं।

प्रश्न – गुणस्थानक का आधार अंतर के परिणाम हैं। अंतर के परिणाम को हम नहीं जान सकते। इसलिए कौन–से जीव किस गुणस्थान में हैं, यह कैसे पता चले?

उत्तर – कौन–से जीव किस गुणस्थान में हैं, यह साक्षात् तो सर्वज्ञ भगवंत ही जान सकते हैं। हम तो उस–उस गुणस्थान की क्रिया करते हुए देखकर 'यह जीव इस गुणस्थान पर है' ऐसा अनुमान कर सकते हैं।

प्रश्न – किस गुणस्थान की कौन–सी क्रिया है?

उत्तर – देव–गुरु–धर्म माने नहीं–पूजे नहीं, रागीदेव को माने–पूजे, परिग्रही गुरु को माने–पूजे, हिंसादि से दोषित धर्म को माने–पूजे ऐसे जीव पहले गुणस्थान में कहे जा सकते हैं। जिनेश्वर देव कथित धर्मक्रिया करे लेकिन व्रतों का पालन न करे, ऐसे जीव चौथे गुणस्थान में कहलाते हैं। अणुव्रतों का पालन करने वाले पाँचवें गुणस्थान और पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले छठें गुणस्थान में कहलाते हैं। अन्य गुणस्थानों का काल अति अल्प होने से उसकी कोई विशेष क्रिया नहीं है।

प्रश्न – जब तक मान्यता शुद्ध नहीं होती, तब तक एक भी गुण वास्तविक प्रगट नहीं होता तथा 'जिनेश्वर भगवान् ने जो कहा है, वही सत्य है' ऐसी मान्यता शुद्ध है। इसका मतलब यह हुआ कि जिनेश्वर भगवान ने जो कहा है, वही सच है, ऐसी मान्यता हुए बिना एक भी गुण प्रगट नहीं होना चाहिए लेकिन अनुभव तो अलग होता है। अनेक जीवों में ऐसी मान्यता के बिना भी शम, दया, दान, भवोद्वेग, मोक्षाभिलाष वगैरह गुण दिखते हैं। इसका क्या कारण?

उत्तर – इस विषय को सूक्ष्म दृष्टि से विचारने की आवश्यकता है। शुद्ध मान्यता बिना दिखते गुण वास्तविक नहीं है।

प्रश्न – ऐसा क्यों ?

उत्तर – मोक्ष की प्राप्ति गुणों का फल है । शुद्ध मान्यता बिना शम आदि गुणों से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इसीलिए परम पूज्य उपाध्यायश्री यशोविजयजी म.सा. ने कहा है – 'दानादिक किरिया न दिये समकित विण शिवशर्म।' जिस वस्तु का जो फल हो, वह फल नहीं मिले तो वह वस्तु क्या काम की? वृद्धावस्था में सेवा होना

संतानप्राप्ति का फल है, ऐसा मानने वाले पिता पुत्र के सेवा न करने पर 'ऐसा लड़का क्या काम का? इससे तो पुत्र न होना ही अच्छा' ऐसा कहते हैं। 'मानो मुझे पुत्र नहीं है' ऐसा सोचकर आश्वस्त होते हैं। वैसे ही यहाँ शुद्ध मान्यता बिना दिखने वाले गुण वास्तवविक नहीं है। इसलिए ही सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों के उत्पत्तिक्रम में पहले आस्तिक्य कहा है। फिर दूसरे गुण कहे हैं। अर्थात् पहले आस्तिक्य गुण प्रगट होता है, फिर क्रमश: अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और शम प्रगट होता है। आस्तिक्य यानी 'जिनेश्वर भगवान् ने जो कहा है, वही सच है' ऐसी दृढ़ मान्यता = श्रद्धा।

प्रश्न – शुद्ध मान्यता बिना गुणों से मोक्षप्राप्ति क्यों नहीं होती?

उत्तर – शुद्ध मान्यता बिना गुणों के स्वरूप का ठीक से ज्ञान नहीं होता तथा उसका जैसा उपयोग होना चाहिए, वैसा उपयोग नहीं होता। किसी भी वस्तु का उपयोग करना न आए तो उसका फल नहीं मिलता। जैसे – लक्ष्मी से लक्ष्मी बढ़ती है, थोड़ी लक्ष्मी से श्रीमंत बन सकते हैं यदि लक्ष्मी का उपयोग करना आता हो तो। जिसे लक्ष्मी का उपयोग करना नहीं आता और जो अनुभवी की सलाह नहीं मानता, वह लक्ष्मी बढ़ा नहीं सकता बल्कि पूंजी भी खो देता है। इसी प्रकार प्रस्तुत में दया आदि के स्वरूप का ज्ञान न हो तो उससे यथार्थ लाभ नहीं होता। गुणों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान जिनेश्वर भगवंत के उपदेश से ही कर सकते हैं। जिनेश्वर भगवान् का उपदेश तभी अच्छा लगता है, जब उन पर श्रद्धा हो। इस प्रकार मान्यता शुद्ध हुए बिना गुणों से यथार्थ लाभ नहीं होता। जिन गुणों से यथार्थ लाभ नहीं होता, वे गुण परमार्थ से नहीं है, ऐसा कहा जाता है। इसलिए जब तक शुद्ध मान्यता नहीं होती तब तक एक भी वास्तविक गुण प्रगट नहीं होता।

हाँ, एक बात है, कुछ (अपुनर्बंधक, मार्गानुसारी वगैरह) जीवों को दया, दान आदि गुण मान्यता के शुद्धिकरण में कारण बनते हैं। अर्थात् गुणों से कुछ समय बाद शुद्ध मान्यता प्राप्त होती है। इसलिए उनके गुणों को प्राथमिक कक्षा में मानकर जीवों का पहला गुणस्थान माना जाता है। यह बात पहले कह चुके हैं।

चौथा गुणस्थानक प्राप्त होने के बाद ही दूसरा और तीसरा गुणस्थानक प्राप्त होता है। इसलिए पहले चौथा गुणस्थानक देखते हैं–

(4) अविरत सम्यग्दृष्टि – जो जीव दर्शनमोह को नष्ट कर या निर्बलकर [1] शुद्ध मान्यता वाले हुए हैं लेकिन चारित्र–मोह को नष्ट नहीं कर सके या निर्बल नहीं कर सके, वे जीव अविरत सम्यग्दृष्टि हैं अर्थात् चौथे गुणस्थानक में हैं। इस गुणस्थानक के नाम में दो शब्द हैं – अविरत और सम्यग्दृष्टि। इस गुणस्थानक के जीव चारित्रमोह से अशुद्ध (हिंसादि पापवाली) प्रवृत्ति में प्रवृत्त होने से अविरत हैं तथा 'जिनेश्वर भगवान् ने जो कहा है, वही सच है'[2] ऐसी शुद्ध मान्यता वाले होने से सम्यग्दृष्टि हैं। सम्यग् यानी शुद्ध, दृष्टि यानी मान्यता। इस तरह सम्यग्दृष्टि यानी शुद्ध मान्यतावाला। एकबार भी इस गुणस्थानक को प्राप्त करने वाला जीव अधिकतम देशोन अर्धपुद्गलपरावर्त [3] काल में अवश्य मोक्ष पाता है। इस गुणस्थानक में रहा जीव अरिहंत = जिनेश्वर को ही सुदेव, पंचमहाव्रतधारी साधु को ही सुगुरु और जिनेश्वर कथित धर्म को ही सुधर्म मानता है।

प्रश्न – दर्शनमोह को नष्ट करने या निर्बल बनाने के लिए क्या करना पड़ता है?

---

① दर्शनमोह को नष्ट करना यानी अनंतानुबंधी कषाय और दर्शनमोह का संपूर्ण क्षय करना तथा निर्बल करना यानी उपशम या क्षपोपशम भाव प्रगट करना। (क्षयोपशम में अनंतानुबंधी कषाय उदय नहीं होता ओर सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होता है।)

② ऐसी मान्यता को सम्यक्त्व, समकित या सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

③ एक पुद्गलपरावर्त में अनंत उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी होती हैं।

उत्तर – राग–द्वेष की निबिड़ ग्रंथि का भेद करना पड़ता है। राग–द्वेष की ग्रंथि यानी क्या? इसका भेद कैसे होता है? इत्यादि समझने के लिए सू. 1–3 के विवेचन में दिए गए सम्यक्त्वप्राप्ति के क्रम को समझना आवश्यक है।

(2)सास्वादन – सम्यक्त्व से पतित हुई आत्मा को मित्यात्वदशा पाने के पहले होने वाला सम्यक्त्व का कुछ हल्का अनुभव दूसरा गुणस्थान [①] हैं। आस्वादन (स्वाद) से सहित, वह सास्वादन। जैसे – कोई व्यक्ति खीर का भोजन करने के बाद उल्टी होने पर असली खीर जैसे स्वाद का अनुभव नहीं करता तथा खराब स्वाद का भी अनुभव नहीं करता लेकिन खीर जैसे ही कुछ अव्यक्त स्वाद का अनुभव करता है; वैसे ही यहाँ सास्वादन गुणस्थान में जीव सम्यक्त्व का अनुभव नहीं करता, मिथ्यात्व का अनुभव भी नहीं करता लेकिन सम्यक्त्व के स्वाद का अनुभव करता है। तत्पश्चात् तुरंत ही वह अवश्य मिथ्यात्वदशा को प्राप्त करता है।

यह गुणस्थानक उपशम सम्यक्त्व और उपशम श्रेणि से गिरकर मिथ्यात्व पाने के पहले होता है, तथा भवचक्र में अधिक से अधिक पाँच ही बार उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है; इसलिए यह गुणस्थानक भी पाँच ही बार प्राप्त होता है।

(3)मिश्र – शुद्ध मान्यता भी नहीं और अशुद्ध मान्यता भी नहीं किंतु दोनों के बीच की अवस्था मिश्र [②] गुणस्थानक है। जैसे – किसी ने 'आम्रफल' शब्द नहीं सुना है, उस जीव को आम के पौष्टिकता, मधुरता, पाचकता वगैरह गुणों संबंधी सत्य मान्यता नहीं होती और असत्य मान्यता भी नहीं होती; वैसे ही मिश्र गुणस्थानक में रहे जीव को शुद्ध या अशुद्ध कोई भी मान्यता नहीं होती।

प्रश्न – गुणस्थानों के वर्णन में पहले गुणस्थान के बाद सीधे चौथे गुणस्थानक का, फिर दूसरे–तीसरे गुणस्थानक का वर्णन क्यों किया?

उत्तर – जीव जब सबसे पहली बार पहले गुणस्थानक से आगे बढ़ता है, तब सीधा चौथे गुणस्थान में आता है। चौथे गुणस्थान से पतित होता है तभी दूसरा गुणस्थानक आता है। दसूरा गुणस्थानक पतित होने वाले को ही होता है, चढ़ते समय नहीं होता। तीसरा गुणस्थान चढ़ते–गिरते दोनों प्रकार के जीवों को होता है अर्थात् पहले गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान पर आते हैं और चौथे से भी तीसरे गुणस्थान पर जीव आते हैं लेकिन एक बार चौथा गुणस्थानक प्राप्त होने के बाद ही तीसरा गुणस्थान आता है। इस तरह दूसरा और तीसरा गुणस्थान एक बार चौथा गुणस्थानक प्राप्त होने के बाद ही आने से यहाँ चौथे गुणस्थानक के बाद उन दो गुणस्थानों का वर्णन किया है।

(5–6) देशविरति – सर्वविरतिप्रमत्त – पहले हमने देखा कि जैसे–जैसे दर्शनमोह और चारित्रमोह निर्बल होते जाते हैं, वैसे–वैसे आत्मा विकास करता हुआ उपर के गुणस्थान में आता है। तथा यह भी देखा कि दर्शनमोह निर्बल होने से चौथा गुणस्थान आता है। चौथे गुणस्थान से आगे बढ़ने के लिए चारित्रमोह को निर्बल बनाने की आवश्यकता है। चारित्र मोह निर्बल होने पर ही हिंसादि पापों से निवृत्ति होती है। चारित्रमोह देश से (कुछ अंश में) निर्बल होता है तब [③] देश से (कुछ अंश में) हिंसादि पापों से निवृत्ति होती है। चारित्रमोह सर्वथा निर्बल होता है तब [④] पापों से निवृत्ति सर्वथा होती है। देश से (थोड़े) हिंसादि पापों से निवृत्ति देशविरति है तथा हिंसादि पापों से सर्वथा निवृत्ति सर्वविरति है । देशविरति गुणस्थान में रहे जीवों को हिंसादि पापों से आंशिक निवृत्ति होती हैं।

① यहाँ अनंतानुबंधी कषायों का उदय होता है लेकिन मिथ्यात्व मोह का उदय नहीं होता। अनंतानुबंधी कषाय का उदय थोड़े ही समय में मिथ्यात्वमोह का उदय अवश्य कराता है।

② यहाँ अनंतानुबंधी कषायों का उदय नहीं होता लेकिन मिश्रमोहनीय कर्म का उदय होता है।

③ अप्रत्याख्यानीय कषाय का क्षयोपशम हो तब।

④ प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम हो तब।

सर्वविरति गुणस्थान में रहे जीवों को हिंसादि पापों से सर्वथा निवृत्ति होती है। चौथे गुणस्थानक में रहे जीवों में हिंसादि पापों से आंशिक निवृत्ति भी नहीं होती। चौथे–पाँचवें गुणस्थानक में रहे जीव संसारत्यागी नहीं होते। छठे गुणस्थान में रहे जीव संसारत्यागी होते हैं। अर्थात् गृहस्थ अधिकतम पाँचवें गुणस्थानक तक आ सकता हैं। संसारत्यागी साधु छठे गुणस्थानक में होते हैं। संसारत्यागी साधु छठे गुणस्थानक से आगे भी बढ़ सकते हैं। छठे गुणस्थानक में प्रमाद होने से उसका 'सर्वविरति प्रमत्त' नाम है अथवा 'प्रमत्तसंयत' नाम भी है। प्रमत्त यानी प्रमाद से युक्त, संयत यानी साधु। प्रमाद युक्त साधु का जो गुणस्थान वह प्रमत्तसंयत गुणस्थानक।

(7) अप्रमतसंयत – जिसमें संयत = साधु अप्रमत्त = प्रमाद रहित है, वह अप्रमत्तसंयत गुणस्थान है। संयत = साधु अप्रमत होते हैं, तब सातवें गुणस्थान में आते हैं। छठे गुणस्थान में रहे जीव आत्मविकास के पथ पर आगे बढ़ने के लिए बाधक दोषों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। छठे गुणस्थानक में आने के बाद सूक्ष्म प्रमाद बाधक बनता है। यद्यपि स्थूल प्रमाद पर विजय प्राप्त कर ली है तो भी सूक्ष्म प्रमाद (विस्मृति, अनुपयोग आदि) बाधक होते हैं। इसलिए उस पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं। विजय प्राप्तकर सातवें गुणस्थान में चढ़ते है। लेकिन थोड़ी देर में पतित होकर छठे गणस्थान में आते हैं। पुन: सत्त्व का प्रयोग कर सातवें गुणस्थान में आते है, पुन: छठे गुणस्थान में गिरते हैं। जैसे सैनिक संपूर्ण विजय पाने के पहले युद्ध में थोड़ी विजय प्राप्त करता है, फिर थोड़ा पराजय प्राप्त करता है, पुन: विजय प्राप्त करता है, पुन: पराजित होता है, इस तरह जय–पराजय का क्रम चलते रहता है; वैसे ही यहाँ साधु रूप सैनिक का प्रमाद रूप शत्रु के साथ युद्ध में जय–पराजय होता रहता है।

(8) अपूर्वकरण – छठे से सातवें, सातवें से छठे इस तरह झूलता जीव यदि सावधान न रहे तो नीचे गिर जाता है। यदि सावधान रहता है(अधिक अप्रमत्त बनता है) तो उपर आठवें गुणस्थान में चढ़ता है अपूर्व यानी पूर्व में न किए हो वैसे, करण यानी परिणाम या अध्यवसाय। इस गुणस्थान में रहे जीव में पूर्व में कभी न हुए हो, ऐसे विशुद्ध [1] अध्यवसाय प्रगट होते हैं। यहाँ समकाल में प्रविष्ट जीवों के अध्यवसायों में विवक्षित किसी भी समय परस्पर विशुद्धि में निवृत्ति = अंतर, भेद होने से इस गुणस्थानक का 'निवृत्तिकरण' नाम भी है।

9 अनिवृत्तिबादरसंपराय – यहाँ से [2] जीवों के दो भेद होते हैं – क्षपक और उपशामक। कुछ जीव यहाँ से मोह को नष्ट करते हुए आगे बढ़ते हैं, कुछ जीव मोह को दबाते हुए आगे बढ़ते हैं। मोह को दबाते हुए (उपशम करते हुए) आगे बढ़ने वाले जीव उपशामक [3] कहलाते हैं। ये जीव 11 वें गुणस्थानक तक चढ़ते हैं फिर अवश्य पतित होते हैं। मोह को नष्ट करते हुए आगे बढ़ने वाले जीव क्षपक कहलाते हैं। ये जीव 10 वें गुणस्थान से सीधे 12 वें गुणस्थान में जाते हैं तथा कभी भी नीचे नहीं गिरते।

अब हम नौंवे गुणस्थानक की बात करते हैं। इस गुणस्थानक में जीव (सूक्ष्मलोभ के अलावा) पूरे मोह कर्म को नष्ट कर देता है या उसका उपशम कर देता है। इस गुणस्थानक के नाम में दो शब्द हैं–अनिवृत्ति और बादर संपराय । इस गुणस्थानक में किसी एक विवक्षित समय में प्रविष्ट सभी जीवों के अध्यवसाय की शुद्धि में निवृत्ति = अंतर, भिन्नता नहीं होती अर्थात् सबके अध्यवसाय समान होते हैं। इसलिए यहाँ अनिवृत्ति शब्द है।

---

① अथवा पूर्व में न किया हो ऐसा करण, अपूर्वकरण। इस गुणस्थान में जीव विशुद्ध अध्यवसायों के बल पर स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और स्थितिबंध पूर्व में न किए हो, वैसे करता है।

② यद्यपि आठवें गुणस्थानक में भी क्षपक और उपशामक भेद होते हैं, लेकिन वह योग्यता की अपेक्षा से है, कार्य की अपेक्षा से नहीं क्योंकि यहाँ मोह की एक भी प्रकृत्ति का संपूर्ण क्षय उपशम नहीं होता। इस गुणस्थान में आने वाला जीव उपर के (नौंवे वगैरह) गुणस्थानक में चढ़कर क्षय या उपशम अवश्य करेगा। जैसे – राज्य के योग्य कुमार को भी राजा कहा जाता है, वैसे उपचार से उसे क्षपक या उपशामक कहा जाता है। मुख्यतया तो नौवें गुणस्थानक से क्षपक–उपशामक का भेद होता है।

③ दो श्रेणि हैं – क्षपक और उपशम। क्षपक श्रेणि में चढ़ने वाला जीव मोह का क्षय करता है, उसे नष्ट करता है। उपशम श्रेणि में चढ़ने वाला जीव मोह को दबाता है। क्षपकश्रेणि में आरोहण करने वाले को क्षपक और उपशम श्रेणि में आरूढ़ होने वाले को उपशामक कहा जाता है ।

बादर यानी स्थूल, संपराय यानी कषाय। इस गुणस्थानक में स्थूल [1] कषाय होते हैं इसलिए बादर संपराय शब्द हैं।

10. सूक्ष्मसंपराय – संपराय यानी कषाय। नौवें गुणस्थान में बाकी बचे सूक्ष्म लोभ कषाय को इस गुणस्थानक के अंत में दबा देते हैं या नष्ट कर देते हैं।

11. उपशांतमोह – 10 वें गुणस्थानक के अंत में मोह को संपूर्ण दबाकर जीव 11 वें गुणस्थानक में आता हैं। यहाँ मोह (दबाए हुए शत्रु की तरह) संपूर्ण शांत होता है। इसलिए इस गुणस्थान का नाम उपशांतमोह है। उपशांत हो गया है मोह जिसमें, वह उपशांतमोह। मोह का नाश करके नहीं लेकिन उसे दबाकर 11 वें गुणस्थानक में आते हैं। इसलिए दबाया हुआ शत्रु जैसे बल मिलने पर पुन: आक्रमण करता है, वैसे दबाया हुआ मोह अंतर्मुहूर्त में ही पुन: स्वयं का बल दिखाता है। इसलिए आत्मा 11 वें गुणस्थानक से नीचे गिरती है।[2]

12. क्षीणमोह – दसवें गुणस्थानक में मोह को नष्ट करने वाला जीव 10 वें से सीधे 12 वें गुणस्थानक में आता है। यहाँ मोह का जरा भी संताप नहीं होता। इसलिए ही इस गुणस्थानक को क्षीणमोह कहा जाता है। क्षीण हो चुका है (क्षय हो चुका है।) मोह जिसमें, वह क्षीणमोह गुणस्थानक। इस गुणस्थानक के अंत में शेष तीन घाती कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

13. सयोगी केवली – घाती कर्मों का सर्वथा क्षय होने के बाद तुरंत केवलज्ञान प्रगट होता है। यह अवस्था तेरहवाँ गुणस्थानक हैं अर्थात् केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में होता हैं केवलज्ञान यानी तीन काल के सर्व पदार्थों के सर्व पर्यायों का ज्ञान। केवलज्ञानी जीव स्वयं का आयुष्य पाँच ह्रस्वाक्षर जितना शेष रहने तक तेरहवें गुणस्थान में रहता है। इस गुणस्थान में उपदेश–विहार आदि से मन–वचन–काया तीन योग की प्रवृत्ति होने से इसका सयोगी नाम है। योग से सहित होने से सयोगी। केवलज्ञान होने से केवली कहा जाता है।

14. अयोगी केवली – पाँच हस्वाक्षर काल जितना आयुष्य शेष रहने पर जीव तेरहवें गुणस्थान के अंत में विशिष्ट [3] प्रक्रिया कर योगरहित हो जाता है। योगरहित अवस्था चौदहवाँ गुणस्थान हैं। चौदहवें गुणस्थानक में जीव मेरुपर्वत की तरह निष्प्रकंप [4] होकर शेष चार अघाती कर्मों का क्षय होने पर देह का त्याग कर मोक्ष में चला जाता है। आत्मा का यह अंतिम विकास है। अब वह कृतकृत्य है। अब उसे कभी दु:ख का अंश भी नहीं होगा, मात्र सुख ही रहेगा। चौदहवें गुणस्थान में योग नहीं होते लेकिन केवलज्ञान होता है। इसलिए इसे 'अयोगी केवली गुणस्थान' कहा जाता है।

---

① नौवे गुणस्थानक के अंत में बादर या स्थूल कषायों का क्षय होता है। इसलिए इस गुणस्थानक में बादर कषाय होते हैं, ऐसा कह सकते हैं।

② 11 वें गुणस्थान से जीव का पतन दो प्रकार से होता है– 1. कालक्षय से – कालक्षय यानी गुणस्थानक का काल पूर्ण होना। यदि कालक्षय से गिरे तो क्रमश: गिरकर सातवें गुणस्थानक में आते हैं। अर्थात् ग्यारहवें वें से दसवें, दसवें से नौवें, नौवें से आठवें, आठवें से सातवें में आते हैं, फिर छठें–सातवें में चढ–उतर करते रहते हैं। यदि वहाँ भी सावधान नहीं हुए तो गिरकर पाँचवें, चौथे या पहले तक भी पहुँच जाते हैं। यदि सावधान रहे तो भी सातवें तक तो अवश्य नीचे गिरते हैं। 2. भवक्षय से–गुणस्थान का काल पूर्ण होने के पहले ही आयुष्य पूर्ण हो जाए तो वे देवलोक में उत्पन्न होने से 11 वें गुणस्थानक से सीधे चौथे में आ जाते हैं।

③ योग निरोध।

④ शैलेशीकरण करके।

गुणस्थानक का काल

गुणस्थानक	नाम	जघन्य काल	उत्कृष्ट काल
1	मिथ्यात्व	अनादि ①	अनादि ②
2	सास्वादन	1 समय	6आवलिका
3	मिश्र	अंतर्मुहूर्त	अंतर्मुहूर्त
4	अविरत सम्यग्दृष्टि	अंतर्मुहूर्त	साधिक 33 सागरोपम
5	देशविरति	अंतर्मुहूर्त	देशोन पूर्वकोटि वर्ष
6	सर्वविरति प्रमत्त	1 समय	अंतर्मुहूर्त
7	अप्रमत्त संयत	1 समय	अंतर्मुहूर्त
8	अपूर्वकरण	1 समय	अंतर्मुहूर्त
9	अनिवृत्तिबादरसंपराय	1 समय	अंतर्मुहूर्त
10	सूक्ष्मसंपराय	1 समय	अंतर्मुहूर्त
11	उपशांत मोह	1 समय	अंतर्मुहूर्त
12	क्षीण मोह	अंतर्मुहूर्त	अंतर्मुहूर्त
13	संयोगी केवली	अंतर्मुहूर्त	देशोन पूर्वकोटि वर्ष
14	अयोगी केवली	पंच ह्रस्वाक्षर	पंच ह्रस्वाक्षर

① 1 अभव्य को अनादि-अनंत होता है। 2. भव्य को अनादि-सांत होता है। 3. सम्यक्त्व से पतित को सादि-सांत होता है। सादि-सांत काल जघन्य से अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोन अर्ध पुद्गलपरावर्त जानना।

② छठे-सातवें गुणस्थानक में जीव देशोनपूर्वकोटिवर्ष तक प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में छठें-सातवें गुणस्थान में गमनागमन करता है, इस अपेक्षा से अंतर्मुहूर्त लिखा है। इसकी विवक्षा न करें तो छठे गुणस्थान का काल देशोन पूर्वकोटि वर्ष होगा क्योंकि प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में सातवाँ गुणस्थानक आने पर भी सातवें का देशोन पूर्वकोटि तक में सब काल मिलकर अंतर्मुहूर्त जितना ही होता है।

।। विषयानुक्रम ।।

gÝ~YH$m[aH$m	4
àW_ AÜ`m`	
_mj_mJ	9
gå`½XeZ H$m bjU	15
gå`½XeZ H$s CËn{Îm H$ àH$ma	16
VÎdm H$s g»`m	19
VÎdm H$ {Zjn H$m {ZXe	21
VÎdm H$m OmZZ H$ gmYZ	22
emór` nÕ{V g VÎdm H$m {def	
ê$n g OmZZ H$ àH$ma	23
kmZ H$ àH$ma	26
nmM kmZ H$s à_mU H$s Anjm g {dMmaUm	27
_{VkmZ H$ n`m`dmMr eãX	28
_{VkmZ H$s CËn{Îm H$ {Z{_Îm	28
_{VkmZ H$ ^X	28
{df`^X g Amam j`mne_ H$ ^X	
g AdJhm{X H$ ^X	29
AdJh Am{X H$m {df`	30
AÝ` àH$ma g AdJh H$m {df`	30
Mj Amam _Z Ûmam hmV _{VkmZ _	
ì`OZmdJh H$m A^md	31
lV kmZ H$m bjU Amam ^X	33
Ad{YkmZ H$ ^X	37
^d àË`` Ad{YkmZ H$ ñdm_r	37
j`mne_àË`` Ad{YkmZ H$ ñdm_r	38
_Z: n`m` kmZ H$ ^X	39
F$O_{V Amam {dnb_{V _ {defVm H$ hV	39
Ad{Y_Z n`d _ ^X H$ hV	40
_{V Amam lV H$m {df`	41
Ad{Y H$m {df`	41
_Z: n`dkmZ H$m {df`	42
H$dbkmZ H$m {df`	42
EH$ Ord H$m EH$ gmW {H$VZ	
kmZ hm gH$V h?	42
nhb VrZ kmZ _ {dnarVVm (= AkmZVm)	43
{_Ï`mXpîQ> _ nhb VrZ kmZ {dnarV Š`m?	45
Z`m H$m {Zê$nU	45
{ÛVr` AÜ`m`	
Ord H$ ^md	55
nmM ^md H$ ^Xm H$s g»`m	57
Amne{_H$ ^md H$ ^X	57
jm{`H$ ^md H$ ^X	57
j`mne_ ^md H$ ^X	58
AmX{`H$ ^md H$ ^X	59
nm[aUm{_H$ ^md H$ ^X	60
Ord H$m bjU	60
Cn`mJ H$ ^X	60
Ordm H$ _»` Xm ^X	61
ggmar Ord H$ Xm ^X	61
Xgar Vah ggmar Ord H$ ^X	62
pñW{Verb Ord	62
J{Verb Ord	62
BpÝÐ`m H$s g»`m	63
BpÝÐ`m H$ ^X	63
Ðì`pÝÐ` H$ ^X	63
^md BpÝÐ` H$ ^X	64
Cn`mJ H$ {df`	65
BpÝÐ`m H$ Zm_	66

BpÝÐ`m H$ {df` 66
_Z H$m {df` 67
EH$ BpÝÐ` {H$Ýh hmVr h, CgH$m {ZÊ$nU 67
Xm, VrZ, Mma Ama nmM BpÝÐ`
{H$Ýh hmVr h, CZH$m {ZÊ$nU 68
H$mZg Ord _Zg{hV hmV h,
CgH$m {ZÊ$nU 68
{dJhJ{V _ `mJ 69
AmH$me _ Ord H$s `m nXJb H$s J{V 70
{gÕ Ordm H$s J{V 70
ggmar Ordm H$s J{V VWm
{dJhJ{V H$m H$mb 70
A{dJhJ{V H$m H$mb 71
na^d _ OmV hE Amhma H$
A^md H$m H$mb 71
OÝ_ H$ àH$ma 72
`m{Z H$ ^X 72
{H$Z Ordm H$m J^ ê$n
OÝ_ hmVm h, CgH$m {ZÊ$nU 73
CnnmV OÝ_ {H$Z Ordm H$m hmVm h,
CgH$m {ZÊ$nU 73
g_ÀNoZ OÝ_ {H$g hmVm h,
CgH$m à{VnmXZ 73
eara H$ ^X 74
nmM earam _ gú_Vm H$s {dMmaUm 75
earam _ àXem H$s {dMmaUm 76
VOgH$m_U eara _ àXem H$s {dMmaUm 76
VOgH$m_U eara H$s VrZ {defVmE 76
EH$ Ord _ EH$ gmW g^d eara 77
earam H$m à`moOZ 78
AmXm[aH$ eara H$ H$maU 78
d{H$` eara H$ H$maU 79
AmhmaH$ eara H$ ñdm_r 79
dX = qbJ H$m à{VnmXZ 79
Am`î` H$ ^X Ama CZH$ ñdm_r
{df`H$ {dMma 80
VVr` AÜ`m`
ZaH$ H$s gmV nÏdr H$ Zm_ 84
ZaH$mdmg H$m dUZ 85
ZaH$ _ bí`m{X H$s Ae^Vm 86
ZaH$ _ nañnamXr[aV dXZm 88
ZaH$ _ na_mYm_rH$V dXZm 89
ZmaH$m H$ Am`î` H$s CËH$îQ> pñW{V 91
{VÀNmbmH $ _ Ûrn g_Ð 92
Ûrn g_Ð H$s MmSmB VWm AmH${V 93
gd Ûrng_Ðm H$ _Ü` dmb
Ûrn H$ Zm_ Am{X 94
O~Ûrn H$ j Ì 95
O~Ûrn _ ah {J[andV 96
YmVH$s I S> Ûrn _ j Ì Ama ndV H$s g»`m 100
nîH$ada Ûrn _ j Ì Ama ndV H$s g»`m 102
_Zî` H$ {ZdmgñWmZ H$s _`mXm 102
_Zî` H$ ^X 102
H$_ ^{_ H$s g»`m 103
_Zî` H$ Am`î` H$m H$mb 104
{V`Mm H$ Am`î` H$m H$mb 104
MVW AÜ`m`
Xd H$ ^X 106
Á`m{VîH$ Xdm H$s bí`m 107
Xdm H$ AdmVa ^X (nQm^X) 107
^dZn{V Am{X Xdm H$ Xgar Anjm g ^X 107
ì`VaÁ`m{Vf Xdm _ Ìm`qóe

Amma bmH$nmb H$m A^md 108
^dZn{V Amma ì`Va {ZH$m` _
BÝÐm H$s g»`m 108
^dZn{V Amma ì`Va {ZH$m` _ bí`m 109
Xdm _ _WZ gdZ H$s {dMmaUm 109
BemZ XdbmH$ g Cna _WZ gdZ 109
_WZ gdZ H$m A^md 110
^dZn{V {ZH$m` H$ Xg ^X 110
ì`Va{ZH$m` H$ AmR> ^X 111
Vrga Á`m{Vf {ZH$m` H$ 5 ^X 112
Á`m{VîH$ {d_mZm H$m n[a^_U j Ì 113
Á`m{VîH$ J{V g H$mb 114
_Zî`bmH$ H$ ~mha Á`m{VîH$ H$s pñWaVm 115
d_m{ZH$ {ZH$m` H$m A{YH$ma 115
d_m{ZH$ Xd H$ _»` Xm ^X 115
d_m{ZH$ {ZH$m` H$ XdbmH$ H$m AdñWmZ 115
d_m{ZH$ Xdm H$ Zm_ 116
CnaCna H$ Xdm _ pñW{V Am{X H$s A{YH$Vm 117
CnaCna J{V Am{X H$s hrZVm 118
d_m{ZH$ {ZH$m` _ bí`m 120
H$ën H$s Ad{Y 120
bmH$m{VH$ Xdm H$m ñWmZ 121
Zm àH$ma H$ bmH$m{VH$ Xdm H$ Zm_ 121
AZÎma H$ {dO`m{X Mma {d_mZ
H$ Xdm H$m ggmaH$mb 121
'{V`M' gkm dmb Ord 122
pñW{V H$m A{YH$ma 122
^dZn{V {ZH$m` _ X{jUmY H$
BÝÐm H$s CËH$îQ> pñW{V 122
^dZn{V {ZH$m` _ CÎmamY H$ BÝÐm
H$s CËH$îQ> pñW{V 123
^dZn{V {ZH$m` H$ BÝÐm H$s pñW{V _
AndmX 123
OKÝ` pñW{V H$ A{YH$ma H$m àma^ 124
ì`Va Xdm H$s CËH$îQ> pñW{V 126
Á`m{VîH$ Xdm H$s CËH$îQ> pñW{V H$m A{YH$ma
126
Á`m{VîH$ Xdm H$s OKÝ` pñW{V 127
nM_ AÜ`m`
AOrd VÎd H$ _»` ^X 130
Y_mpñVH$m` Am{X VÎdm H$s {def gkm 131
Y_mpñVH$m` Am{X Ðì`m _ g_mZVm 131
ê$nr Ðì` 132
AmH$me VH$ H$ Ðì`m H$s EH$Vm 132
AmH$mem{X Ðì`m _ {ZpîH$`Vm 132
Y_AY_ Ðì`m _ àXem H$m n[a_mU 132
àË`H$ Ord H$ àXe H$m n[a_mU 133
AmH$me H$ àXem H$m n[a_mU 133
nXJb H$ àXem H$m n[a_mU 133
na_mU _ àXem H$m A^md 134
Y_mpñVH$m` Am{X Ðì`m H$m AmYma j Ì 134
Y_mpñVH$m` Am{X H$ pñW{V j Ì H$s _`mXm 134
Ord H$s {^ÝZ AdJmhZm H$m hV 136
Y_mpñVH$m` AY_mpñVH$m` H$m bjU 136
AmH$me H$m bjU 137
nXJb H$m CnH$ma 137
Ordm H$m naña CnH$ma 140
H$mb H$m CnH$ma 140
nXJb H$m bjU 142
nXJb H$ eãXm{X n[aUm_m H$m dUZ 142
nXJb H$ _»` Xm ^X h 146

ñH$Y H$s CËn{Îm H$ H$maU 147
na_mU H$s CËn{Îm 148
VrZ H$maUm _ g {H$g H$maU g CËnÝZ
hE ñH$Y X l gH$V h, CgH$m {Zê$nU 149
gV H$m bjU 149
{ZË` H$m bjU 150
EH$ hr dñV _ {ZË`Ëd A{ZË`Ëd
dJah naña na {déÕ Y_m H$s {g{Õ
ñ`mÛmX g hmVr h& AV: gÌH$ma
A~ ñ`mÛmX H$s nhMmZ H$amV h 151
nXJbm H$ ~Y _ hV 154
~Y H$ {df` _ àW_ AndmX 154
~Y H$ {df` _ Xgam AndmX 155
~Y H$ {df` _ Vrgam AndmX 156
~Y hmZ H$ ~mX ñH$Y _ hmZ
dmbm ñne H$m n[aUm_ 158
Ðì` H$m bjU 158
H$mb H$m {Zê$nU 160
H$mb H$m {def ñdê$n 160
JU H$m bjU 161
n[aUm_ H$m bjU 161
n[aUm_ H$ Xm ^X 162
Am{X_mZ n[aUm_ 162
Ordm _ Am{X_mZ n[aUm_ 163
fð AÜ`m`
`mJ H$m ñdén 164
Amgd H$m {Zê$nU 165
nÊ`H$_ H$ Amgd H$m {ZXe 166
nmnH$_ H$m Amgd 166
Amgd H$ Xm ^X 167
gmnam{`H$ Amgd H$ ^X 167
Amgd H$ ~mh` H$maU g_mZ hmZ na ^r
AmV[aH$ n[aUm_ ^X Ûmam
H$_~Y _ hmZ dmb ^X ({d{dYVm)
H$m à{VnmXZ 170
A{YH$aU H$ ^X 172
Ord A{YH$aU H$ 108 ^X 172
AOrd A{YH$aU H$ ^X 172
kmZmdaUr` Ama XeZmdaUr` H$_
H$ Amgd 174
AgmVm dXZr` H$_ H$ Amgd 175
gmVmdXZr` H$_ H$m Amgd 177
XeZ_mhZr` H$ Amgd 178
Mm[aÌ_mhZr` H$ Amgd 179
ZaH$J{V H$ Am`î` H$ Amgd 179
{V`MJ{V H$ Am`î` H$ Amgd 179
_Zî`J{V H$ Am`î` H$ Amgd 180
CŠV ZaH$m` Am{X VrZ Am`î`
H$m g_{XV Amgd 180
XdJ{V H$ Am`î` H$ Amgd 180
Ae^ Zm_H$_ H$ Amgd 181
e^ Zm_H$_ H$ Amgd 181
VrWH$a Zm_H$_ H$ Amgd 181
ZrM JmÌ H$ Amgd 184
CÀMJmÌ H$ Amgd 184
AVam`H$_ H$ Amgd 185
gá_ AÜ`m`
dV H$s ì`m»`m 188
CŠV nmM dV H$ Xm ^X 189
_hmdV ñdrH$aZ H$ ~mX {Za{VMma
nmbZ H$ {bE Amdí`H$ ^mdZmE 192
_hmdVm H$m pñWa H$aZ g^r dVm H$

{bE gdgm_mÝ` àW_ ^mdZm 194
_hmdVm H$m pñWa H$aZ, g^r dVm
H$ {bE gdgm_mÝ` {ÛVr` ^mdZm 195
_hmdVm H$s pñWaVm H$ {bE Mma ^mdZmE 196
_hmdVm H$s pñWaVm H$ {bE AÝ` {dMmaUm 197
qhgm H$s ì`m»`m 199
AgË` H$s ì`m»`m 201
Mmar H$s ì`m»`m 202
A~÷ H$s ì`m»`m 203
n[aJh H$s ì`m»`m 203
dV H$s ì`m»`m 205
dVr H$ Xm ^X 205
AJmar dVr H$s ì`m»`m 206
JUdV{e j mdVm H$m {ZXe 206
gb I Zm H$m {dYmZ 211
gå`½XeZ H$ A{VMma 211
12 dVm _ àË`H$ dV H$
A{VMmam H$s g»`m 212
àW_ dV H$ A{VMma 212
{ÛVr` dV H$ A{VMma 214
VVr` dV H$ A{VMma 216
MVW dV H$ A{VMma 216
nmMd dV H$ A{VMma 218
N›R› dV H$ A{VMma 219
gmVd dV H$ A{VMma 220
AmR›d dV H$ A{VMma 221
Zmd dV H$ A{VMma 222
Xgd dV H$ A{VMma 222
½`mahd dV H$ A{VMma 223
~mahd dV H$ A{VMma 224
gb I Zm dV H$ A{VMma 224
XmZ H$s ì`m»`m 225
XmZ H$s {H$`m g_mZ hmZ
na ^r \$b _ ^X 225
Aï›_ AÜ`m`
H$_~Y H$ hV 227
~Y H$s ì`m»`m 230
~Y H$ ^X 230
àH${V~Y H$ _b ^X 232
àH${V~Y H$ CÎma^Xm H$s g»`m 234
XeZmdaU àH${V H$ ^X 234
dXZr` H$_ H$ Xm ^X 236
_mhZr` àH${V H$ ^X 236
Am`î` H$_ H$ Mma ^X 242
Zm_H$_ H$ ^X 242
JmÌH$_ H$ ^X 248
AVam` H$_ H$ ^X 248
pñW{V~Y 249
ag~Y H$s ì`m»`m 250
H$_ _ \$b XZ H$s e{º$ ag~Y h&
Bg{bE H$mZg H$_ _ H$gm
\$b XZ H$s e{º$ h, dh ~VmV h 250
\$b XZ H$ ~mX H$_m H$m Š`m
hmVm h? CgH$m à{VnmXZ 251
àXe~Y H$m dUZ 252
nÊ` àH${V`m H$m {ZXe 254
Zd_ AÜ`m`
gda H$s ì`m»`m 256
gda H$ Cnm` 256
{ZOam H$m Cnm` 256
J{á H$s ì`m»`m 256
g{_{V H$m dUZ 257

Y_ H$m dUZ 258
AZàjm H$m dUZ 261
narfh H$m AW Ama hV 265
narfh 266
JUñWmZH$m _ narfhm H$s {dMmaUm 268
g`mJr H$dbr _ narfhm H$s {dMmaUm 269
Zmd JUñWmZH$ _ narfh 269
{H$g H$_ H$ CX` g H$mZ g narfh 269
EH$ Ord H$m EH$ gmW g^{dV narfh 270
Mm[aÌ H$m dUZ 270
~mô` Vn H$ Nmh ^X 273
Aä`Va Vn H$ Nmh ^X 276
Ü`mZ H$ Abmdm AÝ` Aä`Va
Vn H$ nQm^Xm H$s g»`m 276
àm`píMÎm H$ ^Xm H$m dUZ 276
{dZ` H$ ^X 277
d`mdƒ H$ ^X 278
ñdmÜ`m` H$ ^X 278
ì`ËgJ H$ ^X 279
Ü`mZ H$m bjU 279
Ü`mZ H$ H$mb H$m à_mU 280
Ü`mZ H$ ^X 280
Ü`mZ H$m \$b 281
AmVÜ`mZ H$ àW_ ^X H$m dUZ 281
AmVÜ`mZ H$m Xgam ^X 281
AmVÜ`mZ H$m VVr` ^X 281
AmVÜ`mZ H$m MVW ^X 282
AmVÜ`mZ H$ ñdm_r 282
amÐÜ`mZ H$ ^X Ama ñdm_r 282
Y_Ü`mZ H$ ^X Ama ñdm_r 283
Y_Ü`mZ H$ ñdm_r 284
eŠb Ü`mZ H$ àW_ Xm ^X H$ ñdm_r 284
eŠbÜ`mZ H$ A{V_ Xm ^X H$ ñdm_r 284
eŠbÜ`mZ H$ Mma ^X 285
Ü`mZ _ `mJ H$s {dMmaUm 286
eŠbÜ`mZ H$ àW_ Xm ^Xm H$s {defVm 287
nhb Ama Xga ^X _ \H 287
{dVH$ H$s ì`m»`m 287
{dMma H$s ì`m»`m 287
{H$g {H$VZr {ZOam hmVr h ? 289
Mm[aÌ _ ^X H$s X{ï› g {ZJW H$ ^X 290
nbmH$m{X nmM {ZJW g~Yr {def {dMmaUm 291
_mhZr` Am{X H$_m H$ j` H$m hV 295
Xg_ AÜ`m`
_mj H$s ì`m»`m 295
nmM àH$ma H$ ^md _ g {H$Z ^md
H$m A^md hmZ na _mj hmVm h? 296
g^r H$_ H$ j` g hmZ dmbm
AmË_m H$m D$ÜdJ_Z 296
AmË_m H$s D$ÜdJ{V H$m H$maU 297
{gÕ Ord g~Yr {def {dMmaUm H$ Ûma 298
ApÝV_mnXe
VÎdmgÌàepñV
n[a{eï›-1 : _bgÌm{U
n[a{eï›-2 : {MÌ gJh

श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

पूर्वधरश्रीमदुमास्वातिवाचकविरचितम्

श्री तत्त्वार्थाधिगमशास्त्रम्।

।। संबन्धकारिका ।।

सम्यग्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति ।

दु:खनिमित्तमपीदं तेन सुलब्धं भवति जन्म ।।1।।

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध ज्ञान और चारित्र प्राप्त करता है, उसका दु:ख का कारण रूप भी यह (मनुष्य) जन्म सफल होता है।

जन्मनि कर्मक्लेशैरनुबद्धेऽस्मिंस्तथा प्रयतितव्यम्।

कर्मक्लेशाभावो यथा भवत्येष परमार्थ: ।।2।।

कर्म और कषाय के अनुबंध वाले इस जन्म में कर्म और कषाय का सर्वथा अभाव हो, ऐसा प्रयत्न करना ही परमार्थ है।

परमार्थालाभे वा दोषेष्वारम्भकस्वभावेषु।

कुशलानुबन्धमेव स्यादनवद्यं यथा कर्म ।।3।।

आरंभ में प्रवृत्त करने के स्वभाव वाले कषायादि दोषों की विद्यमानता के कारण से परमार्थ (कर्म और कषाय का सर्वथा अभाव) न हो सके तो कुशलकर्म = पुण्यानुबंधी पुण्य का अनुबंध हो, ऐसे अनवद्य कार्य करना चाहिए।

छह प्रकार के मनुष्य–

कर्माहितमिह चामुत्र चाधमतमो नर: समारभते।

इह फलमेव त्वधमो विमध्यमस्तूभयफलार्थम् ।।4।।

परलोकहितायैव प्रवर्तते मध्यम: क्रियासु सदा।

मोक्षायैव तु घटते विशिष्टमतिरुत्तमपुरुष: ।।5।।

यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तममवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति।

नित्यं स उत्तमेभ्योप्युत्तम इति पूज्यतम एव ।।6।।

अधमतम मनुष्य इसलोक और परलोक में दु:ख देने वाले कार्य करते हैं। अधम मनुष्य केवल इसलोक में सुख देने वाले कार्य करते हैं। विमध्यम मनुष्य उभयलोक में सुख देने वाले कार्य करते हैं। मध्यम मनुष्य केवल परलोक के सुख के लिए सदा क्रियाओं में प्रवृत्त रहते हैं। विशिष्ट मतिमान् उत्तम पुरुष मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करते हैं। लेकिन जो मनुष्य उत्तम धर्म पाकर कृतकृत्य होने पर भी अन्य जीवों को सदा उत्तम धर्म का उपदेश देते हैं, वे तो उत्तमपुरुषों से भी उत्तम अर्थात् उत्तमोतम हैं। इसलिए ही वे जगत् में सबसे अधिक पूजनीय हैं।

तस्मादर्हति पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके।

देवर्षि–नरेन्द्रेभ्य: पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वानाम् ।।7।।

अत: उत्तमोत्तम अरिहंत ही लोक में अन्य जीवों के पूज्य माने जाते देवेन्द्र और नरेन्द्रों से भी पूजनीय हैं।

अरिहंत की पूजा का लाभ –

अभ्यर्चनादर्हतां मन:प्रसादस्तत: समाधिश्च।

तस्मादपि नि:श्रेयसमतो हि तत्पूजनं न्याय्यम्।।8।।

अरिहंत की पूजा से मन प्रसन्न होता है। मन की प्रसन्नता से समाधि प्राप्त होती है। समाधि = समता से मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए अरिहंत की पूजा योग्य है।

तीर्थप्रवर्तनफलं यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम।

तस्योदयात् कृतार्थोऽप्यर्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति।।9।।

तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम्

तीर्थप्रवर्तनाय, प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ।।10।।

तीर्थंकर नामकर्म का फल तीर्थप्रवर्तन है, ऐसा शास्त्र में कहा है। इसलिए तीर्थंकर कृतकृत्य होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म के उदय से तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं अर्थात् धर्मतीर्थ की स्थापना कर प्रतिदिन धर्मोपदेश देते हैं। जैसे सूर्य उसके स्वभाव से ही लोक को प्रकाशित करता है, वैसे तीर्थंकर स्वभाव से ही तीर्थप्रवर्तन की प्रवृत्ति करते हैं।

य: शुभकर्मासेवनभावितभावो भवेष्वनेकेषु।

जज्ञे [1] ज्ञातेक्ष्वाकुषु सिद्धार्थनरेन्द्रकुलदीपक:।।11।।

पूर्वकाल में अनेक भवों में शुभक्रिया के अभ्यास से आत्मा को (शुभभाव से)भावित करने वाले भगवान् महावीर अंतिम भव में ज्ञात इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए और सिद्धार्थ राजा के कुलदीपक बने।

ज्ञानै: पूर्वाधिगतैरप्रतिपतितैर्मतिश्रुतावधिभि:।

त्रिभिरपि शुद्धैर्युक्त: शैत्यद्युतिकान्तिभिरिवेन्दु:।।12।।

जैस चंद्रमा शैत्य (शीतलता), द्युति और कांति, इन तीन गुणों से युक्त होता है, वैसे भगवान् महावीर जन्म के समय पूर्व (देवभव) में प्राप्त किए हुए अप्रतिपाती मति–श्रुत–अवधि, इन तीन ज्ञान से युक्त थे।

शुभसारसत्त्वसंहननवीर्यमाहात्म्यरूपगुणयुक्त:।

जगति महावीर इति त्रिदशैर्गुणत: कृताभिख्य:।।13।।

शुभ (हितकर) उत्तम सत्त्व, श्रेष्ठ संघयण, लोकोत्तर वीर्य, अनुपम माहात्म्य, अद्भूतरूप और दाक्षिण्य आदि विशिष्ट गुणों से युक्त थे (यहाँ शुभ शब्द सत्त्वादि प्रत्येक के साथ जोड़ना)। इन गुणों के कारण ही देवों ने जगत् में 'महावीर' नाम रखा।

स्वयंमेव बुद्धतत्त्व: सत्त्वहिताभ्युद्यताचलितसत्त्व:।

अभिनन्दितशुभसत्त्व: सेन्द्रैर्लोकान्तिकैर्देवै:।।14।।

---

[1] ज्ञाता नाम क्षत्रियविशेषा:, तेषामपि विशेषसंज्ञा इक्ष्वाकव:।

वे स्वयमेव तत्त्वों के ज्ञाता थे, जीवों के हित के लिए तत्पर और निश्चल सत्त्ववाले थे। देवेन्द्र और लोकान्तिक देवों ने उनके शुभ सत्त्व की प्रशंसा की थी।

जन्मजरामरणार्त्तं जगदशरणमभिसमीक्ष्य नि:सारम्।

स्फीतमपहाय राज्यं शमाय धीमान् [1] प्रवव्राज।।15।।

प्रतिपद्याशुभशमनं नि:श्रेयससाधकं श्रमणलिङ्गम्।

कृतसामायिककर्मा व्रतानि विधिना समारोप्य।।16।। (कुलकम्)

जन्म–जरा–मरण से पीड़ित जगत् को अशरण और असार देखकर ज्ञानी महावीर विशाल राज्य को त्यागकर अशुभकर्म का नाश करने वाले और मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले साधुवेश को ग्रहणकर सामायिक का स्वीकार करने द्वारा विधिपूर्वक व्रतों को स्वीकारकर मोक्ष के लिए प्रव्रजित हुए।

सम्यक्त्व–ज्ञान–चारित्र–संवर–तप:समाधिबलयुक्त:।

मोहादीनि निहत्याऽशुभानि चत्वारि कर्माणि।।17।।

केवलमधिगम्य विभु: स्वयमेव ज्ञानदर्शनमनन्तम्।

लोकहिताय कृतार्थोऽपि देशयामास तीर्थमिदम्।।18।।

(प्रव्रजित होने के बाद) सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र–संवर–तप और समाधि रूपी सैन्य से स्वयं (किसी की सहायता बिना) मोहादि चार अशुभकर्मों का क्षयकर अनंतकेवलज्ञान–केवलदर्शन गुण प्राप्त करके सर्वज्ञ होने से कृतकृत्य होने पर भी लोकहित के लिए इस (वर्तमान में विद्यमान) तीर्थ का उपदेश दिया अर्थात् तीर्थ को प्रकाशित किया।

द्विविधमनेकद्वादशविधं महाविषयममितगमयुक्तम्।

संसारार्णवपारगमनाय दु:खक्षयायालम्।।19।।

ग्रन्थार्थवचनपटुभि: प्रयत्नवद्भिरपि वादिभिर्निपुणै:।

अनभिभवनीयमन्यैर्भास्कर इव सर्वतेजोभि:।।20।। (कलापकम्)

यह तीर्थ दो प्रकार (अंगबाह्य–अंगप्रविष्ट) से, उसमें(अंगबाह्य) अनेक प्रकार और (अंगप्रविष्ट) बारह प्रकार का है। तथा यह तीर्थ महाविषय वाला अर्थात् सभी द्रव्यों को प्रकाशित करने वाला, अनेक नयों से युक्त, संसार रूपी समुद्र के पार पहुँचाने में और दु:ख का क्षय करने में समर्थ है। जैसे मणि आदि सर्वपदार्थों का प्रकाश एकत्रित हो तो भी सूर्य उनसे पराभव प्राप्त नहीं करता, वैसे ग्रंथ का अर्थ कहने में निपुण और न्यायकुशल वादियों द्वारा तीर्थ के पराभव के प्रयत्न होने पर भी उनसे तीर्थ का पराभव नहीं होता।

कृत्वा त्रिकरणशुद्धं तस्मै परमर्षये नमस्कारम्।

पूज्यतमाय भगवते वीराय विलीनमोहाय।।21।।

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थसंग्रहं लघुग्रन्थम्।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य।।22।।(युग्मम्)

---

[1] दीक्षा लेते ही प्रगट होने वाले मन: पर्यवज्ञान की अपेक्षा से यहाँ 'धीमान्' विशेषण है।

मोहरहित होने से महर्षि और सबसे अधिक पूज्य उन वीर भगवान् को (मन–वचन–काया रूप) त्रिकरण से शुद्ध नमस्कार कर शिष्य के हित के लिए अरिहंत के वचन के एक देश (एक भाग) के संग्रह रूप और विशाल अर्थवाले इस तत्त्वार्थाधिगम नामक लघु ग्रंथ को मैं कहूँगा।

महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य।

क: शक्त: प्रत्यासं जिनवचनमहोदधे: कर्तुम्।।23।।

जिसके ग्रंथ का और अर्थ का पार बहुत कष्ट से प्राप्त कर सकते हैं तथा जिसमें अतिशय बहुत विषय हैं, ऐसे महान् जिनवचनरूप उस समुद्र का संग्रह करने में कौन समर्थ है? अर्थात् कोई समर्थ नहीं है।

शिरसा गिरिं बिभित्सेदुच्चिक्षिप्सेच्च स क्षितिं दोर्भ्याम्।

प्रातितीर्षेच्च समुद्रं मित्सेच्च पुन: कुशाग्रेण।।24।।

व्योम्नीन्दुं चिक्रमिषेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयिषेत्।

गत्यानिलं जिगमिषेच्चरमसमुद्रं पिपासेच्च।।25।।

खद्योतकप्रभाभि: साऽभिबुभूषेच्च भास्करं मोहात्।

सोऽतिमहाग्रन्थार्थं जिनवचनं संजिघृक्षेत ।।26।। (विशेषकम्)

जो पुरुष अतिशय बहुत ग्रंथ और अर्थ से परिपूर्ण जिनवचन का संग्रह करने की इच्छा करता है, वह मोह के कारण मस्तक से पर्वत तोड़ने की इच्छा करता है, दो हाथों से पृथ्वी को खींचने की इच्छा करता है, दो भुजा से समुद्र तैरने की इच्छा करता है, कुश (घास, तृण) के अग्र भाग से समुद्र को मापने की इच्छा करता है, आकाश में चंद्र का उल्लंघन करने की इच्छा करता है, हाथ से मेरुपर्वत कंपित करने की इच्छा करता है, गति से हवा को जीतने की इच्छा करता है, स्वयंभूरमण समुद्र को पीने की इच्छा करता है और खद्योत के तेज (प्रकाश) से सूर्य का पराभव करने की इच्छा करता है। (यहाँ 'मोह के कारण' प्रत्येक वाक्य के साथ जोड़ना।)

एकमपि [1] तु जिनवचनाद् यस्मान्निर्वाहकं पदं भवति।

श्रूयन्ते चानन्ता: सामायिकमात्रपदसिद्धा:।।27।।

तस्मात् तत्प्रामाण्यात् समासतो व्यासतश्च जिनवचनम्।

श्रेय इति निर्विचारं ग्राह्यं धार्यं च वाच्यं च ।।28।।

जिनवचन का एक पद भी उत्तरोत्तर ज्ञान प्राप्ति द्वारा संसारतारक होता है। केवल 'सामायिक' पद से अनंतकाल में अनंत सिद्ध हुए हैं, ऐसा शास्त्र में सुना जाता है। इसलिए आगम पर विश्वास रखकर 'जिनवचन कल्याणकारी है।' इस प्रकार शंका रहित होकर जिनवचन संक्षेप से या विस्तार से ग्रहण करना चाहिए , धारण करना चाहिए और अन्य को कहना चाहिए।

न भवति धर्म: श्रोतु: सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्।

ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति।।29।।

हितकर वचन के श्रवण से सभी श्रोता को लाभ हो ही, ऐसा नियम नहीं है लेकिन अनुग्रह बुद्धि से बोलने वाले वक्ता (उपदेशक) को तो अवश्य होता है।

---

[1] एकमपि पदं किं पुनरियान् सप्तपदार्थसंग्रह इति तुशब्दो विशेषयति, जिनवचनादित्यवच्छेदे पञ्चमी यथा समूहाच्छुक्लं प्रकाशते। यस्मादिति कारणे पञ्चमी।

श्रममविचिन्त्यात्मगतं तस्माच्छ्रेय: सदोपदेष्टव्यम्।

आत्मानं च परं च हि हितोपदेष्टानुगृह्णाति।।30।।

अत: स्वयं के श्रम का विचार किए बिना सदा कल्याणकारी (मोक्षमार्ग का) उपदेश देना चाहिए। कल्याणकारी उपदेश देने वाला स्व-पर दोनों पर उपकार करता है।

नर्ते च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्।

तस्मात् परमिदमेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि।।31।।

इस समस्त विश्व में मोक्षमार्ग के अलावा अन्य कोई कल्याणकारी उपदेश नहीं है। इसलिए 'मोक्षमार्ग ही श्रेष्ठ उपदेश है' ऐसा निर्णय कर मैं (उमास्वातिवाचक) मोक्षमार्ग को कहूँगा।

पूर्वधर पूज्यपाद श्री उमास्वाति महाराज प्रणीत

श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

प्रथम अध्याय

जगत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ है। चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ ही उत्तम होने से महापुरुष भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का ही उपदेश देते हैं। इसलिए यहाँ पूर्वधर पूज्यपाद श्री उमास्वाति महाराज पहले मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि सबसे पहले मोक्ष का ही उपदेश देना चाहिए क्योंकि जिसे मोक्ष का ज्ञान ही न हो उसे मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती। मोक्षमार्ग की जिज्ञासा बिना मोक्षमार्ग का उपदेश निरर्थक है। जिसे मुंबई का ज्ञान ही नहीं है उसे मुंबई जाने की इच्छा नहीं होती। मुंबई जाने की इच्छा नहीं होने से जिसे मुंबई के मार्ग की जिज्ञासा नहीं है, उसे मुंबई के मार्ग का उपदेश देना निरर्थक है। अत: पहले उसे मुंबई का स्वरूप, मुंबई जाने से होने वाले लाभ वगैरह दृष्टि से मुंबई का ज्ञान कराना चाहिए। मुंबई का ज्ञान होने के बाद मुंबई जाने की इच्छा प्रगटे और उसका मार्ग जानने की जिज्ञासा हो तो उसका उपदेश सार्थक हो। ऐसे ही प्रस्तुत में सर्वप्रथम मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष की प्राप्ति से होने वाले लाभ वगैरह दृष्टि से मोक्ष का उपदेश देना चाहिए। मोक्ष के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति की इच्छा प्रगट होती है। मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से उसके मार्ग की जिज्ञासा होती है। मोक्षमार्ग की जिज्ञासा होने पर उसके उपदेश की असर होती है। इसलिए पहले मोक्ष का उपदेश देना चाहिए, यद्यपि यहाँ ग्रंथकार महर्षि पहले मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, इसमें दो हेतु हैं–

1. पहला हेतु यह है कि प्रेक्षापूर्वकारी (= विचार पूर्वक प्रवृर्ति करने वाले) बुद्धिमान पुरुष पहले कारण का ही स्वीकार करते हैं क्योंकि कारण बिना कार्य नहीं होता। कार्य करने की इच्छा हो, कार्य के लिए प्रवृत्ति भी शुरू की हो किंतु यदि कारण नहीं मिले तो कार्य भी नहीं होगा। जैसे – मुम्बई का ज्ञान हो, मुंबई जाने की इच्छा हो किंतु मुंबई के मार्ग का ज्ञान न हो अथवा विपरीत ज्ञान हो तो मुंबई नहीं पहुँच सकते। वैसे ही मोक्ष का ज्ञान हो, मोक्ष प्राप्ति की इच्छा भी हो किंतु यदि मोक्षमार्ग का यथार्थ ज्ञान न हो तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। बृहस्पति की बुद्धि को भी मंद साबित करने वाले पंडितों को भी मोक्ष प्राप्ति के अथाह प्रयत्न करने पर भी मोक्षमार्ग के विपरीत ज्ञान से अनंतकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

2. दूसरा हेतु यह है कि सर्व दर्शनकार सामान्यत: मोक्ष के विषय में एक मत वाले हैं। मोक्ष में दु:ख की आत्यंतिक निवृत्ति होती है, ऐसा सर्व दर्शनकार मानते हैं। किंतु मोक्षमार्ग में सर्व दर्शनकारों की मान्यता भिन्न–भिन्न है। अत: भव्य जीव विपरीत मार्ग में न चले जाए अथवा गए हुए वापस आ जाए, इसलिए उन्हें सत्य मोक्षमार्ग का ज्ञान कराना महापुरुषों का कर्त्तव्य है। इस कारण से यहाँ पूर्वधर श्री उमास्वाति भगवंत सर्वप्रथम मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।

मोक्षमार्ग –

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१-१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, ये तीन एक होकर मोक्षमार्ग हैं।

इन तीन में से एक का भी अभाव हो तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे आरोग्य की प्राप्ति हेतु औषध का ज्ञान, औषध विषयक श्रद्धा और औषध का विधिपूर्वक सेवन, ये तीनों जरूरी हैं। इन तीनों में से एक का भी अभाव होने पर आरोग्य की प्राप्ति नहीं होती। वैसे ही आत्मा का आरोग्य = मोक्ष प्राप्त करने के लिये सम्यग्दर्शन आदि तीनों आवश्यक हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों युगलिक मनुष्यों की तरह सदा साथ में ही उत्पन्न होते हैं, साथ ही रहते है और यदि नष्ट हो तो साथ में ही नष्ट होते हैं। इसलिए जब सम्यग्ज्ञान हो तब सम्यग्दर्शन अवश्य होता है और जब सम्यग्दर्शन हो तब सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है। किंतु सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन हो तब सम्यक् चारित्र हो ही, ऐसा नियम नहीं है; हो सकता है अथवा नहीं भी हो। जब सम्यक् चारित्र होता है तब सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन अवश्य होता हैं।

सम्यग् यानी प्रशस्त अथवा संगत।

सम्यग्दर्शन यानी तत्त्वभूत जीवादि पदार्थ विषयक श्रद्धा।

सम्यग्ज्ञान यानी जीवादि पदार्थों का यथार्थ बोध।

सम्यक्चारित्र यानी यथार्थ ज्ञानपूर्वक असत्क्रिया से निवृत्ति ओर सत्क्रिया में प्रवृत्ति।

प्रश्न – चारित्र का यह लक्षण सिद्ध के जीवों में नहीं घटेगा?

उत्तर – कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि सिद्धों में चारित्र साध्य रूप है। जबकि यहाँ साधन रूप चारित्र का वर्णन है। यहाँ मोक्षमार्ग का वर्णन होने से मोक्ष के साधन–रूप चारित्र को बताना जरूरी है और मोक्ष के साधन रूप चारित्र उपर बताया गया चारित्र ही है। सिद्धों में योग की स्थिरता (= स्वभावरमणता) रूप चारित्र होता है।

प्रश्न – सयोगी केवली में मोक्ष के तीनों साधन परिपूर्ण होने पर भी उनका मोक्ष क्यों नहीं होता?

उत्तर– उनका मोक्ष होने में अघाती कर्म का उदय प्रतिबंधक है। कारण संपूर्णतया उपस्थित होने पर भी यदि प्रतिबंधक विद्यमान हो तो कार्य नहीं होता। पक्षी में उड़ने की शक्ति है किंतु पिंजरे में बंद हो तो उड़ नहीं सकता। वैसे ही यहाँ सम्यग्ज्ञानादि तीनों पूर्ण होने पर भी सयोगी केवली अघाती कर्म रूप पिंजरे में बंद होने से मोक्ष में नहीं जा सकते।

मोक्ष यानी सभी कर्मों का क्षय, मार्ग यानी साधन।

प्रश्न – यहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, दोनों एकसाथ उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा। किंतु तत्त्वार्थ भाष्य में **''एषां च पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्, उत्तरलाभे तु नियत: पूर्वलाभ:।** अर्थात् पूर्व के गुण की प्राप्ति होने पर बाद का गुण प्राप्त हो या न हो किंतु बाद के गुण की प्राप्ति होने पर पूर्व के गुण की प्राप्ति अवश्य होती है'' ऐसा कहा गया है। इस कथन के आधार पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो भी सकती है या नहीं भी हो सकती है। अत: सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की सहोत्पत्ति के कथन का तत्त्वार्थ भाष्य के अनियत लाभ के कथन के साथ विरोध है?

उत्तर – सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान की सहोत्पत्ति के कथन का तत्त्वार्थ भाष्य के अनियत लाभ के कथन के साथ जरा भी विरोध नहीं है। अपेक्षा से दोनों कथन सत्य है। सहोत्पत्ति का कथन सामान्य से सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से है। अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होने के साथ ही जीव का ज्ञान सम्यग् बन जाता है। अनियत लाभ का

कथन आचारांग आदि ① विषयक विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा से है, सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर आचारांगादि संबंधी विशिष्ट ज्ञान जीव को हो ही जाता है ऐसा नियम नहीं है।

अत: सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है, किंतु विशिष्ट (आचारांगादि संबंधी) ज्ञान होता ही है, ऐसा नियम नहीं है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान संबंधी सहोत्पत्ति के कथन का भाष्य के अनियत लाभ के कथन के साथ विरोध नहीं है।

मोक्ष साध्य है, सम्यग्दर्शन आदि तीन उसके साधन है। सम्यग्दर्शनादि तीन का विशेष वर्णन सूत्रकार भगवंत स्वयंमेव आगे करेंगे। इसलिए यहाँ हमें इन तीन की विशेष विचारणा नहीं करनी है।

प्रश्न – मोक्ष किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होने से उसके मार्ग का निरूपण आकाश–कुसुम ② को प्राप्त करने के उपाय के वर्णन की तरह निरर्थक है?

उत्तर – 1.सर्वज्ञ = संपूर्ण ज्ञानी भगवंत मोक्ष को प्रत्यक्ष देख रहे हैं, इसलिए मोक्ष प्रत्यक्ष से सिद्ध है।

2. अपूर्ण ज्ञान वाले जीवों को मोक्ष प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने पर भी युक्ति से = अनुमान से वह सिद्ध हो सकता है। संसारी जीवों में दिखता सुख का अंतर मोक्ष को सिद्ध करता है। संसारी जीवों में जिस सुख का अंतर दिखता है, उस सुख की पराकाष्ठा अवश्य होनी चाहिए। योगी आत्माओं के पास भोग के साधन न होने पर भी वे भोगी जीवों से अधिक सुख का अनुभव करते हैं। योगियों के सुख में भी अंतर होता है। सुख के अंतर की पराकाष्ठा अवश्य होनी चाहिए क्योंकि जहाँ–जहाँ अंतर होता है। वहाँ–वहाँ पराकाष्ठा अवश्य होती है। जैसे चन्द्र के प्रकाश में दूज, तीज वि. दिनों में अंतर होता है तो वह प्रकाश पूनम के दिन पराकाष्ठा पर पहुँचता है। वैसे ही आत्मसुख की भी पराकाष्ठा होनी चाहिए। आत्मसुख की पराकाष्ठा यानी मोक्ष। आत्मसुख की पराकाष्ठा को अनंत जीव प्राप्त कर चुके हैं और आगे भी प्राप्त करेंगे।

3. जीवों को मोक्ष की इच्छा होती है, इससे भी मोक्ष की सिद्धि होती है। जो नहीं होता है, उसकी इच्छा ही नहीं होती। जैसे: आकाश कुसुम नहीं है तो किसी को उसकी इच्छा नहीं होती।

4. आप्तप्रणीत आगमों में मोक्ष का विधान होने से आगम प्रमाण से भी मोक्ष सिद्ध है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष, युक्ति = अनुमान और आगम प्रमाण से मोक्ष की सिद्धि होती है।

प्रश्न – चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ श्रेष्ठ क्यों?

उत्तर – संसार के सभी जीव सुख की इच्छा करते हैं और दु:ख को नहीं चाहते इसलिए वे सुख प्राप्त करने और दु:ख दूर करने के लिए अर्थ और काम, इन दो पुरुषार्थ का सेवन करते हैं। इसके बावजूद भी वे दु:ख दूर नहीं कर सकते और संपूर्ण सुख प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि अर्थ और काम से मिलता सुख क्षणिक तथा दु:ख मिश्रित होने से अपूर्ण है, इसलिए तत्त्वज्ञ महापुरुषों की दृष्टि में अर्थ और काम, ये दो पुरुषार्थ सिर्फ नाम से ही पुरुषार्थ हैं। धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ के सेवन से शाश्वत और दु:ख रहित संपूर्ण सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए ये दो पुरुषार्थ ही मुख्य है, इन दो में भी मोक्ष पुरुषार्थ मुख्य हैं, धर्म तो मोक्ष का कारण होने से उपचार से पुरुषार्थ है। अत: चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ ही मुख्य है।

---

① प्रस्तुत सूत्र के भाष्य की टीका के आधार पर यह समाधान लिखा है ।

① जगत् में जो विद्यमान है वह सत् । जैसे – जीव, अजीवादि। जो जगत् में विद्यमान नहीं है, उसे असत् कहा जाता हैं। असत् वस्तु को समझाने के लिए शास्त्रों में आकाश–कुसुम और खर विषाण,ये दो दृष्टांत दिए जाते हैं। कुसुम यानी पुष्प हमेशा वृक्ष पर होता है, ऐसे ही कहीं आकाश में नहीं होता। अत: कुसुम सत् है परंतु आकाश–कुसुम जगत् में कहीं भी विद्यमान न होने से असत् हैं। खर–गधा, विषाण–सींग। गधे को कभी सींग नहीं होते इसलिए खर–विषाण भी असत् हैं। अत: इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि मोक्ष की सिद्धि में कोई प्रमाण न होने से वह आकाश–कुसुम की तरह असत् हैं। इसलिए उसके मार्ग का निरूपण भी निरर्थक हैं। केवलज्ञानी सर्वज्ञ होने से जगत् में विद्यमान सभी सत् वस्तुओं को जानते हैं।

संसार का सुख दु:ख स्वरूप ही है।

प्रश्न – मोक्ष में अन्न–पान, टी.वी., रेडियो, मोटर, बंगलो, स्त्री, मोबाईल आदि सुख के साधन न होने से सुख कैसे होता है?

उत्तर – यहीं आप भूल करते हो। अन्न–पान, स्त्री आदि सुख के साधन ही नहीं है। क्योंकि सुख तो वह है जो सदा रहे, जिसके अनुभव में जरा भी भय न हो, जो इच्छा किए बिना प्राप्त हो, जिसके लिए किसी भी बाह्य साधन की आवश्कता न हो। ऐसा सुख आत्मा में निहित है, इसलिए मोक्ष में उस सुख का अनुभव होता है, बाह्य साधनों से प्राप्त होने वाला सुख इसके विपरित है। वह कृत्रिम = सांयोगिक है। इस कारण से ही बाह्य साधन कितनी ही बार सुख तो नहीं देते बल्कि दु:ख का अनुभव कराते है। जैसे–

एक कन्या ने पिता से सुन्दर से सुन्दर साड़ी मँगवाई। पिता ने उसे लाकर दी। साड़ी पाकर वह खूब खुश हुई। साड़ी के दर्शन मात्र से उसे अत्यंत सुख का अनुभव हुआ। बाद में उसने वह साड़ी उसकी सखी को दिखाई। सखी ने वह साड़ी देखी और स्वयं की एक नई सुन्दर साड़ी उसे दिखाई। उसने सखी की साड़ी का निरीक्षण किया तो उसे डिजाईन, विविध रंग वगेरह अनेक दृष्टि से सखी की साड़ी स्वयं की साड़ी से कई गुनी सुन्दर लगी। इससे उसके हृदयगगन पर निराशा के, दु:ख के बादलों ने आक्रमण किया। अब उसकी दृष्टि में खुद की साड़ी सामान्य लगने लगी।

पाठकों ! अब ये साड़ी उसके हृदय को आनंद देगी? जब भी वह पहनेगी और जब सखी की साड़ी का स्मरण होगा तब क्या उसे दु:ख नहीं होगा? क्षण पहले जो वस्तु अत्यंत आनंदकारी थी, उससे 'स्वयं को कोई अपूर्व वस्तु प्राप्त हुई है' ऐसा लगता था, वहीं वस्तु क्षण के बाद अत्यंत निराशा उत्पन्न करती है। इसके पीछे क्या कारण है ? यदि बाह्य पदार्थो में स्वाभाविक सुख हो तो ऐसा होगा? नहीं होगा। इसलिए बाह्य पदार्थों में सुख है ही नहीं।

प्रश्न – यदि बाह्य = भौतिक वस्तु में सुख नहीं है तो उस–सभी वस्तु के भोग उपभोग से सुख = आनंद का अनुभव क्यों होता है?

उत्तर – मोहवश जीवों को विषयोपभोग की उत्सुकता प्रगट होती है। इस कारण से जब तक विषयोपभोग नहीं होता तब तक मन में अरति होती रहती है। जब विषयोपभोग होता है तब विषयोपभोग की उत्सुकता के कारण प्रगटी हुई अरति का कुछ समय के लिए अभाव होता है। इस तरह शब्दादि साधन सुख नहीं देते किंतु प्रगटी हुई अरति का सिर्फ प्रतिकार करते हैं। इसलिए जीवों को अरति रूप दु:ख का अभाव होता है। इस दु:खाभाव में सुख का उपचार किया जाता है। उदा.– खुजलीवाले मनुष्य को खुजली आती है। इससे शरीर खुजलाने की इच्छा होती है। यदि वह खुद के शरीर को नहीं खुजलाए तो उसके मन में अरति–उद्वेग उत्पन्न होता है। इसलिए वह शरीर खुजलाकर अरति का प्रतिकार करता है। तो भी कहता है कि शरीर खुजलाने से मुझे सुख का अनुभव होता है। आप ही कहो कि एक निरोगी मनुष्य शरीर नहीं खुजलाता है जबकि खुजलीवाला मनुष्य स्वयं के शरीर को खुजलाता है, तो इन दो में सुखी कौन? यदि खुजलाने से वास्तविक सुख उत्पन्न होता हो तो जो नहीं खुजलाता वह दु:खी होना चाहिए। किंतु ऐसा नहीं है। इसलिए कहना ही पड़ेगा कि खुजली वाले को खुजलाने से उत्पन्न होता सुख वास्तविक नहीं है। किंतु अरति का प्रतिकार होने से दु:खाभाव में सुख के उपचार द्वारा औपचारिक सुख है। वास्तविक सुख नहीं है।

इसी प्रकार एक अशक्त व्यक्ति पुष्टि प्राप्त करने के लिए च्यवनप्राश, केसरिया दूध आदि पीकर सुख प्राप्त करता है। जबकि एक मनुष्य अत्यंत निरोगी होने से स्वभाविक ही हृष्ट–पुष्ट है, वह सादा भोजन करता है। इन दो में कौन सुखी? यहाँ कमजोर व्यक्ति को नया सुख मिलता है या दु:ख दूर होता है? यहाँ कमजोरी का उपाधिजन्य दु:ख दूर होता है। इसमें कौन–सा विद्वान मना कर सकता है? इसी तरह वैषयिक सुख के शब्दादि साधनों से विषयोपभोग की उत्सुकता रूप उपाधि से होने वाला अरति रूप दु:ख दूर होता है, इसलिए उसमें सुख का उपचार किया जाता है। अत: शब्दादि से उत्पन्न होने वाला सुख औपचारिक सुख है, वास्तव में तो वह दु:ख ही है। इसलिए पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज अध्यात्मसार ग्रंथ में कहते हैं–

gd nÊ`\$b X: I H$_mX`H$VËdV:&
VÌ X: I àVrH$ma {d_TmZm g I ËdYr:&& (AÜ`mË_gma íbmH$ 63)

पुण्य से प्राप्त हुआ सभी प्रकार का सुख कर्मोदय जनित होने के कारण परमार्थ से दु:ख ही है। वह सुख–दु:ख के प्रतिकार रूप होने पर भी मूढ़ जीव उसे सुख रूप मानते है।

भौतिक सुख (= इन्द्रियों और विषयों के संबंध से अनुभव में आने वाला) 1. दु:खमिश्रित, 2. अंतराल वाला, 3. अनित्य, 4. अपूर्ण, 5. पराधीन, 6. दु:खफलक और 7. दु:खानुबंधी है।

1. दु:खमिश्रित – 1. स्वादिष्ट आहार में भी सच्ची भूख बिना स्वाद नहीं आता। जितनी भूख ज्यादा, उतना स्वाद ज्यादा। इसीलिए मजदूर को छाछ–रोटी जितनी मीठी लगती है, उतने मीठे पक्वान भी गादी–तकिये पर बैठे रहने वाले सेठ को नहीं लगते। अत: पहले भूख का दु:ख, फिर भोजन का सुख।

2. अतिशय तृषा लगने के बाद ही घड़े का ठंडा पानी आनंद देता है। ठंड में वैसी प्यास का अभाव होने से वह पानी वैसा आनंद नहीं देता। पहले तृषा का दु:ख, फिर ठंडे पानी का सुख।

3. घटादार वटवृक्ष की छाया कड़ी धूप के अनुभव बिना आनंद नहीं देती। ठंड के मौसम में उसी छाया में बैठने की जरा भी इच्छा नहीं होती। इस तरह पहले धूप का दु:ख फिर छाया का सुख।

4. घंटों तक मेहनत करने के बाद ही गहरी नींद का आनंद आता है। मजदूर नींद का जो आनंद लेता है, वह आनंद गादी–तकिये पर बैठे रहने वाले सेठ को नहीं आता।

इस तरह संसार में पहले दु:ख और बाद में सुख है।

दूसरी ओर से भी सोचें तो भी भौतिक सुख–दु:ख मिश्रित है। वह इस प्रकार – मनुष्य ने स्वयं के जीवन में मनोज्ञ स्वादिष्ट भोजन किया हो, स्वादिष्ट पानी पिए हो, स्त्री के साथ संभोग सुख का अनुभव किया हो इत्यादि सुख का समय और इन सुख के साधन प्राप्त करने के लिए शारीरिक – मानसिक तकलीफों को सहन करने का समय गिना जाए तो तकलीफों का समय ज्यादा होगा। इस तरह भौतिक सुख दु:खमिश्रित है।

2. अंतराल वाला – ऐसा दु:खमिश्रित सुख भी सतत नहीं भोग सकते। बीच–बीच में अंतर रखना ही पड़ता है। लगातार भोजन नहीं कर सकते, लगातार संभोग नहीं कर सकते, लगातार टी.वी. नहीं देख सकते। किसी भी प्रकार का भौतिक सुख सतत भोगने की चाहे जितनी तीव्र इच्छा कितनी भी क्यों हो किंतु बीच–बीच में अंतर रखना ही पड़ता है।

3. अनित्य – दु:खमिश्रित और अंतरवाला सुख भी अनित्य है। इस सुख का वियोग अवश्य होता है। क्योंकि भौतिक सुख को भोगने के लिए शरीर, इंद्रिय, धन वगैरह भौतिक साधन चाहिए। इन साधनों के बिना भौतिक

सुख नहीं भोग सकते। किसी के भी ये भौतिक साधन नित्य नहीं रहते। चक्रवर्ती या इन्द्र के साधन भी नित्य नहीं रहते। जहाँ संयोग है, वहाँ वियोग है। संयोग वियोग के लिए ही होता है। भौतिक वस्तुओं का वियोग दो प्रकार से होता है–

(क) भौतिक वस्तु हमें छोड़कर चले जाए।

(ख) अथवा जीव को इन वस्तुओं को छोड़कर चले जाना पड़े।

4. अपूर्ण – भौतिक वस्तुओं से मिलता सुख जैसे दु:ख मिश्रित, अंतर वाला और अनित्य है, वैसे ही अपूर्ण भी है। अर्थात् इस सुख को भोगने की जितनी इच्छा होती है, उतना भोग नहीं सकते। जैसे स्वादिष्ट भोजन बहुत करने की इच्छा होती है, किंतु बहुत नहीं कर सकते। अथवा **अपूर्ण** यानी तृप्ति की अपूर्णता। भौतिक सुख चाहे जितना भोगने पर भी तृप्ति (संतोष) नहीं होती, कम ही लगता है। धन बहुत कमाने पर भी कम ही लगता है। प्रत्येक जीव ने संसार में परिभ्रमण करते हुए असंख्य द्वीप जितना आहार किया है, असंख्य समुद्रों से भी अधिक जलपान किया है किंतु आहार की तृप्ति नही हुई। देवभव और युगलिक भव में असंख्य वर्षों तक विविध भौतिक सुख भोगने पर भी तृप्ति नहीं हुई। इसलिए भौतिक सुख अपूर्ण है।

5. पराधीन – भौतिक सुख पराधीन है। भौतिक सुख को भोगने की इच्छा मात्र से नहीं भोग सकते क्योंकि पुण्योदय हो तो ही भौतिक सुख भोग सकते हैं। भौतिक सुख भोगने के लिए सशक्त शरीर, इन्द्रिय, धन वगैरह अनेक वस्तुएँ चाहिए। ये सब वस्तु पुण्योदय हो तो ही मिल सकती है। भौतिक सुख के ये सब साधन इच्छा से या मेहनत करने से मिले ही, ऐसा नियम नहीं है; पुण्योदय हो तो ही मिलते हैं। पुण्योदय से भौतिक साधन मिलने पर भी पुण्योदय हो तो ही उन साधनों से सुख भोग सकते हैं। जैसे – पुण्योदय से लक्ष्मी मिली हो, परंतु भौतिक सुख भोगने का पुण्य न हो तो उस लक्ष्मी से सुख नहीं भोग सकते। उदा. मम्मण सेठ अथवा सदा बिमार रहने वाले श्रीमंत भोगसुख नहीं भोग सकते।

6. दु:खफलक – ऐसा भी भौतिक सुख परिणाम में दु:ख दायक ही है। इसलिए ज्ञानियों ने भौतिक सुख को से दु:खफलक कहा है। भौतिक सुख का फल दु:ख है क्योकिं भौतिक सुख भोगने में हिंसा आदि अनेक पाप होते हैं। इन पापों से पापकर्म का बंध होता है। पापकर्म का भविष्य में उदय होता है तब दु:ख भोगना पड़ता है।

7. दु:खानुबंधी – दु:खानुबंधी यानी दु:ख के अनुबंध वाला। अनुबंध यानी परंपरा। भौतिक सुख से प्राप्त होनेवाला दु:ख एक दो भव में भुगतकर खत्म नहीं होता किंतु उसकी परंपरा चलती है। क्योंकि भौतिक सुख भोगने में होती आसक्ति और क्लिष्ट परिणाम से बांधा हुआ पाप अनेक भवों में भोगने योग्य पापकर्म का बंध कराता है।

मोक्ष सुख इससे विपरीत है अर्थात् दु:ख के अंश से भी रहित, अंतर रहित (सतत अनुभव कर सके ऐसा), नित्य (हमेशा रहने वाला), पूर्ण और स्वाधीन है।

इस तरह 'भौतिक वस्तुओं से प्रगट होता सुख दु:खरूप ही है।' यह सिद्ध हुआ। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को होने वाले इस विषयक अनुभवों का शांति से चिंतन मनन करेंगे तो भी भौतिक वस्तुओं से प्राप्त होने वाला सुख दु:खरूप ही है। यह महान् सत्य उसे हस्तगत हुए बिना नहीं रहेगा।

अब दूसरी बात। मोक्ष में अन्नादि के भोग की या विषयसेवन की आवश्यकता भी क्या है? क्योंकि अन्नादि का परिभोग या विषयसेवन उत्पन्न हुए क्षुधादि दु:ख की निवृत्ति द्वारा स्वस्थता प्राप्त करने के लिए है। जबकि मोक्ष में तो स्वाभाविक स्वस्थता है क्योंकि वहाँ अस्वस्थता = क्षुधादि दु:खों का कारणरूप कर्म या इच्छादि

का अभाव है अत: वहाँ अन्नादि के उपभोग की आवश्यकता ही नहीं है। औषध सेवन की जरूरत किसे होती है? जो रोगी होता है उसे ही ना! बस वैसे ही जिसे कर्मरूप रोग होता है, उसे ही अन्नादि के भोग रूप औषध सेवन की जरूरत पड़ती है। खुजली किसे आती है? जिसे खुजली का रोग होता है उसे। वैसे ही जिसे विषयों की इच्छा रूप खुजली का रोग हो उसे ही विषय सेवन रूप खुजली की जरूरत पड़ती है। मोक्ष में न तो कर्म का रोग है और न तो इच्छा का रोग। इसलिए मोक्ष में अन्नादि के परिभोग की या विषयसेवन की जरूरत ही नहीं है। जैसे ज्ञान आत्मा का गुण है, वैसे सुख भी आत्मा का गुण है। इसलिए मोक्ष में अनंतज्ञान की तरह स्वाभाविक अव्याबाध सुख होता है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण –

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।१-२।।

तत्त्व रूप जीवादि पदार्थों की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है।

तत्त्व रूप जीवादि पदार्थ की श्रद्धा यानी जीवादि पदार्थ जिस स्वरूप वाले हैं, वैसे स्वरूप वाला उन्हें मानना। श्रद्धा, श्रद्धान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व, समकित; ये सभी शब्द एक अर्थ वाले हैं।

प्रश्न – 'तत्त्वरूप जीवादि पदार्थों की श्रद्धा, यह सम्यक्त्व' इस तरह सम्यक्त्व की व्याख्या करने में एक विरोध है। श्रद्धा – विश्वास मन के परिणाम रूप है। एक भव से दूसरे भव में जाते हुए अपांतराल गति में मन न होने से सम्यक्त्व नहीं रहेगा, जबकि आगम में तो अपांतराल गति में भी सम्यक्त्व होता है, ऐसा बताया है।

उत्तर – मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से प्रगटा हुआ शुद्ध आत्मपरिणाम, यह मुख्य सम्यक्त्व है। यह परिणाम एक भव से दूसरे भव में जाते हुए अपांतराल गति में भी होता है। इसलिए वहाँ भी सम्यक्त्व संभव होने से आगम के साथ विरोध नहीं है। जब तत्त्वार्थश्रद्धा प्रगट होती है तब मोहनीयकर्म के क्षयोपशम आदि से प्रगट होता शुभ आत्मपरिणाम अवश्य होता है। तत्त्वार्थश्रद्धा कार्य है और शुभ आत्मपरिणाम कारण है। कार्य के समय कारण अवश्य होता है। इसलिए कार्य में कारण का उपचार कर तत्त्वार्थश्रद्धा को सम्यक्त्व कहा गया है। मोहनीयकर्म के क्षयोपशम आदि से होता शुद्ध आत्मपरिणाम मुख्य सम्यक्त्व है। उससे होती तत्त्वार्थश्रद्धा औपचारिक सम्यक्त्व है। अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर जिन जीवों को मन होता है, उन्हें तत्त्वार्थश्रद्धा अवश्य होती है।

प्रश्न – किसी जीव में सम्यग्दर्शन गुण प्रगट हुआ है या नहीं, यह कैसे जान सकते हैं?

उत्तर – सम्यक्त्व = सम्यग्दर्शन के शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य, ये पाँच लक्षण = चिह्न हैं। ये पाँच लक्षण जिस जीव को होते हैं, उसे सम्यग्दर्शन होता है। शम = शांति, क्रोध का निग्रह। संवेग = मोक्ष प्रति तीव्र राग। निर्वेद = संसार प्रति उद्वेग। अनुकंपा = किसी भी प्रकार के स्वार्थ बिना दु:खी जीवों के प्रति करुणा भाव। आस्तिक्य = वीतराग देव ने जो कहा है, वह सत्य ही है, ऐसी अटल श्रद्धा।

प्रश्न – प्रशमादि पाँच लिंगों की प्राप्ति में कोई क्रम है या किसी भी क्रम से उनकी प्राप्ति होती है?

उत्तर – पश्चानुपूर्वी से उनकी प्राप्ति होती है। पहले आस्तिक्य प्राप्त होता है, फिर क्रमश: अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और प्रशम प्राप्त होते हैं।

प्रश्न – यदि पश्चानुपूर्वी क्रम से प्रशमादि गुणों की प्राप्ति होती है तो मिथ्यादृष्टि जीवों में आस्तिक्य न होने पर भी प्रशमादि क्यों होते हैं?

उत्तर – यहाँ प्रशम वगैरह गुण जिनवचन के अनुसारी विवक्षित है। जिनवचन का अनुसरण नहीं करने वाले प्रशमादि गुण परमार्थ से गुण ही नहीं हैं। क्योंकि जिस वस्तु का जो कार्य हो, उस वस्तु से वह कार्य न हो तो परमार्थ से वह वस्तु ही नहीं है। ऐसा माना जाता है। इसलिए ही मिथ्यादृष्टि में प्रशमादि गुण होने पर भी सम्यक्त्व है, ऐसा नहीं माना जाता। ①

प्रश्न – यदि पश्चानुपूर्वी से प्रशमादि गुणों की प्राप्ति होती है तो यहाँ और अन्य ग्रंथों में भी प्रशमादि गुणों का आस्तिक्यादि क्रम से निर्देश न कर प्रशमादि क्रम से निर्देश क्यों किया है?

उत्तर – प्रधानता की अपेक्षा से प्रशमादि क्रम का निर्देश किया जाता है। आस्तिक्य से अनुकंपा प्रधान है, अनुकंपा से निर्वेद प्रधान है। ऐसे क्रमश: उत्तरोत्तर गुण प्रधान है। ②

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के प्रकार –

तन्निसर्गादधिगमाद् वा ।।१-३।।

निसर्ग अथवा अधिगम, इन दो हेतु से सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है।

निसर्ग = बाह्य निमित्त बिना स्वाभाविक।

अधिगम = गुरु–उपदेश आदि बाह्य निमित्त से।

किसी जीव को बाह्य निमित्त बिना स्वाभाविक रूप से और किसी को गुरु–उपदेश आदि बाह्य निमित्त से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति अंतरंग और बाह्य ऐसे दो निमित्त से होती है। विशिष्ट शुभ आत्मपरिणाम अंतरंग निमित्त है। गुरु–उपदेशादि बाह्य निमित्त है। इन दो निमित्तों में से कुछ जीवों को बाह्य निमित्त बिना केवल अंतरंग निमित्त से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। कुछ जीवों को बाह्य निमित्त द्वारा अंतरंग निमित्त से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन बाह्य निमित्त बिना प्रगट हो सकता है, किंतु अंतरंग निमित्त बिना किसी को भी नहीं प्रगट सकता। केवल अंतरंग निमित्त से प्रगट होता सम्यग्दर्शन **निसर्ग** सम्यग्दर्शन है। बाह्य निमित्त द्वारा अंतरंग निमित्त से प्रगट होने वाला सम्यग्दर्शन **अधिगम** सम्यग्दर्शन है। ऐसा होने में उस–उस जीव का तथाभव्यत्व कारण है। आगे दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र में जीवों के भावों का स्वरूप बतलाऐंगे। उसमें जीव के पाँच भावों का वर्णन है। इन पाँच भावों में पारिणामिक नामक एक भाव है। उसके भव्यत्व, अभव्यत्व वगैरह भेद हैं।

भव्य और अभव्य, ऐसे दो प्रकार के जीव हैं। भव्य यानी मोक्ष प्राप्ति के योग्य। मोक्ष की सामग्री मिलने पर जो जीव मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, वे भव्य। अभव्य यानी मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य। मोक्ष प्राप्ति की सामग्री मिलने पर भी अभव्य जीव कभी भी मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। भव्य जीव में भव्यत्व नामक पारिणमिक भाव है। अभव्य जीव में अभव्यत्व नामक पारिणामिक भाव है। अभव्यत्व यानी मोक्ष प्राप्त करने की अयोग्यता। भव्यत्व यानी मोक्ष प्राप्ति की योग्यता।

जीव रूप में सब समान होने पर भी मोक्षगमन की योग्यता और अयोग्यता के कारण भव्य और अभव्य, ऐसे भेद होते हैं। गाय का दूध और आकड़े (वनस्पति विशेष) का दूध, दूध रूप में समान होने पर भी उसमें दो भेद हैं – एक दूध में दहीं – घी रूप बनने की योग्यता है और अन्य में दहीं–घी बनने की योग्यता नहीं है। स्त्री रूप

① श्री हरिभद्र सूरिकृत भाष्य टीका ।
② श्री हरिभद्रसूरिकृत भाष्य टीका ।

में सभी स्त्रियाँ समान होने पर भी एक बंध्या और अन्य अवंध्या, ऐसे भेद होते हैं। क्योंकि एक में पुत्रोत्पत्ति की योग्यता नहीं है और अन्य में वह योग्यता है।

अभव्य जीवों में अभव्यत्व भाव (= मोक्ष प्राप्ति की अयोग्यता) होने से प्रस्तुत में उनकी विचारणा करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अभव्य जीवों को सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति नहीं होती। भव्य जीवों में भी कुछ जातिभव्य होते हैं। जातिभव्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता होने पर भी जिन्हें कभी भी मोक्ष की सामग्री मिलने वाली ही नहीं। जातिभव्य जीवों में मोक्ष की योग्यता होती है किंतु मोक्ष की सामग्री ही नहीं मिलती। जैसे – गाँवों के बहुत सारे जीवों में ज्ञान प्राप्ति की = बुद्धि के विकास की योग्यता तो होती है परंतु उन्हें बुद्धि के विकास की सामग्री ही नहीं मिलती। इसी प्रकार जातिभव्यों में भी मोक्षप्राप्ति की योग्यता होने पर भी उन्हें मोक्ष प्राप्ति की सामग्री कभी नहीं मिलती। अभव्य जीव सामग्री मिलने पर भी कभी मोक्षप्राप्त नहीं करते जबकि जातिभव्य जीवों को मोक्ष की सामग्री ही नहीं मिलती। इसलिए यहाँ हमें जातिभव्य जीव विषयक विचार करने की भी आवश्यकता नहीं है।

अब हम भव्य जीवों की विचारणा करते हैं। प्रत्येक भव्य जीव में भव्यत्व = मोक्ष की योग्यता होने पर भी वहाँ योग्यता समान नहीं है। हर जीव मे योग्यता भिन्न–भिन्न है। हर जीव की व्यक्तिगत योग्यता अलग–अलग होती है। प्रत्येक जीव की मोक्ष प्राप्ति की योग्यता ही तथाभव्यत्व है। हरेक जीव की मोक्ष की व्यक्तिगत योग्यता अलग–अलग होने से सबका तथाभव्यत्व भी भिन्न–भिन्न है।

आम्र वृक्ष पर 500 आम हैं। उस प्रत्येक केरी में पकने की योग्यता है। तो भी वे सभी केरी एक साथ नहीं पक जाती। कुछ पाँच दिन में, कुछ छह दिन में, तो कुछ को ज्यादा दिन भी लगते हैं। कुछ केरी वृक्ष पर ही पक जाती है। तो कुछ घास में पकती है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव में तथाभव्य = मोक्ष पाने की व्यक्तिगत योग्यता भिन्न–भिन्न होती है, कोई जीव आदिनाथ भगवान के शासन में मोक्ष प्राप्त करता है तो कोई अन्य तीर्थंकर के शासन में मोक्ष प्राप्त करता है। कोई जीव उत्सर्पिणी काल में तो कोई अवसर्पिणी काल में मोक्ष प्राप्त करता है। कोई आलोचना लेते हुए, कोई भक्ति करते हुए, कोई पश्चात्ताप करते हुए, कोई अनित्यादि भावना का चिंतन करते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को सिद्ध करता है। कोई तीर्थंकर रूप में, कोई गणधर रूप में, कोई सामान्य केवली रूप में मोक्ष पाता है। इस तरह भिन्न–भिन्न रीति से मोक्षप्राप्ति का कारण उस–उस जीव का स्वयं का व्यक्तिगत तथाभव्यत्व है।

प्रत्येक जीव में तथाभव्यत्व भिन्न–भिन्न होने से सम्यग्दर्शनादि गुण भी भिन्न–भिन्न रीति से अलग–अलग हेतुओं से प्राप्त होते हैं। इसलिए किसी जीव को निसर्ग से तो किसी को अधिगम से सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति होती है। जो जीव का जिस प्रकार का तथाभव्यत्व होता है, उस जीव का उस प्रकार से मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शन गुणों की ओर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सम्यक्त्व के भेद – औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक, वेदक, और सास्वादन, ऐसे सम्यक्त्व के पाँच भेद हैं। जीव जब पहली बार सम्यक्त्व प्राप्त करता है। तब औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का क्रम –

संसार समुद्र में अनंत पुद्गलपरावर्तों तक अनंत दुःख सहन करने के बाद जीव के तथाभव्यत्व का परिपाक होने से नदीघोलपाषाणन्याय से अर्थात् तराशने के किसी भी प्रकार के प्रयत्न बिना मात्र बार–बार, इधर–उधर टकराने से नदी का पत्थर अपने आप ही गोल बन जाता है। वैसे, अनाभोगसे उत्पन्न हुए आत्मा के विशिष्ट शुभ

अध्यवसाय रूप यथाप्रवृत्ति करण द्वारा आयुष्य सिवाय के सात कर्मों की स्थिति कम होकर मात्र अंत:कोड़ाकोड़ी सागरोपम (पल्योपम का असंख्यात भाग न्यून एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम) जितनी होती है, तब जीव राग–द्वेष की ग्रंथि (राग–द्वेष का तीव्र परिणाम) के पास अर्थात् ग्रंथिदेश में आया कहलाता है। यहाँ से राग–द्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि को भेदकर आगे जाने के लिए बहुत ही वीर्योल्लास की आवश्यकता होती है।

बहुत सारे जीव यहाँ तक (= रागद्वेष की निबिड़ ग्रंथि तक) आकर वापस चले जाते हैं, अर्थात् सात कर्मों की दीर्घ स्थिति को बाँधते है और संसार में परिभ्रमण करते हैं। अभव्य और दूरभव्य जीव इस राग–द्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि तक आकर ग्रंथि का भेद नहीं कर सकने से वापस चले जाते हैं, परंतु जो आसन्न भव्य हैं, अर्थात् जिन जीवों में आध्यात्मिक विकास साधने की योग्यता प्रगट हुई है, वे जीव ग्रंथिभेद के लिए आवश्यक अपूर्व वीर्योल्लास रूप अपूर्वकरण द्वारा राग–द्वेष की ग्रंथि को तोड़ देते हैं। इसके बाद उत्तरोत्तर विशुद्ध आत्म–अध्यवसायरूप अनिवृत्तिकरण द्वारा जीव उदयक्षण से अंतर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व की स्थिति पर अंतर्मुहूर्त काल जितना अंतरकरण करता है।

अंतरकरण यानी मिथ्यात्व के कर्मदलिक रहित स्थिति। अर्थात् उदयक्षण में अंतर्मुहूर्त तक की मिथ्यात्व की स्थिति से उपर अंतर्मुहूर्त जितनी स्थिति में रहे मिथ्यात्व के दलिकों को वहाँ से ले लेता है और उस स्थिति को घास रहित बंजर भूमि की तरह मिथ्यात्व कर्म के दलिकों से रहित करता है। मिथ्यात्व कर्म के दलिकों से रहित अंतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को अंतरकरण कहा जाता है।

अंतरकरण होने पर मिथ्यात्व कर्म की स्थिति के दो विभाग होते हैं। एक विभाग अंतरकरण से नीचे की स्थिति का और दूसरा विभाग अंतरकरण से उपर की स्थिति वाला। इसमें प्रथम स्थिति में अर्थात् अंतरकरण से नीचे की स्थिति में मिथ्यात्व का उदय होने से जीव मिथ्यादृष्टि है। इस स्थिति का काल अंतर्मुहूर्त है। अंतर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति समाप्त होने पर अंतरकरण शुरू होता है। अंतरकरण के प्रथम समय से ही जीव औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। क्योंकि अंतरकरण में मिथ्यात्व के दलिक न होने से मिथ्यात्व कर्म के उदय का अभाव है। जैसे – दावानल जलते–जलते बंजर भूमि के पास आता है। तब शांत हो जाता है, वैसे मिथ्यात्वकर्म अंतरकरण के पास आने पर शांत हो जाता है।

अंतरकरण में रहा हुआ जीव मिथ्यात्व मोहनीय के कर्मदलिकों को शुद्ध [1] करता है। इसलिए उन दलिकों के तीन पुंज बनते हैं– 1. शुद्ध पुंज, 2. अर्धशुद्ध पुंज, 3. अविशुद्ध पुंज। इन तीन पुंजों के तीन नाम होते हैं – शुद्ध पुंज का सम्यक्त्व मोहनीय कर्म, अर्धशुद्ध पुंज का मिश्रमोहनीय कर्म और अविशुद्ध पुंज का मिथ्यात्व मोहनीय कर्म नाम है। जैसे नशा पैदा करने वाले कोद्रव (धान्य विशेष) को शुद्ध करने पर उसमें से कुछ भाग शुद्ध होता है, कुछ अर्धशुद्ध होता है और कुछ भाग अशुद्ध ही रहता है, वैसे यहाँ मिथ्यात्व के दलिकों को शुद्ध करने पर कुछ दलिक शुद्ध होते हैं, कुछ दलिक अर्धशुद्ध होते हैं और कुछ दलिक अशुद्ध ही रहते हैं। शुद्ध दलिक वह शुद्ध पुंज, अर्धशुद्ध दलिक वह अर्धशुद्धपुंज और अशुद्ध दलिक वह अशुद्ध पुंज। (परिशिष्ट–2 में चित्र देखें ।)

अंतरकरण का काल समाप्त होने पर यदि शुद्धपुंज का अर्थात् सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो तो जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। अर्धशुद्धपुंज अर्थात् मिश्रमोहनीय का उदय हो तो मिश्रसम्यक्त्व प्राप्त करता है। अशुद्धपुंज अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय का उदय हो तो मिथ्यात्व को प्राप्त करता है।

सम्यक्त्व मोहनीय आदि तीनों कर्मों का अर्थ आठवें अध्याय के दसवें सूत्र में समझाया जाएगा।

[1] पंचसंग्रह तथा कर्मप्रकृति की टीका में अनिवृतिकरण के चरम समय से अंतर्मुहूर्त तक जीव मिथ्यात्व के दलिकों को शुद्ध करता है, ऐसा बताया है। कर्मग्रंथ, लोकप्रकाश वगैरह प्रसिद्ध ग्रंथों में अंतरकरण में प्रवेश के पहले से (= उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के पहले समय से) अंतर्मुहूर्त तक कर्मदलिकों को शुद्ध करता है, ऐसा बताया है।

सम्यक्त्व प्राप्ति विषयक यहाँ दो मत हैं – कार्मग्रंथिक और सैद्धांतिक। कार्मग्रंथिक मत से जीव सबसे पहले जब सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब औपशमिक सम्यक्त्व ही प्राप्त करता है। जबकि सैद्धांतिक मत से औपशमिक या क्षायोपशमिक, इन दो में से कोई भी एक सम्यक्त्व [1] प्राप्त करता है। सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करें तो उसकी प्रक्रिया यहाँ कही गई उसी प्रकार है। परंतु यदि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करें तो अपूर्वकरण से अंतर्मुहूर्त बाद वाले कर्मदलिकों (अपूर्वकरण काल के बाद वाले कर्मदलिकों) के पूर्व कहे अनुसार शुद्ध आदि तीन पुंज करता है। तथा अंतर्मुहूर्त बाद शुद्ध पुंज के दलिकों को ही उदय में लाता है।

पहली बार औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करें तब औपशमिक सम्यक्त्व के बाद होने वाली स्थिति विषयक भी दो मत हैं। सैद्धांतिक मत से औपशमिक सम्यक्त्व के बाद में अवश्य मिथ्यात्व ही प्राप्त करता है। कार्मग्रंथिक मत से यहाँ कहें अनुसार तीन पुँज में से यदि शुद्ध पुंज का उदय हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, अर्धशुद्धपुंज का उदय हो तो मिश्र सम्यक्त्व और अशुद्धपुंज का उदय हो तो मिथ्यात्व प्राप्त करता है।

कार्मग्रंथिक मत से सम्यक्त्व से पतित होकर मिथ्यात्व में आने के बाद सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति पुन: बांध सकते हैं। किंतु उत्कृष्ट रस नहीं बांधते। सैद्धांतिक मत से उत्कृष्ट स्थिति भी नहीं बांध सकते।

प्रश्न – उत्कृष्ट स्थिति का बंध नहीं होता किंतु मध्यम स्थिति का बंध होता है या नहीं?

उत्तर – उत्कृष्ट स्थिति का बंध नहीं होता, यह उपलक्षण होने से मध्यम स्थिति का बंध भी नहीं होता। अर्थात् अंत:कोड़ाकोड़ी सागरोपम से अधिक स्थिति का बंध नहीं होता।

पुन: सम्यक्त्व प्राप्त करें तब कार्मग्रंथिक मत से तीनपुंज आदि प्रक्रिया नहीं करते जबकि सैद्धांतिक मत से तीन पुंज की प्रक्रिया करते हैं।

तत्त्वों की संख्या –

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।।१-४।।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

इस ग्रंथ में इन सात तत्त्वों का अलग–अलग दृष्टि से वर्णन किया गया है।

1. जीव = जो जीए, प्राणों को धारण करें, वह जीव। प्राण के द्रव्य और भाव, ऐसे दो भेद हैं। पाँच इन्द्रियाँ, तीन योग (मन–वचन–काया), श्वासोच्छ्वास और आयुष्य, ये दस द्रव्य प्राण हैं। आत्मा के ज्ञान–दर्शन आदि स्वाभाविक गुण भाव प्राण हैं। संसारी जीवों को दोनों प्रकार के प्राण होते हैं। मुक्त (= सिद्ध) जीवों को केवल भावप्राण होते हैं। इस ग्रंथ में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्याय में भिन्न–भिन्न दृष्टि से मुख्यतया जीवतत्त्व का वर्णन किया जाएगा।

2. अजीव = जो प्राणरहित हो अर्थात् जड़ हो, वह अजीव। अजीव तत्त्व के धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ; ये पाँच भेद हैं। इनमें पुद्गल रूपी है अर्थात् वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से युक्त है। जबकि धर्मास्तिकायादि अरूपी है। अर्थात् वर्णादि से रहित है। रूपी द्रव्य यदि स्थूल परिणामी हो तो चक्षु आदि इन्द्रियों से जान सकते हैं। सूक्ष्म परिणामी हो तो इन्द्रियों से नहीं जान सकते। अरूपी पदार्थ इंद्रियों से नहीं जान सकते। हमें आँखों से जो कुछ दिख रहा है, वह सब पुद्गल रूप अजीव तत्त्व है। इस ग्रंथ में पाँचवें अध्याय में मुख्यतया पुद्गलादि सभी अजीव तत्त्वों का तथा प्रासंगिक जीव तत्त्व का निरूपण किया जाएगा।

[1] कार्मग्रंथिक और सैद्धांतिक, दोनों मत से मिथ्यादृष्टि जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करता, क्षयोपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है । (देखें कर्मप्रकृति में उपशमनाकरण) परंतु विशेषावश्यक भाष्य, गा. 531 की कोट्याचार्य टीका में मिथ्यादृष्टि भी क्षायिक समकित प्राप्त करता है, ऐसा बताया है ।

3. आस्रव = कर्मों को आत्मा में आने का द्वार आस्रव है। मन, वचन और काया की शुभ–अशुभ प्रवृत्ति (योग) द्रव्य आस्रव है। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में कारणभूत जीव के शुभ–अशुभ परिणाम अथवा मन–वचन–काया की प्रवृत्ति से उत्पन्न होते जीव के शुभ–अशुभ परिणाम भाव आस्रव है। अथवा कर्मों का आत्मा में आना आस्रव। कर्मों का आत्मा में आना, यह द्रव्य आस्रव और द्रव्य आस्रव में कारणभूत मन–वचन–काया की शुभ–अशुभ प्रवृत्ति, यह भाव आस्रव है। छठें अध्याय में विविध दृष्टि से आस्रव तत्त्व का वर्णन होगा। सातवें अध्याय में व्रतों में लगने वाले अतिचारों का वर्णन आएगा। अतिचारों का स्वरूप बताने के लिए पहले व्रतों का स्वरूप समझाएँगें। व्रतों में लगने वाले अतिचार आस्रव रूप होने से सातवें अध्याय में भी आस्रव तत्त्व का ही वर्णन है।

4. बंध = कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ क्षीरनीरवत् [1] एकमेक रूप संबंध द्रव्य बंध है। द्रव्यबंध के कारणभूत आत्मा के परिणाम भावबंध है। बंध का विवेचन इस ग्रंथ के आठवें अध्याय में आएगा।

5. संवर = आत्मा में आने वालें कर्मों को जो रोके, वह संवर। समित्ति गुप्ति आदि द्रव्य संवर है। द्रव्य संवर से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम अथवा द्रव्यसंवर में कारणभूत आत्मा के परिणाम ही भावसंवर हैं। अथवा कर्मों का आत्मा में न आना द्रव्य संवर और द्रव्यसंवर में कारण रूप समिति–गुप्ति वगैरह भावसंवर है। संवर का वर्णन इस ग्रंथ के नौवें अध्याय में है।

6. निर्जरा = कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से अलग होना, यह द्रव्य निर्जरा [2] है । द्रव्य निर्जरा में कारणभूत आत्मा के शुद्ध परिणाम अथवा द्रव्य निर्जरा से उत्पन्न होनेवाला आत्मा के शुद्ध परिणाम, यह भाव निर्जरा हैं। निर्जरा तत्त्व का विशेष वर्णन इस ग्रंथ के नौवें अध्याय में है।

7. मोक्ष = सकल कर्मों का क्षय, यह द्रव्य मोक्ष है। द्रव्य मोक्ष में कारणभूत आत्मा के निर्मल परिणाम अथवा द्रव्य मोक्ष से उत्पन्न होनेवाले आत्मा के निर्मल परिणाम, यह भाव मोक्ष हैं। मोक्ष तत्त्व का वर्णन दसवें अध्याय में है।

तत्त्वों में संख्याभेद – अन्यत्र नवतत्त्व वगैरह ग्रंथों में पुण्य और पाप के साथ नौ तत्त्वों का निर्देश है।

पुण्य तत्त्व के द्रव्य और भाव, ये दो भेद हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, वह द्रव्यपुण्य और द्रव्यपुण्य के बंध में कारणभूत दया–दानादि के शुभ परिणाम भाव पुण्य हैं।

पाप तत्त्व के भी द्रव्य और भाव, ये दो भेद हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को दुःख का अनुभव होता है, वह द्रव्य पाप और द्रव्य पाप के बंध में कारणभूत हिंसा आदि के अशुभ परिणाम, वह भाव पाप हैं।

यहाँ पुण्य और पाप, इन दो तत्त्वों का आस्रव तत्त्व में समावेश कर के सात तत्त्वों का निर्देश किया गया है। पुण्य शुभ आस्रव रूप होने से उसका शुभास्रव में और पाप अशुभ आस्रव रूप होने से उसका अशुभआस्रव में समावेश हो जाता है।

इस प्रकार अन्य तत्त्वों का भी अलग–अलग तत्त्वों में समावेश किया जाए तो पाँच या दो तत्त्व होते हैं। आस्रव होने पर बंध अवश्य होता है, इसलिए आस्रव का बंध में समावेश किया जाए तथा निर्जरा मोक्ष का कारण है, जितने अंश में निर्जरा उतने अंश में मोक्ष, इसलिए निर्जरा का मोक्ष में समावेश किया जाए तो पाँच तत्त्व रहते हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये तीन तत्त्व जीव स्वरूप हैं क्योंकि जितने अंश में संवर आदि होते हैं। उतने अंश में जीव स्वस्वरूप में आता है। इसलिए इन तीनों तत्त्वों का समावेश जीव में किया जाए तथा पुण्य, पाप, आस्रव

---

① क्षीरनीरवत् यानी दूध–पानी की तरह।

② द्रव्य निर्जरा के आंशिक और संपूर्ण, ऐसे दो भेद हैं। कुछ कर्मों का क्षय आंशिक या देश निर्जरा है। सकल कर्मों का क्षय, संपूर्ण या सर्व निर्जरा है। निर्जरा तत्त्व में आंशिक निर्जरा का समावेश होता है। संपूर्ण निर्जरा का मोक्षतत्त्व में समावेश होता है क्योंकि सकल कर्मों का क्षय मोक्ष है।

और बंध ये चार तत्त्व अजीव स्वरूप = कर्मस्वरूप होने से इन चार तत्त्वों का अजीव में समावेश किया जाए तो जीव और अजीव, ये दो तत्त्व रहते हैं।

तत्त्वज्ञान का प्रयोजन –

तत्त्वों को जानकर हेय तत्त्वों का त्याग करना चाहिए और उपादेय तत्त्वों का सेवन करना चाहिए। हेय तत्त्वों का त्याग और उपादेय तत्त्वों का सेवन = ग्रहण, यही तत्त्वज्ञान का प्रयोजन है। सभी तत्त्व ज्ञेय (जानने योग्य) हैं। जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये चार तत्त्व उपादेय (आचरने योग्य) है। अजीव, आश्रव और बंध, ये तीन तत्त्व हेय (त्याग करने योग्य) हैं। नौ तत्त्वों की अपेक्षा से पाप सर्वथा हेय हैं। पुण्य अपेक्षा से हेय भी है और अपेक्षा से उपादेय भी है। अशुद्ध पुण्य सर्वथा हेय है। शुद्ध पुण्य व्यवहार से एक कक्षा तक उपादेय है। शुद्ध पुण्य मार्गदर्शक (गाईड) का कार्य करता है। जैसे यात्रिकों को विकट पंथ पर जाने में गाईड मदद करता है और वापस लोट जाता है, वैसे शुद्ध पुण्य जीव को आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक मानव भव, आर्य देश आदि सामग्री देने द्वारा आध्यात्मिक साधना में मदद करता है और कार्य पूर्ण होने पर विदाई लेता है। जैसे आग काष्ठ वगैरह को जलाकर स्वयं शांत हो जाती है वैसे शुद्ध पुण्य पाप का नाश कर स्वयं ही क्षीण हो जाता है। इस अपेक्षा से पुण्य उपादेय है। परंतु निश्चय से तो शुद्ध पुण्य भी हेय है क्योंकि वह जीव की स्वतंत्रता को रोकता है। कर्म मात्र जीव की स्वतंत्रता को रोकने वाला होने से बेड़ी समान है। पाप कर्म लोहे की बेड़ी समान है तो पुण्य कर्म सोने की बेड़ी समान है।

तत्त्वों का परस्पर संबंध – जीव तत्त्व में अजीव (= कर्म) तत्त्व का आस्रव (प्रवेश) होता है। जीव तत्त्व में अजीव (= कर्म) तत्त्व का आस्रव होने से बंध होता है। अर्थात् जीव के साथ अजीव (कर्म पुद्गल) क्षीरनीरवत् एकमेक बन जाता है। कर्म का बंध होने से कर्म का उदय होता है। कर्म के उदय से संसार में परिभ्रमण और दु:खों का अनुभव होता है। इस प्रकार दु:ख का मूलकारण आस्रव तत्त्व है। अत: दु:ख दूर करने के लिए आस्रव का निरोध करना चाहिए। आस्रव का निरोध यानी संवर। पूर्व में बंधे हुए कर्मों का नाश करने के लिए निर्जरा तत्त्व जरूरी है। संवर से कर्मों का बंध नहीं होता और निर्जरा से पूर्व में बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है। अत: संवर और निर्जरा से आत्मा सर्वथा कर्म रहित बनती है। आत्मा की सर्वथा कर्मरहित अवस्था यानी मोक्ष।

तत्त्वों के निक्षेप का निर्देश–

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ।।१-५।।

नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव–इन चारों द्वारों से जीवादि तत्त्वों का न्यास–निक्षेप हो सकता है। अर्थात् नाम आदि चार द्वारों से जीवादि तत्त्वों का स्वरूप समझ सकते हैं। प्रत्येक वस्तु नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव–इन चार स्वरूप में अवश्य होती है।

नाम निक्षेप – वस्तु का नाम वह नाम निक्षेप। यदि वस्तु का नाम न हो तो व्यवहार ही न चल सके। जैसे वस्तु को साक्षात् देखने से उस वस्तु की इच्छा या वस्तु पर राग–द्वेष होते हैं, वैसे ही वस्तु का नाम सुनने से भी इच्छा या राग–द्वेष प्रगट होते हैं।

स्थापना निक्षेप – स्थापना यानी आकृति – प्रतिबिंब। वस्तु की स्थापना = आकार (प्रतिबिंब) देखने से भी इच्छा या राग–द्वेष प्रगट होते हैं। अत: नाम और स्थापना वस्तु स्वरूप है। घट का नाम नामघट है। घट की आकृति स्थापना घट है।

द्रव्यनिक्षेप – वस्तु की भूतकाल की या भविष्यकाल की अवस्था। जैसे घट की भूतकाल की अवस्था मृत्पिंड (मिट्टी का पिंड) है और भविष्य की अवस्था कपाल है। इसलिए मृत्पिंड और कपाल द्रव्य घट है। मृत्पिंड और कपाल घड़े का ही स्वरूप है।

भावनिक्षेप – वस्तु की वर्तमान अवस्था। तैयार बना हुआ घट भाव घट है।

द्रव्य और भाव निक्षेप, ये दो निक्षेप सापेक्ष हैं। अर्थात् एक ही वस्तु का अपेक्षा से द्रव्यनिक्षेप में और भावनिक्षेप में समावेश होता है। जैसे दहीं श्रीखंड की अपेक्षा से द्रव्यश्रीखंड है, दूध की अपेक्षा से द्रव्यदूध है, दहीं की अपेक्षा से भाव दहीं है। घट कपाल की अपेक्षा से द्रव्य कपाल है, मिट्टी की अपेक्षा द्रव्यमृत्पिंड है, घड़े की अपेक्षा से भाव घट है।

यहाँ इतना अवश्य ख्याल रखने जैसा है कि जो वस्तु भावनिक्षेप में पूज्य या त्याज्य है, उस वस्तु के अन्य तीनों निक्षेप भी पूज्य या त्याज्य होंगे।

तत्त्वों को जानने के साधन –

प्रमाणनयैरधिगम : ।।१-६।।

प्रमाण और नयों से तत्त्वों का अधिगम = बोध होता है।

प्रमाण और नय, ये दोनों ज्ञान के स्वरूप हैं। जिससे वस्तु का निर्णयात्मक बोध हो वह ज्ञान। किसी भी वस्तु का निर्णयात्मक बोध प्रमाण और नय से होता है। इसलिए प्रमाण और नय ज्ञान स्वरूप ही है। प्रमाण और नय, दोनों ज्ञान स्वरूप होने पर भी दोनों में भेद है। **जिससे वस्तु के नित्य–अनित्य आदि अनेक धर्मों का बोध हो वह प्रमाण। जिससे वस्तु के नित्य–अनित्य आदि किसी एक धर्म का निर्णयात्मक बोध हो वह नय।** प्रमाण से वस्तु का पूर्ण बोध होता है जबकि नय से अपूर्ण = आंशिक बोध होता है। अत: नय प्रमाण का ही एक अंश है।

नय और प्रमाण के बीच में अंगांगीभाव है। प्रमाण अंगी है, जबकि नय उसके अंग हैं। प्रमाण किसी भी बाबत का पूर्णतया बोध कराता है जबकि नय आंशिक बोध कराता है। जैसे – 'आत्मा नित्य है या अनित्य' इस विषय में 'आत्मा नित्यानीत्य है' यह प्रमाण वाक्य है। 'आत्मा नित्य है' अथवा 'आत्मा अनित्य है' यह नय वाक्य है। क्योंकि 'आत्मा नित्यानीत्य है' इस वाक्य से नित्यत्व–अनित्यत्व धर्म की दृष्टि से आत्मा का पूर्णरूप से बोध होता है। जबकि 'आत्मा नित्य है' इस वाक्य से आत्मा का केवल नित्य रूप से बोध होता है। आत्मा अनित्य भी है, ऐसा बोध नहीं होता। इसी प्रकार 'आत्मा अनित्य है' इस वाक्य से आत्मा का अनित्य रूप में बोध होता है। परंतु आत्मा नित्य भी है, ऐसा बोध नहीं होता। 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष:' ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है, यह प्रमाण वाक्य है। 'ज्ञानेन मोक्ष:' ज्ञान से मोक्ष होता है, यह नय वाक्य है। 'क्रियया मोक्ष:' क्रिया से मोक्ष होता है, यह नय वाक्य है।

तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नय से होता है, ऐसा सामान्य से बताया। अब विशेष रूप में तत्त्व संबंधी अधिगम = ज्ञान करने के द्वारों का निर्देश करते हैं–

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानत:।।१-७।।

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान, इन छह द्वारों से तत्त्वों का ज्ञान हो सकता है।

1. निर्देश यानी दिन स्वरूप। 2. स्वामित्व यानी स्वामी – मालिक। 3. साधन यानी उत्पन्न होने के निमित्त 4. अधिकरण यानी रहने का स्थान 5. स्थिति यानी काल। 6. विधान यानी प्रकार

पहले हम एक प्रसिद्ध दृष्टांत लेकर क्रमश: इन छह द्वारों से विचारणा करते हैं, जिससे तत्त्व की विचारणा में इन छह द्वारों का अर्थ शीघ्र समझ में आ जाए। उदा. आम है–

1. आम स्वादिष्ट, मधुर पाचक और पुष्टि देने वाला एक प्रकार का फल हैं। यह आम के स्वरूप की विचारणा हुई।

2. जिन लोगों के उद्यान में यह फल उत्पन्न होता है, वे इसके मालिक है। यह स्वामी की विचारणा हुई।

3. आम्र वृक्ष पर आम उत्पन्न होता है, यह निमित्तों की विचारणा हुई।

4. यह आम भारत, अफ्रिका, अमेरिका वगैरह देशों में उत्पन्न होता है, यह अधिकरण की विचारणा हुई।

5. यह आम पकने के बाद लगभग एक महिने तक खराब नहीं होता, यह काल की विचारणा हुई।

6. आम के हापूस वगैरह अनेक प्रकार होते हैं। यह विधान (= प्रकार) की विचारणा हुई।

अब सम्यग्दर्शन गुण की इन छह द्वारों से विचारणा करते हैं – **1. स्वरूप** – सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है। इससे जीव विवेकी बनता है, पारमार्थिक ज्ञान वाला बनता है, हेय – उपादेय का विवेक कर सकता है। उसकी प्राप्ति होने से जीव का संसार परिमित हो जाता है। **2. स्वामी** – सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण होने से उसका स्वामी जीव है, अजीव नहीं है। **3. निमित्त** – सम्यग्दर्शन की प्राप्ति निसर्ग = स्वाभाविक और अधिगम = परोपदेशादि निमित्तों से होती है। अथवा मिथ्यात्व मोहनीय और अनंतानुबंधी चार कषाय के क्षयोपशम–उपशम आदि से होती है। **4. अधिकरण** = सम्यग्दर्शन जीव में प्रगट होता है इसलिए उसका अधिकरण जीव है। **5. काल** = क्षायिक सम्यग्दर्शन का काल सादि–अनंत है। अर्थात् प्रगट होने के बाद सदा रहता है, कभी भी उसका नाश नहीं होता। औपशमिक सम्यक्त्व का काल जघन्य या उत्कृष्ट से अंतर्मुहूर्त है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का काल जघन्य से अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से साधिक 66 सागरोपम [1] है। **6. प्रकार** – सम्यग्दर्शन के क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक, मुख्य तीन भेद हैं।

शास्त्रीय पद्धति से तत्त्वों को विशेष रूप से जानने के प्रकार –

सत्-सङ्ख्या-क्षेत्र-स्पर्शना-कालाऽन्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च ।।१-८।।

सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अंतर, भाव, अल्पबहुत्व–इन आठ द्वारों से भी तत्त्वों का ज्ञान हो सकता है। जैसे निर्देश आदि छह द्वारों से तत्त्वों का ज्ञान होता है, वैसे इन सत् आदि द्वारों से भी तत्त्वों का ज्ञान होता है।

1. सत्– सत् यानी सत्ता = विद्यमानता। विवक्षित वस्तु जगत् में विद्यमान है या नहीं। उसकी विचारणा इस द्वार में होती है।

2. संख्या– विवक्षित वस्तु की या उसके मालिक की संख्या कितनी है? उसकी विचारणा करना इस द्वार का प्रयोजन है।

---

[1] मनुष्य भव में पूर्वकोटि आयु वाला (1 करोड़ पूर्व) जीव 8वर्ष की उम्र में सम्यक्त्व प्राप्त कर विजय आदि चार में से किसी एक अनुत्तर देवलोक में उत्कृष्ट 33 सागरोपम आयु वाला देव बने। वहाँ से च्युत होकर मनुष्य भव में पुन: पूर्व कोटि आयु पसारकर विजयादि में पुन: 33 सागरोपम आयु वाला देव बने। वहाँ से च्युत होकर पुन: मनुष्य भव में पूर्वकोटि आयु प्राप्त करें। इस भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त होता है। अत: दो बार विजयादि देवलोक में उत्पन्न होने पर 66सागरोपम होते हैं। तथा तीन मनुष्य भव के 3 पूर्वकोटि वर्ष अधिक जानना। अथवा 3 बार अच्युत देवलोक में उत्पन्न हो तो भी 66सागरोपम होते हैं । (अच्युत देवलोक में उत्कृष्ट स्थिति 22 सागरोपम) और मनुष्यभव का काल अधिक जानना।

3. क्षेत्र – विवक्षित तत्त्व अथवा उसके स्वामी कितने क्षेत्र में हो सकता है? यह इस द्वार से जानते हैं।

4. स्पर्शना – विवक्षित तत्त्व अथवा उसके मालिक कितने क्षेत्र को स्पर्श करते हैं? इसका बोध इस द्वार से होता है।

5. काल – विवक्षित तत्त्व कितने काल तक रहता है? उसकी विचारणा।

6. अंतर – विवक्षित तत्त्व की प्राप्ति होने के बाद उसका वियोग हो तो कितने काल तक वियोग रहता है? यह ज्ञान इस द्वार से होता है।

7. भाव – औदयिक आदि पाँच भावों में से कौन–से भाव में विवक्षित तत्त्व होता है? उसकी विचारणा।

8. अल्पबहुत्व – सम्यग्दर्शनादि तत्त्वों का स्वामी की अपेक्षा से न्यून–अधिक का विचार।

अब हम सम्यग्दर्शन गुण की इन द्वारों से विचारणा करते हैं–

1. सत्– सम्यग्दर्शन जगत् में विद्यमान है। वह चेतन का गुण होने से चेतन में होता है, जड़ में नहीं। चेतन में भी प्रत्येक जीव में होता है, ऐसा नियम नहीं है।

2. संख्या – सम्यग्दर्शन जिनमें है, वैसे जीव जगत् में असंख्यात है। सिद्ध जीवों की अपेक्षा से वैसे जीव अनंत हैं।

3. क्षेत्र– सम्यग्दर्शन वाले एक जीव का या सर्व जीव का क्षेत्र, लोक का असंख्यातवां भाग ही है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव संज्ञी पंचेंन्द्रिय ही होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव लोक के असंख्यातवें भाग में ही रहे हैं। एक जीव के असंख्यातवें भाग से अनेक जीवों का असंख्यातवां भाग बड़ा समझना।

प्रश्न – लोक का असंख्यातवां भाग यानी क्या?

उत्तर – बुद्धि से लोक के असंख्य भाग की कल्पना करना। उसमें से एक भाग जितना क्षेत्र असंख्यातवां भाग गिना जाता है। जैसे – असत्कल्पना से लोक के 100 भाग की कल्पना करे तो उसमें से एक भाग लोक का 100 वां भाग होगा। वैसे ही असंख्य भागों में से एक भाग असंख्यातवां भाग होगा। एक या अनेक सम्यग्दृष्टि जीवों का क्षेत्र ऐसा एक असंख्यातवां भाग है। एक या अनेक सम्यग्दृष्टि जीव उतने क्षेत्र में रहते हैं।

यह माप घनक्षेत्र की अपेक्षा से है। सूचिक्षेत्र की अपेक्षा से एक जीव या अनेक जीवों की अपेक्षा से 8राज क्षेत्र होता है। वह इस प्रकार–अच्युत [1] देवलोक का देव जन्मांतर के या उसी भव के स्नेह से आठवें सहस्त्रार देवलोक के देव को बारहवें अच्युत देवलोक तक ले जाता हैं। बारहवें देवलोक में गया हुआ सहस्त्रार देवलोक का देव वहाँ से उत्तरवैक्रिय शरीर से तीसरी नरक में जाए तब बारहवें देवलोक से तीसरी नरक तक आत्मप्रदेश संलग्न होते हैं, इस अपेक्षा से क्षेत्र 8राज होता है। अथवा 8 वें सहस्त्रार देवलोक का देव एक रूप से उपर 12 वें देवलोक में जाए तो भी 8राज क्षेत्र होता है। तिर्च्छालोक के मध्य भाग से ईशान तक 1½ राज, माहेन्द्र तक 2 ½ राज, सहस्त्रार तक 5 राज, अच्युत तक 6 राज तथा तिर्च्छालोक के मध्यभाग से तीसरी नरक तक 2 राज होते हैं। क्योंकि प्रथम नरक रत्नप्रभा पृथ्वी में ही होने से संख्यात योजन होते हैं। दूसरी नरक एक राज पर पूर्ण होती है। ऐसे तीसरी नरक तक 2 राज होते हैं। इस तरह 6+2=8 राज।

सहस्त्रार तक के देव स्वयं के अवधिज्ञान से देखकर मित्र नारकी की वेदना शांत करने और शत्रु नारकी की वेदना की उदीरणा करने (= अधिक दु:ख उत्पन्न करने) तीसरी नरक तक जाते हैं। आनतादि देवों की तीसरी

[1] देवलोक और नरक के लिए परिशिष्ट –2 में चौदह राजलोक का चित्र देखें ।

नरक तक जाने की शक्ति होने पर भी वे अल्पस्नेह आदि भाव वाले होने से नरक में नहीं जाते। इसलिए यहाँ 'बारहवें अच्युत देवलोक में गया सहस्रार तक का देव' ऐसा कहा है।

यद्यपि सीताजी का जीव अच्युतेन्द्र (12 वें देवलोक का इन्द्र) चौथी नरक में रहे लक्ष्मण को पूर्व भव के स्नेह से मिलने गया था परंतु ऐसा कभी-कभार ही होने से उसकी विवक्षा नहीं की।

4. स्पर्शना – सम्यग्दृष्टि एक जीव या अनेक जीव जघन्य से लोक के असंख्यात भाग का स्पर्श करते हैं, उत्कृष्ट से एक जीव या अनेक जीवों की अपेक्षा से 14 राज प्रमाण लोक के कुछ न्यून ऐसे 8 राज का स्पर्श करते हैं। वह इस प्रकार-क्षेत्र द्वार में कहा वैसे तीसरी नरक से बारहवें देवलोक तक 8 राज की ऊँचाई और चौड़ाई शरीर जितनी होती है।

प्रश्न – स्पर्शना 8 राज में कुछ न्यून कैसे होती है?

उत्तर – उपर 6 राज विमान की ध्वजा तक पूर्ण होते हैं। देव ध्वजा तक नहीं जाते, देवसभा तक ही जाते हैं। अत: उपर की ध्वजा का भाग बाकी रहता है। नीचे तीसरी पृथ्वी पूर्ण हो वहाँ दो राज पूरे होते हैं परंतु देव तीसरी पृथ्वी पूर्ण होती है वहाँ तक नहीं जाते, मात्र नरकावास तक ही जाते हैं। अत: नरकावास से नीचे की पृथ्वी का भाग बाकी रहता है। तथा त्रस नाड़ी गोल होने से त्रसनाड़ी के अंत तक नरकावास या विमान नहीं होते। अत: त्रसनाडी के अंतिम छोर से विमान या नरकावास जितने दूर हो उतना भाग छूट जाता है क्योंकि उतने भाग में गमनागमन या मरणसमुद्घात से भी आत्मप्रदेश नहीं फैलते। इस तरह उपर, नीचे और आस-पास का भाग बाकी रहता है। अत: उतने भाग को छोड़कर राज की स्पर्शना होती है। इसलिए यहाँ 'कुछ न्यून 8 राज को स्पर्शता है' ऐसा कहा है।

यह माप घन की अपेक्षा से है। सूचि की अपेक्षा से एक जीव की अपेक्षा से 8 राज और अनेक जीवों की अपेक्षा से 12 राज स्पर्शना होती है।

इसमें 8 राज की स्पर्शना क्षेत्रद्वार में बताए अनुसार समझना। 12 राज की स्पर्शना इस प्रकार है – अनुत्तर देवलोक में जाते हुए या वहाँ से च्युत होकर मनुष्य भव में आते हुए 7 राज की स्पर्शना होती है। तथा पूर्वबद्धायु अविरत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच अथवा मनुष्य क्षायोपशमिक सम्यक्त्व लेकर छठी नरक में भी उत्पन्न होता है। अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व युक्त नारकी वहाँ से निकलकर मनुष्य भव में उत्पन्न होता है। अत: अविरत सम्यग्दृष्टि को छठी नरक में जाते अथवा आते हुए 5 राज की स्पर्शना होती है। ऐसे सभी मिलकर अविरत सम्यग्दृष्टि आत्माओं को सामान्य से 12 राज की स्पर्शना होती है।

केवली समुद्घात की अपेक्षा से संपूर्ण लोक की स्पर्शना समझना।

सूचि – प्रतर – घन का संक्षिप्त स्वरूप –

सूचि यानी एक प्रदेश जितनी चौड़ी और सात राज लंबी श्रेणी। जैसे असत्कल्पना से तीन प्रदेश की एक श्रेणी की जाए तो 'O O O' ऐसी सूचि होगी।

सूचि को सूचि से गुना करने पर प्रतर होता है। असत्कल्पना से तीन प्रदेश वाली सूचि को तीन से गुणाकार करने पर समान लंबाई-चौड़ाई वाला नौ प्रदेश का प्रतर होगा। उसकी स्थापना इस प्रकार है-

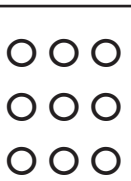

प्रतर को सूचि से गुना करने पर घन होता है। असत्कल्पना से 9 प्रदेश वाले प्रतर को 3 प्रदेश वाली सूचि से गुणाकार करने से समान लंबाई–चौड़ाई–ऊँचाई वाले 27 प्रदेश होते हैं अर्थात् एक के उपर एक तीन प्रतर रखने से घन होता है।

क्षेत्र–स्पर्शना में अंतर–क्षेत्र की विचारणा केवल वर्तमान काल की अपेक्षा से होती है। जबकि स्पर्शना की विचारणा तीनों काल की अपेक्षा से होती है। क्षेत्र और स्पर्शना में काल की अपेक्षा से ही भेद है।

5. काल – सम्यग्दर्शन का काल एक जीव की अपेक्षा से जघन्य से अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से कुछ अधिक 66 सागरोपम है। अनेक जीवों की अपेक्षा से सर्व काल है। अर्थात् सम्यग्दर्शन सदा विद्यमान होता है।

6. अंतर – एक जीव की अपेक्षा से जघन्य से अंतर्मुहूर्त तक, उत्कृष्ट से देशोन अर्धपुद्गल परावर्त तक सम्यग्दर्शन का विरह (अंतर) होता है। अनेक जीवों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन का अंतर ही नहीं होता।

7. भाव – क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक भाव में, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक भाव में और औपशमिक सम्यक्त्व औपशमिक भाव में होता है।

8. अल्पबहुत्व – औपशमिक सम्यक्त्व वाले जीव सबसे अल्प होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन वाले जीव उनसे असंख्य गुना होते हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन वाले जीव उनसे अनंत गुना होते हैं क्योंकि सिद्ध के जीवों को क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। और वे जीव अनंत हैं।

ज्ञान के प्रकार –

मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानम्।।१-९।।

मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्याय और केवल, ये पाँच ज्ञान हैं।

1. मतिज्ञान – मन और इन्द्रियों की सहायता से होनेवाला बोध।

2. श्रुतज्ञान – मन और इन्द्रियों की सहायता से शब्द और अर्थ के पर्यालोचन पूर्वक होनेवाला बोध [①] । शब्द और पुस्तक बोध रूप भाव–श्रुत के कारण होने से द्रव्य श्रुत है [②]।

मति–श्रुत में भेद – (अ) मति और श्रुत, ये दोनों ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता से होने पर भी श्रुत में शब्द और अर्थ का पर्यालोचन होता है। जबकि मतिज्ञान में उसका अभाव होता है।

(आ) मतिज्ञान वर्तमान काल के विषय को ग्रहण करता है जबकि श्रुतज्ञान तीनों काल के विषय को ग्रहण करता है।

(इ) मतिज्ञान की अपेक्षा से श्रुतज्ञान विशुद्ध है। अत: श्रुतज्ञान से दूर रहे और व्यवहित (दिवाल वगैरह के पीछे रहे) अनेक सूक्ष्म अर्थों का बोध हो सकता है।

① विशेषा. भा. गा. 100 और 144 ।
② विशेषा. भा. गा. 124 ।

(ई) श्रुतज्ञान में मन और इन्द्रियों की सहायता के साथ–साथ आप्तोपदेश (विश्वसनीय पुरुष के उपदेश) की भी आवश्यकता है।

(उ) श्रुतज्ञान मतिज्ञान बिना होता ही नहीं है। जबकि मतिज्ञान श्रुतज्ञान बिना भी हो सकता है। (पहले अध्याय के 20 वें और 31 वें सूत्र के भाष्यादि के आधार पर।)

(3) अवधिज्ञान– इन्द्रिय और मन की अपेक्षा बिना आत्मशक्ति से होता रूपी द्रव्यों का बोध। अवधि = मर्यादा। रूपी और अरूपी, ऐसे दो प्रकार के द्रव्य हैं। इसमें मात्र रूपी द्रव्यों को देख सके ऐसी मर्यादा वाला ज्ञान, वह अवधिज्ञान।

(4) मन:पर्यायज्ञान – ढाई द्वीप में रहे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन में रहे विचारों = पर्यायों का बोध।

(5) केवलज्ञान – तीनों काल के सभी द्रव्य तथा सभी पर्यायों का ज्ञान। केवल यानी भेद रहित। जैसे मतिज्ञान आदि के भेद हैं, वैसे केवलज्ञान के भेद नहीं है। अथवा केवल यानी शुद्ध = सर्व आवरण रहित। अथवा केवल यानी संपूर्ण। अथवा केवल यानी मतिज्ञानादि से रहित असाधारण। अथवा केवल यानी अनंत = सर्व द्रव्य – पर्यायों का बोध कराने वाला।

पाँच ज्ञान की प्रमाण की अपेक्षा से विचारणा –

तत्प्रमाणे ।।१-१०।।

आद्ये परोक्षम् ।।१-११।।

प्रत्यक्षमन्यद् ।।१-१२।।

पाँच प्रकार का ज्ञान दो प्रमाण रूप है। (10) प्रथम दो – मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष प्रमाण रूप है। (11) शेष अवधि, मन पर्याय और केवल, ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है।

प्रमाण का वर्णन इस अध्याय के छठे सूत्र में आ गया है।

प्रश्न – न्याय आदि दर्शनग्रंथों में तथा लोक में चक्षु आदि इंद्रियों द्वारा होने वाले बोध = मतिज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है जबकि यहाँ मतिज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहा गया है। ऐसा क्यों?

उत्तर – यहाँ प्रत्येक विषय की विचारणा आध्यात्मिक दृष्टि से की जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से मतिज्ञान भी परोक्ष ज्ञान है। अक्ष शब्द का अर्थ जैसे इन्द्रिय होता है वैसे आत्मा भी होता है। अत: आध्यात्मिक दृष्टि से प्रत्यक्ष ज्ञान वही है जो इन्द्रिय की सहायता बिना केवल आत्मा से हो। जो ज्ञान इंद्रियों की सहायता से होता है वह आध्यात्मिक दृष्टि से परोक्ष है। अक्ष यानी आत्मा। इन्द्रियों की सहायता बिना साक्षात् आत्मा के होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। आत्मा से अन्य अर्थात् इंद्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। ज्ञान ही प्रमाण है इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है, परोक्षज्ञान परोक्ष प्रमाण है। मतिज्ञान इन्द्रियों की सहायता से होने से परोक्ष ज्ञान है। न्यायदर्शन आदि दर्शन ग्रंथों में और लोक में अक्ष शब्द का अर्थ इन्द्रिय स्वीकार कर मतिज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है। इस दृष्टि से जैनदर्शन भी मतिज्ञान को न्यायग्रंथों में प्रत्यक्षज्ञानरूप में स्वीकारता है। जैन न्यायग्रंथों [①] में मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। श्रुतज्ञान को तो आध्यात्मिक दृष्टि से या व्यावहारिक दृष्टि से, दोनों प्रकार से परोक्ष कहा गया है क्योंकि वह मतिपूर्वक और परोपदेश से होता है।

① प्रमाण मीमांसा, अध्याय –1, आह्निक –1, सूत्र – 20 । प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, परिच्छेद –2, सूत्र –4 ।

मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द –

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।।१-१३।।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध – ये पाँच शब्द एकार्थक हैं। अर्थात् इन पाँच शब्दों का अर्थ मतिज्ञान होता है।

अभिनिबोध शब्द मात्र जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। जबक मति आदि शब्द लोक में भी प्रसिद्ध है। अभिनिबोध की जगह आभिनिबोधिक शब्द भी जैन शास्त्रों में आता है।

मति आदि शब्द सामान्य से = स्थूल दृष्टि से एकार्थक होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उन हरेक शब्द में सामान्य अर्थभेद है। वह इस प्रकार –

मति – वर्तमान विषय को ग्रहण करती है। अर्थात् इंद्रिय या मन द्वारा वर्तमान में विषय का बोध वह मतिज्ञान। **स्मृति**– भूतकाल के विषय को ग्रहण करती है। पूर्व में अनुभव किए हुए विषय का स्मरण वह स्मृतिज्ञान। **संज्ञा** –भूतकाल के विषय को वर्तमान काल का विषय बनाती है। पूर्व में अनुभव की हुई वस्तु को वर्तमान में देखकर 'ये वही वस्तु है, जिसे मैंने पहले देखा था' इस प्रकार का होने वाला ज्ञान संज्ञा ज्ञान है। अन्य ग्रंथों में इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। **चिंता–** भविष्य–काल के विषय को ग्रहण करती है। भविष्य के लिए विचारना वह चिंता ज्ञान। **अभिनिबोध–** शब्द मति आदि प्रत्येक ज्ञान के लिए सर्वसामान्य है। अत: मति आदि शब्द ज्ञान विशेष के लिए है। जैसे रोकड़ा, पैसा, व्यापार का माल, घर, घर का फर्निचर वगैरह सामान्य से मिल्कत (संपत्ति) शब्द से पहचाने जाने पर भी प्रत्येक प्रकार की मिल्कत के लिए अलग–अलग शब्द है। अत: मिल्कत के लिए मिल्कत सामान्य शब्द है जबकि पैसे वगैरह विशेष शब्द है। वैसे प्रस्तुत में अभिनिबोध शब्द सर्वप्रकार के मतिज्ञान के लिए है और विशेष प्रकार के उस–उस मतिज्ञान के लिए मति आदि शब्द है।

मतिज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त –

तदिन्द्रियानीन्द्रियनिमित्तम्।।१-१४।।

वह मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से उत्पन्न होता है।

त्वचा, रसना, नाक, आँख और कान – ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पाँच इन्द्रियों द्वारा क्रमश: स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द का मतिज्ञान होता है। अनिन्द्रिय यानी मन। जब स्पर्शादि विषय का मतिज्ञान होता है। तब सबसे पहले विषय = वस्तु के साथ इन्द्रिय का संबंध होता है। बाद में तुरंत इन्द्रिय के साथ जुड़े ज्ञानतंतु मन को खबर देते हैं। मन आत्मा को खबर देता है। अत: आत्मा में उस विषय का मतिज्ञान उत्पन्न होता है। इस तरह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है।

मतिज्ञान के भेद –

अवग्रहेहापायधारणाः ।।१-१५।।

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा – ऐसे मुख्य चार भेद हैं।

अवग्रह – इन्द्रिय के साथ विषय का संबंध होने पर 'कुछ है' ऐसा अव्यक्तत बोध होता है। इस अव्यक्त बोध को अवग्रह कहा जाता है।

ईहा – 'कुछ है' ऐसा बोध होने के बाद 'वह क्या है' ऐसी जिज्ञासा होती है। इस जिज्ञासा का समाधान करने अर्थात् ''वह वस्तु क्या है?' इसका निर्णय करने के लिए होने वाली विचारणा, वह ईहा।

अपाय – विचारणा होने के बाद 'यह वस्तु है' ऐसा जो निर्णय वह अपाय।

धारणा – निर्णय होने के बाद उसका उपयोग टिका रहे, वह धारणा।

अवग्रहादि क्रमश : प्रवृत्त होते हैं। जैसे की रास्ते में चलते हुए किसी वस्तु का स्पर्श होते ही 'यहाँ कुछ है' ऐसा होता है। फिर 'यह रस्सी है या साँप है?' ऐसी शंका होने से उसका निर्णय करने का प्रयत्न होता है। प्रयत्न से 'यह रस्सी होना चाहिए' ऐसा अनिर्णयात्मक = संभावना रूप ज्ञान होता है। बाद में 'यह रस्सी ही है, साँप नहीं' ऐसा निर्णयात्मक ज्ञान होता है। यहाँ पहले 'कुछ है' ऐसा जो अव्यक्त ज्ञान हुआ, वह अवग्रह। 'यह रस्सी होनी चाहिए' ऐसा संभावना रूप ज्ञान, वह ईहा। और 'यह रस्सी ही है' ऐसा निर्णयात्मक ज्ञान, वह अपाय। इस प्रकार अवग्रहादि क्रमश: प्रवृत्त होने पर भी उत्पलशतपत्रभेद [1] की तरह अतिशीघ्रता से होने के कारण हमें उनका ख्याल नहीं आता। अत: मानो सीधा अपाय ही होता हो, ऐसा लगता है।

अपाय के बाद धारणा होती है। धारणा के अविच्युति, वासना और स्मृति, ऐसे तीन भेद हैं। **अविच्युति** = निर्णय होने के बाद उस वस्तु का उपयोग टिका रहे, वह अविच्युति धारणा। **वासना** = अविच्युति धारणा से आत्मा में उस विषय के संस्कार पड़ते हैं और दृढ़ होते हैं। ये संस्कार ही वासना धारणा। **स्मृति** = आत्मा में रहे ज्ञान के संस्कार निमित्त मिलते ही जागृत्त बनते हैं। इससे ही हम पूर्व में अनुभव की हुई वस्तु या प्रसंग को याद कर सकते हैं। पूर्वानुभूत वस्तु या प्रसंग का स्मरण, वह स्मृति धारणा। स्मृति में वासना (संस्कार) धारणा कारण है। जिसके संस्कार आत्मा में कभी नहीं पड़े हो, उसका कभी स्मरण नहीं होता। वासना (संस्कार) उपयोगात्मक अविच्युति धारणा से उत्पन्न होती है।

विषयभेद से और क्षयोपशम के भेद से अवग्रहादि के भेद –

बहु-बहुविध-क्षिप्रा-ऽनिश्रिता-ऽसंदिग्ध-ध्रुवाणां सेतराणाम्।।१-१६।।

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध, ध्रुव – ये 6 और इन छह से इतर = विपरीत अबहु, अबहुविध, अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध, अध्रुव – ये 6 मिलकर बारह प्रकार से अवग्रहादि प्रवृत्त होते हैं ।

1. बहु – अबहु – बहु यानी ज्यादा, बहुत। अबहु यानी अल्प। उदा. कोई व्यक्ति तत, वितत, घन, शुषिर आदि बहुत शब्दों को एक साथ जान सकता है। जबकि कोई व्यक्ति एक, दो जितने अल्प शब्द ही जान सकता है। जो एक साथ अनेक शब्दों को जानता है, उसके अवग्रहादि अनेक शब्दो के होते हैं और जो एकाद–दो शब्दों को जानता है, उसके अवग्रहादि एक–दो शब्द के ही होते हैं। इस प्रकार आगे क्षिप्रादि भेदों में भी जानना।

2. बहुविध – अबहुविध – बहुविध यानी बहुत प्रकार और अबहुविध यानी कम प्रकार। उदा. कोई व्यक्ति तत शब्द के अनेक भेद जान सकता है, वितत शब्द के भी अनेक भेद जान सकता है, इस तरह बहुत प्रकार जान सकता है। कोई एक–दो प्रकार ही जान सकता है।

बहु और बहुविध में अंतर– कोई व्यक्ति बहुत शास्त्रों को समझा सकता है परंतु प्रत्येक शास्त्र का तलस्पर्शी व्याख्यान नहीं कर सकता। जबकि कोई व्यकित बहुत शास्त्रों को पढ़ाने के साथ प्रत्येक शास्त्र का तलस्पर्शी विविध व्याख्यान भी कर सकता है। यहाँ प्रथम व्यक्ति बहु व्याख्यान करता है। परंतु बहुविध व्याख्यान करने की

[1] (उत्पल = कमल, शत = सौ, पत्र = पत्ते, भेद = छेद करना) कमल के सौ पत्तों की थप्पी में जोर से सुई द्वारा छेद करें, तब छेद तो क्रमश: एक–एक पत्ते का होता है, परंतु शीघ्र गति के कारण 'सभी पत्तों में एक साथ छेद हुआ' ऐसा हमें लगता है।

उसमें शक्ति नहीं है। दूसरा व्यक्ति बहु व्याख्यान करने के साथ बहुविध व्याख्यान भी कर सकता है। वैसे यहाँ प्रस्तुत में तत आदि शब्दों का सामान्य ज्ञान, वह बहु और अनेक प्रकार से ज्ञान, वह बहुविध है।

3. क्षिप्र – अक्षिप्र – क्षिप्र यानी जल्दी। अक्षिप्र यानी विलंब से। कोई किसी वस्तु का ज्ञान जल्दी कर लेता है तो काई देर से करता है।

4. अनिश्रित–निश्रित – निश्रित यानी निशान (= चिह्न) सहित। अनिश्रित यानी निशान रहित। कोई व्यक्ति किसी प्रकार के चिह्न से 'यह ये वस्तु है' ऐसा जान लेता है जबकि कोई निशान बिना जान लेता है। जैसे – कोई ध्वजा को देखकर 'यह जैन मंदिर है' ऐसा जानता है, कोई ध्वजा देखे बिना ही 'यह जैन मंदिर हे' ऐसा जान लेता है।

5. असंदिग्ध–संदिग्ध – कोई असंदिग्ध [1] = किसी भी प्रकार के संदेह बिना निश्चित रूप से समझ लेता है, जबकि कोई संदिग्ध = संदेह सहित समझता है।

6. ध्रुव–अध्रुव – ध्रुव यानी निश्चित। अध्रुव यानी अनिश्चित। एक पदार्थ को जिस स्वरूप से एक बार जाना, उसी पदार्थ को पुन: जब जाने तब उसी स्वरूप में जाने वह ध्रुव। एक पदार्थ को पहले जिस स्वरूप से जाना, पुन: उसी स्वरूप में न जान सके वह अध्रुव। जैसे – किसी का आवाज सुनकर खबर पड़े कि 'यह इसकी आवाज है।' पुन: जब वह आवाज सुनी जाए तब 'यह इसकी आवाज है' ऐसा निश्चिततया जान ले वह ध्रुव। परंतु कभी वही आवाज सुनकर 'यह इसकी ही आवाज है' ऐसा न जान सके वह अध्रुव।

अवग्रह आदि का विषय–

अर्थस्य ।।१–१७।।

अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा अर्थ [2] के होते हैं।

अर्थात् स्पर्शादि गुण रूप अर्थ के और स्पर्शादि गुणयुक्त द्रव्य रूप अर्थ के अवग्रह आदि होते हैं।

प्रश्न – इन्द्रिय और मन गुण–पर्याय का ही ग्रहण कर सकते हैं तो द्रव्य रूप अर्थ अवग्रहादि कैसे होते हैं? द्रव्य का बोध पर्याय के बोध से ही होता है। जैसे – आँख का विषय रूप या आकृति आदि हैं। आँख द्रव्य के रूप – आकृति को देखती है, द्रव्य को नहीं। द्रव्य के रूपादि को जानकर 'यह अमुक द्रव्य है' ऐसा द्रव्य का बोध होता है। इस प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी द्रव्य के रस आदि गुण – पर्याय को जान सकती हैं। मन भी पर्याय को ही जान सकता है। अत: द्रव्य रूप अर्थ के अवग्रहादि कैसे होते हैं?

उत्तर – यद्यपि इन्द्रियों और मन का विषय पर्याय है। तो भी पर्याय द्रव्य से अभिन्न होने से पर्याय के ज्ञान के साथ ही द्रव्य का ज्ञान अवश्य हो जाता है। आँख से रूप का ज्ञान होते ही 'यह अमुक द्रव्य है' ऐसे द्रव्य का भी बोध अवश्य हो जाता है। अत: द्रव्यरूप अर्थ के भी अवग्रहादि होते हैं; ऐसा सामान्य से = स्थूल दृष्टि से कह सकते हैं। परंतु तात्त्विक दृष्टि से तो गुण–पर्याय के ही अवग्रहादि होते हैं।

अन्य प्रकार से अवग्रह का विषय–

व्यञ्जनस्यावग्रह:।।१–१८।।

---

① कुछ पुस्तकों में असंदिग्ध की जगह अनुक्त पाठ मिलता है। वक्ता के प्रारम्भ के कुछ शब्द सुनकर उसके कथन का संपूर्ण अभिप्राय समझ सके, वह अनुक्त कहा जाता है। उससे विपरीत अर्थात् वक्ता संपूर्ण बोले तब उसका अभिप्राय समझ सके, ऐसा ज्ञान उक्त कहा जाता है।

② यहाँ 'अर्थ' शब्द का मतलब पदार्थ है। पद = शब्द, पदार्थ = पद से वाच्य अर्थ/वस्तु।

व्यंजन का अवग्रह ही होता है।

अर्थात् व्यंजन अवग्रह (= अर्थावग्रह) का ही विषय होता है, ईहा [1] आदि का नहीं। जिससे अर्थ का ज्ञान हो वह व्यंजन। उपकरणेन्द्रिय और विषय के संबंध – संयोग बिना अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। उपकरणेन्द्रिय और विषय का परस्पर संबंध = संयोग हो तो ही अर्थ का ज्ञान हो सकता है। [2] अत: उपकरणेन्द्रिय और विषय के परस्पर संबंध = संयोग को व्यंजन कहा जाता है। उपकरणेन्द्रिय और विषय का परस्पर संबंध होने पर अत्यंत अव्यक्त ज्ञान होता है, वह व्यंजनावग्रह। व्यंजनावग्रह होने के बाद 'कुछ है' ऐसा सामान्य ज्ञानरूप अर्थावग्रह होता है।

मिट्टि के दीये सराव के दृष्टांत से यह विषय बराबर समझ सकते हैं। अत्यंत गर्म सराव में पानी की बूँद डालते ही मिट्टी में वह चूसा जाती है। इसलिए उसमें जरा भी पानी नहीं दिखता। लगातार थोड़ी देर पानी की बूँदे डाली जाए तो कुछ समय बाद उसमें थोड़ा पानी दिखता है। यहाँ जब तक मिट्टी पानी चूसती है तब तक पानी नहीं दिखता तो भी 'उसमें पानी नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते। पानी होता है किंतु अव्यक्त होता है। सराव गीला होने के बाद पानी व्यक्त होता है। वैसे ही प्रस्तुत में व्यंजनावग्रह में ज्ञान अव्यक्त होता है, वह अर्थावग्रह में सामान्य–रूप में व्यक्त होता है। यद्यपि अपाय की दृष्टि से अर्थावग्रह भी अव्यक्त ज्ञान है किंतु व्यंजनावग्रह की दृष्टि से अर्थावग्रह व्यक्त ज्ञान है। व्यंजनावग्रह में ज्ञान की थोड़ी भी अभिव्यक्ति नहीं होती। अर्थावग्रह में 'कुछ है' ऐसे सामान्य ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।

यहाँ इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि 'व्यंजनावग्रह हो तो ही अर्थावग्रह होता है' ऐसा नियम है परंतु 'व्यंजनावग्रह हो तो अर्थावग्रह हो ही' ऐसा नियम नहीं है। जैसे – जब हम विचार में मशगूल होते है तब कान पर अनेक शब्द टकराने पर भी अर्थात् कर्णेन्द्रिय और शब्द के संयोग रूप व्यंजनावग्रह होने पर भी अर्थावग्रह नहीं होता। इसलिए हमें उन शब्दों का थोड़ा भी बोध नहीं होता।

चक्षु और मन द्वारा होते मतिज्ञान में व्यजनावग्रह का अभाव–

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।।१-१९।।

चक्षु और मन द्वारा होने वाले मतिज्ञान में व्यंजनावग्रह का अभाव होता है।

अर्थात् चक्षु और मन द्वारा होनेवाले मतिज्ञान में व्यंजनावग्रह बिना सीधा ही अर्थावग्रह होता है। क्योंकि उसमें उपकरणेन्द्रिय और विषय के संयोग – संबंध की आवश्यकता नहीं है। चक्षु और मन संयोग बिना ही स्वयं के विषय का बोध कर लेते हैं जबकि स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियाँ स्वयं के विषय का संयोग होने पर ही उसका बोध कर सकती हैं। आँख दूर रही वस्तु को देख सकती है, हजारों माईल दूर रही वस्तु का मन चिंतन कर सकता है। किंतु स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियाँ स्वयं के स्पर्शादि विषय के साथ सबंध होने पर ही उसका बोध कर सकती हैं। इसलिए ही चक्षु और मन को अप्राप्यकारी तथा स्पर्शनेन्द्रियादि चार को प्राप्यकारी कहा जाता है।

अत: फलितार्थ यह हुआ कि मन और चक्षु से होते मतिज्ञान में अर्थावग्रह आदि चार भेद होते हैं। स्पर्शनेन्द्रियादि चार इन्द्रियों से होने वाले मतिज्ञान में व्यंजनावग्रहादि पाँच भेद होते हैं। अत: 2×4 = 8, 4×5= 20, 8+20=28; इस तरह मतिज्ञान के 28 भेद होते हैं। इस प्रत्येक भेद के बहु आदि 12 भेद होते हैं। अत: मतिज्ञान के कुल 28 ×12 = 336 भेद होते हैं।

---

① अर्थात् ईहा आदि ज्ञान व्यापार में इन्द्रिय–विषय का संयोग अपेक्षित नहीं है । उसमें मुख्यतया मानसिक एकाग्रता ही अपेक्षित है । अवग्रह में ही संयोग अपेक्षित है।
② यह कथन चक्षु और मन सिवा इन्द्रियों द्वारा होते मतिज्ञान के लिए जानना ।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के 336 भेदों का कोष्ठक

	मन	चक्षु	स्पर्शन	रसन	घ्राण	श्रोत्र	कुल भेद
बहु	4	4	5	5	5	5	28
अबहु	4	4	5	5	5	5	28
बहुविध	4	4	5	5	5	5	28
अबहुविध	4	4	5	5	5	5	28
क्षिप्र	4	4	5	5	5	5	28
अक्षिप्र	4	4	5	5	5	5	28
अनिश्रित	4	4	5	5	5	5	28
निश्रित	4	4	5	5	5	5	28
असंदिग्ध	4	4	5	5	5	5	28
संदिग्ध	4	4	5	5	5	5	28
ध्रुव	4	4	5	5	5	5	28
अध्रुव	4	4	5	5	5	5	28
							कुल 336

मतिज्ञान के श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित ऐसे दो भेद हैं। यहाँ श्रुत यानी केवल आगमग्रंथ नहीं है, परंतु परोपदेश, आगमग्रंथ आदि किसी भी प्रकार से जो सुना या जाना हो, वह श्रुत। इस श्रुत से संस्कारित हुआ म तिज्ञान श्रुतनिश्रित है। अर्थात् पूर्व उपदेश आदि द्वारा जाना हो परंतु व्यवहार काल में = श्रुत का उपयोग करने के समय उपदेश आदि के उपयोग बिना होने वाली मति श्रुतनिश्रित है। जैसे – घड़ा लाने का कहने पर 'इस वस्तु को घड़ा कहते हैं, लाना यानी उस जगह पड़े घड़े नाम की वस्तु को इस जगह लाकर रखना' ऐसा सोचे बिना ही घडा लाकर रख देते हैं। यहाँ घड़ा लाने का कहने पर जो मतिज्ञान हुआ 'घड़ा लाना यानी यह करना' ऐसा जो ज्ञान हुआ, वह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान है। श्रुतनिश्रित में पहले जाना हुआ होता है। किंतु कार्य के समय उसका उपयोग नहीं होता। घड़ा लाना यानी क्या, यह पहले सीखा हुआ है। परंतु 'घड़ा लाओ' ऐसा कहा जाए तब 'घड़ा लाना यानी क्या?' ऐसा सोचे बिना घड़ा लाया जाता है। इस तरह पूर्व में ज्ञात हो परंतु व्यवहारकाल में उसका उपयोग किए बिना उत्पन्न होनेवाली मति श्रुतनिश्रित मतिज्ञान है।

पूर्व में कभी जाना ही न हो फिर भी मतिज्ञान के विशिष्ट प्रकार के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली मति (बुद्धि) अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान है। जैसे – अभयकुमार, बीरबल आद की बुद्धि। पहले बताए हुए 336भेद श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के हैं। अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के 4 भेद हैं।

1. औत्पातिकी बुद्धि – विशिष्ट समस्या उपस्थित होने पर उस समस्या को सुलझाने में अचानक उत्पन्न होने वाली मति। जैसे – बीरबल, अभयकुमार की बुद्धि, रोहक वगैरह की मति।

2. वैनयिकी बुद्धि – गुरु आदि की सेवा से प्राप्त होने वाली मति। जैसे – निमित्तज्ञ शिष्य की मति।

3. कार्मिकी बुद्धि – अभ्यास करते–करते प्राप्त होने वाली बुद्धि। जैसे – चोर और किसान की बुद्धि।

4. पारिणामिकी बुद्धि – समय बीतने पर अनुभवों से प्राप्त होने वाली बुद्धि। जैसे – वज्रस्वामी की बुद्धि।।

इस प्रकार श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के 336 भेद और अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के 4 भेद, इस तरह मतिज्ञान के कुल 340 भेद होते हैं।

श्रुत ज्ञान का लक्षण और भेद–

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक-द्वादशभेदम् ।।१-२०।।

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। उसके दो भेद (अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट) हैं। इन दो भेदों में पहले (अंगबाह्य) के अनेक और दूसरे (अंगप्रविष्ट) के 12 भेद हैं।

श्रुतज्ञान मतिज्ञान बिना होता ही नहीं है। किसी भी विषय का श्रुतज्ञान मतिज्ञान होने के बाद ही होता है। जैसे –

1. पहले कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द सुना जाता है। फिर उस शब्द का जो अर्थ हो उसे अर्थ = पदार्थ का ज्ञान होता है। यहाँ पहले कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द सुना, वह मतिज्ञान हुआ। फिर बाद में शब्द श्रवण से अर्थ का बोध हुआ, वह श्रुतज्ञान हुआ। यदि पहले शब्दश्रवणरूप मतिज्ञान न हो तो अर्थबोधरूप श्रुतज्ञान भी नहीं हो सकता।

2. पहले आँख के सामने रही हुई वस्तु दिखती है। बाद में 'इस वस्तु का यह नाम है, इस शब्द से इसे पहचाना जाता है।' ऐसा ज्ञान होता है। यहाँ वस्तु का दर्शन हुआ, वह मतिज्ञान और बाद में वस्तु शब्द का ज्ञान हुआ, वह श्रुतज्ञान।

3. मन से भी पहले मतिज्ञान और बाद में श्रुतज्ञान होता है। जैसे – आम के स्मरण द्वारा श्रुतज्ञान होता है तब पहले आम की स्मृति होने से आकृति, रूप वगैरह आँख के सामने आते हैं। बाद में 'इस आकृति वाला पदार्थ आम है' ऐसा ज्ञान होता है। यहाँ आम की आकृति आँख के सामने आई, वह मतिज्ञान और 'इस आकृतिवाला पदार्थ आम है' ऐसा बोध, वह श्रुतज्ञान।

प्रश्न – मन = मानसिक चिंतन से होने वाले मति–श्रुत ज्ञान में 'यह चिंतन मतिज्ञान है' और 'यह श्रुतज्ञान है' ऐसा भेद किस आधार पर होता है?

उत्तर – शब्द, आप्तोपदेश या श्रुत से इन दो में भेद होता है। शब्द, आप्तोपदेश और श्रुत से रहित मानसिक चिंतन मतिज्ञान है। शब्द, आप्तोपदेश और श्रुत से सहित मानसिक चिंतन श्रुतज्ञान है। श्रुतकेवली जब श्रुतज्ञान से जाने हुए पदार्थों का चिंतन श्रुतग्रंथों की सहायता बिना करते हैं तब वह मतिज्ञान है और श्रुतग्रथों की सहायता से करें तब वह श्रुतज्ञान है। (विशेष अर्थ के लिये इस अध्याय के 27 वें सूत्र की भाष्य टीका देखो।) इस प्रकार सामान्य जीवों का चिंतन शब्दादि रहित हो तो वह मतिज्ञान है और शब्दादि सहित हो तो वह श्रुतज्ञान है।

प्रश्न – घड़े को देखते ही 'यह घट है' ऐसा बोध हो जाता है। अत: मति–श्रुत, दोनों साथ में ही उत्पन्न होते हों, ऐसा लगता है। जबकि यहाँ पहले मति और बाद में श्रुत होता है, ऐसा कहा है। तो इसमें रहस्य क्या है?

उत्तर – मति और श्रुत दोनों क्रमश: ही प्रवृत्त होते हैं। परंतु इतनी शीघ्रता से प्रवृत्त होते हैं कि हमें ऐसा ही लगता है मानों दोनों साथ में ही प्रवृत्त हुए। आँख के सामने घड़ा आते ही 'यह घट है' ऐसा ज्ञान हमें होता है। परंतु 'यह वस्तु है, इसे घट कहते हैं।' इसका अलग–अलग ज्ञान होता है, ऐसा हमें पता नहीं चलता। इसका कारण ज्ञान की गति की शीघ्रता है। कमल के सौ पत्तों की थप्पी कर के जल्दी से सुई से छेद करें तब छेद तो

क्रमश: एक–एक पत्ते का होता है परंतु शीघ्र गति के कारण 'सभी पत्तों में एक साथ छेद हुआ' ऐसा हमें लगता है। इसी तरह ज्ञान शीघ्रता से प्रवृत्त होने से एक–साथ होने का हमें आभास होता है।

मति और श्रुत, ये दो ज्ञान एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों को होते हैं। जैसे – चींटी को शक्कर की गंध के अणुओं के साथ घ्राणेन्द्रिय का संबंध होने पर 'यहाँ कुछ है' ऐसा मतिज्ञान होता है। फिर उसे 'यह वस्तु मुझे खाने योग्य है' ऐसा श्रुतज्ञान तुरंत होता है। यद्यपि उसे शब्दों का ज्ञान नहीं है। तथा 'यह वस्तु खाने लायक है' ऐसा किसी ने कहा नहीं है तो भी पूर्वभव में हुए उस प्रकार के श्रुतज्ञान के बल से 'यह मुझे खाने योग्य है' ऐसा ज्ञान होता है। फिर वह शक्कर के टुकड़े की ओर जाती है। तथा उस पर चिपकती है। यदि चींटी को मति–श्रुत ज्ञान न हो तो वह इस प्रकार प्रवृत्ति नहीं कर सकती। इसी प्रकार अन्य जीवों में भी जानना। हाँ, इतना विशेष जानना कि जैसे–जैसे इन्द्रियाँ कम, उतना–उतना ज्ञान अस्पष्ट होता है। पंचेन्द्रिय जीव के मति–श्रुत की अपेक्षा से चउरिन्द्रिय जीव के मति–श्रुत अधिक अस्पष्ट हैं। एकेन्द्रिय के मति श्रुत सबसे अधिक अस्पष्ट होते हैं।

श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, ऐसा कहने से तात्पर्य यह निकला कि जब श्रुतज्ञान होता है तब पहले मतिज्ञान अवश्य होता है। अत: 'पहले मतिज्ञान हो तो ही श्रुतज्ञान होता है' ऐसा नियम हुआ परंतु 'मतिज्ञान होने के बाद श्रुतज्ञान होता ही है' ऐसा नियम नहीं है। मतिज्ञान होने के बाद श्रुतज्ञान [①] न भी हो।

जैसे कोई ग्रामीण व्यक्ति शहर में आकर रेडियो को देखें तो उसे 'यह इस आकार वाली इस साईज की वस्तु है' ऐसा मतिज्ञान होता है। 'इसे क्या कहते हैं? किस शब्द से इसे पहचानते हैं?' यह पता न होने से उसे श्रुतज्ञान नहीं होता। फिर जब उसे कोई कहे कि इसे रेडियो कहते हैं। तब उसे श्रुतज्ञान होता है। पहले तो मात्र 'आकार – साईज वाली वस्तु' ऐसा मतिज्ञान ही होता है।

श्रुतज्ञान का स्वरूप – शब्द–अर्थ के संबंध बिना ही विषय का ज्ञान, वह मतिज्ञान। विषय के ज्ञान के बाद 'इस विषय को अमुक शब्द से पहचाना जाता है, इस विषय से यह लाभ होता है, यह नुकसान होता है, इस विषय का इस तरह उपयोग होता है, इस तरह उपयोग नहीं होता' वगैरह अनेक प्रकार का ज्ञान होता है। इस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है। क्योंकि श्रुत यानी सुना हुआ। 'इसे इस शब्द से पहचानते हैं; इससे यह लाभ होता है।' वगैरह ज्ञान हमें दूसरे से सुनकर अथवा पढ़कर होता है। अत: इस ज्ञान को श्रुत = सुना हुआ कहा [②] जाता है।

श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य, ऐसे दो मुख्य भेद हैं। अंगबाह्य के अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्ट के आचारांगादि बारह अंग रूप (द्वादशांगी) बारह भेद हैं। इसमें बाहरवां अंग दृष्टिवाद हैं। दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वानुयोग, पूर्वगत और चूलिका – ये पाँच भेद हैं। पूर्वगत में 14 पूर्व हैं । यद्यपि अंगबाह्य के कालिक और उत्कालिक, ऐसे दो भेद हैं। इन दोनों के अनेक भेद हैं। तो भी यहाँ कालिक और उत्कालिक, इन दो भेदों की विवक्षा नहीं करके अंगबाह्य के अनेक भेद हैं, ऐसा कहा है।

प्रश्न – संपूर्ण श्रुत श्रुतरूप में समान होने पर भी उसके अंगप्रविष्ट और अगंबाह्य, ऐसे भेद किस अपेक्षा से हैं?

उत्तर – श्रुतज्ञान के दो भेद वक्ता के भेद की अपेक्षा से हैं। गणधर भगवंतों ने जिसकी रचना की वह अंगप्रविष्ट। श्रुत के विशुद्ध बोध वाले आचार्यो ने जिसकी रचना की वह अंगबाह्य।[③]

---

① क्योंकि मतिज्ञान श्रुतज्ञान का बाह्य कारण है। उसका आभ्यतंर कारण श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है। अत: जिस विषय का मतिज्ञान हो, उस विषय का श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम न हो तो उसको श्रुतज्ञान नहीं होता।

② परमार्थ से तो श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान है = मतिज्ञान का ही विशिष्ट भेद है। इसमें विशेषता यह है कि परोपदेश या आगमवचन से होता है अर्थात् इसमें इन्द्रिय–मन के अलावा परोपदेश और आगम वचन की भी अपेक्षा रहती है। (विशेषावश्यक भाष्य गा. 86, हेमचन्द्रसूरि टीका)

③ प्रश्न – तत्त्वार्थ भाष्य में सामयिकादि छह आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययनादि श्रुत अंगबाह्य हैं और जिसकी रचना गणधर के बाद वाले आचार्यों ने की

प्रश्न – आचार्यों ने श्रुत की रचना क्यों की? क्या गणधरों की श्रुत रचना कमी वाली या अल्प थी?

उत्तर – गणधर अतिशय से सम्पन्न होने से उनकी रचना किसी भी कमी से रहित और संपूर्ण थी। परंतु काल दोष से बुद्धि, बल, आयुष्य वगैरह की हानि होती देखकर अल्प शक्ति वाले और अल्प आयुष्य वाले शिष्य भी जल्दी और अच्छी तरह समझ सके, इस आशय से आचार्यों ने उस कालानुसार उस–उस श्रुत की रचना की अर्थात् मंदमति वगैरह शिष्यों के अनुग्रह के लिए आचार्यों ने दूसरे श्रुत की रचना की।

कर्मग्रंथ में निर्दिष्ट श्रुतज्ञान के चौदह भेद–

कर्मग्रंथ में श्रुतज्ञान के अक्षरश्रुत वगैरह सात और उससे विपरीत अनक्षरश्रुत वगैरह सात, ऐसे कुल चौदह भेद बताए हैं। वह इस प्रकार –

(1–2) अक्षरश्रुत – अनक्षर श्रुत – अक्षरश्रुत के **संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर** और **लब्ध्यक्षर,** ऐसे तीन भेद हैं। विविध लिपि संज्ञाक्षर हैं। जैसे – संस्कृत में अ, ब, क, ड ऐसे लिखा जाता है। गुजराती में अ, ब, क, ड और इंग्लिश में A,B,C,D, ऐसा लिखा जाता है। अ से औ तक के 14 स्वर, अनुस्वार, विसर्ग, क से ह तक के 33 व्यंजन और क्ष, ज्ञ ऐसे कुल 52 अक्षरों का उच्चार करना, बोलना वह **व्यंजनाक्षर** है। संक्षेप में जो लिखा जाए वह संज्ञाक्षर और बोला जाए वह व्यंजनाक्षर। शब्दों को सुनकर और पढ़कर आत्मा में होनेवाला अर्थबोध लब्धि अक्षर है। लिखे हुए अक्षर पुद्गल रूप है और बोले हुए अक्षर भी भाषावर्गणा के पुद्गल ही हैं। ये दोनों प्रकार के अक्षर पुद्गल स्वरूप होने से जड़ हैं अर्थात् ज्ञान रूप नहीं है किंतु अज्ञान रूप है। ऐसा होने पर भी लब्ध्यक्षर रूप श्रुतज्ञान का कारण होने से कारण (संज्ञाक्षर या व्यंजनाक्षर) में कार्य (लब्धि अक्षर) का उपचार करके इन दोनों प्रकार के अक्षरों को भी श्रुतज्ञान कहा जाता है। इस तरह संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर औपचारिक श्रुत होने से द्रव्य श्रुत है। और लब्ध्यक्षर वास्तविक श्रुत होने से भावश्रुत है। (भाव निक्षेप के कारण को द्रव्य निक्षेप कहते हैं।)

शब्दों को सुनकर और पढ़कर आत्मा में होने वाला अर्थबोध लब्ध्यक्षरश्रुत कहलाता है।अक्षर बिना हाथ के इशारे, खाँसी, खराश वगैरह संकेत से होता ज्ञान अनक्षर श्रुत है।

(3–4) संज्ञिश्रुत – असंज्ञिश्रुत – दीर्घकालिकी संज्ञा वाले जीवों में होने वाला श्रुतज्ञान संज्ञिश्रुत है। इसके अलावा एकेन्द्रियादि जीवों का श्रुतज्ञान असंज्ञिश्रुत है। दीर्घकालिकी वगैरह तीन संज्ञा का स्वरूप दूसरे अध्याय के 25 वें सूत्र में है।

(5–6) सम्यक्श्रुत – मिथ्याश्रुत – सम्यक् और मिथ्या, इन दोनों प्रकार के श्रुत के द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ऐसे दो प्रकार हैं। जिन शास्त्रों के कर्ता सम्यग्दृष्टि होते हैं, उनका रचा हुआ श्रुत द्रव्य से सम्यक् श्रुत है, जैसे – द्वादशांगी और उसके आधार पर पश्चात्कालीन आचार्य वगैरह द्वारा रचे हुए शास्त्र। मिथ्यादृष्टि जीवों द्वारा रचे हुए शास्त्र द्रव्य से मिथ्याश्रुत है।

सम्यग्दृष्टि को श्रुत से होता बोध भावसम्यक्श्रुत है। सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दृष्टि द्वारा रचे हुए शास्त्रों से होनेवाला बोध तो सम्यक्श्रुत है ही परंतु मिथ्यादृष्टि जीवों द्वारा रचे हुए शास्त्रों से होनेवाला बोध भी सम्यक्श्रुत है क्योंकि बुद्धि सम्यक् होने से वह दोनों प्रकार के शास्त्रों से सम्यक् बोध करने में समर्थ है। मिथ्यादृष्टि को

हो वह अंगबाह्य है, ऐसा बताया है। इससे सामायिकादि छह आवश्यक सूत्र के कर्त्ता गणधर भगवंत नहीं परंतु गणधर के बाद के आचार्य है, ऐसा सिद्ध होता है। क्या यह समझ बराबर है? उत्तर – नहीं क्योंकि प. पू. वाचकवर्य श्री उमास्वाति महाराज से भी प्राचीन चौदह पूर्वधर श्री भद्रबाहु स्वामी विरचित आवश्यक निर्युक्ति आदि अनेक प्रमाणभूत ग्रंथों के आधार पर छह आवश्यक सूत्र के कर्त्ता श्री गणधर भगवंत है, ऐसा सिद्ध होता है। अत: भाष्य का अर्थ भी उस अनुसार करना चाहिए। इसलिए ही उस भाष्य की पू. श्री सिद्धसेन गणिकृत टीका और पू. श्री यशोविजयजी महोपाध्यायकृत टीका में दशवैकालिक आदि सूत्रों का निर्देश किया है। यदि भाष्य से 'छह आवश्यक सूत्र गणधर के बाद वाले आचार्यों द्वारा रचित है' ऐसा अर्थ सिद्ध होता हो तो उक्त् दोनों टीका में सामयिकादि सूत्र का निर्देश करते। अत: छह आवश्यक सूत्र के कर्तागणधर भगवंत ही हैं। (विशेष भा. गा. 948, 1119, 2084 तथा मलधारी श्री हेमचन्दसूरिकृत टीका के प्रारंभ में अवतरणिका देखें।

श्रुत से होनेवाला बोध मिथ्याश्रुत है। मिथ्यादृष्टि को मिथ्यादृष्टि जीवों द्वारा रचे हुए श्रुत से होनेवाला बोध तो मिथ्याश्रुत है ही किंतु सम्यक्दृष्टि जीवों द्वारा रचे हुए शास्त्रों से होनेवाला बोध भी मिथ्याश्रुत है क्योंकि उसकी बुद्धि मिथ्या होने से सम्यक्श्रुत के श्रवण से भी उसे मिथ्या बोध होता है। बारिश का पानी सीप में गिरे तो मोती

बनता है और सर्प के मुख में गिरे तो जहर बनता है। यहाँ जैसे पात्र के अनुसार पानी परिणाम को प्राप्त करता है वैसे ज्ञान भी पात्र के अनुसार परिणमित होता है। अत: शास्त्र की रचना किसने की है, वह महत्त्वपूर्ण नहीं है परंतु शास्त्रों का अभ्यास करने वाला पात्र कैसा है, वह महत्त्वपूर्ण है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि सम्यग्दृष्टि विरचित श्रुत द्रव्य से सम्यक्श्रुत है और मिथ्यादृष्टि विरचित श्रुत द्रव्य से मिथ्याश्रुत है। सम्यग्दृष्टि का श्रुतबोध भाव से सम्यक्श्रुत है और मिथ्यादृष्टि का श्रुतबोध भाव से मिथ्याश्रुत है। इसके कारण प्रथम अध्याय के 32 वें और 33 वें सूत्र के विवेचन में विस्तार से समझाएँ है।

(7-8) सादिश्रुत - अनादिश्रुत - आदि से सहित, वह सादि। जिस श्रुत की आदि - प्रारंभ, शुरूआत हो, वह सादिश्रुत। आदि से रहित, वह अनादि। जिस श्रुत की आदि = प्रारंभ, शुरूआत न हो, वह अनादि श्रुत।

(9-10) सपर्यवसितश्रुत - अपर्यवसितश्रुत - पर्यवसान = अंत से सहित, वह सपर्यवसित। जिस श्रुत का अंत हो, वह सपर्यवसित। पर्यवसान = अंत से रहित, वह अपर्यवसित। संपेक्ष में सपर्यवसित यानी सांत और अपर्यवसित यानी अनंत।

7-8-9-10 इन चार भेदों की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विचारणा इस प्रकार है -

(अ) द्रव्य से - कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करें तब उसके श्रुतज्ञान की आदि होती है। और किसी जीव का सम्यग्दर्शन नष्ट होता है तब श्रुतज्ञान का अंत होता है। अत: एक जीव द्रव्य की अपेक्षा से श्रुत सादि-सांत है। अनेक जीव द्रव्यों की अपेक्षा से श्रुत अनादिकाल से चला आ रहा है और शिष्य-प्रशिष्य की परंपरा से अनंतकाल तक श्रुत पढा़ जायेगा। अत: अनेक जीव द्रव्यों की अपेक्षा से श्रुत अनादि-अनंत है।

(आ) क्षेत्र से - भरत-ऐरावत क्षेत्र में तीर्थ की स्थापना होती है तब श्रुत का प्रारंभ होता है और तीर्थ विच्छेद होता है तब श्रुत का अंत होता है। महाविदेह में सदा तीर्थंकर होने से महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से श्रुत अनादि-अनंत है।

(इ) काल से - उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी में तीसरे आरे का कुछ काल बीतने के बाद श्रुतज्ञान का प्रारंभ होता है। उत्सर्पिणी में चौथे आरे का कुछ काल बीतने के बाद और अवसर्पिणी में पाँचवें आरे के अंत में श्रुत का अंत होता है। अत: उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुत सादि-सांत है। महाविदेह में नो उत्सर्पिणी- नो अवसर्पिणी काल है। उस काल की अपेक्षा से श्रुत सदा होने से अनादि-अनंत है।

(ई) भाव से - क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा से श्रुत सादि-सांत है। क्षायोशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। तब श्रुत का प्रारंभ होता है, इसलिए सादि है और क्षीण होता है तब श्रुत का अंत होता है इसलिए सांत है।

(11-12) गमिकश्रुत - अगमिकश्रुत - जिन शास्त्रों में एक जैसे पाठ बार-बार आते हैं, वह गमिकश्रुत। यह प्राय: दृष्टिवाद में होता है। जिसमें एक जैसे पाठ बार-बार नहीं आते, वह अगमिक श्रुत। जैसे -आचारांगादि।

(13-14) अंगप्रविष्ट श्रुत - अंगबाह्य श्रुत - गणधरों द्वारा रचित द्वादशांगी अंगप्रविष्ट श्रुत है। श्रुत के विशुद्ध बोध वाले आचार्यों द्वारा द्वादशांगी के आधार पर रचा हुआ श्रुत अंगबाह्य श्रुत है।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के चौदह भेदों का वर्णन पूर्ण हुआ।

अवधिज्ञान के भेद –

द्विविधोऽवधिः ।।१-२१।।

अवधि के दो भेद हैं – (1) भवप्रत्यय (2) क्षयोपशम प्रत्यय।

प्रत्यय यानी निमित्त। भव के निमित्त से अवश्य होने वाला ज्ञान भवप्रत्यय अवधिज्ञान। अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाला ज्ञान क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान।

भव प्रत्यय अवधिज्ञान के स्वामी–

भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।।१-२२।।

नारक और देवों को भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है।

यद्यपि भव प्रत्यय अवधिज्ञान में भी कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है तो भी नारक और देव का भव मिलने पर अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अवश्य होता है। अत: क्षयोपशम की अपेक्षा से भव की अधिक प्रधानता होने से नारक और देवभव में होनेवाला अवधिज्ञान भव प्रत्यय है। जैसे – पक्षी के भव में पंख अवश्य मिलते हैं, चक्रवर्ती आदि के भव में विशिष्ट बल आदि की प्राप्ति अवश्य होती है; वैसे नारक और देवभव में अवधिज्ञान अवश्य उत्पन्न होता है।

नारकों के अवधिज्ञान का क्षेत्र

नरक	जघन्य	उत्कृष्ट
पहली	3 ½ गाउ	4 गाउ
दूसरी	3 गाउ	3½ गाउ
तीसरी	2½ गाउ	3 गाउ
चौथी	2 गाउ	2½ गाउ
पाँचवी	1½ गाउ	2 गाउ
छठी	1 गाउ	1½ गाउ
सातवीं	½ गाउ	1 गाउ

भवनपति–व्यंतर–ज्योतिष्क देवों में अवधिक्षेत्र –

उत्कृष्ट तिर्यक् – जिन देवों का अर्ध सागरोपम से न्यून आयुष्य हो उनका संख्यात योजन; उससे अधिक आयुष्य वाले का असंख्यात योजन। जैसे–जैसे आयुष्य अधिक वैसे–वैसे असंख्यात का प्रमाण बड़ा समझना।

उत्कृष्ट ऊर्ध्व – भवनपति का सौधर्म देवलोक तक, व्यंतर–ज्योतिष का संख्यात योजन।

उत्कृष्ट अधो – भवनपति का तीसरी नरक तक, व्यंतर–ज्योतिष का संख्यात योजन।

ऊर्ध्वादि तीनों क्षेत्र में जघन्य – भवनपति और व्यंतर में 25 योजन, ज्योतिष में संख्यात योजन।

वैमानिक देवों का अवधि क्षेत्र चौथे अध्याय के 21 वें सूत्र में बताया है।

क्षयोपशमप्रत्यय अवधिज्ञान के स्वामी–

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।।१-२३।।

शेष जीवों को शास्त्र में कहे क्षयोपशम रूप निमित्त से उत्पन्न होने वाले क्षयोपशमप्रत्यय अवधिज्ञान छह प्रकार का होता है।

यहाँ शेष जीवों से मनुष्य और तिर्यंच समझना है क्योंकि मनुष्य तिर्यंच, नारक और देव–ऐसे चार प्रकार के जीव हैं। उसमें नारक और देव को भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। अतः शेष तिर्यंच और मनुष्य ही रहते हैं।

क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद हैं–

1. अनुगामी – लालटेन के दीपक की तरह साथ में आने वाला। अनुगामी अवधिज्ञान वाला जीव जहाँ भी जाए, वहाँ उसके अवधिज्ञान का उपयोग प्रवृत्त होगा।

2. अननुगामी – इलेक्ट्रिक बल्ब के प्रकाश की तरह साथ में नहीं आनेवाला अननुगामी अवधिज्ञान जिस जगह उत्पन्न हुआ हो। उसी जगह उसका उपयोग प्रवृत्त होता है। जीव अन्य जगह जाए तो उपयोग प्रवृत्त नहीं होता।

3.वर्धमान – उत्पन्न होने के बाद प्रदीप्त अग्नि की तरह उत्तरोत्तर बढ़नेवाला।

4. हीयमान – उत्पन्न होने के बाद क्रमशः घटता जाए।

5. प्रतिपाती – बिजली के चमकारे की तरह उत्पन्न होकर चला जाए। अवधिज्ञान के प्रतिपाती भेद की जगह अनवस्थित भेद भी होता है। अनवस्थित यानी अनियत। कम हो, बढ़े, चला जाए, पुनः उत्पन्न हो – इस प्रकार अनियत।

6. अप्रतिपाती – अप्रतिपाती यानी हमेशा रहने वाला। यह अवधिज्ञान जीवन पर्यंत रहता है। किसी जीव को अन्य भव में भी साथ जाता है। अथवा किसी को केवलज्ञान उत्पन्न होने तक भी रहता है।

परमावधिज्ञान, जिसके अंतर्मूहूर्त बाद केवलज्ञान अवश्य होता है,उस का समावेश इस अप्रतिपाती अवधिज्ञान में होता है। इस ज्ञान में अलोक में भी लोक जितने असंख्य खंड देखने का सामर्थ्य होता है। अलबत्त, अलोक में रूपी द्रव्य न होने से कुछ दिखता नहीं है परंतु परमावधि में इतना सामर्थ्य होता है। इस सामर्थ्य का फल यह है कि इससे लोक में अधिक सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम पदार्थों को देख सकते हैं, यावत् सर्व सूक्ष्म परमाणु को भी देख सकते हैं। (वि. आ. गा. 606)

अप्रतिपाती अवधिज्ञान का दूसरा नाम अवस्थित भी है।

मनुष्य के अवधिज्ञान का विषय		
	जघन्य	**उत्कृष्ट**
द्रव्य	अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने द्रव्य	सूक्ष्म या बादर, सभी रूपी द्रव्य
क्षेत्र	अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने क्षेत्र में रहे द्रव्य	संपूर्ण लोक और अलोक में भी लोक जितने असंख्यात खंड

काल	आवलिका के असंख्यातवें भाग जितना काल	भूत और भविष्य में असंख्य उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी
भाव	अनंत पर्याय	अनंत पर्याय

अनंत द्रव्य के आश्रय से अनंत पर्याय देख सकते हैं। परंतु किसी एक द्रव्य के जघन्य से चार और उत्कृष्ट से असंख्य पर्याय देख सकते हैं। (वि.आ.गा. 808–9)

तिर्यंच के अवधिज्ञान का विषय		
	जघन्य	**उत्कृष्ट**
द्रव्य	मनुष्य की तरह	तैजस वर्गणा के द्रव्य
क्षेत्र	मनुष्य की तरह	असंख्य द्वीप–समुद्र
काल	मनुष्य की तरह	असंख्यकाल(पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितना काल)
भाव	मनुष्य की तरह	अनंत पर्याय

मनुष्य – तिर्यंचों में भवों की अपेक्षा से अवधिज्ञान का विषय – पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल तक के अवधिज्ञान वाले मनुष्य और तिर्यंच जिस भव में अवधिज्ञान हो उस भव में अतीत और अनागत 2 से 9 भव तक देख सकते हैं। यदि 2 से 9 भव में पहले अवधिज्ञान हुआ हो तो पहले हुए अवधिज्ञान से देखें हुए बहुत अतीत–अनागत भवों का (9 भव से भी ज्यादा) [①] स्मरण कर सकते हैं। अर्थात् स्मृतिज्ञान से जान सकते हैं परंतु 2 से 9 भव तक जैसे साक्षात् अवधिज्ञान से देखते हैं वैसे साक्षात् नहीं देख सकते। यहाँ काल और भवों का परस्पर नियमन है। वह इस प्रकार–पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल में 2 से 9 भव ही देखते हैं; उससे अधिक नहीं। तथा दो से 9 भव में भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितना काल ही देखते हैं, उससे अधिक नहीं।

मन: पर्याय ज्ञान के भेद–

ऋजु-विपुलमती मनःपर्यायः।।१-२४।।

मन: पर्याय ज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति, ऐसे दो भेद हैं।

मन: पर्याय यानी मन के विचार। मन:पर्यव और मन:पर्याय, दोनों शब्द एकार्थक हैं। मन: पर्यवज्ञान से ढ़ाई द्वीप में रहे संज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों के विचार जान सकते हैं।

यहाँ यह ध्यान रखना जरूरी है कि मन:पर्यव ज्ञान से मन के पर्याय यानी विचार ही प्रत्यक्ष दिखते हैं, विचारणीय वस्तु नहीं। जिसका विचार किया जाता है, वह वस्तु अनुमान से ज्ञात होती है। मन जब विचार करता है तब विचारणीय वस्तु अनुसार मनोवर्गणा के पुद्गलों के अलग–अलग आकार बनते हैं। ये आकार ही मन के पर्याय या विचार है। मन:पर्यवज्ञानी इन विचारों को प्रत्यक्ष देखता है। बाद में अनुमान करते है कि 'इस वस्तु का विचार किया।' जैसे – कुशल वैद्य मुखाकृति वगैरह प्रत्यक्ष देखकर शरीर में रहे रोग को अनुमान से जानता है।

ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता के हेतु –

① जितने भवों का अवधिज्ञान पूर्व में हुआ हो, उतने भव ज्यादा ।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः।।१-२५।।

विशुद्धि और अप्रतिपात से ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता = भेद है।

ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान अविशुद्ध और प्रतिपाती है जबकि विपुलमति मन:पर्यवज्ञान विशुद्ध और अप्रतिपाती है। ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान वाला जीव 'इस व्यक्ति ने घड़े का विचार किया' ऐसा सामान्य से जान सकता है जबकि विपुलमति मन:पर्याय ज्ञान वाला जीव 'इस व्यक्ति ने इस रंग के, इस आकार वाले, इस जगह पर रहे घड़े का विचार किया' ऐसा विशेषता से जान सकता है। ऋजुमति ज्ञान नष्ट भी हो जाता है जबकि विपुलमति कभी नष्ट नहीं होता। विपुलमति मन:पर्यवज्ञान उत्पन्न होने के बाद केवलज्ञान अवश्य होता है। उसी भव में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अवधि-मन पर्यव में भेद के हेतु-

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ।।१-२६।।

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामी और विषय-इन चार हेतुओं से अवधि और मन: पर्यवज्ञान में विशेषता = भेद है।

1. विशुद्धि – अवधिज्ञान से मन:पर्यवज्ञान अधिक विशुद्ध है। अत: अवधिज्ञानी की अपेक्षा से मन:पर्यवज्ञानी स्वयं के विषय को अधिक स्पष्ट जान सकता है।

2. क्षेत्र – मन:पर्यवज्ञान के क्षेत्र से अवधिज्ञान का क्षेत्र विशाल है। अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण लोक तक है। मन:पर्यवज्ञान का क्षेत्र ढ़ाई द्वीप और दो समुद्र जितना है। मन:पर्यवज्ञानी मात्र ढ़ाई द्वीप और दो समुद्र जितने मनुष्य क्षेत्र में रहे संज्ञी पंचेन्द्रिय (मनुष्य, तिर्यंच, देव) के मन के विचार जान सकते हैं [1]।

3. स्वामी – अवधिज्ञान चारों गति में रहे सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीवों को उत्पन्न होता है। मन:पर्यवज्ञान मनुष्यगति में सातवें गुणस्थान पर रहे संयमी जीवों को ही उत्पन्न होता है और 6 से 12 गुणस्थान तक होता है।

4. विषय – अवधिज्ञान का विषय सभी रूपी द्रव्य और उसकी अल्प पर्यायें हैं। इसमें मन के स्थूल पर्यायों का भी समावेश होता है। मन:पर्यवज्ञान का विषय मात्र मनोवर्गणा के पुद्गल और उसके पर्याय होने से अवधिज्ञान के विषय से अनंतवें भाग जितना है।

प्रश्न – मन की पर्यायें भी अवधिज्ञान का विषय है तो उससे मन के विचार जान सकते हैं?

उत्तर – हाँ, विशुद्ध अवधिज्ञान से मन के विचार भी जान सकते हैं। अनुत्तर देव भगवान के द्वारा द्रव्यमन से दिए हुए उत्तरों को अवधिज्ञान से ही जानते हैं।

प्रश्न – तो अवधि और मन:पर्यायज्ञान में विशुद्धि की दृष्टि से भेद कहाँ रहा?

उत्तर – मन के विचारों को मन:पर्यायज्ञानी जितनी सूक्ष्मता से जान सकता है उतनी सूक्ष्मता से विशुद्ध अवधिज्ञानी भी नहीं जान सकता।

अवधिज्ञानी सभी रूपी द्रव्यों को और थोड़े पर्यायों को (ज्यादा से ज्यादा असंख्य पर्याय) जान सकते हैं। मन: पर्यवज्ञानी मात्र मनोवर्गणा के पुद्गलों को ही जान सकते हैं। उसमें भी मात्र ढ़ाई द्वीप – दो समुद्र प्रमाण मनुष्य क्षेत्र में रहे संज्ञी पंचेंन्द्रिय द्वारा विचारने में व्यापृत मनोवर्गणा के पुद्गल ही जान सकते हैं।

---

[1] मन:पर्यवज्ञानी उपर ज्योतिष्क (900 योजन) तक और नीचे 1000 योजन तक जान सकते हैं। (लोकप्रकाश गा. 928-29) ।

अवधिज्ञान में क्षेत्र, स्वामी और विषय के बारे में अधिक विशेषता होने पर भी विशुद्धि की तुलना में वह अत्यंत पीछे रह जाता है। इसलिए अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्यायज्ञान का अधिक महत्त्व है। एक डॉक्टर आँख, कान, गला, दाँत, पेट, छाती वगैरह के रोगों का ज्ञाता है परंतु स्थूल ज्ञान वाला है; जबकि दूसरा डॉक्टर आँख वगैरह किसी एक ही अंग के रोगों का ज्ञाता है। परंतु अत्यंत सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर उस विषय का विशेषज्ञ है। अत: उस-उस रोग के मरिजों को वह ज्यादा उपयोगी होता है। ऐसे ही एक शिक्षक अनेक विषयों का शिक्षण देता है परंतु स्थूल-स्थूल समझाता है जबकि दूसरा शिक्षक एक ही विषय का शिक्षण देता है कि जिससे विद्यार्थी उस विषय का तलस्पर्शी बोध कर सके। यहाँ पहले डॉक्टर की अपेक्षा दूसरे का और पहले शिक्षक की अपेक्षा दूसरे शिक्षक का विषय अल्प होने पर भी बोध की विशुद्धि की अधिकता से महत्त्व बढ़ जाता है, वैसे अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्यवज्ञान में क्षेत्रादि की अल्पता होने पर भी विशुद्धि अधिक होने से उसका महत्त्व बढ़ जाता है।

मति और श्रुत का विषय-

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।।१-२७।।

मति और श्रुतज्ञान के विषय सर्व द्रव्य और थोड़े यानी कुछ पर्यायें हैं।

मति और श्रुतज्ञान जगत् में रहे रूपी-अरूपी सभी द्रव्यों को जान सकते हैं, परंतु पर्याय तो थोड़ी-परिमित ही जान सकते हैं क्योंकि इस जगत् में अधिकतम मति-श्रुत गणधरादि या चौदहपूर्वी को ही होता है। उनके ज्ञान का मूल तीर्थंकर भगवंत है। तीर्थंकर जगत् के तीनों काल के सभी द्रव्य और सभी पर्यायों को साक्षात् देखते हैं, जानते हैं परंतु इतने भावों = पर्यायों को कह सके उतने शब्द ही नहीं है। भावों के अनंतवें भाग जितने ही शब्द है। जितने शब्द है, वे सभी शब्द पूरी जिंदगी बोलते रहे तो भी नहीं कहे जा सकते। अत: तीर्थंकर जितना उपदेश देते हैं, उसका अनंतवां भाग ही गणधर द्वादशांगी में शब्दों से गूंथ सकते हैं। अत: इस द्वादशांगी के अभ्यासी पूर्वधर भी सभी द्रव्यों के अनंतवे भाग जितनी पर्यायें ही जान सकते हैं। जो भाव=पर्याय द्वादशांगी में नहीं गूंथे गए तथा जिन भावों के लिए शब्द नहीं है, उन अनंत भावों को जान नहीं सकते। वे जितना जानते हैं, उससे अनंतगुना भावों को नहीं जानते। अत: मति-श्रुत का विषय सर्व द्रव्य है, सर्व पर्याय नहीं।

उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी (चौदह पूर्वधर) श्रुतकेवली कहे जाते हैं क्योंकि केवली भगवंत जितना कह सकते हैं, उतना श्रुत द्वारा उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी भी कह सकते हैं। अत: उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी श्रुत द्वारा केवली समान होने से श्रुतकेवली कहे जाते हैं।

प्रश्न - मतिज्ञान इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता है। इन्द्रियाँ तो मात्र रूपी द्रव्य को ही ग्रहण करती है। तो मतिज्ञान का विषय सर्वद्रव्य कैसे हो सकते हैं?

उत्तर - जैसे इन्द्रियों से मतिज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे मन से भी उत्पन्न होता है। मन पूर्व में अनुभव किए हुए विषयों के अलावा श्रुत से जाने हुए विषयों का भी चिंतन करता है। श्रुत द्वारा अरूपी द्रव्यों का भी बोध होता है। अत: मन द्वारा रूपी-अरूपी सभी द्रव्य मतिज्ञान का विषय बनते हैं।

अवधि का विषय-

रूपिष्ववधेः ।।१-२८।।

अवधि का विषय कुछ पर्याय युक्त रूपी द्रव्य है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञानी भी रूपी द्रव्यों को ही जान सकते हैं; अरूपी द्रव्यों को नहीं।

मन: पर्यवज्ञान का विषय –

तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ।।१-२९।।

मन:पर्यवज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय से अनंतवां भाग है।

अवधिज्ञानी सर्व रूपी पदार्थों को जान सकते हैं। मन: पर्यवज्ञानी उसके अनंतवे भाग के रूपी पदार्थ को जान सकते हैं क्योंकि मन:पर्यवज्ञानी ढ़ाई द्वीप में रहे संज्ञिपंचेन्द्रिय जीवों के मनरूप में परिणत मनोवर्गणा के पुद्गल और उसके पर्यायों को जान सकते हैं। मनोवर्गणा के सभी पुद्गल भी सर्वरूपी द्रव्यों के अनंतवे भाग जितने हैं तो ढ़ाई द्वीप में संज्ञिपंचेन्द्रिय जीवों के मन रूप में परिणत मनोवर्गणा के पुद्गल तो अवश्य अनंतवे भाग में ही है।

केवलज्ञान का विषय–

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।।१-३०।।

केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्य और सर्व पर्याय है।

केवलज्ञान की ज्ञानशक्ति सभी द्रव्यों और सभी पर्यायों में होती है। जगत् में ऐसी कोई वस्तु या ऐसा कोई भाव=पर्याय नहीं है जिसे केवलज्ञान से नहीं जाना जाए। जैसे आईने (आदर्श) में वस्तु प्रतिबिंबित होती है, वैसे आत्मा में तीन काल की सभी वस्तु और सभी भावों का इस प्रकार विलक्षण ज्ञानिगम्य प्रतिबिंब गिरता है, जिससे केवलज्ञानी भगवंत जगत् के सभी द्रव्य और तीनों काल के सर्व पर्यायों को जान सकते हैं। इसलिए ही केवलज्ञानी को सर्वज्ञ कहा जाता है। सर्वज्ञ यानी सब कुछ जानने वाले।

प्रश्न – सर्वज्ञ वर्तमान में दिखते नहीं है। तो सर्वज्ञ होंगे या नहीं, इसका क्या भरोसा?

उत्तर – जो वस्तु हमें दिखती है, वही वस्तु इस जगत् में होती है अथवा जो वस्तु हमारी बुद्धि से समझाए, हमारे गले उतरे, वही वस्तु इस जगत् में होती है; उसके अलावा कोई वस्तु नहीं होती, ऐसी मान्यता गलत है। हमें न दिखने पर भी जिस वस्तु का आप्त पुरुषों के शास्त्र में प्रतिपादन हो, जो वस्तु अनुमान आदि से सिद्ध होती हो, वह वस्तु जगत् में विद्यमान होती है। आप्त पुरुष स्वयं सर्वज्ञ होते हैं। अत: हमें जो भाव नहीं दिखते, उन्हें भी वे प्रत्यक्ष देखते हैं और जगत् को उसका उपदेश देते हैं। आप्तप्रणीत आगम में सर्वज्ञ का वर्णन है। तदुपरांत अनुमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। जो धर्म अंशत: प्रगट है, वह धर्म संपूर्णतया अवश्य प्रगट हो सकता है। चंद्र का प्रकाश दूज के दिन अंशत: प्रगट होता है। तो पूर्णिमा के दिन पूर्ण रूप में प्रगट होता है। वैसे आत्मा का ज्ञानधर्म अंशत: प्रगट है तो संपूर्ण भी प्रगट हो सकता है। जिस आत्मा में ज्ञानधर्म संपूर्णतया प्रगट हो वह सर्वज्ञ [1]।

एक जीव को एक साथ कितने ज्ञान हो सकते है?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।।१-३१।।

एक जीव को एक साथ एक, दो, तीन या चार ज्ञान हो सकते हैं।

[1] प्रमाण मीमांसा अ.1, आ. 1, सू. 16 ।

किसी भी जीव को एक साथ पाँच ज्ञान नहीं हो सकते। जब एक ज्ञान होता है तब मतिज्ञान अथवा केवलज्ञान होता है। जब दो ज्ञान होते हैं तब मति–श्रुत, ये दो ज्ञान होते हैं। जब तीन ज्ञान होते हैं तब मति–श्रुत–अवधि या मति–श्रुत–मन:पर्यव होते हैं। जब चार ज्ञान होते हैं तब मति–श्रुत–अवधि–मन:पर्यव ज्ञान होते हैं।

प्रश्न – सर्व जीवों में मति–श्रुत ज्ञान होते हैं। शास्त्र में एकेन्द्रिय जीवों में भी अस्पष्ट मति–श्रुत का स्वीकार किया गया है। तो केवल मतिज्ञान कैसे होता है?

उत्तर – यहाँ शब्द रूप श्रुत की अपेक्षा से केवल मतिज्ञान हो सकता है। एकेन्द्रियादि जीवों को अस्पष्ट श्रुत होने पर भी अक्षर के बोध रूप श्रुतज्ञान नहीं होता। अथवा यहाँ विशिष्ट शास्त्र रूप श्रुत की विवक्षा है। निसर्ग सम्यग्दर्शन वाले जीव को मतिज्ञान होने पर भी विशिष्ट सामायिक आदि श्रुत के बोध का अभाव होता है।

जब केवलज्ञान होता है, तब अन्य कोई ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न– केवलज्ञान के समय अन्य ज्ञान का सर्वथा अभाव होता है या उनकी शक्ति अभिभूत होती है, ढँक़ जाती है?

उत्तर – इस विषय में दो मत हैं–

1. एक मत से अन्य ज्ञानों का सर्वथा अभाव होता है। इस मत का अभिप्राय यह है कि चार ज्ञान आत्मा के स्वाभाविक नहीं हैं। कर्म के क्षयोपशम से प्रगट होने से औपाधिक हैं। (जो स्वाभाविक नहीं होता किंतु किसी उपाधि = निमित्त से होता है, उसे औपाधिक कहते हैं। जैसे – निर्मल स्फटिक में जासूद पुष्प (चाइना रोज़) के सान्निध्य से हुआ लालरंग औपाधिक है)

केवलज्ञान आत्मा के स्वभाव रूप है। केवलज्ञान ज्ञानावरण के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है। ज्ञानावरण का सर्वथा क्षय होता है तब क्षयोपशम रूप उपाधि का अभाव होने से चार ज्ञानों का भी सर्वथा अभाव होता है। सूर्य का प्रकाश खिड़की – दरवाजे से रहित घर में नहीं आता क्योंकि आवरण है। परंतु खिड़की–दरवाजे वाले मकान में सूर्य का थोड़ा प्रकाश आता है। यदि मकान को ही तोड़ दे तो उस जगह संपूर्ण प्रकाश आता है और खिड़की–दरवाजे का सर्वथा अभाव होता है। इसी प्रकार प्रस्तुत में ज्ञानावरणीय कर्म रूप आवरण होने से सूर्य समान ज्ञान का प्रकाश आत्मरूप मकान में नहीं आ सकता परंतु ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम रूप खिड़की–दरवाजे होने से उनसे थोड़ा प्रकाश आता है। जब आवरण संपूर्ण नष्ट होता है। तब ज्ञान का संपूर्ण प्रकाश आता है। और खिड़की–दरवाजे रूप क्षयोपशम का अभाव होने से मति आदि चार ज्ञान का भी सर्वथा अभाव होता है।

2. दूसरे मत से केवलज्ञान के समय चार ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता, शक्तिरूप चार ज्ञान होते हैं परंतु कार्य रूप अभाव होता है। जैसे सूर्य होने पर ग्रह, नक्षत्र आदि होते तो हैं परन्तु उससे अभिभूत हो जाते हैं।, वैसे केवलज्ञान के समय अन्य चार ज्ञान अभिभूत हो जाने से स्वयं का कार्य नहीं कर सकते।

पहले तीन ज्ञान में विपरीतता (= अज्ञानता)

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।।१-३२।।

पहले तीन ज्ञान विपरीत अर्थात् अज्ञान भी होते हैं।

प्रश्न – ज्ञान अज्ञान कैसे हो सकता है? क्या प्रकाश अंधकार रूप होता है?

उत्तर – यहाँ ज्ञान–अज्ञान की विवक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से है। अत: यहाँ अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं परंतु विपरीत ज्ञान है। आध्यात्मिक दृष्टि से जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ बोध होता है, उसे ही ज्ञान कहते हैं। अत: जिससे विपरीत बोध होता है वह बाह्य दृष्टि से ज्ञान होने पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही है। यथार्थ बोध करना यह ज्ञानका प्रयोजन है। विपरीत ज्ञान से यह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अत: आध्यात्मिक दृष्टि से वह अज्ञान ही है।

जब मिथ्यात्व मोह का उदय होता है। तब वस्तु का यथार्थ बोध होता ही नहीं है, विपरीत बोध ही होता है। अत: मिथ्यादृष्टि के मति–श्रुत और अवधि, ये तीन अज्ञान रूप हैं।

मिथ्यात्व मोह का नाश होने पर सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से वस्तु का यथार्थबोध होता है। अत: सम्यग्दृष्टि जीव का मति आदि ज्ञान ज्ञानस्वरूप है।

प्रश्न – क्या सम्यग्दृष्टि को किसी विषय में संशय या विपरीत बोध नहीं होता?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि को भी किसी विषय में संशय या विपरीत बोध हो, यह संभवित है।

प्रश्न – तो उसका बोध यथार्थ ही होता है, ऐसा नियम कहाँ रहा?

उत्तर – यहाँ यथार्थ बोध का अर्थ प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से नहीं है परंतु आध्यात्मिकदृष्टि से है। प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से ज्ञान का विषय यथार्थ हो तो यथार्थ बोध और अयथार्थ हो तो अयथार्थ बोध होता है। रस्सी में रस्सी का ज्ञान यथार्थबोध है क्योंकि उसका विषय यथार्थ है अर्थात् जिसका ज्ञान है, वही वहाँ है। रस्सी में साँप का ज्ञान अयथार्थबोध है क्योंकि उसका विषय अयथार्थ है अर्थात् जिसका ज्ञान है, वह वहाँ नहीं है। वजनदार पीली धातु में 'यह सोना है या पितल' ऐसा संशय भी अयथार्थ बोध है। प्रमाणशास्त्र में प्रसिद्ध ऐसा अयथार्थ बोध सम्यग्दृष्टि में भी होता है। परंतु यहाँ इसकी विवक्षा नहीं है। यह अध्यात्म शास्त्र होने से यहाँ यथार्थबोध का 'जो ज्ञान आध्यात्मिक विकास में सहायक हो वह यथार्थबोध' ऐसा अर्थ विवक्षित है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान आध्यात्मिक विकास में सहायक होता है।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टि ज्ञान का उपयोग मुख्यतया आत्मोन्नति में करता है, जबकि मिथ्यादृष्टि पुद्गल–पोषण में करता है। इसलिए ही मिथ्यादृष्टि का लौकिक दृष्टि से उच्च कक्षा का माना जाता ज्ञान भी अज्ञान है। सम्यग्दृष्टि का अल्पज्ञान भी ज्ञानस्वरूप है। मिथ्यादृष्टि का भौतिकज्ञान तो अज्ञानरूप है ही परंतु आध्यात्मिकज्ञान भी अज्ञानरूप है। सम्यग्दृष्टि में इससे उल्टा है। उसका आध्यात्मिकज्ञान तो ज्ञान स्वरूप है परंतु भौतिक ज्ञान भी हेयोपादेय के विवेक सहित होने से ज्ञानरूप (सम्यग्ज्ञान) है।

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि को जैसे भौतिक विषय में संशय या विपरीत ज्ञान हो जाता है, वैसे आध्यात्मिक विषय में भी होता है या नहीं।

उत्तर – सम्यग्दृष्टि को आध्यात्मिक विषय में भी स्वयं की अल्पमति आदि कारण से या उपदेशक की भूल से संशय या विपरीत ज्ञान हो सकता है। परंतु उसमें सम्यग्दर्शन गुण के प्रभाव से आध्यात्मिक विकास की नींवरूप सत्यजिज्ञासा, सत्य स्वीकार वगैरह गुण होते हैं। अत: वह स्वयं से विशिष्ट ज्ञानी के पास सत्य समझने का प्रयत्न करता है उसमें स्वयं की भूल निकले तो तुरंत सुधार लेता है और सत्य का स्वीकार करता है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी विषय में स्वयं की मतिमंदता के कारण सत्य क्या है, वह उसे समझ में नहीं आए। जिस विषय में सत्य क्या है, यह समझ में नहीं आए उस विषय में वह 'सर्वज्ञ ने जो कहा, वही सत्य है' ऐसी मान्यता रखता है। परंतु 'यही सत्य' ऐसा कदाग्रह नहीं रखता। वह कोई भी विषय में सत्यासत्य का निर्णय स्वयं

की मतिकल्पना से नहीं करता परंतु सर्वज्ञ के उपदेश से करता है क्योंकि वह समझता है कि छद्मस्थ जीवों की बुद्धि परिमित ही होती है। परिमित बुद्धि से सत्यासत्य का निर्माण नहीं हो सकता। सर्वज्ञ भगवंत ही सत्यासत्य को पूर्ण रूप से जान सकते हैं। अत: सर्वज्ञ भगवंत के उपदेश के आधार पर ही सत्यासत्य का निर्णय हो सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव का मन इससे विपरीत होता है। वह स्वमतिकल्पना से सत्यासत्य का निर्णय कर लेता है। यही बात ग्रंथकार महर्षि आगे के 33 वें सूत्र में बताते हैं।

मिथ्यादृष्टि में पहले तीन ज्ञान विपरीत क्यों?–

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।।१-३३।।

स्वयं की मतिकल्पना अनुसार अर्थ करने से उन्मत्त की तरह सत् पदार्थ और असत् पदार्थ की विशेषता न समझने से मिथ्यादृष्टि का मति आदि ज्ञान अज्ञान स्वरूप है।

जैस पागल व्यक्ति भाई को भाभी कहता है, भाभी को भाई कहता है, भाई को बहन कहता है, बहन को भाई कहता है; वैसे मिथ्यादृष्टि सत् को असत् कहता है, असत् को सत् कहता है। सत् क्या है? असत् क्या है? क्यों है? वगैरह विशेषताएं वह समझ नहीं सकता।

सर्वज्ञ भगवंत कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी है। प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् है, पररूप से असत् है। घट घट है, पट नहीं। अत: घट घट रूप में = स्वरूप में सत् है, पर रूप में = असत् है। अर्थात् घट घट की अपेक्षा सत् है और पट आदि पर वस्तु की अपेक्षा असत् है।

प्रत्येक वस्तु स्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से सत् = विद्यमान है। परद्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से असत् = अविद्यमान है।

घट के दृष्टांत से इस विषय को समझें–

मृत्तिका (मिट्टी) रूप स्वद्रव्य की अपेक्षा से सत्।

सूती वस्त्र रूप पर द्रव्य की अपेक्षा से असत्।

अहमदाबाद रूप स्वक्षेत्र की अपेक्षा से सत्। (अहमदाबाद में बना है अथवा विद्यमान है, उस दृष्टि से)

मुंबई रूप पर क्षेत्र की अपेक्षा से असत्।

ठंड रूप स्वकाल की अपेक्षा से सत्। (ठंड में बना है या विद्यमान है, इस दृष्टि से।)

गर्मी रूप परकाल की अपेक्षा से असत्।

लाल रंग रूप स्वभाव = स्वपर्याय की अपेक्षा से सत्। (लाल घड़ा है इसलिए)

कृष्णरंग रूप परभाव = परपर्याय की अपेक्षा से असत्।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में सत्त्व–असत्त्व, नित्यत्व–अनित्यत्व,सामान्य–विशेष वगैरह धर्म होने पर भी मिथ्यादृष्टि 'यह वस्तु सत् ही है, यह असत् ही है, यह नित्य ही है, यह अनित्य ही है, यह सामान्य ही है, यह विशेष ही है' ऐसे एकांत रूप में एक धर्म का स्वीकार कर अन्य धर्म का अस्वीकार करता है । अत: उसका ज्ञान अज्ञान स्वरुप है ।

नयों का निरूपण–

नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः ।।१-३४।।

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ।।१-३५।।

नैगम, संग्रह, व्यवहार,ऋजुसूत्र और शब्द–ये पाँच नय हैं । नैगम नय के सामान्य और विशेष, ये दो और शब्द नय के सांप्रत, समभिरूढ और एवंभूत, ये तीन भेद हैं।

इन दो सूत्रों का विवेचन करने के पहले नय विषयक थोडी विचारणा करना आवश्यक है, जिससे नय के भेदों का स्पष्ट रूप से बोध हो सकता है । अपेक्षा, अभिप्राय, दृष्टि, नय –ये सब शब्द एकार्थक हैं । किसी एक वस्तु विषयक अलग–अलग दृष्टि से विचार किया जाए तो उसमें गुण–धर्म हैं, ऐसा हमें पता चलेगा। उसमें परस्पर विरोधी लगे ऐसे भी गुण धर्म हैं ।

निर्बलता और बल, ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी होने पर भी एक ही व्यक्ति में रहते हैं । एक ही व्यक्ति विद्वान भी होता है और मूर्ख भी होता है। एक ही मनुष्य निर्भय और भीरु भी होता है । एक ही वस्तु लाभकारक भी होती है और नुकसानकारक भी होती है ।

इस तरह प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म होते हैं । यह सुनकर कितने ही लोगों को आश्चर्य या शंका होगी कि ये कैसे संभव है? क्या प्रकाश और अंधकार एक जगह रह सकते है? इस आश्चर्य या शंका को दूर करने सर्वज्ञ भगवंतों ने एक सुंदर सिद्धांत बताया है । यह सिद्धांत है अनेकान्तवाद ।

अनेकांतवाद कहता है कि एक ही वस्तु में रहे धर्म, जो आपको परस्पर विरोधी लगते हैं, वे धर्म परस्पर विरोधी है ही नहीं। यदि परस्पर विरोधी होते तो एक ही वस्तु में कैसे रहते, रह ही नहीं सकते। एक ही वस्तु में रहे निर्बलता और बल वगैरह धर्म आपको परस्पर विरुद्ध लगते हैं, वह आपकी भ्रमणा है। परस्पर विरुद्ध दिखते धर्म अपेक्षाभेद से अविरुद्ध हैं। किसी भी धर्म में अपेक्षाभेद से विरोध है ही नहीं।

अनेकांत शब्द में अलग–अलग तीन शब्द हैं । अन्, एक और अन्त, इन तीन शब्दों से अनेकान्त शब्द बना है। अन् शब्द का अर्थ निषेध(नहीं) होता है । एक यानी एक । अन्त यानी पूर्णता । एक से पूर्णता नहीं हो वह अनेकांत । किसी भी वस्तु की पूर्णता कोई एक धर्म से नहीं है परंतु अनेक धर्मों से है । अपेक्षा भेद से वस्तु में अनेक धर्म है । उनमें हमें विरुद्ध भाषित हो,ऐसे भी अनेक धर्म होते हैं । अनेकांत अपेक्षा भेद से उनमें अविरोध सिद्ध कर देता है । अनेकांतवाद यानी 'एक ही वस्तु में रहे विरुद्ध धर्मों में अपेक्षा भेद से अविरोध है,' ऐसा सिद्ध करने वाला सिद्धांत ।

जब कोई आपको पूछे कि हाथी बलवान् है या निर्बल ? तब आप तुरंत कहोगे कि हाथी बलवान् है अर्थात् हाथी में बल होता है । बलवान् हाथी भी सिंह के पंजे में फँस जाता है तब कैसा कायर और बेबस बन जाता है। अत: हाथी में निर्बलता धर्म भी है । यदि हाथी निर्बल नहीं होता तो सिंह को दूर फेंक देता । हाथी में गाय, बैल आदि प्राणियों की अपेक्षा बल है और सिंह की अपेक्षा निर्बलता धर्म भी है ।

संस्कृतादि अनेक भाषाओं में विद्वता के धारक प्रोफेसर को जब खेती विषयक प्रश्न पूछा जाए तब उसे सिर खुजाना पड़ता है । संस्कृत आदि भाषाओं में विद्वान होने पर भी खेती के विषय में वह मूर्ख ही है। इसी प्रकार खेती करना अच्छी तरह जानने वाले किसान भाषा के विषय में मूर्ख होने पर भी खेती के विषय में विद्वान=कुशल है । जो नहीं समझे वह मूर्ख और जो अच्छी तरह समझे वह विद्वान। प्रोफेसर भाषाज्ञान की अपेक्षा विद्वान और

कृषिज्ञान की अपेक्षा मूर्ख है । किसान भाषा विषयक कुछ नहीं जानने पर भी कृषि विषयक अच्छा समझता है इसलिए किसान भाषाज्ञान की अपेक्षा मूर्ख और कृषिज्ञान की अपेक्षा विद्वान है ।

एक ही व्यक्ति निर्भय और भीरु, दोनो होता है । मुझे एक व्यक्ति का अनुभव है कि वह दिन में किसी से नहीं डरता परंतु रात्रि में बहुत डरता है । इसलिए रात में वह कहीं भी अकेला नहीं जाता । बोलो, उस व्यक्ति में परस्पर विरोधी लगते निर्भयता और भीरुता, ये दो धर्म हैं या नहीं ? उस व्यक्ति में दिन की अपेक्षा निर्भयता धर्म है और रात्रि की अपेक्षा भीरुता धर्म है ।

जब हमें जहर की स्मृति होती है या जहर को देखते है तब 'जहर यानी जीवन का अंत लाने वाला,' ऐसा ख्याल आता है। परंतु यदि हम जहर के विषय में सूक्ष्मता से विचार करे तो 'जहर नूतन जीवन रूप उपहार देता है '। ऐसा भी ख्याल आयेगा । जैसे जहर में जीवन का अंत करने का धर्म है, वैसे नूतन जीवन अर्पण करने का भी धर्म है । इसलिए ही अनेक औषधों में जहर का मिश्रण होता है । जहर में कुछ रोगों को मिटाने की भी शक्ति है ।

आप मानो या ना मानो परंतु एक सत्य घटना है । एक शहर में एक डॉक्टर का मित्र बिमार हुआ । डॉक्टर ने उसका इलाज शुरु किया । मित्र के परिवार में कोई नहीं था । मित्र अकेला ही था । मित्र की मिल्कत भी अच्छी थी । डॉक्टर की सेवा से खुश होकर मित्र ने उसे कह दिया कि मेरी मृत्यु के बाद मेरी पूरी मिल्कत आपको मिले इसलिए विल कर देते हैं । विल डॉक्टर के नाम की होने के बाद डॉक्टर की नियत बिगडी। उसने मित्र को औषध की जगह ज़हर दे दिया । डॉक्टर मित्र की मृत्यु की राह देख रहा था परंतु मित्र के शरीर में वह ज़हर अमृतरूप बन गया । उसका रोग दूर हो गया । इस तरह ज़हर कुछ पर्यायों की अपेक्षा औषध=अमृत रूप है और कुछ पर्यायों की अपेक्षा ज़हर है ।

उपर्युक्त चारों उदाहरण में अपेक्षा शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ अपेक्षा शब्द का प्रयोग खास आवश्यक है । वस्तु में वह–वह धर्म है और अपेक्षा भेद से उस–उस धर्म का अभाव भी है । अनेकांतवाद का महल अपेक्षावाद के स्तंभ पर ही टिका है। इसलिए ही अनेकांतवाद स्याद्वाद या अपेक्षावाद भी कहलाता है । स्यात् शब्द का अर्थ अपेक्षा है । अपेक्षा यानी नय । नय का अर्थ अपेक्षा है । अनेकांतवाद और नय में अंगांगीभाव है । अनेकांतवाद अंगी है, नय उसके अंग हैं । जिससे वस्तु में रहे अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का बोध होता है, वह नय और जिससे परस्पर विरुद्ध लगते अनेक धर्मों का बोध होता है, वह अनेकांतवाद ।

अनेकांतवाद को यदि महल कहें तो नय उसकी नींव है । नयरूपी नींव पर अनेकांतवाद का महल खड़ा है । नय बिना अनेकांतवाद नहीं टिक सकता । अनेकांतवाद के साहित्य को समझने के लिए नयों का बोध आवश्यक है क्योंकि नय उसका व्याकरण है । संस्कृतादि भाषा को जानने के लिए उनका व्याकरण जानना आवश्यक हैं। जैसे भाषा के व्याकरण बिना भाषा समझ नहीं सकते वैसे नय रूप व्याकरण के बिना अनेकांतवाद नहीं समझ सकते । अनेकांतवाद गूढ़ रहस्य रूप निधान से भरे शास्त्रों रूप मंदिर का ताला है और नय उस ताले को खोलने की चाबी है । अनेकांतवाद साध्य है, नय उसका साधन हैं । साधन बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती । साध्य बिना साधन निरर्थक है । इसलिए अनेकांतवाद और नयवाद, दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं । अत: अनेकांतवाद को समझने नयवाद का बोध भी आवश्यक है ।

उपर कहा गया कि नय यानी अपेक्षा । हमारा पूरा व्यवहार अपेक्षा=नय से चल रहा है । वस्तु में रहे अनेक धर्मों में से हमे जिस समय जिस धर्म का प्रयोजन होता है, उस समय उस धर्म को मुख्य बनाकर हम व्यवहार करते हैं । एक ही व्यक्ति में विद्यार्थीपन, कुशलता, सौम्यता, बहादूरी वगैरह अनेक गुण–धर्म होने पर भी जिस समय जिस धर्म का प्रयोजन होता है, उसे प्रधान बनाते हैं । बह व्यक्ति जब स्कूल में हो तब उसके विद्यार्थीपन

को मुख्य बनाकर उसे विद्यार्थी कहते हैं । वह वह किसी कार्य में नीडरता बताकर विजयी बनता है तब उसकी बहादूरी को प्रधानता देकर उसे बहादूर कहते हैं । जब उसके सुंदर अभ्यास की ओर नज़र जाती है तब उसे कुशल कहते हैं । जब उसकी मुखाकृति पर दृष्टिपात होता है तब उसके मुख पर झलकती सौम्यता को मुख्य बनाकर उसे सौम्य कहते हैं । इस प्रकार एक ही वस्तु में अनेक गुण होने पर भी व्यवहार में हम हर समय सभी गुण की ओर दृष्टि नहीं करते, हो भी नहीं सकती । परंतु प्रसंगानुसार उस–उस गुण–धर्म को आगे करते हैं । व्यवहार में उस उस अपेक्षा से उस–उस गुण–धर्म को आगे किया जाता है ।

जितनी अपेक्षाएँ हैं, उतने नय हैं । अपेक्षाएँ अनंत हैं इसलिए नय भी अनंत हैं । अनंत नयों का बोध करने में हम असमर्थ हैं । इसलिए महापुरुषों ने सभी नयों का संक्षेप से सात नय में समावेश कर हमारी समक्ष सात नय प्रस्तुत किए हैं ।

(1) नैगम नय–इस नय की अनेक दृष्टियाँ हैं । गम यानी दृष्टि=ज्ञान । जिसकी अनेक दृष्टियाँ हो, वह नैगम । व्यवहार में होती लोकरूढ़ि इस नय की दृष्टि से है । इस नय के मुख्य तीन भेद हैं ।

(क) संकल्प–संकल्प को सिद्ध करने के लिए जो कुछ अन्य प्रवृत्ति की जाए, उसे भी संकल्प की ही प्रवृत्ति कही जाती है । जैसे–रमणलाल ने मुंबई जाने का संकल्प=निर्णय किया । वह स्वयं के कपडे वगैरह आवश्यक सामग्री स्वयं की पेटी में भरने लगा । इस समय उसका मित्र चंपकलाल वहाँ आया । उसने रमणलाल को कहीं जाने की तैयारी करते देख पूछा–आप कहाँ जा रहे हो ? रमणलाल ने कहा–मैं मुंबई जा रहा हूँ । यहाँ मुंबई जाने की क्रिया तो अब होने वाली है । अभी तो मात्र तैयारी हो रही है । तो भी मित्र ने वर्तमान काल की गमनक्रिया का प्रश्न किया और रमणलाल ने जवाब भी वर्तमान काल में दिया । वर्तमान काल में मुंबई की ओर गमन न होने पर भी वर्तमान काल का प्रश्न और जवाब संकल्प रूप नैगम नय की दृष्टि से सत्य है । यह नय कहता है कि जब से संकल्प किया तब से संकल्प पूर्ण न हो वहाँ तक सभी क्रियाएँ संकल्प की ही कही जाती है । अत: मुंबई जाने की तैयारी भी मुंबई जाने की क्रिया है ।

(ख) अंश– अंश का पूर्ण में उपचार । मकान का दिवाल आदि कोई एक भाग=अंश गिर जाने पर हम 'मकान गिर गया' ऐसा कहते हैं । उंगली का एक भाग पक जाने पर 'उंगली पक गई ' ऐसा कहा जाता है । पुस्तक का एकाध पेज़ फट जाने पर 'पुस्तक फट' गई ऐसा कहते हैं । यह सब व्यवहार अंश नैगम की दृष्टि से चलता है ।

(ग) उपचार– भूतकाल का वर्तमान में, भविष्यकाल का वर्तमान में, कारण का कार्य में, आधेय का आधार में इस तरह अनेक प्रकार से उपचार किया जाता है । जब दिवाली आती है, तब हम आज दिवाली के दिन भगवान महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया ऐसा कहते हैं । भगवान महावीर को निर्वाण प्राप्त किए 2500 वर्ष से अधिक काल हो गया तो भी हम भूतकाल में वर्तमान काल का आरोप कर 'आज भगवान महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए' ऐसा कहते हैं । 'घी जीवन है' ऐसा कहा जाता है । घी जीवन थोड़ी है ? घी तो जीने का साधन है =कारण है । कारण में कार्य का उपचार कर 'घी जीवन है' ऐसा कहा जाता है । नगर के लोग रोते होने पर भी नगर रो रहा है, ऐसा कहा जाता है, यहाँ आधेय लोगो में आधार रूप नगर का उपचार किया है । पर्वत पर रही घास जलने पर भी 'पर्वत जलता है' ऐसा कहा जाता है । सिंग समान बलवाले पुरुष को 'यह तो सिंह है' ऐसे सिंह रूप से संबोधित किया जाता है । कितनी ही बार हम वर्तमानकाल में भूतकाल का आरोप करते हैं । जैसे दूधपाक बनाते समय कोई पूछे – ' आज क्या बनाया है?' तो 'आज दूधपाक बनाया है' ऐसा कहा जाता है । यहाँ दूधपाक तो अभी बनने वाला है, बन रहा है, तो भी बनाया ऐसा भूतकाल का प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार बहुत बार भविष्यकाल का वर्तमान में आरोप करते हैं । किसी कार्य के लिए बाहर जाने में थोडी देर हो तो भी 'कब जाने

वाले हो?' ऐसा पूछने पर 'बस जा ही रहा हूँ,' ऐसा कहते हैं। यहाँ जाने की क्रिया तो भविष्यकाल में थोड़ी देर के बाद होने वाली है । इसलिए 'अभी जाऊँगा' ऐसा कहने की जगह 'बस जा रहा हूँ ।' ऐसे वर्तमान काल का प्रयोग किया जाता है ।

इस तरह अनेक प्रकार की व्यवहार रूढ़ि=लोकरूढ़ि इस नैगमनय की दृष्टि से है ।

अब दूसरी तरह नैगम नय की विचारणा करते हैं –

नैगमनय के सर्वपरिक्षेपी और देशपरिक्षेपी इस तरह दो भेद हैं । सर्वपरिक्षेपी यानी सामान्यग्राही और देशपरिक्षेपी यानी विशेषग्राही । प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष दोनों स्वरूप है । जैसे–घट । मिट्टी की दृष्टि से घट विशेष है क्योंकि मिट्टी की अनेक वस्तु बनती है । मिट्टी की प्रत्येक वस्तु में मिट्टी समान है इसलिए मिट्टी सामान्य है और उससे बनी प्रत्येक वस्तु विशेष है । अत: मिट्टी की अपेक्षा घट विशेष रूप है । घट के सभी अनेक प्रकार होते हैं। अलग–अलग प्रकार के घट की अपेक्षा से घट सामान्य है और अलग–अलग प्रकार के घट विशेष हैं । इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपेक्षाभेद से सामान्य–विशेष स्वरूप हैं ।

नैगमनय सामान्य–विशेष दोनों का अवलंबन लेता है परंतु उसका आधार लोकरूढ़ि है। नैगमनय लोकरूढ़ि अनुसार कभी सामान्य का अवलंबन लेता है तो कभी विशेष का अवलंबन लेता है । जैसे–भारत में अहमदाबाद की किसी गली में किसी नंबर के घर में रहनेवाले चंद्रकांत को जब–जब अन्य अनजान व्यक्ति 'आप कहाँ रहते हो?' ऐसा प्रश्न पूछता है, तब–तब वह एक समान उत्तर नहीं देता किंतु भिन्न–भिन्न उत्तर देता है । जब वह अमेरिका में होता है तब यदि कोई उसे पूछे कि 'आप कहाँ रहते हो ?' तो वह कहता है–'मैं भारत में रहता हूँ ।' जब भारत के महाराष्ट्र आदि राज्यों में होता है तब 'मैं गुजरात में रहता हूँ' ऐसा उत्तर देता है । कभी वह मैं अहमदाबाद में रहता हूँ' ऐसा कहता है । कभी 'इस गली में इस नंबर के घर में रहता हूँ", ऐसा उत्तर देता है । यहाँ प्रश्न एक ही है । उसके जवाब अनेक हैं । प्रत्येक उत्तर सत्य है, ऐसा नैगम नय कहता है । यहाँ अमेरिका, रशिया वगैरह देशों की अपेक्षा भारत विशेष है परंतु भारत के गुजरात, महाराष्ट्र आदि राज्यों की अपेक्षा भारत सामान्य है । भारत की अपेक्षा गुजरात विशेष है परंतु गुजरात के कच्छ, काठियावाड आदि भागों की अपेक्षा गुजरात सामान्य है । नैगमनय सामान्य विशेष दोनों को ग्रहण करता है ।

(2) संग्रह नय– जो नय सभी विशेषों का एक सामान्य रूप से संग्रह कर लेता है, वह संग्रह नय । प्रत्येक वस्तु अपेक्षाभेद से सामान्य–विशेष दोनों रूप है, ऐसा हमने देखा । इसलिए हर वस्तु में सामान्य अंश और विशेष अंश है । संग्रह नय सामान्य अंश को ग्रहण करता है । वह कहता है कि सामान्य बिना विशेष हो ही नहीं सकता । सामान्य बिना विशेष आकाश–कुसुमवत् असत् ही है । सामान्य वनस्पति बिना विशेष नीम हो ही नहीं सकता । अत: जहाँ–जहाँ विशेष है, वहाँ–वहाँ सामान्य अवश्य होता है । इसलिए संग्रहनय प्रत्येक वस्तु की पहचान सामान्य रूप में ही देता है । उसकी दृष्टि सामान्य की ओर ही जाती है ।

अत: इस नय की दृष्टि विशाल है । वह सर्व विशेषों का सामान्य से एक रूप में संग्रह कर लेता है । जैसे चेतन और जड़ दोनो पदार्थ भिन्न–भिन्न हैं परंतु यह नय उन दोनों का एक रूप में संग्रह कर लेता है । जड और चेतन दोनों पदार्थ सत् हैं। सत् रूप में दोनों समान=एक हैं । साड़ी, शर्ट, ब्लाउज़, धोती वगैरह अनेक प्रकार की वस्तु को कपड़े कहकर एक रूप मानता है । इस प्रकार यह नय सामान्य अंश को ग्रहण करता है । सामान्य अंश में अनेक भेद होते हैं । इसलिए संग्रह नय के हरेक दृष्टांत में भी अंतर रहेगा । सामान्य अंश जितना विशाल उतना संग्रहनय विशाल । सामान्य अंश जितना संक्षिप्त उतना संग्रह नय संक्षिप्त ।

(3). व्यवहार नय – जो नय विशेष की ओर दृष्टि कर प्रत्येक वस्तु को अलग अलग माने, वह व्यवहार नय । यह नय कहता है कि विशेष सामान्य से अलग नहीं है , यह बात सही है परंतु विशेष बिना व्यवहार नहीं चल सकता । 'वनस्पति लाओ' मात्र इतना कहने से लाने वाला व्यक्ति क्या कुछ ला सकेगा ? नहीं । यहाँ आपको कहना ही पड़ेगा कि 'यह वनस्पति लाओ'। ऐसा विशेष कहने से वह इच्छित वनस्पति ला सकेगा । विशेष को माने बिना व्यवहार चल ही नहीं सकता । अत: व्यवहार नय विशेष अंश को मानता है ।

यहाँ तक हमने देखा कि नैगम, संग्रह और व्यवहार–इन तीन नयों में नैगमनय सामान्य विशेष दोनों को स्वीकारता है । संग्रह नय मात्र सामान्य को स्वीकारता है । व्यवहार नय केवल विशेष को स्वीकारता है । संग्रह और व्यवहार नय परस्पर सापेक्ष हैं । अत: एक ही विचार संग्रह नय का भी होता है और व्यवहार नय का भी होता है । जैसे 'इस नगर में मनुष्य रहते हैं', यह विचार संग्रह नय का भी है और व्यवहार नय का भी है । नगर में मनुष्यों के साथ साथ जानवर भी रहते हैं। अत: जानवर और मनुष्य दोनों जीव हैं। जीव की दृष्टि से मनुष्य विशेष है । अत: जीव की दृष्टि से 'इस नगर में मनुष्य रहते हैं । यह विचार व्यवहार नय से है । मनुष्यों में स्त्री, पुरुष, बालक, युवान, वृद्ध वगैरह होते हैं । मनुष्य के स्त्री, पुरुष आदि विशेष भेदों की अपेक्षा 'इस नगर में मनुष्य रहते हैं' यह विचार संग्रह नय से है । इस तरह एक ही विचार संग्रहनय भी कहलाता है और व्यवहार नय भी कहलाता है ।

अत: तात्पर्य यह निकला कि जितने अंश में दृष्टि सामान्य की ओर, उतने अंश में संग्रह नय और जितने अंश में दृष्टि विशेष की ओर, उतने अंश में व्यवहार नय ।

(4) ऋजुसूत्र नय – जो नय वस्तु की केवल वर्तमान अवस्था की ओर लक्ष्य रखता है, वह ऋजुसूत्र नय । यह नय वस्तु की वर्तमान पर्याय को ही मानता है अतीत और अनागत (भविष्य) पर्याय को नहीं ।

यह नय वर्तमान में जो सेठाई भोगता है, उसे ही सेठ कहता है । जबकि व्यवहार नय वर्तमान में जो सेठाई न करता हो परंतु भूतकाल में जिसने सेठाई की थी, उसे भी वर्तमान में सेठ कहता है ।

ऋजु सूत्र नय वर्तमान में राज्य का मालिक है, उसे ही राजा कहता है जबकि व्यवहारनय भविष्य में राज्य का मालिक बनने वाले को भी राजा कहता है । इस प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा ऋजुसूत्र नय सूक्ष्म है ।

(5) सांप्रत–शब्द नय–हमें समझना हो या दूसरे को समझाना हो तो शब्दों की जरूरत पड़ती है । शब्द बिना व्यवहार नहीं चलता । शब्दों से होते अर्थ के बोध में शब्दनय की प्रधानता है । शब्द नय यानी शब्द के आश्रय से होती अर्थ विचारणा [①] । शब्द नय लिंग, काल, वचन वगैरह के भेद से अर्थभेद मानता है । अर्थात् भिन्न–भिन्न शब्द, लिंग आदि का अर्थ भी भिन्न–भिन्न स्वीकारता है ।

लिंगभेद–नर–नारी, काला–काली, मटका–मटकी, पात्रा–पात्री वगैरह अलग–अलग लिंग के अलग–अलग अर्थ हैं ।

कालभेद–था–है–होगा, खेला–खेलता है–खेलेगा वगैरह अलग अलग काल के अलग अलग अर्थ हैं । इतिहास के लेखक को भूतकाल के अहमदाबाद का वर्णन करना है तो लेखक के काल में अहमदाबाद होने पर भी लेखक 'अहमदाबाद था' ऐसा लिखता है । यहाँ भूतकाल का प्रयोग शब्द नय की दृष्टि से है । शब्द नय कहता है कि भूतकाल में जो अहमदाबाद नगर था और अभी जो है, वे दोनो भिन्न हैं । इतिहास लेखक को भूतकाल का ही प्रयोग करना चाहिए ।

---

① अर्थ का मतलब शब्द से कहा जाने वाला पदार्थ । वस्तु मात्र शब्दार्थ नहीं ।

वचनभेद – गाय–गाएँ, पैसा–पैसे वगैरह अलग–अलग वचन के अलग अलग अर्थ हैं ।

कारकभेद – लड़का, लड़के ने, लड़के से वगैरह कारक के भेद से अर्थभेद होता है ।

इस प्रकार शब्द नय लिंग आदि के भेद से अर्थभेद मानता है । परंतु एक ही शब्द के पर्यायवाची शब्दों के भेद से अर्थभेद नहीं मानता । मनुष्य, मनुज, मानुष वगैरह शब्द अलग–अलग होने पर भी एक ही शब्द के पर्यायवाची होने से उन सभी शब्द का 'मानव' ऐसा एक ही अर्थ होगा ।

ऋजुसूत्र और शब्दनय में विशेषता– ऋजुसूत्र नय लिंग आदि के भेद से अर्थ भेद नहीं मानता और नाम वगैरह चारो निक्षेपों को स्वीकारता है । शब्द नय लिंग आदि के भेद से अर्थभेद मानता है और मात्र भाव निक्षेप को ही स्वीकारता है ।

(6) समभिरूढ़ नय–यह नय एक ही वस्तु के पयार्यवाची शब्द भेद से अर्थ भेद स्वीकारता है । शब्दनय पर्यायवाची शब्दों का अर्थ एक ही मानता है परंतु समभिरूढ़ नय शब्द भेद से अर्थभेद मानता है । वह कहता है–यदि लिंग आदि के भेद से अर्थ का भेद मानते हो तो व्युत्पत्ति भेद से भी अर्थ का भेद मानना चाहिए । प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति भेद से भी अर्थ का भेद मानना चाहिए । प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति अलग–अलग है इसलिए हरेक शब्द का अर्थ भी अलग–अलग है । इसलिए नृप,भूप, राजा वगैरह सभी शब्द के अर्थ भी भिन्न हैं। जो मनुष्यों का रक्षण करे वह नृप, जो पृथ्वी का पालन करे वह भूप, जो राजचिह्नों से शोभित हो वह राजा इत्यादि ।

प्रश्न – क्या शब्दनय शब्द भेद से अर्थभेद सर्वथा नहीं मानता ?

उत्तर – शब्दनय शब्द भेद से अर्थभेद स्वीकारता भी है और नहीं भी । वह पर्यायवाची शब्द से अन्य शब्दों में शब्दभेद से अर्थभेद मानता है । जैसे चंद्र, सूर्य, इंद्र वगैरह शब्दों के अर्थ अलग–अलग हैं। परंतु एक ही वस्तु के पर्यायवाची शब्दों में शब्दभेद से अर्थभेद नहीं मानता । जबकि समभिरूढ़ नय एक ही वस्तु के पर्यायवाची शब्दों में भी शब्दभेद से अर्थभेद मानता है । यही शब्दनय और समभिरूढ़ नय में विशेषता है ।

(7) एवंभूत नय – जो नय वस्तु में जब शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ घटित होता हो तभी उस शब्द से उस वस्तु का संबोधन करे, वह एवंभूत नय । यह नय गायक उसे ही कहेगा जो वर्तमान में गीत गाता हो । गायक जब गाने के अलावा अन्य क्रिया करता हो तब यह नय उसे गायक नहीं कहेगा । रसोइया जब रसोई बनाता हो तभी उसे रसोईया कहते हैं । नृप मनुष्यों का रक्षण कर रहा हो तभी उसे नृप कहते हैं। राजा राजचिह्नों से शोभित हो रहा हो तभी उसे राजा शब्द से ही संबोधित किया जाता है, नृप आदि शब्द से नहीं । इस प्रकार एवंभूत नय अर्थ के साथ शब्द का और शब्द के साथ अर्थ का नियमन [1] करता है ।

इस प्रकार यह नय क्रियाभेद–व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ के भेद से अर्थभेद मानता है । जिस शब्द का जो अर्थ है, उस अर्थ में उस शब्द की व्युत्पत्ति से ज्ञात होती क्रिया जब होती हो, तभी उस अर्थ के लिए उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए, इस प्रकार यह नय मानता है ।

सातनय के विषय	
नैगम	सामान्य–विशेष ग्राही। उपचार
संग्रह	सामान्य ग्राही
व्यवहार	विशेष ग्राही

[1] इस अर्थ के लिए यही शब्द और इस शब्द का यही अर्थ (पदार्थ) ऐसा नियमन एवंभूत नय शब्द की व्युत्पत्ति अनुसार करता है।

ऋजुसूत्र	वर्तमानकालिक वस्तु
शब्द	शब्द के लिंग, काल, कारकादि के भेद से अर्थभेद
समभिरूढ़	पर्यायवाची शब्द भेद से अर्थभेद
एवंभूत	व्युत्पत्ति का अर्थ जब वस्तु में घटित हो

इन सात नय के संक्षेप में द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक, निश्चय–व्यवहार, शब्द–अर्थ, ज्ञान–क्रिया वगैरह अनेक प्रकार से दो विभाग हैं –

(1) द्रव्यार्थिक–पर्यापार्थिक नय–नैगमादि सात नय के संक्षेप से द्रव्यार्थिक[①] नय और पर्यायार्थिक नय, ऐसे दो विभाग हैं । जो मुख्यतया द्रव्य को वस्तु माने वह द्रव्यार्थिक नय । जो मुख्यतया पर्याय को वस्तु माने वह पर्यायार्थिक नय । द्रव्यनय की दृष्टि से द्रव्य वस्तु है, पर्याय नहीं । पर्यायनय की दृष्टि से पर्याय वस्तु है । द्रव्य नहीं । यहाँ द्रव्य यानी सामान्य अर्थात् मूलभूत पदार्थ । पर्याय यानी विशेष अर्थात् मूलभूत पदार्थ की भिन्न–भिन्न अवस्था । प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष दो अंश हैं, ऐसा हमने उपर देखा । द्रव्यार्थिक नय सामान्य=द्रव्यरूप अंश की ओर लक्ष्य रखता है । पर्यायार्थिक नय विशेष=पर्याय रूप अंश की ओर लक्ष्य रखता है । जैसे मिठाई की दुकान देखकर 'यहाँ मिठाई मिलेगी' ऐसा जो विचार आये ,वह मिठाई रूप सामान्य अंश के आश्रय से होने के कारण द्रव्यार्थिक है । परंतु 'यहाँ बर्फी, पेडे वगैरह मिलते हैं,' ऐसा विचार बर्फी आदि विशेष अंश के आश्रय से होने के कारण पर्यायार्थिक है ।

इस प्रकार हरेक प्रकार की भौतिक या चेतन वस्तु के आश्रय से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, दोनों नय की विचारणा कर सकते हैं । नैगम आदि सात नयों में प्रथम तीन नय सामान्य अंश की ओर लक्ष्य रखने से द्रव्यार्थिक हैं और अंतिम चार नय विशेष=पर्याय अंश की तरफ लक्ष्य रखते होने से पर्यायार्थिक हैं ।

(2) निश्चय–व्यवहारनय – निश्चयनय यानी सूक्ष्मदृष्टि वाला या तत्त्वदृष्टि वाला । निश्चयनय किसी भी विषय की गहराई में उतरकर तत्त्वस्पर्शी विचार करता है । व्यवहारनय यानी स्थूलदृष्टि या उपचार दृष्टि । व्यवहार नय किसी भी विषय का स्थूल दृष्टि से विचार करता है । जैसे–निश्चय नय जिसमें चारित्र के परिणाम हैं उसे साधु कहेगा, भले साधुवेश न हो । साधुवेश वाला भी यदि चारित्र के परिणाम रहित हो तो उसे साधु नहीं कहेगा। जबकि व्यवहार नय जिसमें बाह्य साधुवेश और साधु की क्रिया देखेगा, उसे साधु कहेगा, भले चारित्र के परिणाम न हो। व्यवहार नय स्थूल दृष्टि से लोकप्रसिद्ध अर्थ का स्वीकार करता है जबकि निश्चयनय सूक्ष्मदृष्टि वाला होने से लोकप्रसिद्ध (असत्य) अर्थ का स्वीकार नहीं करता । जैसे भ्रमर में पाँच वर्ण होने पर भी लोक में वह कृष्ण रुप में प्रसिद्ध होने से व्यवहार नय उसे कृष्ण कहता है। निश्चय नय उसे पंचरंगी कहता है ।

प्रथम तीन नय व्यवहार नय हैं। अंतिम चार नय निश्चय नय हैं। उसमें भी बाद–बाद वाला नय अधिक–अधिक सूक्ष्मदृष्टि है। एवंभूत नय सबसे अधिक सूक्ष्मदृष्टि = तलस्पर्शी है।

(3)शब्द–अर्थ नय – जिसमें मुख्यता अर्थ का विचार हो वह अर्थनय । जिसमें मुख्यतया शब्द का विचार हो वह शब्दनय । यहाँ अर्थ यानी पदार्थ वस्तु । प्रथम चार नयों में पदार्थ को मुख्य रखकर विचारणा होने से वे अर्थ नय है । अंतिम तीन नयों में शब्द को मुख्य रखकर विचारणा होने से शब्द नय हैं ।

---

① इन्हें द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नय तथा द्रव्यनय और पर्यायनय भी कहा जाता है ।

(4) ज्ञान-क्रिया नय – जो नय ज्ञान को (तात्त्विक विचार) प्रधान माने वह ज्ञान नय । जो नय क्रिया (तत्त्वानुसारी आचार) को प्रधान मानता है वह क्रिया नय । मोक्ष चारित्र से होता है या ज्ञान से? इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञाननय कहता है कि ज्ञान से मोक्ष होता है । ज्ञान से मुक्ति होती है, इस विषय में ज्ञाननय निम्नलिखित तर्क देता है–

(अ) ज्ञान चारित्र का कारण है । चारित्र ज्ञान का फल है । इसलिए ज्ञान बिना चारित्र ही नहीं होगा तो मुक्ति कैसे होगी ?

(आ) जैसे अंधा व्यक्ति चाहे जितना दौडे तो भी इष्ट नगर नहीं पहुँच सकता । नगर के मार्ग के ज्ञान बिना चाहे जितना चला जाए तो भी नगर नहीं पहुँच सकते, वैसे ज्ञान बिना चारित्र=क्रिया से मुक्ति रूप नगर में नहीं पहुँच सकते ।

(इ) हेय के त्याग रूप और उपादेय के स्वीकार रूप प्रवृत्ति ज्ञानपूर्वक करने से सफल बनती है । ज्ञान विना उस प्रवृत्ति से फल मिल भी सकता है या नहीं भी मिले।

(ई) चारित्र की कठोर साधना करने वाले को भी केवलज्ञान बिना मुक्ति नहीं मिलती ।

(उ) **पढमं नाणं तओ दया =** पहले ज्ञान, फिर दया; **गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थनिस्सिओ भणिओ**=गीतार्थ और गीतार्थ की निश्रा वाला, ये दो ही विहार जिनेश्वरो ने कहे हैं इत्यादि आगम वचनों से भी ज्ञान की प्रधानता सिद्ध होती है।

क्रियानय कहता है कि मुक्ति का कारण चारित्र है । उसके तर्क –

(अ) प्रवृत्ति बिना मात्र ज्ञान से कार्य नहीं होता । जैसे–औषध के सेवन बिना मात्र औषध के ज्ञान से आरोग्य नहीं होता ।

(आ) जैसे नगर के मार्ग का ज्ञान होने पर भी जो चले नहीं, बैठा रहे, वह इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता, वैसे ज्ञानी भी चारित्र हीन हो तो मुक्ति नहीं पाता ।

(इ) इसलिए ही आगम में चारित्र हीन ज्ञानी को चंदन का भार उठाने वाले गधे की उपमा [①] दी है ।

(ई) जैसे सैकडों दीपक भी आँख बिना निरर्थक हैं, वैसे बहुत ज्ञान भी चारित्र बिना निरर्थक है ।

(उ) केवलज्ञान बिना भी जब तक सर्वसंवर रूप चारित्र न आये तब तक मुक्ति नहीं होती [②] ।

5. सुनय-दुर्नय – नय के सुनय और दुर्नय दो भेद हैं । जो नय स्वमान्य अंश सिवाय अन्य अंशो का अपलाप न करे (सर्वथा निषेध न करे) किंतु उन अंशो के प्रति उदासीन =मध्यस्थ रहे, वह सुनय । और अपलाप करे वह दुर्नय या नयाभास[③] है ।[④] जैसे 'क्रिया से मोक्ष होता है' यह सुनय है क्योंकि इसमें ज्ञान का अपलाप नहीं है । 'क्रिया से ही मोक्ष होता है', यह वाक्य दुर्नय है क्योंकि इसमें एवकार का प्रयोग कर ज्ञान का अपलाप किया गया है । संक्षेप में एकांत मान्यता दुर्नय है । इसलिए ही अन्य दर्शनों में स्वयं की आंशिक मान्यताए सत्य होने पर भी अन्य अंशो का अपलाप होने से दुर्नय हैं । इसलिए अन्यदर्शन मिथ्यादर्शन हैं ।

---

① जैसे चंदन का भार उठाने वाला गधा मात्र भार को प्राप्त करता है, चंदन को नहीं, वैसे चारित्र से हीन ज्ञानी मात्र ज्ञान के भार को प्राप्त करता है, सुगति को नहीं। (संबोधसित्तरी गा.81 उपदेशपद गा.426)

② ज्ञान नय-क्रिया नय, दोनों के तर्क समझकर मोक्षार्थी जीवन को ज्ञान-क्रिया का समन्वय करना चाहिए अर्थात् दोनों को आचरना चाहिए ।

③ नयाभास = जो नय नहीं हैं परंतु नय जैसे लगते हैं उसे नयाभास कहते हैं।

④ प्रमाण.... परि: 7, सू: 2।

यहाँ नय विचारणा पूर्ण होती है । नयविज्ञान में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि नय प्रमाण के विभाग रूप हैं । प्रमाण ज्ञान से सिद्ध पदार्थ ही नय का विषय होता है [①]। नय मे अपेक्षा का बहुत महत्त्व है । अपेक्षा नयविज्ञान शास्त्र के प्राण रूप है । अपेक्षा बदलते ही नय बदल जाता है । नयों का व्यवस्थित अध्ययन करने के लिए नयकर्णिका वगैरह ग्रंथो का सांगोपांग अध्ययन अनिवार्य है ।

***

① प्रमाणनय.... परि.7, सू.1।

द्वितीय अध्याय

तत्त्वार्थ में दर्शन, ज्ञान और चारित्र का निरूपण किया गया है। दर्शन आदि तीन में दर्शन प्रथम होने से पहले उसका निरूपण करना चाहिए। इसलिए सूत्रकार भगवंत ने पहले उसके निरूपण का प्रारंभ किया। जीवादि तत्त्व विषयक श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहकर जीवादि तत्त्वों के बोध के उपाय रूप प्रमाण और नय का निर्देश किया। इसलिए प्रमाण और नय का निरूपण करना चाहिए। तथा सम्यग्दर्शन के बाद ज्ञान का वर्णन करना चाहिए। प्रमाण और नय ज्ञान स्वरूप है। इसलिए **'मतिश्रुतावधिमन:पर्यायकेवलानि ज्ञानम्1-9'** सूत्र से ज्ञान और प्रमाण, दोनों के वर्णन का प्रारंभ किया। 33 वें सूत्र तक वह वर्णन चला। बाद में दो सूत्रों से नय का निरूपण किया। इस प्रकार प्रथम अध्याय में मुख्यतया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और साथ-ही-साथ ज्ञान के अंग रूप प्रमाण और नय का भी निरूपण किया। अब चारित्र का वर्णन करना चाहिए परंतु नौवें अध्याय में संवरतत्त्व के प्रकरण में चारित्र का वर्णन आने वाला है, इसलिए यहाँ उसका निरूपण नहीं किया।

जीवादि तत्त्व विषयक श्रद्धा सम्यग्दर्शन का लक्षण है। अत: साधक को जीवादि तत्त्वों को जानने की सहज इच्छा होगी। साधक की जीवादि तत्त्वों की जिज्ञासा को ध्यान में लेकर सूत्रकार भगवंत दूसरे अध्याय से क्रमश: जीवादि तत्त्वों का निरूपण करते हैं।

जीव के भाव -

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च ॥२-१॥

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक, ये पाँच भाव जीव के स्वतत्त्व हैं अर्थात् स्वरूप हैं, स्वभाव हैं।

भाव यानी गुण या धर्म। प्रत्येक चेतन या जड़ वस्तु में अनेक धर्म हैं। अत: जीव में भी अनेक गुण हैं। तो प्रश्न होता है कि यहाँ पाँच ही भाव (गुण-धर्म) क्यों बताए? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जीव में रहे अनेक धर्मों के जो कारण हैं, वे कारण पाँच हैं। - उपशम, क्षय, मिश्र, उदय और परिणाम। कोई गुण उपशम से प्रगट होते हैं तो कोई गुण क्षय से प्रगट होते हैं.... यावत् कोई गुण परिणाम से होते हैं। इसलिए कारणों की दृष्टि से सभी गुणों का इन पाँच गुणों में समावेश हो जाता है।

1. औपशमिक भाव - उपशम यानी आत्मा में कर्म विद्यमान होने पर भी कुछ समय के लिए उनके उदय का सर्वथा अभाव। कभी जीव में शुभ अध्यवसाय होने से मोहनीय कर्म का उदय थोड़े समय (अंतर्मुहूर्त) के लिए स्थगित हो जाता है। जैसे कतकचूर्ण [1] डालने से कचरा नीचे बैठ जाने पर जल निर्मल दिखता है, वैसे कर्मों का उपशम होने से आत्मा निर्मल होती है। यहाँ कचरे वाले पानी का दृष्टांत बराबर समझने जैसा है। कचरे वाले निर्मल पानी में कचरे का सर्वथा अभाव नहीं होता किंतु कचरा नीचे बैठ जाने से पानी निर्मल दिखता है। यदि पानी को हिलाए तो पानी पुन: गंदा दिखेगा। इसी प्रकार कर्मों के उपशम में कर्मों का सर्वथा अभाव नहीं होता किंतु थोड़े समय के लिए उसका उदय स्थगित हो जाता है। अत: थोड़े समय बाद पुन: कर्मों का उदय होने से निर्मलता नहीं रहती। कर्मों के उपशम से आत्मा में प्रगट होते भाव औपशमिक भाव कहलाते हैं।

---

① कतक एक प्रकार का वृक्ष का फल है, जिसका चूर्ण पानी में डालने से पानी निर्मल होता है । उसका दूसरा नाम निर्मली है ।

2. क्षायिक भाव – कर्मों के क्षय से प्रगट होते भाव क्षायिकभाव कहलाते हैं। क्षय यानी कर्म का सर्वथा नाश। जैसे जल में से कचरा निकल जाने पर जल निर्मल हो जाता है, वैसे आत्मा में रहे कर्मों का सर्वथा क्षय होने पर आत्मा निर्मल होती है। कर्मों के क्षय से प्रगट होने वाली निर्मलता सदा रहती है। कर्मों के उपशम से प्रगट होती निर्मलता विनश्वर है, जबकि क्षय से प्रगटने वाली निर्मलता अनंत है। यही उपशम और क्षय में भेद है।

3.मिश्रभाव – उपशम और क्षय, इन दो के मिश्रण से उत्पन्न होने वाले भाव मिश्र = क्षायोपशमिक कहलाते हैं। क्षयोपशम यानी कर्मों के कुछ भाग का उपशम और कुछ भाग का क्षय अर्थात् रस के सर्वथा अभाव रूप अथवा अधिक रस वाले कर्मप्रदेशों के (सर्वघाती स्पर्धकों के) उदय का अभाव रूप उपशम और रसरहित प्रदेशों के अथवा अल्परसवाले प्रदेशों के (देशघाती स्पर्धकों के) उदय द्वारा क्षय, वह क्षयोपशम। क्षयोपशम से जो भाव प्रगट होते हैं, वे क्षायोपशमिक भाव कहे जाते हैं। जैसे कोद्रव [1] को पानी से धोने से मदशक्ति कुछ अंश में नष्ट होती है, कुछ अंश में नष्ट नहीं होती, अत: कोद्रव में शुद्धि–अशुद्धि का मिश्रण होता है वैसे क्षायोपशमिक भाव से आत्मा में शुद्धि–अशुद्धि का मिश्रण होता है।

4. औदयिकभाव – कर्म के उदय से होने वाले भाव औदयिकभाव कहलाते हैं। उदय यानी कर्म के फल का अनुभव।

5. पारिणामिकभाव – परिणाम से होने वाले भाव पारिणामिकभाव कहलाते हैं। परिणाम यानी द्रव्य का स्वरूप।

प्रत्येक जीव को ये पाँच भाव होते ही हैं, ऐसा नियम नहीं है। किसी को 5, किसी को 4, कुछ जीवों को 3 और कुछ जीवों को दो ही भाव होते हैं। कम–से–कम दो भाव तो जीव को होते ही हैं। अब किस जीव को कितने भाव होते हैं, इसकी विचारणा करते हैं। सिद्ध जीवों में क्षायिक और पारिणामिक, दो भाव होते हैं। सामान्य से संसार में रहे जीवों को औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक, ये तीन भाव होते हैं। उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त जीव को औदयिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और औपशमिक, ये चार भाव होते हैं। क्षायिकसम्यक्त्व को प्राप्त जीव को उपशम श्रेणि में पाँचों भाव होते हैं।

यहाँ एक बात विचारणीय है। औपशमिकादि भाव भी पारिणामिक है क्योंकि किसी भी द्रव्य के उस प्रकार के परिणाम = स्वरूप बिना एक भी भाव नहीं हो सकता। इसलिए जीव के सभी भावों का पारिणामिक भेद में समावेश हो जाता है। तथापि यहाँ पाँच भेद बताने का कारण यह है कि पारिणामिक भावों में किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं है। निमित्त बिना ही पारिणामिक भाव जीव में होते ही हैं। जबकि औपशमिकादि भावों में कर्म के उपशम आदि निमित्त की अपेक्षा रहती है। औपशमिकादि भाव कर्म के उपशमादि निमित्त मिलने पर ही प्रगट होते हैं। इस निमित्तभेद की अपेक्षा से यहाँ पाँच भाव बताएँ हैं।

प्रश्न – सूत्र में पूरा एक ही समास नहीं करके पहले **'औपशमिकक्षायिकौ भावौ'** ऐसे समास किया, फिर **'मिश्रश्च'** समास रहित प्रयोग किया फिर **'औदयिकपारिणामिकौ'** ऐसा समास किया। इसका क्या कारण है?

उत्तर – 1. (उत्पत्तिविगमकालसाम्यात्=) क्षायोपशमिक भाव की उत्पत्ति और विनाश में औपशमिक भाव और क्षायिक भाव एक साथ एक ही समय उत्पन्न होते है। जिस प्रकृति का क्षयोपशम उत्पन्न होता है, उस प्रकृति में उपशम और क्षय दोनों साथ में ही उत्पन्न होते है तथा जिस प्रकृति में क्षयोपशम भाव नष्ट होता है उस प्रकृति में उपशम और क्षय दोनों एक साथ ही नष्ट होते है।

---

[1] कोद्रव–भाषायां कोदरा= घास का धान्य, जिससे मादकद्रव्य बनाया जाता है ।

2. (संहतोत्तकारणत्वाच्च =) औपशमिक और क्षायिक भाव इकट्ठे होकर ही क्षायोपशमिक भाव का कारण है क्योंकि क्षायोपशमिक भाव उपशम और क्षय दोनों के मिश्रण से उत्पन्न होता है। इन दो कारण से **'औपशमिकक्षायिकौ'** ऐसा समास किया है। औपशमिक और क्षायिक भाव के स्वामी जीवों की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव के स्वामी जीव अधिक हैं, यह बताने के लिए **'मिश्र:'** समास रहित प्रयोग किया है।

औदयिक और पारिणामिक, ये दो भाव जीव और अजीव दोनों में होते हैं। जबकि पूर्व के तीन भाव मात्र जीव में ही होते हैं। यह बताने के लिए औदयिक और पारिणामिक भाव का अलग निर्देश किया है तथा औदयिक भाव जहाँ होता है वहाँ पारिणामिक भाव अवश्य होता है, यह बताने के लिए **'औदयिकपारिणामिकौ'** समास किया है।

प्रश्न – अजीव में औदयिकभाव कैसे होता है?

उत्तर – कर्म उदय में आते हैं इसलिए कर्म में औदयिक भाव होता है। कर्म अजीव स्वरूप होने से अजीव में औदयिक भाव होता है।

पाँच भाव के भेदों की संख्या–

द्वि-नवा-ऽष्टादशैकविंशति-त्रिभेदा यथाक्रमम्।।२-२।।

औपशमिक आदि पाँच भाव के क्रमश: दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं। कुल 53 भेद हैं।

औपशमिक भाव के भेद–

सम्यक्त्वचारित्रे।।२-३।।

औपशमिक भाव के उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र, ये दो भेद हैं।

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म है। उनमें उपशम मात्र मोहनीय कर्म का ही होता है। मोहनीय कर्म के दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय रूप दो भेद हैं। दर्शन मोहनीय के सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय रूप तीन भेद हैं। चारित्रमोहनीय के 16 कषाय और 9 नोकषाय रूप 25 भेद हैं।अनंतानुबंधी चार कषाय और तीन दर्शनमोहनीय, इस दर्शनसप्तक के उपशम से उपशम सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है। चारित्र मोहनीय के शेष 21 भेदों के उपशम से उपशम चारित्र गुण प्रगट होता है। उपशम सम्यक्त्व या उपशम चारित्र अधिक–से–अधिक अंतर्मुहूर्त तक ही रहता है। इसलिए अंतर्मुहूर्त तक जितने दलिक उदय में आने वाले थे उन्हें बाद वाले भाग में डालकर अंतर्मुहूर्त तक आत्मप्रदेशों को दर्शनमोहनीय आदि कर्म के दलिकों से रहित कर देता है। अत: जैसे अग्नि बंजर भूमि में आकर शांत हो जाती है, वैसे कर्म का उदय भी स्थगित हो जाता है [1]।

क्षायिक भाव के भेद –

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोगवीर्याणि च ।।२-४।।

क्षायिक भाव के ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र नौ भेद हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से केवलज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से केवलदर्शन, मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक यथाख्यात चारित्र, अंतराय कर्म के सर्वथा क्षय से दान आदि पाँच लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

---

[1] विशेष वर्णन देखें अध्याय–1, सूत्र–2 के विवेचन में ।

प्रश्न – सम्यग्दर्शन यानी तत्त्वरुचि। तत्त्वरुचि मानसिक भाव है। सिद्ध को मन नहीं होता। चारित्र यानी अशुभ योगों से निवृत्ति और शुभयोगों में प्रवृत्ति। सिद्धों में योग नहीं होते। अत: सिद्धों में क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक चारित्र कैसे घटेगा?

उत्तर – सम्यग्दर्शन और चारित्र के व्यावहारिक और नैश्चयिक दो भेद हैं। उक्त सम्यग्दर्शन और चारित्र व्यावहारिक (व्यवहार से) है। दर्शन मोहनीय और अनंतानुबंधी कषाय के क्षय से प्रगट होता विशुद्ध आत्मपरिणाम नैश्चयिक सम्यक्त्व है। चारित्र मोहनीय के क्षय से होती स्व–स्वरूप में रमणता या स्थिरता नैश्चयिक क्षायिक चारित्र है। सिद्धों में सम्यग्दर्शन और चारित्र व्यावहारिक नहीं परंतु नैश्चयिक होता है। और वह घटित होता है।

प्रश्न – सिद्ध, दानादि में प्रवृत्ति नहीं करते, इसलिए उन्हें क्षायिक दानादि लब्धि का फल क्या?

उत्तर – सिद्धों की व्यावहारिक दानादि में प्रवृत्ति नहीं होती। उन्हें नैश्चयिक दानादि होते हैं। सिद्ध जीवों में परभाव = पौद्गलिक भाव के त्याग रूपदान, आत्मिक शुद्धस्वरूप प्राप्तिरूप लाभ, आत्मिकशुद्धस्वरूप के अनुभवरूप भोग–उपभोग और स्वभाव में प्रवृत्ति रूप वीर्य होता है।

क्षयोपशम भाव के भेद –

ज्ञाना-ऽज्ञान-दर्शन-दानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदा: सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाश्च ।।२-५।।

मति–श्रुत–अवधि–मन:पर्याय ये चार ज्ञान, मतिअज्ञान–श्रुतअज्ञान–विभंगज्ञान ये तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन–अचक्षुदर्शन–अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, दान–लाभ–भोग–उपभोग–वीर्य ये पाँच लब्धि, सम्यक्त्व–सर्वविरतिचारित्र–संयमासंयमरूप देशविरति चारित्र, कुल 18भेद क्षायोपशमिक भाव के हैं।

उस–उस कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय के अभाव से और देशघाती स्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक भाव प्रगट होते हैं, यह सामान्य नियम है। परंतु निम्नलिखित भावों के लिए इस नियम में फर्क है–

1. अनंतानुबंधी कषाय के रसोदय [1] के सर्वथा अभाव से, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के सर्वथा उदयाभव से तथा सम्यक्त्व मोहनीयरूप दर्शनमोहनीय के देशघाती स्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है।

2. क्षायोपशमिक चारित्र अनंतानुबंधी आदि 12 कषायों के रसोदय के सर्वथा अभाव से प्रगट होता है। अनंतानुबंधी आदि 12 कषायों का मात्र प्रदेशोदय होता है।

3. देशविरति रूप क्षयोपशम भाव में अनंतानुबंधी आदि 8 कषायों के रसोदय का सर्वथा अभाव, प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती–देशघाती स्पर्धकों का उदय और संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्धकों का उदय होता है।

मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि 12 कषायों के क्षयोपशम में मिथ्यात्वादि का रसोदय नहीं होता जबकि मतिज्ञान आदि के क्षयोपशम में मतिज्ञानावरण आदि कर्मों का रसोदय होता है। इसलिए मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि 12 कषायों का क्षयोपशम शुद्ध क्षयोपशम कहा जाता है। मतिज्ञान आदि का क्षयोपशम उदयानुविद्ध कहलाता है।

---

① जिस जीव को 28 प्रकृति की सत्ता होती है उसे अनंतानुबंधी कषाय का प्रदेशोदय होता है, इस अपेक्षा से यहाँ 'रसोदय का सर्वथा' अभाव कहा ।

उदयानुविद्ध यानी उदय सहित। जैसे – मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम प्रत्येक जीव को होता है और साथ–साथ में मतिज्ञानावरणीय कर्म का उदय भी होता है, वह क्षयोपशम उदयानुविद्ध है। मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षयोपशम में मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय नहीं होता है, इसलिए वह क्षयोपशम उदय रहित है।

सर्वघाती प्रकृतियों में सर्वघाती रस का बंध होता है और उदय भी सर्वघाती रस का ही होता है। देशघाती प्रकृतियों में बंध के समय तो सर्वघाती रस का ही बंध होता है। परंतु उदय में मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और पाँच अंतराय–इन आठ प्रकृतियों के देशघाती रस का ही उदय होता है और शेष 17 प्रकृतियों में देशघाती–सर्वघाती दोनों रस का उदय होता है।

जब सर्वघाती रस का उदय होता है तब स्व–आवार्य (स्वयं के ढ़ाँकने योग्य) गुण को सर्वथा दबा देते हैं। इसलिए चक्षुदर्शन अवधिज्ञान वगैरह ढँके रहते हैं, ओर देशघाती रस का उदय होता है तब गुण प्रगट होते हैं। देशघाती उदय को ही क्षयोपशम कहते हैं।

औदयिक भाव के भेद–

गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शना-ऽज्ञाना-ऽसंयता-ऽसिद्धत्व-लेश्याश्चतु-श्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः।।२-६।।

चारगति, चार कषाय , तीन लिंग, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, असिद्धत्व, छह लेश्या – ऐसे औदयिक भाव के 21 भेद हैं।

1. नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव – ये चार गति हैं। नरकगति आदि नामकर्म के उदय से क्रमशः नरकादि गति प्राप्त होती है। इससे जीव नारक आदि रूप से पहचाना जाता है।

2. कष यानी संसार, आय यानी लाभ। जिससे संसार का लाभ हो = जिससे संसार में परिभ्रमण हो वह कषाय। क्रोध, मान, माया, लोभ – ये चार कषाय क्रमशः क्रोध आदि मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं।

3. लिंग यानी वेद। वेद यानी मैथुन की इच्छा = कामवासना। पुरुष, नपुंसक और स्त्री, ये तीन लिंग = वेद है। उस–उस वेद मोहनीय कर्म के उदय से वह–वह लिंग = वेद प्रगट होता है।

4. दर्शन मोहनीय के उदय से मिथ्यात्व भाव होता है।

5. ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अज्ञान भाव होता है।

6. चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से अविरति भाव होता है।

7. सामान्य से सभी कर्मों के उदय से असिद्धत्व = असिद्धपन होता है।

8. योग से लेश्या उत्पन्न होती है। कषाय से उसमें तीव्रता–मंदता आती है। तीव्रता–मंदता के आधार पर कृष्ण, नील, कापोत, तैजस, पद्म, शुक्ल – ये छह लेश्या = आत्मपरिणाम होते हैं। पहली तीन लेश्या अशुभ हैं, बाद वाली तीन लेश्या शुभ हैं। अशुभ लेश्याओं में उत्तरोत्तर अल्प अशुभ हैं। शुभ लेश्याओं में उत्तरोत्तर अधिक–अधिक शुभ हैं।

यहाँ औदयिक भाव के 21 भेद बताए हैं, वे उपलक्षण हैं। अतः अन्य भी अदर्शन, निद्रा, सुख, दुःख, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, आयुष्य, योग, जाति वगैरह औदयिक भाव भी समझ लेना।

पारिणामिक भाव के भेद–

जीव-भव्याभव्यत्वादीनि च ।।२-७।।

जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व वगैरह पारिणामिक भाव के भेद हैं।

जीवत्व यानी चैतन्य। भव्यत्व यानी मोक्ष पाने की योग्यता। अभव्यत्व यानी मोक्ष पाने की अयोग्यता।

इनके अलावा अन्य भी पारिणामिक भाव हैं। तो भी यहाँ सूत्र में साक्षात् तीन ही भाव ग्रहण करने का कारण यह है कि ये तीन भाव मात्र जीव में ही होते हैं, जबकि अन्य अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व [1] वगैरह भाव जीव–अजीव दोनों में समान हैं। जीव–अजीव में समान अस्तित्व वगैरह भावों का सूचन सूत्र में 'आदि' शब्द से किया है। सूत्र में च शब्द, 3 से 6 सूत्र, इन चार सूत्रों में बताए हुए भाव जीव के स्वतत्त्व हैं और जीवत्वादि भी जीव के स्वतत्त्व हैं, ऐसे समुच्चय अर्थ में है।

जीव का लक्षण–

उपयोगो लक्षणम् ।।२-८।।

उपयोग आत्मा का लक्षण (= असाधारण धर्म) है।

उपयोग यानी बोध रूप व्यापार। जिससे वस्तु पहचानी जाए वह लक्षण कहा जाता है । लक्षण और स्वरूप, दोनों जीव के धर्म विशेष होने पर भी दोनों में भेद है। जो असाधारण धर्म है अर्थात् लक्ष्य से अन्य किसी वस्तु में न हो और संपूर्ण लक्ष्य में हो, वह धर्म लक्षण है। जो साधारण धर्म है अर्थात् लक्ष्य से अन्य वस्तु में भी हो अथवा संपूर्ण लक्ष्य में न हो, वह धर्म स्वरूप कहा जाता है। जीव का बोधव्यापार रूप उपयोग जीव के अलावा किसी अजीव वस्तु में नहीं होने से और प्रत्येक जीव में अवश्य होने से जीव का लक्षण है। जबकि उपर्युक्त पाँच भाव प्रत्येक जीव में हो ही और अजीव में नहीं ही हो, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि प्रत्येक अजीव में पारिणामिक और औदारिक आदि स्कंधों में औदयिक भाव भी होते हैं। अत: वे भाव जीव के लक्षण नहीं किंतु स्वरूप है। लक्षण लक्ष्य को अन्य वस्तुओं से पृथक् कर उसकी पहचान कराता है।

उपयोग के भेद–

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।।२-९।।

उपयोग के मुख्य दो भेद हैं – 1. साकारोपयोग 2. अनाकारोपयोग। साकारोपयोग यानी ज्ञानोपयोग। अनाकारोपयोग यानी दर्शनोपयोग। साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) के मति आदि पाँच ज्ञान और मति अज्ञान आदि तीन अज्ञान ये आठ भेद हैं। अनाकारोपयोग (दर्शनोपयोग) के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन – ये चार भेद हैं।

प्रश्न – साकार उपयोग और अनाकार उपयोग का क्या मतलब?

उत्तर – प्रत्येक ज्ञेय वस्तु सामान्य और विशेष रूप है। यह बात नय के निरूपण में आ गई है। ज्ञेय वस्तु का विशेष रूप से बोध वह साकार और सामान्य रूप से बोध अनाकार। ज्ञेय वस्तु का विशेष रूप से बोध ज्ञान और सामान्य रूप से बोध दर्शन। अत: साकारोपयोग को ज्ञानोपयोग या सविकल्पोपयोग कहा जाता है और अनाकारोपयोग को दर्शनोपयोग या निर्विकल्पोपयोग कहा जाता है। साकारोपयोग के पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान,

[1] कर्म जीव को सुख–दुख देते हैं, इस दृष्टि से अजीव में कर्तृत्व है ।

इन आठ भेदों का स्वरूप प्रथम अध्याय में ज्ञान के प्रकरण में आ चुका है। अनाकारोपयोग के चार भेद का स्वरूप निम्नलिखित है।

अचक्षुदर्शन – आँख के अलावा अन्य चार इन्द्रिय और मन द्वारा होता वस्तु का सामान्य रूप से बोध।

चक्षुदर्शन – चक्षु द्वारा होता वस्तु का सामान्य बोध।

अवधिदर्शन – इन्द्रियों की सहायता बिना होने वाला मात्र रूपी पदार्थो का सामान्य रूप में बोध।

केवलदर्शन – रूपी–अरूपी सभी वस्तुओं का सामान्य रूप में होने वाला बोध।

प्रश्न – जैसे ज्ञानोपयोग के ज्ञान – अज्ञान दो भेद हैं, ऐसे दर्शनोपयोग के दर्शन – अदर्शन दो भेद क्यों नहीं है?

उत्तर – ज्ञानोपयोग में पदार्थ का विशेष बोध होने से पदार्थ के भेद का ज्ञान होता है अर्थात् पदार्थ स्पष्ट ज्ञात होता है और इससे ''यह ज्ञान सही, यह ज्ञान गलत'' ऐसा भेद होता है। दर्शनोपयोग में पदार्थ का सामान्य बोध होने से भेद का ज्ञान नहीं होता अर्थात् पदार्थ स्पष्ट ज्ञात नहीं होता और इससे 'यह दर्शन सही, यह दर्शन गलत' ऐसा भेद नहीं होता।

जीवों के मुख्य दो भेद–

संसारिणो मुक्ताश्च ।।२–१०।।

जीव के दो भेद हैं – संसारी और मुक्त। जो जीव कर्म के वश होकर नरक आदि चार गतियों में परिभ्रमण करते हैं, वे संसारी। जो जीव कर्म के बंधन से मुक्त होकर मोक्ष में स्थिर हैं, वे मुक्त।

संसारी जीव के दो भेद–

समनस्काऽमनस्काः।।२–११।।

दो प्रकार के जीव हैं – मन सहित (संज्ञी) और मन रहित (असंज्ञी)

मन वाले जीव संज्ञी और मन रहित जीव असंज्ञी कहलाते हैं। मन के द्रव्यमन और भावमन, दो प्रकार हैं। मनः पर्याप्ति रूप करणविशेष से मनन करने योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर मन रूप में परिणमित किए गए पुद्गल ही द्रव्यमन है। मन रूप में परिणत पुद्गलद्रव्यों के आलंबन वाले जीव का चिंतनस्वरूप व्यापार भावमन है। ये दोनों प्रकार के मन जिन्हें हो वे समनस्क = संज्ञी जीव हैं। उनके अलावा सभी अमनस्क = असंज्ञी जीव हैं। नारक, देव, गर्भज मनुष्य और गर्भज पंचेंन्द्रिय तिर्यंच समनस्क = संज्ञी होते हैं। शेष एकेन्द्रिय से चउरिन्द्रिय तक तथा संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीव असंज्ञी हैं। एकेन्द्रिय जीवों को भावमन यानी विचार करने की शक्ति होती है। परंतु द्रव्य मन नहीं होता। अतः वे विचार नहीं कर सकते। बेइन्द्रियादि (असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक) जीवों को इष्ट विषय में प्रवृत्ति और अनिष्ट विषय से निवृत्ति कराने वाली वर्तमानकाल के विचार स्वरूप हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा होती है। इसलिए अल्प प्रमाण में द्रव्य मन होता है । परंतु पर्याप्त प्रमाण में द्रव्यमन न होने से संज्ञी की तरह भूतकाल या भावीकाल का लेशमात्र भी विचार नहीं कर सकते। इसलिए ही सिद्धांत में जैसे अल्पधनवाले धनवान और सामान्य रूपवाले रूपवान नहीं कहलाते परंतु बहुत धनवाले धनवान और सुंदर रूपवाले रूपवान कहलाते हैं, वैसे अल्पमन वाले को मनवाले न कहकर मन रहित कहा है। वृद्ध पुरुष को चलने में लाठी के सहारे की तरह द्रव्यमन विचार करने में सहायक है। शक्ति होने पर भी वृद्ध पुरुष लकडी के सहारे नहीं चल सकता अथवा

जैसे स्वस्थ आँखवाला मुनष्य भी प्रकाश के बिना नहीं देख सकता वैसे जीव विचारने की आत्मशक्ति होने पर भी द्रव्यमन = मनोवर्गणा के पुद्गल बिना विचार नहीं कर सकता। समनस्क = संज्ञी जीव मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण कर उनकी मदद से विचारता है। अमनस्क = असंज्ञी जीव विशिष्ट शक्ति का अभाव होने से मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण नहीं कर सकते।

सिद्ध जीव द्रव्य–भाव दोनों प्रकार के मन के अभाव से अमनस्क होते हैं।

दूसरी तरह संसारी जीव के भेद–

संसारिणस्त्रसस्थावराः ।।२–१२।।

संसारी जीव दो प्रकार के हैं – त्रस (गति करने वाले) और स्थावर (गति नहीं करने वाले)।

शास्त्रों में त्रस और स्थावर की दो व्याख्या की गई हैं–

पहली व्याख्या – जो प्राणी गतिशील हैं, वे त्रस ओर जो स्थितिशील हैं, वे स्थावर।

दूसरी व्याख्या – जिन जीवों को स्थावर नामकर्म का उदय हो, वे स्थावर और जिन जीवों को त्रस नामकर्म का उदय हो, वे त्रस। इन दो व्याख्याओं में यहाँ पहली व्याख्या के आधार पर त्रस और स्थावर भेद हैं।

स्थितिशील जीव–

पृथ्व्यब्वनस्पतयः स्थावराः।।२–१३।।

पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय जीव स्थावर है क्योंकि वे स्थितिशील हैं।

प्रत्येक प्रकार की सचित्त मिट्टी के जीव पृथ्वीकाय हैं। प्रत्येक प्रकार के सचित्त पानी के जीव अप्काय हैं। प्रत्येक प्रकार की सचित्त (हरी) वनस्पति के जीव वनस्पतिकाय हैं। प्रत्येक प्रकार की लता, वल्लि, छोटे–बड़े पौधे, प्रत्येक प्रकार की घास, छोटे–बड़े वृक्ष, वृक्ष के पत्ते, फूल, फल, अनाज आदि का वनस्पतिकाय में समावेश होता है।

गतिशील जीव –

तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः।।२–१४।।

तेउकाय, वायुकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस हैं क्योंकि वे गतिशील हैं।

अग्नि, दीपक, बल्ब, वि. का प्रकाश, बिजली वगैरह तेउकाय जीव हैं। हवा वायुकाय के जीव हैं।

'जो प्राणी गतिशील हैं वे त्रस और जो प्राणी स्थितिशील हैं वे स्थावर' इस व्याख्या के आधार पर तेउ–वायु त्रस हैं। परंतु 'जो प्राणी त्रसनामकर्म के उदय से इष्ट को प्राप्त करने और अनिष्ट को दूर करने के लिए गति कर सकते हैं वे त्रस तथा जो जीव स्थावर नामकर्म के उदय से इष्ट को प्राप्त करने और अनिष्ट को दूर करने गति नहीं कर सकते वे स्थावर' इस प्रकार की दूसरी व्याख्या के आधार पर पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय – ये पाँचों प्रकार के ऐकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं और बेइन्द्रिय आदि जीव त्रस हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि तेउकाय और वायुकाय के जीव प्रथम व्याख्या के आधार पर त्रस हैं और दूसरी व्याख्या के आधार पर स्थावर हैं। बेइन्द्रिय आदि जीव दोनों व्याख्या के आधार पर त्रस ही हैं।

इन्द्रियों की संख्या–

पञ्चेन्द्रियाणि ।।२-१५।।

इन्द्रियाँ पाँच हैं।

इन्द्र यानी आत्मा, उसे पहचानने की निशानी इन्द्रिय।

शरीर में आत्मा है या नहीं, वह इन्द्रियों से जान सकते हैं।

वे इन्द्रियाँ पाँच हैं। पाँच इन्द्रियों के नाम (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) सूत्रकार भगवंत स्वयं ही इस अध्याय के 20 वें सूत्र में कहेंगे।

इन्द्रियों के भेद–

द्विविधानि ।।२-१६।।

प्रत्येक इन्द्रिय द्रव्य और भाव, दो प्रकार से हैं। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दो भेद हैं।

द्रव्येन्द्रिय के भेद –

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्।।२-१७।।

द्रव्येन्द्रिय के निर्वृत्ति और उपकरण, ऐसे दो भेद हैं।

1. निर्वृत्ति यानी विशिष्ट आकार की रचना। अंगोपांग और निर्माण नामकर्म से बनने वाला इन्द्रियों का आकार निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रिय है।

2. उपकरण यानी उपकारक। निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रिय में रही हुई अत्यंत सूक्ष्म पुद्गलों से बनी शक्ति उपकरणेन्द्रिय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इसका स्थान निर्वृत्ति से भिन्न नहीं है। जिस स्थान में निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय है, उसी स्थान में उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। निर्वृत्ति होने पर भी शक्ति का उपघात हो तो विषय का बोध नहीं होता। जैसे – बहरा मनुष्य निर्वृत्ति इन्द्रिय होने पर भी शक्ति रूप उपकरण न होने से सुन नहीं सकता। अत: उपघात रहित शक्ति निवृत्ति की उपकारक है। उपकरण इन्द्रिय पुद्गल रूप ही है, यह ख्याल रखना। यहाँ शक्ति और शक्ति वाले के अभेद से स्वच्छ पुद्गलों की शक्ति को इन्द्रिय कहा है।

निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय के बाह्य और अभ्यंतर, ऐसे दो भेद हैं। हमें दिखती चक्षु आदि का बाह्य आकार बाह्यनिर्वृत्ति है। बाह्य निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय के अन्दर स्थित उस इन्द्रिय का आकार अभ्यंतर निवृत्ति है। उपकरण द्रव्येन्द्रिय यानी अभ्यंतर निर्वृत्ति की स्व–स्व विषय को ग्रहण करने की शक्ति। इस विषय की तलवार के दृष्टांत से विचारणा करते हैं। बाह्य निर्वृत्ति तलवार समान है। अभ्यंतर निर्वृत्ति तलवार की धार समान है। उपकरणेन्द्रिय तलवार की धार में रही हुई काटने की तीव्र शक्ति समान है।

बाह्यनिर्वृत्ति रूप इन्द्रिय का आकार मनुष्य आदि प्राणियों में भिन्न–भिन्न होता है। अभ्यंतर निर्वृत्ति रूप इन्द्रिय का आकार निम्नलिखित है–

अभ्यंतर निर्वृत्ति का आकार –

नाक अतिमुक्तक फूल के आकार वाली है।
आँख मसूर की दाल या चन्द्र के आकार वाली है।
कान चंपा के फूल या वाजिंत्र के आकार वाला है।
रसन का उस्तरे जैसा आकार है।
स्पर्शन अलग–अलग अनेक आकार वाली है।

अभ्यंतर निर्वृत्ति रूप इन्द्रिय का माप–

रसन (आत्म अंगुल से) 2 से 9 अंगुल प्रमाण, स्पर्शन स्वशरीर प्रमाण और शेष इन्द्रिय अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

भाव इन्द्रिय के भेद–

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।।२-१८।।

भाव इन्द्रिय के दो भेद हैं, – लब्धि और उपयोग ।

लब्धि यानी लाभ। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ज्ञानशक्ति का लाभ, वह लब्धि। उपयोग यानी व्यापार। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त ज्ञानशक्ति रूप लब्धि का व्यापार, वह उपयोग। इस विषय को दृष्टांत से समझते हैं। किसी के पास 50 लाख की संपत्ति है। उसमें से 40 लाख द्वारा वह व्यापार–धंधा करता है। यहाँ 50 लाख है, वह लब्धि है और 40 लाख का व्यापार उपयोग है। वैसे प्रस्तुत में ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त ज्ञानशक्ति 50 लाख रू. समान है और ज्ञानशक्ति का व्यापार 40 लाख रू. समान है। जैसे व्यापारी स्वयं की पूरी पूंजी व्यापार में नहीं लगाता, वैसे जीव क्षयोपशम से जितनी ज्ञानशक्ति प्राप्त हो, उस पूरी शक्ति का उपयोग सदा नहीं कर सकता। जैसे – हम नींद में होते हैं तब ज्ञानशक्ति का उपयोग नहीं करते। जागृत अवस्था में भी ज्ञानशक्ति का सदा एक समान उपयोग नहीं करते।

अब हम इन्द्रिय के निर्वृत्ति आदि भेदों को तलवार के दृष्टांत से समझते हैं, जिससे बोध स्पष्ट हो जाए। तलवार की जगह बाह्य निर्वृत्ति है। तलवार की धार की जगह अभ्यंतर निर्वृत्ति है। तलवार की धार की छेदन शक्ति की जगह उपकरण है। तलवार को चलाने की कला की जगह लब्धि है। तलवार चलाने की कला के उपयोग (यानी तलवार चलाने) की जगह उपयोग है।

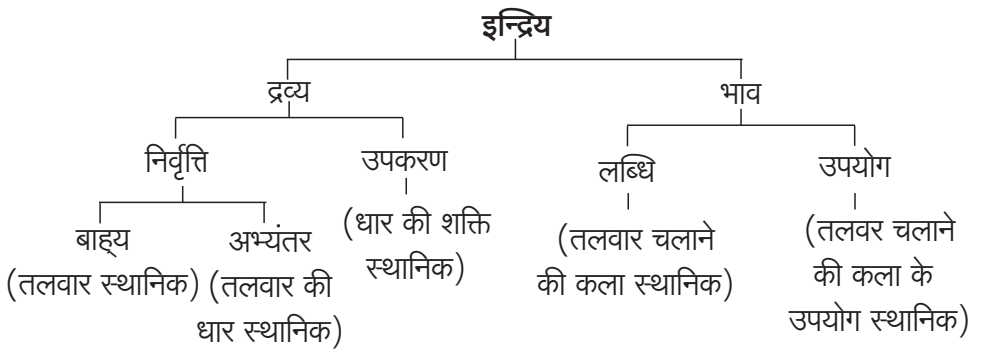

प्रश्न – निर्वृत्ति और उपकरण इन्द्रिय कही जाती है क्योंकि जिससे ज्ञान = बोध हो वह इन्द्रिय। बोध में निर्वृत्ति और उपकरण सहायक है। परंतु लब्धि और उपयोग को इन्द्रिय क्यों कहते हैं? क्योंकि वे दोनों ज्ञान स्वरूप हैं।

उत्तर – लब्धि की सफलता उपयोग के आधार पर है। लब्धि चाहे जितनी मिले परंतु उसका उपयोग न हो तो वह व्यर्थ है। लब्धि = प्राप्त शक्ति का उपयोग करने में इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। इन्द्रिय बिना उपयोग नहीं हो सकता। इस प्रकार लब्धि और उपयोग में इन्द्रिय कारण होने से 'कार्य में कारण का उपचार' कर लब्धि और उपयोग को भी इन्द्रिय कहा जाता है।

किसी भी वस्तु का बोध हो तो निर्वृत्ति आदि चारों[1] इन्द्रियाँ आवश्यक हैं। एक भी इन्द्रिय के बिना नहीं चल सकता।

जैसे तलवार हो तो उसकी धार और धार की शक्ति होती है, वैसे निर्वृत्ति हो तो उपकरण और उपयोग होता है। क्योंकि उपकरण (शक्ति) का आश्रय निर्वृत्ति होने से निर्वृत्ति बिना उपकरण नहीं होता। उपकरण से उपयोग होने के कारण उपकरण बिना उपयोग भी नहीं होता। निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग, ये तीनों लब्धि हो तो ही होती हैं, लब्धि बिना तीनों इन्द्रिय नहीं होती। इसलिए ही चउरिन्द्रिय आदि जीवों को कर्ण आदि इन्द्रियजन्य लब्धि न होने से कर्ण आदि नहीं होते। तथा निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धि तीन होने पर भी उपयोग न हो तो विषय का बोध नहीं होता। इस तरह निर्वृत्ति आदि चार में से एक भी न हो तो बोध नहीं होता। इसलिए ज्ञान करने में निर्वृत्ति आदि चारों सहायक होने से चारों इन्द्रियाँ कही जाती हैं।

उपयोग के विषय –

उपयोगः स्पर्शादिषु ।।२-१९।।

भावेन्द्रिय रूप उपयोग स्पर्शन आदि इन्द्रियों द्वारा क्रमशः स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द – पाँचों विषय में प्रवृत्त होता है।

स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा स्पर्श को जानने में उपयोग प्रवृत्त होता है। रसनेन्द्रिय द्वारा रस को जानने में उपयोग प्रवृत्त होता है। घ्राणेन्द्रिय द्वारा गंध को जानने में उपयोग प्रवृत्त होता है। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा रूप को जानने में उपयोग प्रवृत्त होता है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द को जानने में उपयोग प्रवृत्त होता है। स्पर्श आदि रूपी पदार्थ की पर्याय है और उनमें भावेन्द्रिय रूप मतिज्ञान का उपयोग प्रवृत्त होता है।

पदार्थ ग्रहण करने की इन्द्रियों की शक्ति का माप–श्रोत्रेन्द्रिय बारह योजन दूर से आए हुए मेघगर्जना वगैरह शब्द को सुन सकती है। चक्षुरिन्द्रिय लाख योजन से कुछ अधिक दूर स्थित वस्तु को देख सकती है।

विष्णुकुमार वगैरह लब्धि संपन्न जीव एक लाख योजन जितना शरीर विकुर्वकर (रचकर) स्वयं के चरणों के पास खड्डे वगैरह और उसमें पड़े पत्थर वगैरह वस्तु को देख सकते हैं। लाख योजन ऊँचे मेरु पर्वत पर बैठी चील, बाज वगैरह पक्षी नीचे (अधोग्राम की विजय के) गड्ढों में पड़े माँस के टुकड़े आदि को देख सकते हैं। शेष तीन इन्द्रियाँ 9 योजन दूर से आते स्वयं के विषय को जान सकती हैं। वह इस प्रकार – 9 योजन दूर बारिश हुई हो उस जल के अथवा 9 योजन दूर की ठंडी हवा वगैरह के पुद्गल वहाँ से आकर शरीर का स्पर्श करें तब 'यह पानी की नमी वाली हवा है, यह ठंडी हवा है' इत्यादि ज्ञान हो सकता है। 9 योजन दूर से सुगंधी मिट्टी के या चंदनादि पदार्थ के पुद्गल आकर रसना और नासिका पर लगें तब उसके रस का और गंध का ज्ञान हो सकता है।

[1] निवृत्ति को बाह्य–अभ्यंतर भेद बिना एक गिनने पर चार इन्द्रियाँ होती हैं ।

परंतु यदि 9 योजन से अधिक दूर के पुद्गल आए तो तीव्र घ्राणेन्द्रिय शक्ति से भी गंध नहीं जान सकते क्योंकि 9 योजन से अधिक दूर से आते पुद्गलों का परिणाम इतना मंद हो जाता है कि वे पुद्गल स्वयं के विषय का ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते तथा इंन्द्रियों में भी स्वभाव से ही उन पुद्गलों को ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के लिए भी समझना।

आँख के अलावा चार इन्द्रियाँ जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने दूर स्थित स्वयं के विषय को जान सकती हैं। चक्षु जघन्य से अंगुल के संख्यातवें भाग जितने दूर रहे रूप को जान सकती है। इसलिए ही चक्षु आँख में रहे मैल, अंजन वगैरह को नहीं देख सकती। (प्रवचन सारोद्धार टीका)

इन्द्रियों के नाम–

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि ।।२-२०।।

पाँच इन्द्रियों के नाम क्रमशः स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र हैं।

स्पर्शन यानी त्वचा, चमड़ी। रसन यानी जिह्वा। घ्राण यानी नाक। चक्षु यानी आँख। श्रोत्र यानी कान।

इन्द्रियों के क्रम में हेतु–

प्रश्न – यहाँ इन्द्रियों के नाम स्पर्शन आदि क्रम से बताने में कोई विशेष हेतु है या सामान्य से बताएँ हैं?

उत्तर – स्पर्शन आदि क्रम से इन्द्रियों के नाम बताने में विशेष हेतु है। जैसे – जैसे अधिक इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं, वैसे–वैसे चैतन्य का अधिक विकास होता है। अधिक इन्द्रियों की प्राप्ति क्रमशः होती है। जो जीव एकेन्द्रिय हैं अर्थात् एक इन्द्रिय वाले हैं, उन्हें स्पर्शन इन्द्रिय होती है। स्पर्शनेन्द्रिय हरेक जीव को अवश्य होती है। संसारी जीवों में रसन आदि इन्द्रिय न हो ऐसा हो सकता है। परंतु स्पर्शन इन्द्रिय न हो, ऐसा नहीं होता। इसलिए यहाँ प्रथम स्पर्शनेन्द्रिय का निर्देश किया है। एकेन्द्रिय जीव जब बेइन्द्रिय बनता है, तब उसे स्पर्शन और रसन, ये दो इन्द्रिय होती हैं। स्पर्शनेन्द्रिय की प्राप्ति के बाद रसनेन्द्रिय की प्राप्ति होती है। इसलिए स्पर्शन के बाद रसन इन्द्रिय का निर्देश है। बेइन्द्रिय जीव जब तेइन्द्रिय बनता है, तब स्पर्शन, रसन और घ्राण = नाक ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। रसन के बाद घ्राण की प्राप्ति होती है। इसलिए रसन के बाद घ्राण इन्द्रिय का निर्देश किया है। तेइन्द्रिय जीव जब चउरिन्द्रिय बनता है, तब स्पर्शन, रसन, घ्राण ओर चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ होती है। घ्राणेन्द्रिय के बाद चक्षुरिन्द्रिय की प्राप्ति होती है। इसलिए घ्राण के बाद चक्षुरिन्द्रिय का निर्देश है। चउरिन्द्रिय जीव जब पंचेन्द्रिय बनता है। तब स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं। चक्षु के बाद श्रोत्र की प्राप्ति होती है। इसलिए चक्षु के बाद श्रोत्रेन्द्रिय का निर्देश है। इस प्रकार इन्द्रियों की वृद्धि के क्रम से यहाँ स्पर्शन आदि इन्द्रियों के नाम बताए हैं। प्रत्येक जीव को एक–एक इन्द्रिय की वृद्धि हो, ऐसा नियम नहीं है। एकेन्द्रिय से सीधे तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय भी बनते हैं। इस प्रकार बेइन्द्रिय से सीधे चउरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय भी बनते हैं। परंतु यदि इन्द्रिय की वृद्धि होती है तो स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इस क्रम से ही होती है।

इन्द्रियों के विषय –

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तेषामर्थाः।।२-२१।।

स्पर्शन आदि इन्द्रियों के क्रमशः स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द, ये पाँच विषय हैं।

स्पर्शन आदि इन्द्रियों के क्रमश: स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द, ये पाँच विषय हैं। स्पर्शन आदि इन्द्रियों में क्रमश: स्पर्श आदि को जानने की शक्ति है। इसलिए हमें उस-उस इन्द्रिय से उस-उस विषय का ज्ञान होता है। स्पर्शनेन्द्रिय में स्पर्श के अलावा रस आदि किसी विषय को जानने की शक्ति नहीं है। रसनेन्द्रिय में रस से अन्य स्पर्श आदि किसी विषय को जानने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार अन्य इन्द्रियों के लिए भी जानना। इसलिए हमें उस-उस इन्द्रिय द्वारा उस-उस विषय से अन्य विषय का ज्ञान नहीं होता।

मन का विषय-

श्रुतमनिन्द्रियस्य ।।२-२२।।

मन का विषय श्रुत है।

मन से ही भावश्रुतज्ञान होता है। श्रुतज्ञान के विषय घटादि पदार्थ हैं। इसलिए घटादि पदार्थ मन के भी विषय होते हैं।

पहले शब्द सुनने से या पढ़ने आदि से शब्द का मतिज्ञान होता है। बाद में शब्द द्वारा शब्द से वाच्य घटादि पदार्थ का ज्ञान होता है। शब्द द्वारा शब्द से वाच्य घटादि पदार्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैसे शब्दज्ञान द्वारा शब्द से वाच्य घटादि पदार्थों का ज्ञान होता है। वैसे घटादि पदार्थ के ज्ञान द्वारा घटादि पदार्थ के वाचक शब्द का ज्ञान भी होता है। यह ज्ञान भी अर्थात् घटादि पदार्थ के ज्ञान द्वारा घटादि पदार्थ के वाचक शब्द का ज्ञान भी श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मुख्यतया मन से होता है। अर्थात् जैसे स्पर्श आदि विषय का मतिज्ञान करने में इन्द्रिय की तथा मन वालों को मन और इन्द्रिय, इन दो की आवश्यकता होती है, वैसे श्रुतज्ञान करने में मुख्यतया इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि घटादि शब्द सुनने में या लिखे हुए देखने में और घटादि पदार्थ देखने में पहले इन्द्रियों द्वारा मतिज्ञान होता है। तत्पश्चात् श्रुतानुसारी वाच्य-वाचक भाव आदि मन संबंधी अवग्रहादि होते हैं। वे अवग्रहादि श्रुतज्ञान है इसलिए श्रुतज्ञान में मन की मुख्यता है।

तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियों द्वारा मुख्यतया मतिज्ञान और द्रव्यश्रुतज्ञान होता है जबकि मन द्वारा मति और भावश्रुत दोनों होते हैं। यहाँ सूत्र में 'मन का विषय श्रुतज्ञान है' ऐसा मुख्यतया भावश्रुत की अपेक्षा से कहा है। क्योंकि द्रव्यश्रुत तो इन्द्रियों का विषय है। इन्द्रियों के विषय मात्र रूपी पदार्थ है। जबकि मन का विषय रूपी-अरूपी सकल पदार्थ हैं। तथा यहाँ भावश्रुत भी शब्दोल्लेख सहित विशेष प्रकार का समझना, क्योंकि शब्दोल्लेख रहित सामान्य श्रुत मनरहित एकेन्द्रिय को भी होता है। (प्रस्तुत सूत्र की भाष्य टीका तथा विशेषा. भा. गा. 103 की टीका)

एक इन्द्रिय किन्हें होती हैं, उसका निरूपण-

वाय्वन्तानामेकम् ।।२-२३।।

वायु तक के जीवों को एक इन्द्रिय होती है।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वनस्पतिकाय, वाउकाय[①],- इन पाँच प्रकार के जीवों को एक इन्द्रिय (स्पर्शन इन्द्रिय) होती है। इसलिए उन्हें एकेन्द्रिय कहा जाता है।

① न्युज़ीलेण्ड में पुलिस को ट्रेनिंग देने वाली स्कूल में 1966 से पोलिग्राफ रेकॉर्डिंग ट्रॉवलींग की मदद से क्लीव बेकस्टर ने किए प्रयोग से ऐसा निश्चित रूप से ज्ञात हुआ है कि समुद्र या तालाब में मछली या कोई दूसरा जीव खतरे में हो तो पौधे को दु:ख होता है। छांदोग्य उपनिषद में उद्दालक ऋषि उसके पुत्र को कहते हैं - वृक्षों में भी जीव है। पशुओं की तरह पौधे को भी अनुभूति होती है, ऐसा सर जगदीशचन्द्रबोस ने पहली ही बार वैज्ञानिक दृष्टिकोण से साबित किया था। (मुंबई समाचार, ता. 24.10.1976)

दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय किन्हें होती हैं, उनका निरूपण –

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।।२-२४।।

कृमि, शंख, सीप, जोंक वगैरह जीवों को दो इन्द्रियां होती हैं। कीड़ी, मकोड़े, मकड़ी, कुंथुए, लकड़ी के कीड़े (दीमक) वगैरह जीवों को तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भ्रमर, मक्खी, बिच्छु, पतंगिया वगैरह जीवों को चार इन्द्रियाँ होती हैं। देव, नारक, मनुष्य तथा पशु, पक्षी, जलचर वगैरह तिर्यंचों को पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

दो इन्द्रियाँ वाले प्राणी बेइन्द्रिय कहलाते हैं। इसी प्रकार तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के विषय में भी समझना।

प्रश्न – 'एक इन्द्रिय होती है, उसे एकेन्द्रिय कहते हैं।' वगैरह नियम द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से है या भावेन्द्रिय की अपेक्षा से?

उत्तर – जीवों में एकेन्द्रिय आदि स्वरूप का व्यवहार द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से है। भाव इन्द्रियाँ तो प्रत्येक प्राणी को पाँच होती हैं। (वि. आ. भा. गा. 2999) परंतु द्रव्य इन्द्रिय के अभाव से उस-उस इन्द्रिय के विषय का ज्ञान नहीं होता। इसलिए द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से एकेन्द्रिय आदि कहा जाता है। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय का वर्णन इसी अध्याय के 17 वें और 18वे सूत्र में आ गया है।

कौन-से जीव मनसहित होते हैं, उसका निरूपण-

संज्ञिनः समनस्काः ।।२-२५।।

संज्ञी जीव समनस्क = मनवाले होते हैं।

पहले समनस्काऽमनस्काः (2-11) सूत्र में 'संसारी जीव मनवाले और मन रहित, ऐसे 2 प्रकार के हैं' ऐसा बताया था। इसलिए कौन-से जीव मनवाले और कौन-से जीव मन रहित होते हैं ऐसा प्रश्न सहज ही होता है। इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत सूत्र में दिया है। संज्ञी जीव मन वाले होते हैं। इससे असंज्ञी जीव मन रहित होते हैं, यह भी सिद्ध होता है।

जिन्हें संज्ञा होती है, वे जीव संज्ञी हैं। संज्ञा रहित जीव असंज्ञी हैं। संज्ञा के तीन प्रकार हैं – दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी। भूत, भविष्य और वर्तमान, इन तीनों काल के आश्रय से स्वयं के हिताहित का लंबा विचार करने की शक्ति दीर्घकालिकी संज्ञा है। केवल वर्तमान काल का विचार करने की शक्ति हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा है। दृष्टिवाद (= जिन प्रणीत आगम) के उपदेश से प्रगट होती विशिष्ट संज्ञा = बोध दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा है। इन तीन संज्ञा में से यहाँ दीर्घकालिकी संज्ञा के आश्रय से संज्ञी कहा गया है। इसलिए जो जीव 'तीनों काल में मुझे कैसी प्रवृत्ति हितकारक है, कैसी अहितकारक हैं' इत्यादि दीर्घ विचार कर सके, वे जीव संज्ञी हैं। जो विचार नहीं कर सकते या मात्र वर्तमानकाल का ही सामान्य विचार कर सकते हैं, वे जीव असंज्ञी हैं।

बेइन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा होती है, परंतु दीर्घकालिकी संज्ञा नहीं। एकेन्द्रिय को इन तीन में से एक भी संज्ञा नहीं होती = विचारने की शक्ति ही नहीं होती। इसलिए प्रस्तुत में एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी =मन रहित ही होते हैं। देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यंच संज्ञी = मन सहित होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीवों को दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा भी होती है।

हेतुवादोपदेशिकी में वर्तमान काल की और दीर्घकालिकी में त्रिकाल की विचारणा होती है। परंतु ये दोनों विचारणा संसार संबंधी होती है। दृष्टिवादोपदेशिकी में त्रिकाल की विचारणा होती है परंतु वह मोक्षमार्गानुसारी होती है। इसलिए वह सर्वोत्कृष्ट है।

विग्रहगति में योग–

विग्रहगतौ कर्मयोगः ।।२-२६।।

विग्रहगति में (परभव में जाते हुए वक्रगति में) कार्मण काययोग होता है।

संसारी जीव को कोई भी क्रिया करना हो तो योग की जरूरत पड़ती है। योग यानी चलना–दौड़ना आदि क्रियाओं में लगने वाली आत्मप्रदेशों की स्फुरणा रूप आत्मिकशक्ति। संसारी जीव को आत्मिक शक्ति का उपयोग करने के लिए साधन की सहायता लेनी पड़ती है। आत्मिक शक्ति का उपयोग करने में सहायक साधन मुख्य तीन हैं – मन, वचन, काया। जब–जब संसारी आत्मा आत्मिकशक्ति के उपयोग द्वारा क्रिया करता है, तब–तब इन तीन साधनों में से एक की सहायता अवश्य लेता है। योग की मदद बिना संसारी जीव कोई क्रिया नहीं कर सकता। इसलिए मन, वचन, काया को भी कारण में कार्य के उपचार से योग कहा जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि संसारी जीव, मनोयोग, वचनयोग और काययोग – इन तीन की मदद से स्वयं की आत्मिक शक्ति का उपयोग कर क्रिया करता है। इन तीन योग के कुल 15 भेद होते हैं। इन 15 भेदों का वर्णन अध्याय–6 के प्रथम सूत्र में आएगा। जब जीव वर्तमान भव का आयुष्य पूर्ण होने पर परभव में जाता है, तब 15 योग में से किस योग की सहायता होती है, यह इस सूत्र में बताया गया है।

जीव परभव में दो प्रकार की गति से जाते हैं – विग्रहगति और अविग्रहगति। कुछ जीव विग्रहगति से और कुछ जीव अविग्रहगति से परभव में जाते है। विग्रह यानी मोड़ (वक्र) । अविग्रह यानी मोड़ (वक्रता) रहित = सरल। मोड़ वाली गति विग्रहगति और मोड़ रहित गति अविग्रह गति। जब जीव विग्रहगति से परभव में जाता है तब उसे कौन–सा योग होता है, वह इस सूत्र में बताया है। परभव में जाते हुए मन और वचन नहीं होने से इन दो योग का सर्वथा अभाव होता है। काययोग के औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण, ये 7 भेद हैं। परभव में जाते हुए औदारिक, वैक्रिय और आहारक, ये तीन योग नहीं होते क्योंकि जीव इन तीन शरीर को छोड़कर ही परभव में जाता है। औदारिक मिश्र आदि तीन मिश्रकाययोग भी नहीं होते क्योंकि मिश्रकाययोग उस–उस काययोग की उत्पत्ति के प्रारंभ में होता है। अब एक कार्मण काययोग शेष बचता है। इसलिए विग्रहगति से परभव में जाते हुए जीव को कार्मण काययोग होता है। कार्मण काययोग की मदद से जीव परभव में स्वयं के उत्पत्तिस्थान पर पहुँच जाता है।

प्रश्न – जीव परभव में विग्रह और अविग्रह, ऐसे दो प्रकार की गति से जाता है। उनमें विग्रहगति से जाता है तब कार्मणकाययोग की सहायता होती है, यह समझ में आया। परंतु अविग्रह–गति से जाता है तब किस योग की मदद होती है?

उत्तर – अविग्रह गति एक ही समय की होती हैं अर्थात् अविग्रहगति से जीव एक ही समय में उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है। पूर्व में जो शरीर छोड़ा, उस शरीर के प्रयत्न (योग) का वेग एक समय तक रहता है। इसलिए एक समय की अविग्रहगति में गति करने नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता = नई सहायता नहीं लेना पड़ती है। जीव पूर्व के शरीर के प्रयत्न (योग) के वेग से ही धनुष में से छूटे हुए तीर की तरह इष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। अतः अविग्रहगति में जीव को पूर्वभव के शरीर के योग की मदद होती है। (प्रस्तुत सूत्र की भाष्यटीका के आधार पर)

आकाश में जीव की या पुद्‌गल की गति–

अनुश्रेणि गतिः ।२-२७।।

जीव या पुद्‌गल की गति अनुश्रेणि = सीधी होती है।

छह प्रकार के द्रव्यों में दो ही द्रव्य गतिशील हैं – जीव और पुद्‌गल। यदि कोई बाह्य उपाधि न हो तो जीव और पुद्‌गल द्रव्य की गति सीधी ही होती है। श्रेणि यानी लाईन = पंक्ति, रेखा। अनुश्रेणि यानी पंक्ति, रेखा के अनुसार। लोक के मध्य भाग से उपर–नीचे और आस–पास आकाश प्रदेशों की सीधी श्रेणियाँ = रेखाएँ हैं। जैसे रेलगाड़ी पटरी पर ही चलती है, वैसे जीव और पुद्‌गल आकाशप्रदेश की श्रेणि=रेखा पर ही चलते हैं। जीव या पुद्‌गल की वक्रगति परप्रयोग से ही होती है।

सिद्ध जीवों की गति–

अविग्रहा जीवस्य ।।२-२८।।

जीव की = सिद्ध होते जीव की गति सरल ही होती है।

भवांतर में जाते हुए संसारी जीवों की ऋजु और वक्र, दोनों प्रकार की गति होती है। यह बात ग्रंथकार अब आगे के सूत्र में कहेंगे। इसलिए यहाँ जीव शब्द से संसारी नहीं परंतु सिध्यमान = सिद्ध होते हुए जीव समझना है।

संसारी जीवों की गति तथा विग्रहगति का काल–

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः।।२-२९।।

संसारी जीवों की दो प्रकार से गति होती है – विग्रहवाली और विग्रह रहित। विग्रह वाली गति तीन समय तक होती है।

संसारी जीव दो प्रकार की गति से भवांतर में उत्पत्ति के स्थान पर पहुँचते हैं – विग्रहवाली = वक्र और अविग्रह = सरल। वक्रगति तीन होती हैं। जब उत्पत्ति स्थान मृत्युस्थान से समश्रेणि में होता है, तब जीव किसी भी प्रकार के मोड़ बिना अविग्रह गति से उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है। परंतु जब उत्पत्तिस्थान मृत्युस्थान की समश्रेणि में न हो तब जीव को कभी एक, कभी दो या कभी तीन मोड़ से गति करनी पड़ती है। जिस गति में एक विग्रह (मोड़) होता है, वह गति एकविग्रहा या एकव्रका कही जाती है। जिस गति में दो मोड़ होते हैं, वह द्विविग्रहा या द्विवक्रा है। जिस गति में तीन मोड़ होते हैं, वह त्रिविग्रहा या त्रिवक्रा गति है। जीव को परभव जाते हुए मोड़ लेने पड़ते हैं, उसके दो कारण हैं–

1. जीव कर्म के अधीन होने से स्वयं के कर्म अनुसार दिशा–विदिशाओं में इधर–उधर के स्थानों में उत्पन्न होना पड़ता है।

2. उसे आकाश प्रदेश की श्रेणि अनुसार ही गति करनी पड़ती है। यह बात **'अनुश्रेणि गतिः'** (2–27) सूत्र में आ चुकी है।

जब जीव को ऊर्ध्वलोक की पूर्वदिशा के स्थान में मृत्यु पाकर अधोलोक की पश्चिम दिशा में उत्पन होना हो तब पहले समश्रेणि में नीचे उतरना पड़ता है। फिर वह पश्चिम दिशा की ओर मुड़कर उत्पत्ति–स्थान पर पहुँचता है। इसलिए एकवक्रा गति होती है। यदि जीव को ऊर्ध्वलोक के अग्निकोण में मृत्यु पाकर अधोलोक के वायव्य कोण में उत्पन्न होना हो तो प्रथम समय में समश्रेणि से पश्चिम दिशा में आता है, दूसरे समय में अधोलोक

की ओर मुड़कर समश्रेणि से नीचे उतरता है, तीसरे समय में वायव्य कोण की ओर मुड़कर उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है।

त्रसनाड़ी के बाहर वाला कोई जीव ऊर्ध्वलोक की दिशा से त्रसनाड़ी के बाहर अधोलोक की विदिशा में उत्पन्न हो तब प्रथम समय समश्रेणि से त्रसनाड़ी में प्रवेश करता है, दूसरे समय में मुड़कर समश्रेणि से अधोलोक में आता है, तीसरे समय में मुड़कर त्रसनाड़ी के बाहर दिशा में जाता है, चौथे समय में मुड़कर समश्रेणि से विदिशा में उत्पत्ति स्थान पर आता है। इस गति में तीन मोड़ होने से यह गति त्रिवक्रा है।

यद्यपि चार मोड़ वाली चतुर्वक्रा गति भी होती है परंतु वह कुछेक जीव को क्वचित् ही होने से यहाँ वक्रगति तीन ही कही हैं [1]।

त्रसनाड़ी के बाहर वाला कोई जीव ऊर्ध्वलोक की विदिशा से त्रसनाड़ी के बाहर अधोलोक की विदिशा में उत्पन्न हो तब, प्रथम समय में समश्रेणि से त्रसनाड़ी के बाहर ही विदिशा में आए, दूसरे समय में मुड़कर समश्रेणि से त्रसनाड़ी में प्रवेश करे, तीसरे समय में मुड़कर अधोलोक में आए, चौथे समय में मुड़कर त्रसनाड़ी के बाहर आए और पाँचवें समय में मुड़कर विदिशा में उत्पत्तिस्थान पर पहुँचे। यहाँ चार मोड़ होने से यह गति चतुर्वक्रा है। परंतु ऐसा क्वचित् ही होता है।

त्रस से स्थावर में, स्थावर से त्रस में, त्रस से पुन: त्रस में या स्थावर से पुन: स्थावर में उत्पन्न होने वाले जीवों में एकवक्रा और द्विवक्रा, दो गति संभव हैं। त्रस से स्थावर में, स्थावर से त्रस में या स्थावर से पुन: स्थावर में उत्पन्न होते जीवों में त्रिवक्रा गति भी हो सकती है। स्थावर से स्थावर में उत्पन्न होने वाले जीवों में चतुर्वक्रा गति भी हो सकती है।

एकवक्रा गति दो समय की, द्विवक्रा गति तीन समय की, त्रिवक्रा गति चार समय की और चतुर्वक्रा गति पाँच समय की होती है क्योंकि हरेक वक्रगति में प्रथम समय की गति तो अवक्र ही होती है। इस सूत्र की समझ के लिए परिशिष्ट – 2 में चित्र में दर्शाई गई आकृति देखो।

अविग्रहगति का काल–

एकसमयोऽविग्रहः।।२-३०।।

अविग्रह = सरलगति का काल एक समय है।

जहाँ उपन्न होना है वहाँ जीव यदि एक समय में पहुँच जाता है। तो वह अविग्रहगति से ही जाता है। यदि उत्पत्तिस्थान पर पहुँचने में एक से अधिक समय लगे तो भी प्रथम समय तो अविग्रहगति ही होती है। शेष समयों में विग्रहगति होती है क्योंकि दूसरे समय से मोड़ शुरू हो जाता है। मोड़ पर आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है। जैसे बैल को नथनी पकड़कर इष्टस्थान पर ले जाते हैं, वैसे जीव को उत्पत्तिस्थान पर यह कर्म आकाशप्रदेश की श्रेणि अनुसार ले जाता है।

परभव में जाते हुए आहार के अभाव का काल–

एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।।२-३१।।

परभव में जाते हुए जीव अंतराल गति में एक या दो समय अनाहारक होता है – आहार नहीं लेता।

---

[1] चतुर्वक्रागति कभी–कभी ही होने से सूत्र में उसका निर्देश नहीं किया ।

जीव जहाँ से शरीर छोड़कर निकलता है, वहाँ से निकलते हुए अंतिम समय में भी शरीर के पुद्गल का संसर्ग होने से आहारक है। और जहाँ जाता है, वहाँ भी पहुँचते ही उस शरीर के योग्य आहार लेता है। इसलिए जब जीव एक समय में या दो समय में उत्पत्तिस्थान पर पहुँचता है, तब वह आहार बिना नहीं रहता। जब दो समय लगते हैं, तब पहले समय निकलते हुए आहार लेता है, और दूसरे समय पहुँचते ही आहार लेता है। दो से अधिक जितने समय लगे उतने समय जीव अनाहारक = आहाररहित होता है। यदि अंतराल गति में तीन समय लगते हैं। तो एक समय अनाहारक होता है। और चार समय लगे तो दो समय अनाहारक होता है। अंतरालगति में अधिक से अधिक चार समय लगते हैं, यह हमने 29 वें सूत्र में देखा। अत: यहाँ इस सूत्र में 'अंतराल गति में एक या दो समय अनाहारक होता है' ऐसा कहा। यद्यपि अंतरालगति में पाँच समय भी हो जाते हैं, इसलिए तीन समय भी अनाहारक होते हैं। परंतु ऐसा क्वचित् ही होने से यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की।

जन्म के प्रकार–

संमूर्च्छनगर्भोपपाताज्जन्म।।२-३२।।

जन्म तीन प्रकार के हैं – संमूर्च्छन, गर्भ और उपपात।

इन तीन में से किसी एक प्रकार से जन्म होता है। उत्पत्तिक्षेत्र में आकर नवीनभव के स्थूल देह के योग्य पुद्गलों का सर्वप्रथम ग्रहण जन्म है। संमूर्च्छन जन्म यानी स्त्री–पुरुष के संबंध बिना नूतन औदारिक शरीर के योग्य पुद्गलों का सर्वप्रथम ग्रहण। गर्भ जन्म यानी स्त्री–पुरुष के संयोग से इकट्ठे हुए शुक्र–शोणित के पुद्गलों का सर्वप्रथम ग्रहण। उपपात जन्म यानी उत्पत्ति स्थान के वैक्रिय पुद्गलों का सर्वप्रथम ग्रहण। जन्म के ये तीन भेद जन्मस्थान की अपेक्षा से हैं।

योनि के भेद –

सचित्तशीतसंवृता: सेतरा: मिश्राश्चैकश: तद्योनय: ।।२-३३।।

जीवों की योनियाँ सचित्त, अचित्त और मिश्र = सचित्ताचित्त, ऐसे तीन प्रकार की ; शीत, उष्ण और मिश्र = शीतोष्ण, ऐसे तीन प्रकार की; तथा संवृत, असंवृत और मिश्र = संवृतासंवृत, ऐसे तीन प्रकार की होती हैं।

योनि यानी उत्पत्तिस्थान। जहाँ जीव उत्पन्न होते हैं, उस स्थान को योनि कहा जाता है। अर्थात् जन्म का स्थान = योनि। जो योनि सजीव होती है, वह सचित्त। जो योनि जीव रहित होती है, वह अचित्त। जो योनि कुछ अंश में सजीव और कुछ अंश में अजीव होती है, वह मिश्र = सचित्ताचित्त। शीत यानी ठंडी। उष्ण यानी गर्म। कुछ अंश में ठंडी और कुछ अंश में गर्म, वह शीतोष्ण। संवृत यानी ढँकी हुई, असंवृत यानी खुली। कुछ अंश में ढँकी हुई और कुछ अंश में खुली, वह मिश्र – संवृतासंवृत।

1. सचित्त, अचित्त और मिश्र – इन तीन में से किस जीव को कौन–सी योनि –

देव/नारक को अचित्त, गर्भज प्राणियों को मिश्र, शेष प्राणियों को यथासंभव तीनों प्रकार की योनि होती है। गर्भज प्राणियों के आत्मप्रदेशों को स्पर्शे हुए शुक्र – शोणित सचित्त होते हैं और आत्मप्रदेशों को नहीं स्पर्शे हुए दोनों अचित्त होते हैं। कुछ आचार्य के मत में शुक्र अचित्त और शोणित सचित्त है। अन्य आचार्यों के मत में शुक्र–शोणित, दोनों अचित्त है और उत्पत्तिस्थान रूप योनिप्रदेश सचित्त है। इसलिए गर्भज तिर्यंच – मनुष्यों की योनि मिश्र कही जाती है।

2. शीत, उष्ण और मिश्र – इन तीन में से किस जीव को कौन – सी योनि –

देव और गर्भज तिर्यंच–मनुष्यों को शीतोष्ण (मिश्र)। तेउकाय को उष्ण योनि होती है। नारकों में प्रथम तीन नरक उष्ण, चौथी–पाँचवी नरक में कुछ नरकावासों में शीत और कुछ में उष्ण, छठीं,–सातवीं नरक में शीत योनि होती है। सामान्य से नारकों की शीत और उष्ण, ये दो प्रकार की योनियाँ होती हैं। टीका में नारकों को मिश्र योनि भी कही है। परंतु वह मनुष्यादि की तरह एक नारक जीव की अपेक्षा से नहीं किंतु चौथी–पाँचवी नरक में अनेक जीवों की अपेक्षा से दोनों प्रकार की योनि होने से इन दो पृथ्वियों की अपेक्षा से मिश्र योनि कही है। शेष जीवों को यथासंभव तीनों प्रकार की योनि होती है।

3. संवृत, असंवृत और मिश्र – इन तीन योनि में से किस कौन–सी योनि –

देव, नारक तथा एकेन्द्रियों को संवृत; विकलेन्द्रिय तथा संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवों को विवृत; शेष = गर्भज तिर्यंच पंचेंद्रिय और मनुष्यों को मिश्र योनि होती है।

किन जीवों को गर्भ रूप जन्म होता है, उसका निरूपण–

जराय्वण्डपोतजानां गर्भः।।२–३४।।

जरायुज, अंडज और पोतज प्राणियों को गर्भ रूप जन्म होता है।

जरायु यानी गर्भाशय में प्राणी पर होने वाली एक मांस और खून की परत (जाली) अर्थात् जीव पर लपेटा हुआ पारदर्शक पर्दा। जरायु से उत्पन्न होने वाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे – मनुष्य, गाय, भैंस वगैरह। अंड यानी अंडा। अंडे से उत्पन्न होने वाले प्राणी अंडज कहलाते हैं। जैसे – सर्प, चंदनगो, पक्षी वगैरह। जो प्राणी योनि से निकलते ही चलने की आदत वाले होते हैं और गर्भाशय में किसी भी प्रकार के आवरण से रहित हो, वह पोतज कहलाते हैं। जैसे – हाथी, खरगोश, नेवला वगैरह।

उपपात जन्म किन जीवों को होता है, उसका निरूपण –

नारक–देवानामुपपातः।।२–३५।।

नारक और देवों को उपपात रूप जन्म होता है।

देवलोक में निश्चित स्थलों पर विशिष्ट प्रकार की शय्याएँ होती हैं, जिनमें से देव स्वयं के शरीर की ऊँचाई, कांति, युवावस्था वगैरह के साथ तैयार होकर अंतर्मुहूर्त में जन्म लेता है। पुण्यबल से उन्हें गर्भ के दुःख का अनुभव नहीं करना पड़ता। नारकों को उत्पन्न होने के लिए कुंभी (कलश) के आकार के स्थान होते हैं। नारक भी देव की तरह स्वयं के शरीर की ऊँचाई आदि के साथ तैयार होकर अंतर्मुहूर्त में उत्पन्न होता है परंतु पाप की प्रबलता से उस समय उन्हें अतिशय कष्ट होता है।

संमूर्च्छन जन्म किसे होता है, उसका प्रतिपादन–

शेषाणां संमूर्च्छनम्।।२–३६।।

शेष जीवों को संमूर्च्छन जन्म होता है।

उपर्युक्त दो सूत्रों में गर्भज तिर्यंच, मनुष्य और नारक–देव के जन्म का प्रतिपादन हो चुका है। अतः एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम तिर्यंचपंचेन्द्रिय और मुनष्य शेष रहते हैं।

प्रश्न – तीड़, मक्खी, केकड़ा, वगैरह, जीवों में मैथुन का सेवन देखा जाता है। इसलिए उनका जन्म गर्भ रूप होना चाहिए। जबकि यहाँ उनका संमूर्च्छन जन्म कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तर – तीड़ आदि प्राणी मैथुन संज्ञा के संस्कार से वैसी चेष्टाएँ करते हैं परंतु नपुंसक अवस्था होने से उन्हें गर्भ नहीं रहता। जैसे – दो पुरुष या दो नपुंसकों को मैथुन सेवन करने पर भी गर्भ नहीं रहता, वैसे ही इन्हें भी गर्भ नहीं रहता। इसलिए उनका जन्म गर्भरूप नहीं किंतु संमूर्च्छन रूप होता है।

प्रश्न – चींटी, मधुमक्खी वगैरह जीव अंडे देते हुए देखे जाते हैं। इसलिए उन्हें गर्भ रूप जन्म क्यों नहीं?

उत्तर – चींटी वगैरह जीव जहाँ रहते है वहाँ उनके आस–पास उन जीवों का सूक्ष्म मल लगा रहता है। उस मल में उन जीवों की जाति के जीव उत्पन्न होते हैं। उसमें उत्पन्न जीवों के शरीर प्रारंभ में अपक्व स्थिति में होते हैं तब बारीक सफेद अंडे जैसे लगते हैं। बाद में उसमें से रूपांतर होकर हम देखते हैं, वैसे शरीर बन जाते हैं। जैसे मुनष्य के मल में संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं, वैसे मनुष्य अन्य प्राणियों के मल में तथा आस–पास रहे अन्य मल में भी संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं। तथापि किसी जीव के लिए गर्भ जैसी स्थिति निर्मित होती हो तो अल्पता के कारण उसकी यहाँ विवक्षा न की हो, ऐसा भी संभव है। विशेष जिज्ञासुओं को इस विषय के निष्णात के पास समझ लेना।

प्रश्न – मूर्गा – मूर्गी के संयोग बिना हार्मोन के इन्जेक्शन से अंडे की उत्पत्ति होती है। अत: उसमें जीव नहीं होता, ऐसा आज बहुत लोग मानते हैं। इसमें सत्य क्या?

उत्तर – हॉर्मोन के इन्जेक्शन से उत्पन्न होते अंडे में जीव होता है। क्योंकि इसी अध्याय के 34 वें सूत्र में अंडे से उत्पन्न होते प्राणी अंडज है, ऐसा कहा गया है। जैसे मनुष्य का जीव गर्भ में आता है तब प्रारंभ में उसकी कलल (तरल रूप), अर्बुद (कुछ ठोस), पेशी (विशेष ठोस) वगैरह अवस्था होती है। बाद में क्रमश: संपूर्ण पाँच इन्द्रियवाला शरीर बनता है। वैसे अंडा भी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव की एक अवस्था है। इसलिए मूर्गे–मूर्गी के संयोग बिना भी उत्पन्न होने वाले अंडे जीव स्वरूप हैं। अत: मूर्गी के अंडे के सेवन से पंचेन्द्रिय जीव की हत्या का महापाप लगता है। दयालु जीव प्राण के बदले में भी ऐसे अंडे खाना पसंद नहीं करता।

प्रश्न – मूर्गे–मूर्गी के संयोग बिना उत्पन्न होने वाले अंडे गर्भज पंचेन्द्रिय हैं या संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय? यह शंका होने का कारण यह है कि स्त्री की योनि में शुक्र–शोणित के पुद्गलों को ग्रहण कर शरीर बनाना, वह गर्भज जन्म है। प्रस्तुत में अंडे शुक्र–शोणित के पुद्गल ग्रहण किए बिना उत्पन्न होते हैं।

उत्तर – शुक्र–शोणित के पुद्गल उपलक्षण है। इसलिए योनि के बाहर से आते शुक्र–शोणित जैसे (= शरीर बनाने योग्य) अन्य पुद्गलों को भी ग्रहण कर शरीर रूप बनाना यह भी गर्भज जन्म है। यहाँ तात्पर्य इस प्रकार है – योनि के (उत्पत्ति स्थान में रहे) पुद्गलों को ही ग्रहण कर शरीर बनाना संमुर्च्छिम जन्म है। योनि के बाहर से योनि में प्रविष्ट (शरीर बनाने योग्य) पुद्गलों को ग्रहण कर शरीर रूप बनाना गर्भज जन्म है। इन्जेक्शन से जो हॉर्मोन दिया जाता है, वह योनि के बाहर से योनि में जाने के कारण मूर्गे – मूर्गी के संयोग बिना उत्पन्न होते अंडे भी गर्भज हैं। इस विषय में विशेष हकीकत अनुभवी गीतार्थ गुरु भगवंतो से जानना।

शरीर के भेद –

औदारिक-वैक्रियाऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि।।२-३७।।

शरीर के 5 भेद हैं – औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

1. औदारिक – उदार यानी स्थूल। उदार पुद्गलों से रचा हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। औदारिक शरीर के पुद्गल अन्य सभी शरीर के पुद्गलों से अधिक स्थूल होते हैं। देव और नारक के अलावा अन्य सभी जीवों का मूल शरीर औदारिक होता है। इसलिए दिखता हुआ यह हमारा शरीर औदारिक है।

2. वैक्रिय – जो शरीर छोटे से बड़ा, बड़े से छोटा, एक से अनेक, अनेक से एक, ऐसे विविध स्वरूप में रच सके वह वैक्रिय शरीर। इस शरीर के दो भेद हैं– भवप्रत्यय और लब्धिप्रत्यय। देव और नारक के जीवों को भवप्रत्यय=भव के कारण ही वैक्रिय शरीर होता है। वैक्रिय लब्धि वाले किसी मनुष्य या तिर्यंच को लब्धि प्रत्यय शरीर होता है। वैक्रिय लब्धि वाले जीवों को जब इच्छा होती है। तब इस शरीर की रचना करते हैं। लब्धि यानी आत्मिक शक्ति, प्रत्यय यानी निमित्त। इच्छा होने पर आत्मसामर्थ्य से जो विविध प्रकार से शरीर रच सकते हैं, वह लब्धि प्रत्यय और इच्छा बिना ही मात्र उस प्रकार के भव से ही जो विशिष्ट शरीर मिले, वह भवप्रत्यय।

3. आहारक – सूक्ष्म तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा आदि निमित्त से चौदह पूर्वधर प्रमत्त मुनि जिस शरीर की रचना करते हैं, वह आहारक शरीर। चौदह पूर्वधर मुनि एक हाथ जितना, सूक्ष्म और दिव्य शरीर रचकर उस शरीर को तीर्थंकर की ऋद्धि देखने अथवा तीर्थंकर को प्रश्न पूछने के लिए भेजते हैं। प्रत्येक चौदह पूर्वधर मुनि इस शरीर की रचना नहीं कर सकते। जिन्हें आहारक लब्धि प्राप्त हुई हो, वे ही मुनि इस शरीर की रचना कर सकते हैं। परंतु 'आहारक लब्धि चौदह पूर्वधर मुनि को ही प्राप्त हाती है, उनके अलावा अन्य को नहीं' यह नियम है।

4. तैजस – खाए हुए आहार को पचाने में कारणभूत तैजस शरीर है। हमारे शरीर में और जठराग्नि में जो गर्मी है, वह भी एक प्रकार का शरीर है। उसे तैजस शरीर कहा जाता है। यदि यह शरीर न हो तो हम आहार का पाचन नहीं कर सकते और हमारे शरीर में गर्मी भी नहीं रहती। मृत्यु होने पर यह शरीर न होने से औदारिक शरीर ठंडा हो जाता है। यह शरीर निर्बल हो तो आहार पाचन की शक्ति मंद हो जाती है। तैजस शरीर के दो भेद हैं – सहज और लब्धि प्रत्यय। खाए हुए आहार को पचाने में कारणभूत शरीर सहज तैजस शरीर है। यह शरीर सभी संसारी जीवों को होता है। विशिष्ट तप आदि से उत्पन्न होती तेजोलब्धि (= तेजोलेश्या) लब्धि प्रत्यय तैजस शरीर है। उसके दो प्रकार हैं – उष्ण और शीत। उष्ण तेजोलब्धि के उपयोग से अन्य जीव पर अपकार होता है तथा शीत तेजोलब्धि के उपयोग से अन्य जीव पर उपकार होता है। जैसे – वैशिकायन तापस ने गौशाले को मारने उष्ण तेजोलेश्या उस पर छोड़ी परंतु महावीर स्वामी भगवान् ने शीत तेजोलेश्या छोड़कर उसे बचा लिया [①]।

5. कार्मण – आत्मा के साथ क्षीरनीरवत् एकमेक हुए कर्मो का समूह ही कार्मण शरीर है। जीव प्रत्येक समय कर्मबंध करता है। आत्मा के साथ बंधे हुए ये कर्म ही कार्मण शरीर है।

तैजस और कार्मण, ये दो शरीर प्रत्येक संसारी जीव को अवश्य होते हैं। जीव का संसार अनादि होने से ये शरीर भी अनादि हैं। भवांतर में भी ये दो शरीर साथ में ही जाते हैं। मोक्ष होता है तभी ये दो शरीर छूटते हैं।

पाँच शरीरों में सूक्ष्मता की विचारणा–

परं परं सूक्ष्मम्॥२-३८॥

इन पाँच शरीरों में पूर्व के शरीर से बाद–बाद वाला शरीर अधिक सूक्ष्म है।

औदारिक शरीर से वैक्रिय शरीर सूक्ष्म है। वैक्रिय शरीर से आहारक शरीर सूक्ष्म है। आहारक शरीर से तैजस शरीर सूक्ष्म है। तैजस शरीर से कार्मण शरीर सूक्ष्म है। यहाँ सूक्ष्मता का अर्थ अल्प परिमाण नहीं है। किंतु 'घनता'

① 43वें और 49 वें सूत्र का भाष्य और टीका

अर्थ है। घनता यानी अधिक पुद्गलों का अल्प परिमाण में समावेश। जैसे–जैसे पुद्गलों का अल्प–अल्प परिमाण में समावेश वैसे–वैसे घनता अधिक। औदारिक आदि पाँच शरीरों में उत्तरोत्तर शरीर में घनता अधिक होने से उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म है। इसका कारण यह है कि ये शरीर जिन स्कंधों से बने हैं, वे स्कंध अधिक–अधिक पुद्गल द्रव्य वाले हैं। किसी भी वस्तु में जैसे–जैसे पुद्गल अधिक वैसे–वैसे वह अधिक घन होती है।

शरीरों में प्रदेशों की विचारणा–

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात्।।२-३९।।

तैजस के पहले अर्थात् आहारक तक के शरीर प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यगुणा है।

'जिसके दो भाग न हो सके, वह अंतिम सूक्ष्म भाग एक प्रदेश है' प्रदेश शब्द का ऐसा अर्थ प्रसिद्ध है। परंतु यहाँ प्रदेश शब्द का यह अर्थ नहीं है। यहाँ प्रदेश शब्द का 'स्कंध' अर्थ है। अंतिम सूक्ष्म भाग रूप प्रदेश तो अनंत गुना हो जाएँगें। औदारिक शरीर में जितने प्रदेश = स्कंध होते हैं, उससे असंख्य गुना स्कंध वैक्रिय शरीर में अधिक होते हैं, उससे असंख्य गुना अधिक स्कंध आहारक शरीर में होते हैं। इसका कारण यह है कि उत्तरोत्तर शरीर अधिक घन है। समान क्षेत्र में रही रूई की अपेक्षा सोने में पुद्गल अधिक है क्योंकि रूई पोली है और सुवर्ण ठोस है। इसी तरह प्रस्तुत में औदारिक से वैक्रिय शरीर अधिक घन है। यह बात उपर्युक्त सूत्र में आ चुकी है।

तैजस–कार्मण शरीर में प्रदेशों की विचारणा–

अनन्तगुणे परे ।।२-४०।।

आहारक के बाद वाले दोनों शरीरों के प्रदेश = स्कंध क्रमश: अनंत गुण है।

आहारक शरीर के प्रदेशों में तैजस शरीर के प्रदेश अनंतगुना है। तैजस से कार्मण शरीर के प्रदेश अनंत गुना है। यहाँ भी उत्तरोत्तर शरीर की घनता ही कारण है।

तैजस–कार्मण शरीर की तीन विशेषताएँ–

अप्रतिघाते ।।२-४१।।

अनादिसंबन्धे च ।।२-४२।।

सर्वस्य ।।२-४३।।

तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात रहित हैं।

तैजस और कार्मण शरीर का जीव के साथ अनादि काल से संबंध है।

तैजस और कार्मण शरीर सभी संसारी जीवों को सदा होते हैं।

तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात से रहित हैं। ये दो शरीर किसी भी प्रकार के प्रतिघात (रूकावट) बिना संपूर्ण लोक में चाहे जहाँ जा सकते हैं। घनवस्तु भी उन्हें नहीं रोक सकती।

यद्यपि वैक्रिय और आहारक शरीर को भी कोई वस्तु नहीं रोक सकती। इसलिए यह दृष्टि से ये दो शरीर भी प्रतिघात रहित हैं। परंतु यहाँ प्रतिघात का अर्थ मात्र 'गति का निरोध' नहीं है किंतु 'संपूर्ण लोक में गति का

निरोध' है। इस दृष्टि से वैक्रिय और आहारक शरीर अप्रतिघाती नहीं है क्योंकि उनकी गति लोक के कुछ भाग में (= त्रसनाड़ी में) ही होती है जबकि तैजस और कार्मण की गति संपूर्ण लोक में हो सकती है।

तैजस और कार्मण का जीव के साथ अनादि से संबंध है। अन्य तीन शरीर का संबंध अनादि नहीं है। यद्यपि अव्यवहारराशि वाले जीवों को औदारिक शरीर होने से औदारिक शरीर का संबंध भी अनादिकाल से है। परंतु यहाँ अनादि संबंध का अर्थ मात्र 'अनादि संबंध' रूप नहीं है किंतु अनादि से संबंध होने के साथ 'नित्य संबंध भी होना चाहिए अर्थात् जीव संसार में जब तक है, तब तक उसका जरा भी वियोग न हो = सदा रहे,' ऐसा अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार औदारिक शरीर अनादि संबंध वाला नहीं हैं क्योंकि जीव जब मृत्यु पाकर अन्य स्थल पर उत्पन्न होता है। तब अंतराल गति में औदारिक शरीर का वियोग होता है; जबकि तैजस–कार्मण शरीर तो अंतराल गति में भी होता है। इन दो शरीर का वियोग मोक्ष होने पर ही होता है।

तैजस और कार्मण शरीर सभी संसारी जीवों को हंमेशा होते हैं। औदारिक आदि अन्य शरीर किसी संसारी जीव को होते हैं, किसी को नहीं भी होते।

एक जीव में एक साथ संभव शरीर–

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।।२-४४।।

तदादीनि यानी तैजस–कार्मण, ये दो शरीर जिनकी आदि (प्रारंभ) में हैं, वे शरीर एक जीव को एक साथ दो से चार हो सकते हैं।

अर्थात् कम–से–कम दो और अधिक–से–अधिक चार शरीर हो सकते हैं। पाँच शरीर कभी भी एक साथ नहीं हो सकते। जब दो शरीर होते हैं, तब तैजस और कार्मण शरीर होते हैं। तीन शरीर होते है तब तैजस–कार्मण–औदारिक अथवा तैजस–कार्मण–वैक्रिय होते हैं। चार शरीर हो तब तैजस–कार्मण–औदारिक–वैक्रिय अथवा तैजस–कार्मण–औदारिक–आहारक शरीर होते हैं। इससे यह फलित हुआ कि वैक्रिय और आहारक शरीर एक साथ नहीं हो सकते।

प्रश्न – वैक्रिय और आहारक, ये दो शरीर एक साथ क्यों नहीं होते?

उत्तर – आहारक शरीर चौदह पूर्वधर मुनि को ही होता है। इसलिए वैक्रिय और आहारक ये दो शरीर की लब्धि = शरीर रचने का सामर्थ्य चौदह पूर्वधर के अलावा अन्य किसी जीव में नहीं होता। यद्यपि मात्र वैक्रिय शरीर रचने की शक्ति अन्य जीवों को हो सकती है। परंतु दोनों शरीर रचने का सामर्थ्य तो मात्र चौदह पूर्वधर मुनि में ही होता है। चौदह पूर्वधर मुनि जब वैक्रिय शरीर की रचना करते हैं तब प्रमत्त = प्रमाद युक्त ही होते हैं। वैक्रिय शरीर की रचना के बाद भी जब तक उस शरीर का उपभोग होता है, तब तक वे मुनि प्रमत्त ही होते हैं। चौदह पूर्वधर मुनि जब आहारक शरीर की रचना करते हैं तब प्रमत्त होते हैं परंतु रचना होने के बाद उसके उपभोग काल में अप्रमत्त होते हैं। अत: चौदह पूर्वधर मुनि वैक्रिय शरीर के उपभोग काल में प्रमत्त और आहारक शरीर के उपभोग काल में अप्रमत्त होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि चौदह पूर्वधर मुनि जब प्रमत्त होते हैं, तब वेक्रिय शरीर का उपभोग हो सकता है परंतु आहारक शरीर का उपभोग नहीं हो सकता। इसी तरह जब अप्रमत्त हो तब आहारक शरीर का उपभोग हो सकता है परंतु वैक्रिय शरीर का उपभोग नहीं हो सकता। इस तरह चौदह पूर्वधर मुनि में दोनों प्रकार की लब्धि हो सकती है परंतु एक साथ दोनों का उपभोग संभव नहीं है। अत: वैक्रिय और आहारक शरीर एक जीव में एक साथ नहीं हो सकते।

शरीरों का प्रयोजन–

निरुपभोगमन्त्यम्।।२-४५।।

अन्त्य = कार्मण शरीर उपभोग रहित है।

यहाँ उपभोग शब्द से सुख–दु:ख का अनुभव, कर्मबंध, कर्मफल का अनुभव और कर्मनिर्जरा, ये चार विवक्षित हैं। अन्त्यशरीर से = कार्मण शरीर से सुख–दु:ख के अनुभवादि चार उपभोग नहीं होते। जैसे औदारिकादि शरीर से इन्द्रिय और विषय के संपर्क द्वारा सुख–दु:ख का व्यक्त रूप में अनुभव होता है, वैसे कार्मण शरीर से सुख–दु:ख का अनुभव नहीं होता क्योंकि कार्मण शरीर इन्द्रिय रहित है। जैसे औदारिक शरीर से हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म आदि व्यापार द्वारा मन–वचन–काया से व्यक्त रूप में कर्मबंध होता है। वैसे कार्मण शरीर से कर्मबंध नहीं होता क्योंकि कार्मण शरीर हाथ–पैर वगैरह अवयवों से और मन–वचन से रहित है। जैसे औदारिक आदि शरीर से कर्म के फल का अनुभव तथा कर्म निर्जरा व्यक्त रूप से होती है, वैसे कार्मण शरीर से नहीं होती। इस तरह कार्मण शरीर से सुख–दु:ख के फल का अनुभव वगैरह चार न होने से वह उपभोग रहित है। यहाँ इतनी बात ध्यान देने योग्य है कि कार्मण शरीर से उपर्युक्त विशिष्ट रूप में = व्यक्त रूप में सुख–दु:ख का अनुभव वगैरह नहीं होता परंतु सामान्य रूप में = अव्यक्त रूप में तो चारों होते हैं क्योंकि अपांतराल गति में भी कर्म का उदय होता है, मिथ्यात्वादि निमित्तक कर्मबंध भी होता है, तथा भोगे हुए कर्मों की अकाम निर्जरा [1] भी होती है। अन्य शरीर सोपभोग = उपभोग सहित हैं अर्थात् औदारिक आदि शरीर से सुख–दु:ख का अनुभव, विशिष्ट प्रकार से कर्मबंध, कर्म के फल का अनुभव और कर्म निर्जरा होती है।

प्रश्न – औदारिक, वैक्रिय और आहारक – इन तीन शरीरों को द्रव्य इन्द्रियाँ होने से उनके द्वारा उपभोग हो सकता है। परंतु तैजस शरीर द्रव्य इन्द्रियों से रहित होने से उसके द्वारा उपभोग कैसे होगा?

उत्तर – आहार का पाचन और उष्ण तेजोलेश्या–शीत तेजोलेश्या का प्रादुर्भाव वगैरह तैजस शरीर से होता है। तैजस शरीर की शक्ति बराबर हो तो पाचनशक्ति ठीक रहती है। इससे सुख का अनुभव होता है। तैजस शरीर की शक्ति का ह्रास (हानि)होने पर पाचन शक्ति कमजोर हो जाने से दु:ख का अनुभव होता है। अन्य जीव पर शीत लेश्या छोड़कर उष्णतेजोलेश्या से रक्षण द्वारा अथवा शत्रु पर उष्णतेजोलेश्या छोड़कर दु:खी करने द्वारा जीव आनंद का अनुभव करता है। इसी प्रकार अन्य जीव पर शीत या उष्ण तेजोलेश्या छोड़ने पर उसकी असर न हो तो दु:ख अनुभव होता है। तेजोलेश्या द्वारा अन्य जीव पर शाप या अनुग्रह करने से पाप या पुण्य कर्म का बंध, शुभाशुभ कर्म का अनुभव तथा निर्जरा भी होती है। इसी प्रकार तैजस शरीर से भी सुख–दु:ख का अनुभव, कर्मबंध, कर्मफल का अनुभव तथा कर्मनिर्जरा होती है। इसलिए तैजस शरीर सोपभोग है।

औदारिक शरीर के कारण –

गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम्।।२-४६।।

आद्य = पहला औदारिक शरीर गर्भ से और संमूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होता है। अर्थात् गर्भज और संमूर्च्छिम जीवों को औदारिक शरीर होता है।

पूर्व में जन्म के तीन प्रकार बताएँ हैं (सूत्र 2–32)। उनमें से गर्भ और संमूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होने वाले प्राणियों को औदारिक शरीर होता है। गर्भज और संमूर्च्छिम जीवों को औदारिक शरीर ही होता है। ऐसा नियम

---

① अकाम निर्जरा का वर्णन अध्याय– 9 के सातवें सूत्र में आयेगा ।

नहीं है क्योंकि अन्य कार्मण वगैरह शरीर भी उन्हें होते हैं। परंतु औदारिक गर्भज और संमूर्च्छिम प्राणियों को ही होता है, ऐसा नियम है।

वैक्रिय शरीर के कारण–

वैक्रियमौपपातिकम्।।२-४७।।

लब्धिप्रत्ययं च ।।२-४८।।

वैक्रिय शरीर औपपातिक है।

लब्धिरूप निमित्त से भी वैक्रिय शरीर होता है।

वैक्रिय शरीर औपपातिक है अर्थात् उपपात जन्म रूप निमित्त से उत्पन्न होता है। देव तथा नारकों को औपपतिक = उपपात जन्म रूप निमित्त से वैक्रिय शरीर होता है। औपपातिक वैक्रिय शरीर दो प्रकार का है। भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। भवधारणीय शरीर जन्म से जीवन पर्यंत होता है। उत्तर वैक्रिय शरीर जब इच्छा होती है तब रचते हैं।

लब्धिरूप निमित्त से भी वैक्रिय शरीर होता है। गर्भज तिर्यंच पंचेंन्द्रिय मनुष्य और वायुकाय के जीवों को लब्धि प्रत्यय = लब्धि रूप निमित्त से वैक्रिय शरीर होता है। कुछ गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्यों को तप के सेवन से लब्धि उत्पन्न होती है। वायुकाय के जीवों को स्वाभाविक रूप से लब्धि प्राप्त होती है।

आहारक शरीर के स्वामी –

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ।।२-४९।।

आहारक शरीर चौदह पूर्वधर मुनि को ही होता है। यह शरीर शुभ, अत्यंत विशुद्ध और अप्रतिघाती होता है।

मन में संशय उत्पन्न होने पर उसके समाधान के लिए अथवा तीर्थंकर की ऋद्धि देखने की इच्छा होने पर तीर्थंकर के पास जाने के लिए चौदह पूर्वधर मुनि शुद्ध, स्फटिक जैसा सुन्दर एक हाथ का शरीर रचते हैं। महाविदेह आदि क्षेत्र में दूर रहे तीर्थंकर भगवंत के पास औदारिक शरीर से नहीं जा सकते। इसलिए चौदह पूर्वधर मुनि दूर स्थित तीर्थंकर के चरणों में जाने के लिए आहारक [①] शरीर की रचना करते हैं। मूल औदारिक शरीर जहाँ हो वहाँ से, आहारक शरीर जहाँ गया हो वहाँ तक अपांतराल में भी आत्मप्रदेश संलग्न रहते हैं। कार्य पूर्ण होने पर उस शरीर का त्याग करते हैं तब आत्मप्रदेश मूल औदारिक शरीर में समाविष्ट हो जाते हैं। यह शरीर अधिक–से–अधिक अंतर्मुहूर्त तक ही रहता है। तथा अत्यंत सूक्ष्म होने से कोई भी वस्तु उसकी गति में प्रतिघात नहीं कर सकती।

वेद = लिंग का प्रतिपादन–

नारक संमूर्च्छिनो नपुंसकानि ।।२-५०।।

न देवाः।।२-५१।।

① यह शरीर पूरे संसार चक्र में जीव अधिक–से–अधिक चार बार ही रच सकता है।

नारक और संमूर्च्छिम जीव नपुंसक हैं। देव नपुंसक नहीं होते।

वेद के दो भेद हैं – द्रव्य वेद और भाव वेद। जीव के शरीर का बाह्य आकार द्रव्यवेद = लिंग है। मनुष्यादि जीवों के शरीर में सामान्य से बाह्य आकार समान होने पर भी कुछ विशेषताएँ होती हैं। ये विशेषताएँ नामकर्म के उदय से होती है। ये विशेषताएँ जीव के भेद को पहचानने में कारण = चिह्न होने से लिंग कहलाती हैं। ये सामान्य से तीन विभाग में विभक्त हैं। शरीर की इन विशेषताओं के आश्रय से जीवों के तीन भेद होते हैं। पुरुष, स्त्री और नपुंसक। शरीर के आकार की विशेषता के कारण जीव को पुरुषादि रूप में संबोधित किया जाता है। जीव की पुरुषादि रूप में पहचान कराने वाला शरीर का बाह्य आकार द्रव्य वेद = लिंग है। जिस आकार से जीव पुरुष रूप में पहचाना जाए वह द्रव्यपुरुषवेद। जिस आकार से जीव स्त्री रूप में पहचाना जाए, वह द्रव्यस्त्रीवेद। जिस आकार से जीव नपुंसक रूप में पहचाना जाए, वह द्रव्यनपुंसकवेद।

मैथुन = विषय सेवन की इच्छा भाववेद = भावलिंग है। भाववेद मोहनीय कर्म के उदय से होता है। स्त्री के साथ विषय सेवन की इच्छा पुरुषवेद है। पुरुष के साथ विषय सेवन की इच्छा स्त्रीवेद है। पुरुष–स्त्री दोनों के साथ विषय सेवन की इच्छा नपुंसक वेद है।

यहाँ वेद का प्रतिपादन भाववेद की दृष्टि से है। क्योंकि यहाँ संमूर्च्छिम जीवों को नपुंसकवेद कहा है। यदि द्रव्यवेद की अपेक्षा से यह प्रतिपादन हो तो घटित नहीं होगा क्योंकि संमूर्च्छिम असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को पुरुषवेद तथा स्त्रीवेद, ये दो द्रव्यवेद होते हैं।

देव नपुसंक नहीं होते। यहाँ 'देवों को नपुंसकवेद नहीं होता' ऐसा कहने से पुरुषवेद तथा स्त्रीवेद होता है, यह सिद्ध हुआ। संमूर्च्छिम, नारक और देव से अन्य (गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य) जीवों में तीनों वेद होते हैं।

आयुष्य के भेद और उनके स्वामी विषयक विचार–

औपपातिक-चरमदेहोत्तमपुरुषा-ऽसंख्येयवर्षाऽयुषोनपवर्त्यायुषः ।।२-५२।।

औपपतिक, चरम देही, उत्तम पुरुष और असंख्यवर्ष आयुष्यवाले, इन चार प्रकार के जीवों का आयुष्य अनपवर्त्य= कम न होने वाला होता है।

औपपातिक यानी उपपात जन्म से उत्पन्न होने वाले अर्थात् देव और नारक। चरमदेही यानी वर्तमान भव में ही मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव वगैरह उत्तम पुरुष हैं।

ढाई द्वीप के युगलिक [1] मनुष्य–तिर्यंच और ढ़ाई द्वीप के बाहर पूर्वकोटि से अधिक आयुष्य वाले तिर्यंच असंख्य वर्ष आयुष्य वाले होते हैं।

पहले तीन प्रकार के जन्म का वर्णन किया। जन्म होने पर शरीर की प्राप्ति होती है। शरीर के साथ लिंग भी प्राप्त होता है। इसलिए जन्म का वर्णन करने के बाद शरीर और लिंग का वर्णन किया। पूर्वभव के आयुष्य की समाप्ति बिना जन्म नहीं होता। 'पूर्वभव के आयुष्य की समाप्ति आयुष्य की पूर्णस्थिति भोगकर ही होती है या पूर्णस्थिति का अनुभव किए बिना भी होती है।' इस प्रश्न के समाधान में प्रस्तुत सूत्र कहा गया है।

आयुष्य के दो भेद हैं – अपवर्त्य और अनपवर्त्य। उपक्रम से जिस आयुष्य की अपवर्तना हो सके वह अपवर्त्य। उपक्रम यानी अपवर्तना का निमित्त कारण। अपवर्तना यानी आयुष्य की स्थिति का ह्रास (हानि)। जिस आयुष्य की स्थिति का ह्रास हो सकता है, वह अपवर्त्य या अपवर्तनीय कहलाता है।

① ढाई द्वीप में 56 अन्तर्द्वीप, 5 देवकुरु, 5 उत्तरकुरु, 5 हैमवत, 5 हैरण्यवत, 5 हरिवर्ष, 5 रम्यक् – इतने क्षेत्र अकर्मभूमि हैं। इनमें युगलिक मनुष्य–तिर्यंच होते हैं। कर्मभूमि में सुषमसुषमा, सुषमा और सुषमदुःषमा, इन तीन आरे में युगलिक मनुष्य–तिर्यंच होते हैं।

उपक्रम के दो भेद हैं – अभ्यंतर और बाह्य। उनमें अध्यवसान अभ्यंतर उपक्रम है। बाह्य उपक्रम छह हैं – निमित्त, आहार, वेदना, पराघात, स्पर्श, श्वासोच्छ्वास। अध्यवसान के तीन भेद हैं – राग, स्नेह, और भय।

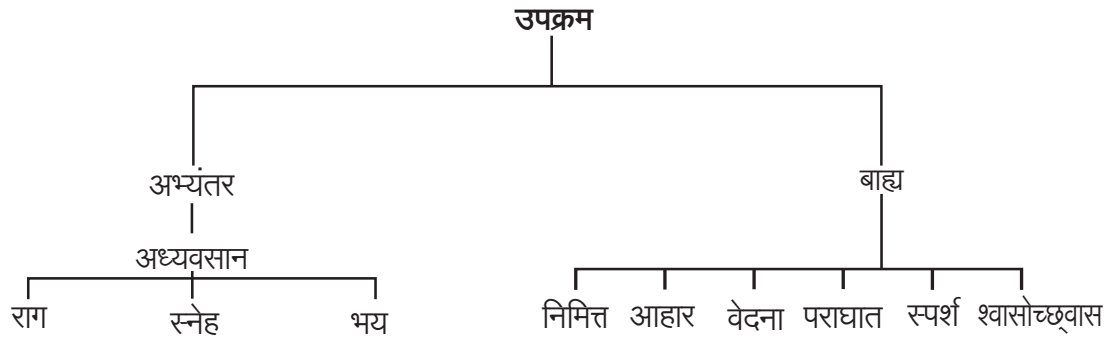

राग से मृत्यु का दृष्टांत – रूपवान युवान को एक युवती ने पीने के लिए पानी दिया। उसके रूप में युवती मुग्ध बनी। युवान पानी पीकर चल दिया। युवती उसे जाते हुए एकटक देखती रही। जब तक दिखता रहा तब तक युवती देखती रही। जब युवान दृष्टि से ओझल हो गया तब 'हाय! मेरा उसके साथ मिलन नहीं होगा....' ऐसा सोचती हुई युवती मर गई।

स्नेह से मृत्यु का दृष्टांत – सार्थवाह परेदश से बहुत समय बाद घर आ रहा था। इस अवसर पर वह घर पहुँचे उससे पहले उसके मित्रों ने उसकी पत्नी के प्रेम की परीक्षा करने के लिए 'तेरा पति मर गया है' ऐसे समाचार दिए। संदेश सुनते ही सार्थवाह की पत्नी मर गई। सार्थवाह घर आया। पत्नी की मृत्यु की बात सुनकर उसी क्षण वह भी मृत्यु को प्राप्त हुआ। ①

भय से मृत्यु का दृष्टांत – गजसुकुमार मुनि का घात करने वाला सोमिल ब्राह्मण मुनि का घातकर घर की ओर जा रहा था तब रास्तें में कृष्ण महाराजा को देखकर 'ये मुझे मार डालेंगे' ऐसे भय से वह मर गया ।

निमित्त – विष, शस्त्र, सर्पदंश, अग्नि, बिजली, क्षुधा, तृषा, ठंडी, गर्मी वगैरह। **आहार –** अधिक आहार, कुपथ्य आहार वगैरह। **वेदना –** मस्तकशूल वगैरह। **पराघात –** गिरना वगैरह। **स्पर्श –** जहरीले जंतु, विषकन्या, जहरीले सर्प आदि के स्पर्श। **श्वासोच्छ्वास –** दम आदि के कारण श्वासोच्छ्वास बढ़ जाए या घबराहट आदि से श्वास रुक जाए।

स्पर्श से मृत्यु का दृष्टांत – ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की मृत्यु के बाद उसके पुत्र ने ब्रह्मदत्त की स्त्री (स्त्रीरत्न) के पास विषय सुख की याचना की। उसने पुत्र को कहा – तू मेरे स्पर्श को सहन नहीं कर सकेगा। पुत्र को उस पर विश्वास नहीं हुआ। इसलिए पुत्र को विश्वास दिलाने के लिए उसने पुत्र के सामने घोड़े को स्पर्श किया। अग्नि से मोम पिघलता है वैसे गर्मी से घोड़े का शरीर पिघलने लगा थोड़ी ही देर में अश्व मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

आहार से मृत्यु का दृष्टांत – संप्रति महाराजा का जीव पूर्वभव में भिक्षुक के रूप में दीक्षा लेकर अधिक भोजन करने से मृत्यु को प्राप्त हुआ।

निमित्त, वेदना, पराघात और श्वासोच्छ्वास से मृत्यु प्राप्ति के दृष्टांत जगत् में बहुत होने से सुप्रसिद्ध है।

① रूप वगैरह विषय के आकर्षण से होने वाला प्रेम राग है और रूप वगैरह विषय के आकर्षण बिना सामान्य से होता प्रेम स्नेह है। जैसे – रूपादि से स्त्री आदि के प्रति होने वाला प्रेम राग है और पुत्रादि पर होने वाला प्रेम स्नेह है।

इन सात उपक्रमों से आयुष्य की स्थिति की हानि होने से मृत्यु जल्दी हो जाती है। जैसे – किसी जीव का आयुष्य 100 वर्ष है अर्थात् आयुष्य की स्थिति 100 साल है परंतु वह आयुष्य अपवर्त्य होने से 75 वर्ष होने पर सर्पदंश आदि कोई उपक्रम लगने से शेष आयुष्य (शेष आयुष्य की स्थिति वाले दलिक) अंतर्मुहूर्त में ही भोगकर वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यहाँ 25 वर्ष की स्थिति न्यून हो गई। इस तरह आयुष्य की अपवर्तना होने का कारण यह है कि आयुष्य का बंध होते समय आयुष्यकर्म के दलिकों का बंध शिथिल होता है।

जिस आयुष्य कर्म का बंध गाढ़ होता है, उस आयुष्य की स्थिति का कभी ह्रास नहीं होता। जिस आयुष्य की स्थिति की हानि नहीं हो सकती, वह आयुष्य अनपवर्त्य या अनपवर्तनीय कहलाता है। अनपवर्तनीय आयुष्य के दो भेद हैं – सोपक्रम और निरूपक्रम। जिस आयुष्य को विषादि बाह्य या भयादि अभ्यंतर उपक्रम प्राप्त होते हैं, वह सोपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य है। जिस आयुष्य को उपक्रम प्राप्त नहीं होते, वह निरूपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य है। उपक्रम प्राप्त हो या न हो परंतु अनपवर्तनीय आयुष्य की स्थिति न्यून नहीं होती।

औपपातिक, चरमदेही, उत्तम पुरुष और असंख्यवर्ष आयुष्य वाले जीवों का आयुष्य अनपवर्तनीय है। इनमें औपपातिक और असंख्यवर्ष आयुष्यवाले जीवों का निरूपक्रम आयुष्य होता है। चरमदेही और उत्तम पुरुषों का निरूपक्रम और सोपक्रम, दोनों प्रकार का अनपवर्तनीय आयुष्य हो सकता है।

उपर्युक्त चार प्रकार से अन्य जीव अपवर्त्य या अनपवर्त्य, दोनों प्रकार के आयुष्य वाले होते हैं। अपवर्त्य आयुष्य वाले जीवों का आयुष्य उपक्रम लगने पर कम हो जाता है।

प्रश्न – अपवर्तनीय आयुष्य उपक्रम न लगने पर नहीं भी घटता है अथवा उपक्रम अवश्य लगने से कम हो ही जाता है।

उत्तर – अपवर्तनीय आयुष्य को अवश्य उपक्रम लगता है इसलिए वह अवश्य कम हो जाता है। इसलिए अपवर्तनीय आयुष्य सोपक्रम ही होता है।[1]

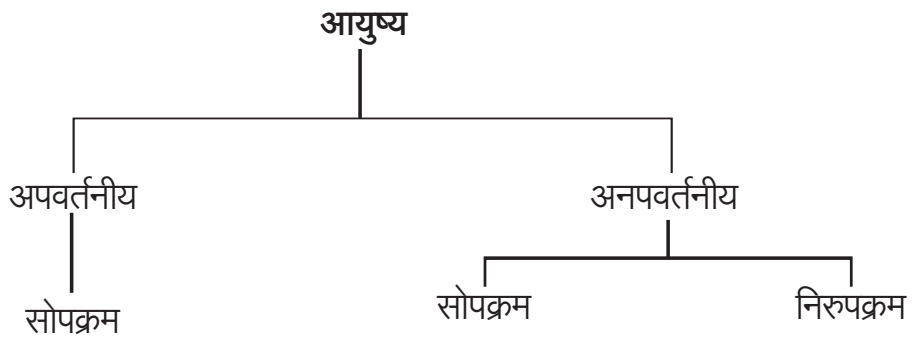

प्रश्न – 100 वर्ष का आयुष्य 50 साल में कैसे भोग सकते हैं? क्या एक घंटे का कार्य आधे घंटे में पूर्ण हो सकता है?

① विशेषावश्यक भा.गा.2055 टीका में अपवर्तनीय आयुष्य को उपक्रम लगे ही , ऐसा नियम नहीं कहा है। इसलिए अपवर्तनीय आयुष्य उपक्रम लगे तो कम हो जाता है, उपक्रम न लगे तो कम नही होता, ऐसा कहा है । प्रस्तुत सूत्र के भाष्यादि में 'अपवर्तनीय आयुष्य अवश्य न्यून होता है' ऐसा कहा है ।

उत्तर – हाँ, एक घंटे का कार्य आधे घंटे में तो क्या एक मिनिट में भी हो सकता है। यह वास्तविकता आज के वैज्ञानिक साधनों से भी सिद्ध हो सकती है। पूर्व में मनुष्य एक घंटे में जितना मार्ग पसार करते थे, उससे भी अधिक मार्ग आज वैज्ञानिक साधन–विमान द्वारा एक मिनिट में पसार हो सकता है। इस प्रकार अन्य बहुत कार्य पहले जितने समय में होते थे, उससे बहुत ही कम समय में आज वैज्ञानिक साधन द्वारा कार्य पूर्ण हो सकते हैं।

इस विषय में शास्त्रों में अनेक व्यावहारिक दृष्टांत बताए गए हैं।

जैसे –

1. गीले वस्त्र को इकट्ठा कर सूखाया जाए तो सूखने में देर लगती है परंतु यदि फैलाकर सूखाया जाए तो शीघ्र सूख जाता है।

2. घास के पूले को जलने में देर लगती है परंतु यदि घास को अलग–अलग कर जलाई जाए तो जल्दी जल जाती है।

3. आम्रफल को पेड़ पर पकने में जितना समय लगता है, उससे बहुत कम समय में घास में रखने से पक जाता है।

इसी प्रकार अपवर्त्य आयुष्य को उपक्रम लगने पर शेष स्थिति के दलिक एक अंतर्मुहूर्त मात्र में आयुष्य पूर्ण हो जाता है।

यहाँ आयुष्य के दलिक भोगने के बाकी रह जाते हैं, ऐसा नहीं है। सभी दलिक भोगे जाते हैं, परंतु अल्पकाल में भोगे जाते हैं।

***

तृतीय अध्याय

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्षमार्ग है। तत्त्वों की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। तत्त्वों की श्रद्धा के लिए तत्त्वों का बोध अनिवार्य है। तत्त्वबोध के लिए जीवादि तत्त्वों का निरूपण करना चाहिए। इसलिए सूत्रकार भगवंत ने दूसरे अध्याय में विभिन्न दृष्टि से जीवतत्त्व का निरूपण किया। इस तीसरे अध्याय में भी विविध–दृष्टि से जीवों का प्रतिपादन किया गया है। चार गति के आश्रय से जीव के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, ऐसे चार भेद हैं। उसमें यहाँ सर्वप्रथम नारक जीवों का वर्णन प्रारंभ करते हैं।[1]

नरक की सात पृथ्वी के नाम–

रत्न–शर्करा–वालुका–पङ्क–धूम–तमो–महातम:प्रभाभूमयो घनाम्बु–वाता–काशप्रतिष्ठा: सप्ताधोऽध: पृथुतरा:।।३–१।।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा, और महातम:प्रभा ये सात पृथ्वियाँ हैं। ये पृथ्वियाँ घनांबु, वात और आकाश आधार पर टिकी हैं; क्रमश: एक के नीचे एक स्थित हैं और क्रमश: अधिक–अधिक विस्तृत हैं।

प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी एक राज [2] (स्वयंभूरमण समुद्र तक) विस्तार वाली है। दूसरी पृथ्वी ढाई राज विस्तृत है। तीसरी पृथ्वी चार राज विस्तृत है। चौथी पृथ्वी पाँच राज और पाँचवीं पृथ्वी छह राज विस्तृत है। छठीं और सातवीं पृथ्वी क्रमश: साढे छह और सात राज विस्तृत है। इस प्रकार पृथ्वियाँ नीचे अधिक–अधिक विस्तृत होने से उनका आकार क्रमश: सीधे रखे हुए छोटे छत्र के नीचे रखे हुए बड़े छत्र जैसा है। (चौदह राज लोक का चित्र परिशिष्ट – 2 में देखें)

प्रत्येक पृथ्वी घनांबु, घनवात, तनुवात और आकाश के आधार पर टिकी है। घनांबु यानी घन पानी। घनवात यानी घनवायु। तनुवात यानी हल्की वायु। घनांबु को घनोदधि भी कहा जाता है। सर्वप्रथम आकाश है। उसके आधार पर तनुवात स्थित है। उसके आधार पर घनवात और घनवात के आधार पर घनांबु = घनोदधि टिका है। उसके उपर घनोदधि के आधार पर महातम:प्रभा पृथ्वी है। बाद में पुन: आकाश, तनुवात, घनवात, घनोदधि और तम:प्रभा पृथ्वी है। इसी क्रम से रत्नप्रभा पृथ्वी तक जानना। यह विचारणा नीचे से उपर की अपेक्षा से है परंतु यदि उपर से नीचे की अपेक्षा देखें तो सर्वप्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी है। फिर घनोदधि, घनवात, तनुवात, और अंत में आकाश है। तत्पश्चात् पुन: शर्कराप्रभा पृथ्वी, घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। सातवीं पृथ्वी तक यही क्रम है। आकाश का कहीं कोई आधार नहीं है क्योंकि आकाश स्वप्रतिष्ठित है और अन्य का आधार भी है।

घनोदधि वगैरह वलय = चूड़ी के आकार वाले होने से उन्हें वलय कहा जाता है – घनोदधि वलय, घनवात वलय, तनुवात वलय।

---

① अथवा दूसरे अध्याय के बाद तीसरे अध्याय का संबंध इस प्रकार है – लोक की ऊँचाई चौदह राज है। उसका आकार दोनों हाथ कमर पर रखकर दो पैर चौड़े कर खड़े हुए पुरुष जैसा है। ऐसे लोक के तीन विभाग है – अधोलोक, तिर्च्छा (मध्य) लोक और ऊर्ध्व लोक। उसमें कमर से पैर तक का भाग अधोलोक है। नाभि प्रदेश तिर्च्छालोक है। उपरिभाग ऊर्ध्वलोक हैं। यहाँ ऊर्ध्व–अध: और तिर्च्छालोक की व्यवस्था मेरुपर्वत के मध्य में स्थित आठ रुचकप्रदेशों की अपेक्षा से है। रुचक प्रदेश के ऊपर 900 योजन और नीचे 900 योजन, ऐसे 1800 योजन तिर्च्छालोक है। तिर्च्छालोक के ऊपर ऊर्ध्वलोक और अधोलोक है। जब राज (रज्जु) की अपेक्षा से सोचे तो नीचे के सात राज में अधोलोक है। ऊपर के सात राज में तिर्च्छालोक + ऊर्ध्वलोक है। इस तीसरे अध्याय में क्रमश: अधोलोक वगैरह तीन लोक का वर्णन किया गया है।

② राज (अथवा रज्जु) का माप = निमेष मात्र में (आँख की एक पलक झपकने जितने समय में) एक लाख योजन जाने वाले देव छह महिने में जितनी दूरी तय करे, उतनी दूरी 1 राज कहलाती है।

हम रत्नप्रभा पृथ्वी के उपर हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी में मनुष्य, देव [1], तिर्यंच और नारक, ऐसे चारों प्रकार के जीव हैं।

रत्नप्रभा वगैरह पृथ्वी की गहराई, चौडाई(विस्तार) आदि निम्नलिखित है–

पृथ्वी	गहराई (उंडाई)	चौड़ाई	प्रतर	नरकावास	प्रधानता
रत्नप्रभा	180000 योजन	1 राज	13	30 लाख	रत्न
शर्कराप्रभा	132000 योजन	2.5 राज	11	25 लाख	कंकर
वालुकाप्रभा	128000 योजन	4 राज	9	15 लाख	रेती
पंकप्रभा	120000 योजन	5 राज	7	10 लाख	कीचड़
धूमप्रभा	118000 योजन	6 राज	5	3 लाख	धुआँ
तम:प्रभा	116000 योजन	6.5 राज	3	99,995	अंधकार
महातम:प्रभा	108000 योजन	7 राज	1	5	अत्यंत अंधकार

दो पृथ्वी के बीच का अंतर सभी जगह असंख्य कोड़ाकोड़ी योजन है। रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वी में क्रमश: 13,11,9,7,5,3,1 प्रतर हैं। प्रतर (= प्रस्तर) बहुमंजिला मकान की मंजिल समान है। रत्नप्रभा आदि पृथ्वी में क्रमश: 30 लाख, 25 लाख, 15 लाख, 10 लाख, 3 लाख, 99995 और 5 नरकावास हैं।

प्रथम पृथ्वी में रत्नों की प्रधानता होने से वह रत्नप्रभा कहलाती है। दूसरी पृथ्वी में शर्करा = कंकर की प्रधानता होने से उसे शर्कराप्रभा कहा जाता है। तीसरी पृथ्वी में रेती की प्रचुरता होने से उसका वालुकाप्रभा नाम है। चौथी पृथ्वी में कीचड़ बहुत होने से उसका पंकप्रभा नाम है। पाँचवी पृथ्वी में धुआँ बहुत होने से वह धूमप्रभा नाम से पहचानी जाती है। छठी पृथ्वी में तमस्=अंधकार विशेष होने से उसका तम:प्रभा नाम है। सातवीं पृथ्वी में अतिशय अंधकार होने से उसे महातम:प्रभा कहा जाता है। प्रत्येक पृथ्वी के नीचे घनोदधि की मोटाई 20000 योजन है। घनवात और तनुवात की मोटाई प्रत्येक पृथ्वी में असंख्य योजन है परंतु नीचे–नीचे की पृथ्वी में घनवात और तनुवात की मोटाई अधिक–अधिक है।

प्रश्न – वायु अन्य कहीं गए बिना सदा पानी को धारण करके रखती है और पानी भी कहीं फैले बिना पृथ्वी को धारण करता है। पृथ्वियों का भी पानी में प्रलय नहीं होता। इस प्रकार अनादि काल से सदा सतत स्थिर रहने का कारण क्या?

उत्तर – इस प्रकार स्थिर रहने में लोकस्थिति = लोकानुभाव ही कारण है।

नरकावास का वर्णन–

तासु नरका: ।।३-२।।

रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथ्वी में नरक = नरकावास हैं।

रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथ्वी की जितनी गहराई (उंडाई, मोटाई) है, उसमें से उपर और नीचे एक–एक हजार योजन छोड़कर शेष बीच के भाग में नरक है। जैसे – रत्नप्रभा पृथ्वी की गहराई 180000 योजन है, उसमें से

[1] देव रत्नप्रभा पृथ्वी के किस भाग में रहते हैं, इसके लिए चौथे अध्याय के पहले सूत्र का विवेचन देखो।

उपर और नीचे एक–एक हजार योजन छोड़कर मध्य के 178000 योजन में नरक हैं। इसी तरह प्रत्येक पृथ्वी में जानना। मात्र सातवी पृथ्वी में उपर के साढे़ बावन हजार (52500) योजन और नीचे भी साढे़ बावन हजार (52500) योजन छोड़कर शेष तीन हजार योजन में नरकावास हैं।

रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वी में क्रमशः 13,11,9,7,5,3 और 1 प्रतर है। प्रतर बहुमंजिला इमारत की मंजिलों की तरह एक के उपर एक होती है। इन प्रतरों में नरकावास हैं। रत्नप्रभा आदि पृथ्वी में क्रमशः 30 लाख, 25 लाख, 15 लाख, 10 लाख, 3 लाख, 99995 और 5 नरकावास हैं। ये नरकावास मुख्यतया तीन प्रकार के हैं – इन्द्रक, पंक्तिगत और पुष्पावकीर्ण। बराबर मध्य में रहा हुआ नरकावास इन्द्रक कहा जाता है। दिशा–विदिशा में रहे हुए पंक्तिबद्ध नरकावास पंक्तिगत नरकावास कहे जाते हैं। बिखरे हुए पुष्प की तरह फैलाए हुए नरकावास पुष्पावकीर्ण कहलाते हैं। सभी इन्द्रक नरकावास गोलाकार हैं। पंक्तिगत नरकावास त्रिकोण, चोरस और गोल हैं। पुष्पावकीर्ण नरकावास विविध अशुभ आकार वाले हैं।

प्रत्येक नरकावास की ऊँचाई तीन हजार योजन है। लंबाई–चौड़ाई में कुछ नरकावास संख्यात योजन तो कुछ असंख्यात योजन के हैं। प्रथम नरक का सीमंतक नामक इन्द्रक नरकावास 45 लाख योजन और सातवीं नरक का अंतिम अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक नरकावास 1 लाख योजन लंबा–चौड़ा है।

नरक में लेश्यादि की अशुभता–

नित्याशुभतरलेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः।।३-३।।

नारक हमेशा अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले होते हैं।

नरक के जीवों में लेश्या, पुद्गल के वर्ण आदि परिणाम, देह, वेदना और उत्तरवैक्रिय शरीर अत्यंत अशुभ होता है।

(1) अशुभ लेश्या – नरक के जीवों में तीन अशुभ लेश्या होती हैं – कृष्ण, नील, कापोत। पहली और दूसरी नरक के जीवों में कापोत लेश्या होती है। तीसरी पृथ्वी के उपरि भाग के नारकों को कापोत और नीचे के प्रतरों में रहे नारकों को नील लेश्या होती है। चौथी नरक के जीवो में नील लेश्या होती है। पाँचवी नरक में उपर की प्रतरों में रहे जीवों को नील और नीचे की प्रतरों के नारकों में कृष्ण लेश्या होती है। छठी तथा सातवीं नरक के जीवों को कृष्ण लेश्या होती है परंतु सातवीं पृथ्वी में छठी की अपेक्षा अधिक अशुभ कृष्ण लेश्या होती है।

प्रश्न – नरक में सम्यक्त्वी और सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले जीव भी होते हैं। उनकी लेश्या शुभ होती है। इस सूत्र के साथ यह विरोधी है?

उत्तर – नहीं, लेश्या के दो भेद हैं – द्रव्य और भाव। उनमें यहाँ द्रव्य लेश्या के आश्रय से अशुभलेश्या होने का प्रतिपादन किया है। भाव लेश्या तो नरक के जीव में छह होती हैं। अथवा यहाँ अशुभलेश्या का वर्णन बहुलता के आश्रय से है, ऐसा भी संभव है। शुभलेश्या वाले जीवों से अशुभलेश्या वाले जीव अधिक हैं। इस दृष्टि से टीका में बताए हुए 'अपरे मन्यन्ते–नारकाणां षडपि लेश्याः संभवन्ति, सम्यक्त्वप्रतिपत्तेः= नारकों में सम्यक्त्व की प्रतिपत्ति होने से छहों लेश्या होती हैं' इस मतांतर का भी समाधान हो जाएगा।

(2) अशुभ परिणाम – नरक में पद्गलों का परिणाम अत्यंत अशुभ होता है। बंधन, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गंध, स्पर्श, अगुरुलघु और शब्द – इन 10 प्रकार का परिणाम अशुभ होता है।

1. बंधन – शरीर आदि के साथ संबंध में आते पुद्गल अत्यंत अशुभ होते हैं। **2. गति –** अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म का उदय होने से नारकों की गति ऊँट की तरह अप्रशस्त होती है। **3. संस्थान –** जीवों की तथा भूमि की आकृति देखने से उद्वेग उत्पन्न होता है। **4. भेद –** शरीर, दिवाल वगैरह से निकलते हुए पुद्गल अत्यंत अशुभ परिणाम वाले होते हैं। **5. वर्ण –** सर्वत्र अंधकार व्याप्त होता है, जमीन श्लेष्म आदि अशुचि पदार्थ से लीपी हुई हो ऐसा लगता है। प्रत्येक पदार्थ का वर्ण कष्ट दे, इतना अतिशय कृष्ण होता है। **6. गंध –** नरक की भूमि सदा विष्ठा [1], मूत्र, खून, माँस, चर्बी वगैरह अशुभ पदार्थों जैसी दुर्गंध फैलाती है। **7. रस –** नरक के पदार्थों का रस नीम आदि से भी अधिक कटु होता है। **8. स्पर्श –** नरक के पदार्थों का स्पर्श अधिक उष्ण और वृश्चिक दंश (केकड़े के डंख) आदि से भी अधिक पीड़ा उत्पन्न करने वाला है। **9. अगुरुलघु –** शरीर का अगुरुलघु [2] परिणाम अनेक दु:खों का आश्रय होने से अनिष्ट = अशुभ है। **10. शब्द –** 'हे माता ! हे पिता ! हमें बचाओं! छुड़ाओं' ऐसे अनेक तरह के करूण शब्द सुनाई देते हैं। ये शब्द सुनने मात्र से पीड़ा उत्पन्न करते हैं।

(3) अशुभदेह – नरक के जीवों का शरीर हुंडक संस्थान [3] वाला होता है। शरीर के अवयवों की रचना भी अस्त–व्यस्त होती है। उनका शरीर वैक्रिय होने पर भी देव के शरीर जैसा शुभ=पवित्र नहीं होता किंतु मल–मूत्र आदि अशुभ पदार्थो से भरा हुआ होता है। शरीर का वर्ण अतिशय कृष्ण और भयोत्पादक होता है।

(4) अशुभ वेदना – नरक के जीवों को तीन प्रकार की वेदना निरंतर रहती है – क्षेत्रसंबंधी, परस्परोदीरित और असुरोदिरित (= परमाधामीकृत)। परस्परोदीरित और असुरोदीरित वेदना का प्रतिपादन चौथे–पाँचवे सूत्र में हैं। यहाँ क्षेत्र संबंधी वेदना का प्रतिपादन करते हैं। नरक में 10 प्रकार की क्षेत्रकृत = क्षेत्रसंबंधी वेदना होती है –

(क) शीतवेदना – नरक में सहन की जाती ठंड की एक झलक हमें बताने के लिए शास्त्र में सुंदर उपमा दी गई है। पोषमास की रात्रि हो, आकाश बादल रहित हो, शरीर में कंपन पैदा करे वैसी प्रचंड हवा चल रही हो, तब कोई व्यक्ति हिमपर्वत की चोटी पर बैठा हो, चारों और बर्फ हो, जरा भी अग्नि न हो, खुली जगह हो, उस व्यक्ति के शरीर पर एक भी वस्त्र न हो, ऐसे समय उस व्यक्ति को ठंड का जितना दु:ख होता है, उससे भी अनंत गुना दु:ख नरकावास के नारक को होता है। वह भी कुछ समय के लिए नहीं परंतु निरंतर – सदा ऐसी वेदना होती है। ठंडी की ऐसी वेदना का अनुभव करते नारकों को वहाँ से उठाकर मनुष्य लोक में उपर्युक्त हिमपर्वत के शिखर जैसे ठंडे स्थान में रखे तो मानो वह ठंड और हवा रहित स्थान में हो वैसे घोर निद्रा में सो जाए।

(ख) उष्णवेदना – नरक की उष्णवेदना को भी शास्त्रकारों ने वैसी ही सुंदर उपमा से समझाया है। जेठ मास हो, आकाश बादल रहित हो, मध्याह्न में सूर्य बराबर आकाश के मध्य में आ गया हो, हवा ज़रा भी न हो, ऐसे समय पित्तप्रकोप वाले और छत्री रहित मनुष्य को अतिशय धूप से जो वेदना होती है, उससे अनंत गुना वेदना नरक के जीवों को होती है। इतनी तीव्र उष्ण वेदना को सहन करते हुए नारक को उठाकर मनुष्यलोक में पूर्वोक्त स्थल पर रखा जाए तो मानो वह गर्मी रहित ठंडी हवा वाली जगह में हो वैसे गहरी नींद में सो जाए।

पहली, दूसरी और तीसरी नरक में उष्ण वेदना होती है। चौथी नरक में अधिकतर नारकों को उष्ण, मात्र थोड़े को शीत वेदना होती है। पाँचवी नरक में अधिकतर नारकों को शीत, थोड़े को उष्ण वेदना होती है। इसलिए चौथी–पाँचवी नरक में दोनों प्रकार की वेदना होती है। छठीं–सातवीं नरक में शीत वेदना होती है।

---

① नरक में विष्ठा वगैरह नहीं होते परंतु उनके जैसा पृथ्वी का परिणाम होता है।
② अगुरुलघु परिणाम का अर्थ अध्याय–8 के 12 वें सूत्र के वर्णन में देखें।
③ हुंडक संस्थान का अर्थ अध्याय – 8 के 12 वें सूत्र के विवेचन में देखें।

(ग) क्षुधा वेदना – नरक के जीवों को भूख इतनी होती है कि जगत के सभी अनाज का भक्षण कर ले, घी के अनेक समुद्र खत्म कर दे, दूध के अनेक समुद्र पी जाए, यहाँ तक कि जगत् के सभी पुद्गल खा जाए तो भी उसकी भूख शांत नहीं होती बल्कि अधिक–अधिक बढ़ती है।

(घ) तृषा वेदना – नारकों को प्यास भी इतनी तीव्र लगती है कि जगत् के सभी समुद्रों का पान करने पर भी तृषा शांत नहीं होती। होंठ और गला हमेशा सूखा ही रहता है।

(ड़) खुजली – छुरी से शरीर को खुजाए तो भी बंद न हो ऐसी अति तीव्र खुजली उसके शरीर में निरंतर रहती है।

(च) पराधीनता – सदा परमाधामी देवों के वश रहना पड़ता है।

(छ) ज्वर – मनुष्य को अधिक–से–अधिक जितना बुखार आता है, उससे अंनतगुना बुखार नारक को हमेशा होता है।

(ज) दाह – शरीर में सदा दाह = जलन रहती है।

(झ) भय – अवधिज्ञान या विभंगज्ञान होने से आगामी दु:ख को जानने से सदा भयभीत रहते हैं। परमाधामी तथा नारकों का भी भय रहता है।

(ण) शोक – दु:ख, भय आदि के कारण सदा शोकातुर रहते हैं।

(5) अशुभ विक्रिया – नरक के जीव शुभ उत्तरवैक्रिय शरीर बनाने का प्रयत्न करते हैं तो भी अशुभ नामकर्म के उदय से अशुभ ही बनता है।

प्रश्न – नरक और नारक शब्द में अर्थभेद है या एक ही अर्थ है?

उत्तर – सामान्य से दोनों शब्द के अर्थ अलग हैं। नरक यानी रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वी अर्थात् जीवों को उत्पन्न होने का स्थान । नारक यानी नरक में उत्पन्न होने वाला जीव। कभी 'नरक' का अर्थ आधार में आधेय के उपचार से 'नरक का जीव' भी होता है। इस सूत्र में अशुभ परिणाम का वर्णन 'नरक' शब्द के दोनों अर्थ के आश्रय से यथायोग्य किया गया है। अशुभ लेश्या वगैरह का वर्णन जीव रूप अर्थ के आश्रय से किया गया है।

प्रश्न – अशुभतर शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर – अशुभतर यानी नीचे–नीचे वाली नरक में अधिक–अधिक अशुभ । लेश्या वगैरह नीचे–नीचे की नरक में अधिक–अधिक अशुभ होते है।

प्रश्न – यहाँ 'नित्य' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर – नित्य यानी निरंतर, लगातार। अशुभ लेश्या आदि कुछ समय तक होती है, बाद में नहीं होती, पुन: शुरू होती है, ऐसा नहीं है, किंतु वे निरंतर होती है।

नरक में परस्परोदीरित वेदना –

परस्परोदीरितदु:खा:।।३–४।।

नारक परस्पर उदीरित (= नरक के जीवों द्वारा परस्पर किए जाते) दु:ख वाले होते हैं।

पूर्वभव के वैरी दो जीव एक जगह उत्पन्न हुए हो तो क्षेत्रानुभाव जनित शस्त्रों से परस्पर युद्ध करते हैं। अरे! वैरी न हो तो भी 'यह मेरे पूर्वभव का वैरी है' ऐसी असत्य कल्पना कर एक गली का कुत्ता दूसरी गली के कुत्ते के पीछे पड़ता है, वैसे एक – दूसरे के पीछे पड़ते हैं और शस्त्रों से युद्ध करने लगते हैं। परस्पर युद्ध मिथ्यादृष्टि नारक ही करता है, सम्यग्दृष्टि नहीं । सम्यग्दृष्टि नारक तो समता भाव से सहन करता है।

नरक में परमाधामीकृत वेदना –

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः।।३-५।।

तीसरी नरक तक के नारक संक्लिष्ट असुर = परमाधामी से भी दुःख प्राप्त करते हैं।

पंद्रह प्रकार के परमाधामी हैं – अंब, अंबरिस, श्याम, शबल, रूद्र, उपरूद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनु, कुंभ, वालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष। ये पंद्रह प्रकार के परमाधामी देव नए उत्न्न हुए नारक के पास सिंहगर्जना करते हुए चारों और से दौड़कर जाते हैं। 'अरे! इस पापी को मारो! इसे काट दो! इसके शरीर के टुकड़े–टुकड़े करो' इस तरह भाले, बाण, तलवार वगैरह अनेक प्रकार के शस्त्रों से नारकों को वींध देते हैं।

✻ अंब जाति के परमाधामी खेलने द्वारा विविध प्रकार के भय उत्पन्न करते हैं। भय से भागते हुए जीवों के पीछे पड़कर दूर तक उन्हें कुत्ते की तरह दौडाते हैं। आकाश में उपर से उल्टे मुँह नीचे फेंकते हैं। नीचे गिरते हुए उन्हें वज्रमय सरियों से वींध देते हैं। मुद्गर आदि से कठोर प्रहार करते हैं।

✻ अंबरिस (अंबर्षि) परमाधामी अंब जाति वाले परमाधामी के प्रहारों से मूर्च्छित और निश्चेतन हुए नारकों के शरीर को आरी (करवत, कर्पणी, काटने का साधन) से सब्जी की तरह काटकर टुकड़े–टुकडे कर देते हैं।

✻ श्याम जाति वाले परमाधामी उनके अंगोपांग काटते हैं। घटिकालय (कुंभी, नारकों का जन्मस्थान) में से निकालकर वज्रमय भूमि पर फेंकते हैं, मानों गेंद फेंक रहे हो! वज्रमय तीक्ष्ण दंड द्वारा वींध देते हैं। चाबुक से प्रहार करते हैं। पैर से कुचल देते हैं।

✻ शबल जाति के परमाधामी तो हद कर देते हैं। पेट और हृदय को चीरकर आँत, चर्बी, माँस वगैरह बाहर निकालते हैं और उन्हें दिखाते हैं।

✻ रूद्र जाति के असुर भी पीछे पड़े ऐसे नहीं हैं। वे तो धमाधम करते हुए आते हैं, और तलवार चलाते हैं। त्रिशूल, भाला, वज्रमय शूली वगैरह में नारकों को पिरोते हैं फिर धगधगती चिता में होम करते हैं।

✻ उपरूद्र जाति के देव क्या रूद्रों से पीछे रहे ऐसे है? नहीं, नहीं। वे तो उनसे भी आगे हैं क्योंकि वे रूद्र नहीं पर उपरूद्र हैं। उपरूद्र परमाधामी नारकों के अंगोपांग के टुकड़े–टुकड़े कर रूद्रों से भी अधिक वेदना उत्पन्न करते हैं।

✻ काल जाति के परमाधामी दुःख से रोते हुए नारकों को पकड़कर धगधगती कढाई में जिंदा मछली की तरह पकाते हैं।

✻ महाकाल परमाधामी से होती विडंबना की तो बात ही क्या करें? वे मात्र काल नहीं, महाकाल हैं। महाकाल परमाधामी नारकों को उनके शरीर से सिंह की जैसी पूँछ जैसे आकार वाले और कोड़ी जितने माँस के टूकड़े काटकर खिलाते हैं।

✻ असिपत्र जाति के परमाधामी का कार्य असिपत्र = तलवार चलाना है। वे तलवार आदि शस्त्रों से हाथ, पैर, जांघ, बाहु, मस्तक तथा अन्य अंगोपांगों को छेदकर छिन्न-भिन्न कर देते हैं।

✻ धनु जाति वाले परमाधामी असिपत्रवन विकुर्वकर (रचकर) उन्हें दिखाते हैं। छाया के अभिलाषी बिचारे नारक वहाँ जाते हैं परंतु वहाँ पहुँचते ही उन्हें अति दु:ख का अनुभव होता है। इस वन में तलवार आदि शस्त्रों के आकार जैसे पत्ते वाले वृक्ष होते हैं। नारकों के आते ही ये परमाधामी तुरंत हवा विकुर्वते हैं। इस हवा से वृक्ष के पर्ण फटाफट गिरने लगते हैं और नारकों के हाथ, पैर, कान, होंठ वगैरह अवयव कट जाते हैं। उनमें से खून की धाराएँ बहती हैं।

✻ कुंभ जाति के परमाधामी नारकों को कुंभी (= लोहे का तवा, कढाई) पचनक (पकाने का बर्तन), शुंठक (वज्र की तीक्ष्ण कील) वगैरह साधनों पर सेकते हैं, पकाते हैं।

✻ वालुक जाति के परमाधामी नारकों को भट्ठी की रेती से अनंतगुना तपी हुई कदंबवालुका नामक पृथ्वी में तड़-तड़ फूटते हुए चने की तरह भूंजते हैं।

✻ वैतरणी जाति के परमाधामी वैतरणी नदी विकुर्वकर उसमें नारकों को बहाते हैं। इस नदी में उकलते हुए लाख के रस का तीव्र प्रवाह बहता है। उसमें चर्बी, पस, खून, बाल, और हड्डियाँ बहती हैं। अत्यंत गर्म लोहे की नाव में बिठाते हैं।

✻ खरस्वर जाति के परमाधामी कठोर शब्दों के प्रलाप करते हुए दौड़कर आते हैं। नारकों से परशु द्वारा परस्पर शरीर की चमड़ी उतरवाते हैं। स्वयं भी निर्दयता से आरी द्वारा शरीर के मध्यभाग को लकड़ी की तरह फाड़ते हैं। विकराल और वज्र के तीक्ष्ण काँटों से भरपूर भयंकर बड़े शालमलि वृक्षों पर चढ़ाते हैं।

✻ महाघोष जाति के परमाधामी नारकों को गगनभेदी शब्दों से भयभीत करते हैं। भय से भागते हुए नारकों को पकड़कर वधस्थान में रोककर अनेक प्रकार की कदर्थना को प्राप्त कराते हैं।[1]

अरे! इस प्रकार परमाधामी नारकों को पटकते है, काटते हैं, छिन्न-भिन्न करते हैं, जलाते हैं, सेकते हैं, पिघालते हैं, तो भी उनका शरीर पाप के उदय से पारे के रस की तरह पुन: इकट्ठा हो जाता है। बिचारे नारक मौत की इच्छा करने पर भी (आयुष्य की समाप्ति बिना) नहीं मरते।[2] जैसे आपस में लड़ते हुए दो मल्ल वगैरह को देखकर पापानुबंधी पुण्यवाले मनुष्य आनंद मनाते हैं वैसे परमाधामी नारकों को परस्पर लड़ते हुए और मारपीट करते हुए देखकर आनंद मनाते हैं, खुश होकर अट्टहास्य करते हैं, वस्त्र फेंकते हैं, ताली बजाते हैं, सिंह की तरह जोर से गर्जना करते हैं।

---

① परमाधामी मरकर अंडगोलिक मनुष्य बनते हैं। उसका वर्णन इस प्रकार है- गंगा और सिंधु नदी जहाँ लवण समुद्र में प्रवेश करती है, उस स्थान से दक्षिण दिशा में जंबूद्वीप की जगती की वेदिका से 55 योजन दूर एक द्वीप है। उस द्वीप पर 47 गुफाएँ हैं। उनमें जलचारी मनुष्य रहते हैं। वे मनुष्य प्रथम संघयण वाले, मद्यपान में आसक्त, माँस खानेवाले और श्यामवर्णी होते हैं। वे मनुष्य 'अंडगोलिक' नाम से पहचाने जाते हैं। उनके अंड की गोली(= मूत्र निकलने की इन्द्रिय के पास वाली गोली) को चमरी गाय की पूंछ के केश से कान में बाँधकर रत्न के व्यापारी समुद्र में प्रवेश करते हैं। उस अंडगोली के प्रभाव से मगर वगैरह जलचर प्राणी किसी भी प्रकार का उपद्रव नहीं करते। इसलिए व्यापारी समुद्र में से रत्न वगैरह लेकर सुरक्षित बाहर आते हैं। रत्न के व्यापारी निम्नलिखित उपाय से अंडगोली को प्राप्त करते हैं- लवण समुद्र में रत्न नामक द्वीप हैं। उस पर रत्न के व्यापारी रहते हैं। वे समुद्र के पास रही चक्की के आकार वाले वज्रशिला के संपुट (अर्थात वज्र से बनी हुई चक्की) खोलकर,उनमें मद्य, माँस, शहद और मक्खन, ये चार महाविगई भरते हैं। फिर जहाँ अंडगोलिक मनुष्य रहते हैं वहां मद्य वगैरह लेकर जाते हैं। उन्हें देखकर अंडगोलिक मनुष्य मारने दौड़ते हैं। इसलिए व्यापारी थोड़ी-थोड़ी दूरी पर मद्य-माँस से भरे हुए पात्र रखकर भागते हैं। अंडगोलिक मनुष्य उन पात्रों में से माँसादि खाते-खाते दौड़ते हैं। अंत में, वज्रशिला के पास पहुँचते है और उनमें मद्य-माँस वगैरह देखकर खाने के लिए अंदर जाते हैं। व्यापारी स्वस्थान चले जाते हैं। अंडगोलिक मनुष्य वज्रशिला के संपुटों में मद्य - माँस वगैरह खाते हुए 5-6, यावत् 10 दिन पसार करते हैं। तब तक वे व्यापारी कवच पहनकर, तलवार वगैरह शस्त्र लेकर, वहाँ आकर सात-आठ के समूह बनाकर उन संपुटों को घेर लेते हैं। तुरंत संपुट बंद करते हैं क्योंकि उनमें से यदि एक भी अंडगोलिक मनुष्य बाहर आ जाए तो सबको मार डाले इतना बलवान होता है। फिर व्यापारी यंत्र से उन वज्र की चक्कियों में उन्हें पीसते हैं। वे अत्यंत बलवान होने से एक साल तक पीसने पर मृत्यु पाते हैं। इसलिए एक वर्ष तक अत्यंत वेदना सहन करते हैं। उन्हें पीसते हुए उनके शरीर के अवयव चूर्ण की तरह बाहर निकलते रहते हैं। उसमें से व्यापारी उनके अंड की गोलियाँ ढूँढ लेते हैं। उन अंडगोलियों का उपर्युक्त उपयोग करते हैं।

② नरक के दु:खों का विशेष वर्णन स्थानांग सूत्र, भवभावना वगैरह ग्रंथो में है।

प्रश्न – परमाधामी देव होने से उनके पास आनंद मनाने के अन्य अनेक साधन होने पर भी इस प्रकार वे आनंद क्यों मनाते हैं?

उत्तर – उन्हें पापानुबंधी पुण्य आदि अनेक कारणों से ऐसे पापकर्म में ही आनंद आता है। इसलिए आनंद पाने के अन्य साधन होने पर भी नारकों को दु:ख देकर और परस्पर लड़ते हुए देखकर आनंद का अनुभव करते हैं।

नारकों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति –

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा: सत्त्वानां परा स्थिति:।।३-६।।

प्रथम नरक आदि में नारकों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश: 1,3,7,10,17,22 और 33 सागरोपम हैं।

उत्कृष्ट स्थिति यानी अधिक–से–अधिक स्थिति अर्थात् जिस स्थिति से अधिक अन्य स्थिति न हो, वह अंतिम अधिक स्थिति उत्कृष्ट स्थिति कहलाती है। इस सूत्र में मात्र उत्कृष्ट स्थिति बताई है। जघन्य स्थिति चौथे अध्याय में बताएँगे ।

नरकगति संबंधी विशेष जानकारी–

लोक के मुख्यतया तीन भेद हैं – ऊर्ध्व, अधो, तिर्यग्।

उनमें यहाँ तक अधोलोक का वर्णन किया। अब तिर्यग् = तिच्छ्र्ा लोक का वर्णन आ रहा है। उसके पहले हम नरक विषयक थोड़ी विशेषताएँ देखते हैं–

कौन किस नरक तक उत्पन्न हो सकता है? असंज्ञी पर्याप्त तिर्यंच पंचेन्द्रिय पहली नरक में ही उत्पन्न हो सकते हैं। गर्भज भुजपरिसर्प दूसरी नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं। पक्षी तीसरी नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं। सिंह चौथी नरक तक और सर्प पाँचवीं नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं। स्त्री छठीं नरक तक तथा मनुष्य और मत्स्य सातवीं नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

नरक का आयुष्य कैसे जीव बांधते हैं? मिथ्यादृष्टि, महाआरंभी, महापरिग्रही, माँसाहारी, पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या करने वाला, तीव्र क्रोधी, रौद्र परिणामी वगैरह प्रकार के जीव नरकायु बांधते हैं।

कौन–से जीव नरक से आए हैं और पुन: नरक में जाते हैं? अतिक्रूर अध्यवसाय वाले सर्प, सिंहादि पशु, गिद्ध, चील वगैरह पक्षी, मत्स्य वगैरह जलचर जीव प्राय: नरक से आते हैं और नरक में जाते हैं। ये जीव नरक में से ही आते हैं, ऐसा नियम नहीं है परंतु अति अशुभ अध्यवसाय के कारण सामान्य से ऐसा अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार ये जीव नरक में ही जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है। उपर्युक्त कारण से ऐसा कह सकते हैं।

किस संघयण वाले जीव किस नरक तक, उत्पन्न होते हैं? सेवार्त (छठे) संघयण वाले जीव दूसरी नरक तक जन्म लेते हैं। कीलिका (पाँचवे) संघयण वाले जीव तीसरी नरक तक, अर्धनाराच (चौथे) संघयण वाले जीव चौथी नरक तक और नाराच (तीसरे) संघयण वाले जीव पाँचवीं नरक तक जन्म लेते हैं। ऋषभ नाराच (दूसरे) संघयण वालें जीव छठी नरक तक तथा वज्र ऋषभ नाराच (पहले) संघयण वाले जीव सातवीं नरक तक उत्पन्न होते हैं।

किस नरक से आया हुआ जीव कौन–सी लब्धि प्राप्त कर सकता है? पहली नरक में से आया हुआ जीव चक्रवर्ती बन सकता है। पहली दो नरक में से आया हुआ जीव बलदेव या वासुदेव बन सकता है। पहली तीन नरक में से आया हुआ जीव अरिहंत और पहली चार नरक में से आया हुआ जीव केवली बन सकता है। प्रथम पाँच नरक में से आया हुआ जीव चारित्री तथा प्रथम छह नरक में से आया हुआ जीव देशविरतिश्रावक बन सकता है। कोई भी नरक में से आया हुआ जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है।

कौन–से पदार्थ नरक में नहीं होते? नरक में द्वीप, समुद्र, पर्वत, कुंड, शहर, गाँव, वृक्ष, घास, पौधे वगैरह बादर वनस्पति, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, देव, मनुष्य, तिर्यंच, पंचेन्द्रिय वगैरह नहीं होते। परंतु समुद्घात, वैक्रियलब्धि, मित्रता आदि में अपवाद है। केवलीसमुद्घात में केवली जीव के आत्मप्रदेश संपूर्ण लोकव्यापी बनने से सातों नरक में होते हैं। वैक्रियलब्धि से मनुष्य और तिर्यंच नरक में जा सकते हैं। देवता पूर्वभव के मित्र को सांत्वना देने नरक में जाते हैं। भवनपति और व्यंतर देव प्रथम नरक तक ही जा सकते हैं। वैमानिक देव तीसरी नरक तक और कभी चौथी नरक तक जा सकते हैं। सीताजी का जीव सीतेन्द्र लक्ष्मणजी के जीव को आश्वासन देने चौथी नरक में गया था। परमाधामी देव तीसरी नरक तक ही होते हैं और वे तो नारकों को केवल दु:ख देने ही जाते हैं।

नारकों की गति – नारक मरकर पुन: नरक में उत्पन्न नहीं होते क्योंकि उन्हें बहुआरंभ, बहुपरिग्रह वगैरह नरक के कारण नहीं होते। सराग संयम वगैरह देवगति के आस्रव का अभाव होने से नारक मरकर देवगति में उत्पन्न नहीं होते। वे नरक से निकलकर मनुष्य या तिर्यंच गति में उत्पन्न होते हैं।

नरक की सिद्धि –

प्रश्न – नरकगति प्रत्यक्ष तो दिखती नहीं इसलिए होगी या नहीं, इसका क्या भरोसा?

उत्तर – नरकगति सर्वज्ञ भगवंतों को प्रत्यक्ष है। हमें प्रत्यक्ष न होने पर भी युक्ति से नरकगति सिद्ध हो सकती है। नरकगति न हो तो अनेक प्रश्नों के समाधान नहीं होंगे। जो जीव हिंसा आदि घोर पाप करते हैं, वे जीव उनका फल कहाँ भोगते हैं? उसका फल मनुष्यगति में नहीं मिल सकता। मनुष्य गति में एक बार हत्या करने वाले को और 10 बार हत्या करने वाले को जेल या फाँसी रूप समान ही सजा मिलती है। जिसने 10 बार या उससे अधिक हत्या की है, उसे एक बार हत्या करने वाले से विशेष फल कब मिलेगा? दूसरी बात यह है कि जो हत्यारा पकड़ाता नहीं है, गुप्त रीति से अनेक खून, मारपीट, लूँट, चोरी–डकैती, व्यभिचार वगैरह घोर पापों का सेवन करता है, उसके पाप का फल कौन देगा? अथवा जो मन से लगातार घोर हिंसा करता है, उसे पाप का फल कैसे मिलेगा? यदि आप कहोगे कि बार – बार मनुष्यगति में उत्पन्न होकर अनेक प्रकार की व्याधि वगैरह रूप में पूर्वभव के घोर पापों का फल मिलेगा तो प्रश्न होता है कि जो पूरी जिंदगी केवल पाप करता है, उसे उसका फल भी पाप के अनुरूप मिलना चाहिए। जो सदा केवल पाप करता है, उसे ज़रा भी सुख मिले बिना निरंतर केवल दु:ख ही मिलना चाहिए। मनुष्यगति में या तिर्यंचगति में सदा केवल दु:ख नहीं मिलता, कुछ समय दु:ख, फिर कुछ समय सुख मिलता है। दु:ख के समय भी आंशिक सुख का अनुभव होता है। अर्थात् जो निरंतर केवल पाप ही करते हैं, उन जीवों को उनके पाप के अनुरूप दु:ख कहाँ मिलता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए नरकगति की सत्ता स्वीकारना ही चाहिए।

तिर्च्छालोक[1] में द्वीप – समुद्र–

जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः।।३-७।।

① रत्नप्रभा पृथ्वी के सबसे ऊपर तिर्च्छालोक है।

तिर्च्छालोक में जंबूद्वीप, लवणसमुद्र वगैरह शुभ नाम वाले असंख्य द्वीप-समुद्र हैं।

यहाँ तक अधोलोक का वर्णन किया। अब मध्यलोक के वर्णन का आरंभ करते हैं। तिर्च्छालोक में पहले एक द्वीप, बाद में समुद्र, पुन: द्वीप, बाद में समुद्र, ऐसे क्रमश: असंख्य द्वीप और समुद्र हैं। (देखें चित्र, पृष्ठ क्रमांक -)। उनके नाम शुभ हैं। जगत् में शुभ पदार्थो के जितने नाम हैं, उन प्रत्येक नाम के द्वीप-समुद्र हैं। अशुभ नाम वाला एक भी द्वीप या समुद्र नहीं है। प्रारंभ के कुछ द्वीप-समुद्रों के नाम क्रमश: निम्नलिखित है - 1. जंबूद्वीप, 2. लवणद्वीप, 3. धातकीखंड, 4. कालोदधि समुद्र, 5. पुष्करवरद्वीप, 6. पुष्करोदधि समुद्र, 7. वारुणीवर द्वीप, 8. वारुणीवर समुद्र, 9. क्षीरवर द्वीप, 10. क्षीरवर समुद्र, 11. घृतवर द्वीप, 12. घृतवर समुद्र, 13. इक्षुवर द्वीप, 14. इक्षुवर समुद्र, 15. नंदीश्वर द्वीप, 16. नंदीश्वर समुद्र....। सबसे अंतिम समुद्र का नाम स्वयंभूरमण है।

लवणसमुद्र का पानी खारा, कालोदधि और पुष्करवर का स्वाभाविक जल जैसा, वारूणीवर का शराब जैसा, क्षीरवर का दूध जैसा, घृतवर का घी जैसा, स्वयंभूरमण का स्वभाविक जल जैसा, शेष सभी समुद्र का गन्ने के रस जैसा मधुर पानी हैं। अर्थात् पानी का स्वाद वैसा होता है।

द्वीप - समुद्र की चौड़ाई तथा आकृति -

द्विर्द्विर्विष्कम्भा: पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतय: ॥३-८॥

द्वीप-समुद्र पूर्व-पूर्व के द्वीप-समुद्र से दो गुना विस्तृत हैं, पूर्व-पूर्व के द्वीप-समुद्र को घेरकर स्थित हैं तथा चूड़ी के आकार वाले हैं।

सर्वप्रथम द्वीप जितना विस्तृत है, उससे उसके बाद वाला समुद्र दोगुना विस्तृत है। उससे उसके बाद वाले द्वीप का विस्तार दो गुना है। इस तरह क्रमश: पूर्व-पूर्व के द्वीप-समुद्र की चौड़ाई से बाद वाले द्वीप-समुद्र का विस्तार दो गुना है।

जंबूद्वीप को उसके बाद वाले लवण समुद्र ने घेर रखा है। इस समुद्र को उसके बाद वाला धातकीखंड द्वीप घेरकर रहा है। इस द्वीप को उसके बाद वाले कालोदधि समुद्र ने घेर रखा है। इस तरह क्रमश: पूर्व-पूर्व के द्वीप - समुद्र को बाद-बाद वाले द्वीप-समुद्र ने घेर रखा है।

प्रत्येक द्वीप-समुद्र का आकार चूड़ी [1] जैसा गोल है।

जैन शास्त्र और वैज्ञानिकों की दृष्टि से पृथ्वी संबंधी भेद -

जैन शास्त्र	विज्ञान
आकार	
थाली या पुडले जैसा।	अंडे या संतरे जैसा।
परिभ्रमण	
पृथ्वी स्थिर है, सूर्य-चन्द्र घूमते है।	सूर्य स्थिर है। पृथ्वी स्वयं की धुरी पर घूमती है तथा सूर्य के आसपास भी परिभ्रमण करती है। चंद्र पृथ्वी के आसपास परिभ्रमण करता है।

[1] यह जंबूद्वीप के अलावा अन्य द्वीप-समुद्र के लिए समझना। जंबूद्वीप तो थाली जैसा गोल है।

प्रमाण	
पृथ्वी असंख्य द्वीप–समुद्र प्रमाण है इसलिए पृथ्वी असंख्ययोजन प्रमाण होने से सूर्य चन्द्र से बहुत बड़ी है।	एशिया, युरोप, उत्तर अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, अफ्रिका, ऑस्ट्रेलिया ओर एन्टार्कटिका, ये सात खंड प्रमाण ही पृथ्वी है। इसलिए सूर्य बहुत बड़ा है, पृथ्वी उससे बहुत छोटी है।
स्वरूप	
पृथ्वी पृथ्वी स्वरूप है, ग्रह नहीं।	पृथ्वी बुध वगैरह ग्रह की तरह एक ग्रह है।

सर्व द्वीप–समुद्रों के मध्य वाले द्वीप के नाम आदि–

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः।।३-९।।

सभी द्वीप–समुद्रों के मध्य में जंबू नामक गोल द्वीप है। वह एक लाख योजन विष्कम्भ (= व्यास) वाला है। उसके मध्य में मेरु पर्वत है।

जंबूद्वीप एक लाख योजन चौड़ा है। लवणसमुद्र, 2 लाख योजन, धातकीखंड द्वीप 4 लाख योजन विस्तृत है। कालोदधि समुद्र 8 लाख योजन तथा पुष्करवर द्वीप 16 लाख योजन विस्तार वाले हैं। पुष्करवर समुद्र 32 लाख योजन विस्तृत है। इस प्रकार अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र तक द्विगुण–द्विगुण विस्तार जानना।

जंबूद्वीप के बराबर मध्य में मेरु पर्वत है। जैसे नाभि शरीर के मध्य भाग में है, वैसे मेरु पर्वत जंबूद्वीप के मध्य में है। इसलिए मेरु जंबूद्वीप की नाभिरूप होने से सूत्र में जंबूद्वीप का मेरुनाभि विशेषण है।

जंबूद्वीप की जगती आदि का संक्षिप्त वर्णन –

जंबूद्वीप के चारों ओर गोल वज्रमणिमय किला है। शास्त्र में इस किले को जगती कहा गया है। इसकी ऊँचाई 8 योजन है। इसका विस्तार मूल में 12 योजन है तथा उपर – उपर क्रमशः न्यून होता हुआ सबसे उपर चार योजन है। उपर मध्यभाग में सर्वरत्नमय वेदिका (= कंगूरे रहित किले समान आकार वाली पीठिका) है। वह वेदिका पुरुष, किन्नर, गंधर्व, वृषभ, सर्प, अश्व, हस्ति वगैरह के चित्रों से युक्त है। उसमें गुच्छ, पुष्प और पल्लवों से सुंदर वासंती, चंपक आदि विविध रत्नमय लताएँ हैं। वेदिका की परिधि जगती जितनी, ऊँचाई 2 गाउ [1] और विस्तार 500 धनुष है। वेदिका के दोनों ओर दो बगीचे हैं। प्रत्येक बगीचे की परिधि जगती जितनी और विस्तार 250 धनुष न्यून दो योजन है। वेदिका और दो बगीचे का विस्तार मिलाकर जगती का चार योजन विस्तार होता है। बगीचों में फल–फूल से मनोहर वृक्ष हैं। उसकी भूमि के तृण के अंकुरों में से चंदन आदि से भी अधिक सुगंधी सुवास प्रसरती है। तथा वे अंकुर वायु से परस्पर टकराने पर वीणादि से भी अधिक मनोहर नाद होता है। हवा से परस्पर टकराने पर पंचवर्ण के सुगंधी मणियों से भी मधुर ध्वनि निकलती है। जगह–जगह सीढ़ियों वाली बावड़ी, तालाब, बड़े सरोवर वगैरह हैं। इनका पानी मदिरा, इक्षुरस आदि जैसा विविध स्वाद वाला है। अनेक क्रीड़ापर्वत, विविध क्रीड़ागृह, नाट्यगृह, केतकीगृह, लतागृह, कदलीगृह, स्नानगृह, प्रसाधनगृह, रत्नमय मंडप आदि हैं। वे सभी पर्वत, गृह, जलाशय, मंडप आदि में व्यंतर देव इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं। किले की चार दिशाओं में

[1] 1 योजन = 4 गाउ। 1 गाउ । = 2000 धनुष। 1 धनुष । = 4 हाथ । 1 हाथ = 24 अंगुल । सभी जगह माप इस प्रकार समझना । विशेष इतना ख्याल रखना कि अंगुल तीन प्रकार के हैं । उनके भेद से योजन वगैरह का माप भी बदल जाता है । (तीन प्रकार के अंगुल का वर्णन सूत्र 4–1 के विवेचन में देखें)

विजय आदि नाम वाले चार द्वार हैं। विजय आदि नाम वाले देव उनके स्वामी हैं। असंख्य द्वीप–समुद्र के बाद दूसरे जंबूद्वीप में विजय आदि देवों की राजधानी है। इस राजधानी का सुंदर वर्णन लोकप्रकाश वगैरह ग्रंथों में है। जिज्ञासुओं को वहाँ से पठनीय हैं। किले पर चारों ओर एक गवाक्ष (= झरोखा) है। यह गवाक्ष दो गाउ ऊँचा और 500 धनुष विस्तृत है। यह गवाक्ष किले के मध्यभाग में होने से वहाँ से लवण समुद्र के सुंदर दृश्य दिखते हैं। इस गवाक्ष में अनेक व्यंतर देव–देवी विविध क्रीड़ा करते हैं, घूमते हैं, बैठते हैं, सोते हैं और खड़े रहकर लवण समुद्र की लीला देखकर आनंदित होते हैं।

तीनों लोक में मेरु पर्वत की स्पर्शना – मेरु पर्वत तीनों लोक में है। वह इस प्रकार है – मेरु 1 लाख योजन ऊँचा है। उसमें से 100 योजन अधोलोक में, 1800 योजन तिर्च्छालोक में और 98100 योजन उर्ध्व लोक में है। समभूतला पृथ्वी से 900 योजन नीचे और 900 योजन उपर तक तिर्च्छालोक माना जाता है। इस प्रकार कुल 1800 योजन प्रमाण तिर्च्छालोक होता है। मेरु पर्वत समभूतला से 1000 योजन नीचे जमीन में गढा़ हुआ है। अत: नीचे के 100 योजन अधोलोक में हैं। शेष 900 योजन जमीन में गढे़ हुए तिर्च्छालोक में गिने जाते हैं। उपर से 900 योजन जोड़ने पर तिर्च्छालोक में कुल 1800 योजन होते हैं। उपर के शेष 98100 योजन ऊर्ध्वलोक में होते हैं।

मेरु के तीन कांड – मेरु के तीन कांड (= विभाग) हैं। उनमें से 1000 योजन का प्रथम कांड जमीन में गढा़ हुआ है। वह शुद्ध मिट्टी, पत्थर, वज्र और रेती का बना हुआ है। उसके बाद 63000 योजन का दूसरा कांड है। वह चांदी, सुवर्ण, स्फटिक रत्न और अंकरत्न का बना है। तत्पश्चात् 36000 योजन का तीसरा कांड है। वह सुवर्ण से निर्मित है।

मेरु पर्वत का विस्तार – मूल में (अर्थात तद्दन नीचे जमीन में) 10090 $^{10}/_{11}$ योजन विस्तार है। बाद में क्रमश: सबसे उपर प्रत्येक 11 योजन पर 1 योजन विस्तार कम होने से समभूतला पृथ्वी पर 10000 योजन और सबसे उपर 1000 योजन विस्तार है।

चूला – तीसरे कांड के उपर बराबर मध्य में वैडूर्य रत्नमय चूलिका है। वह 40 योजन ऊँची है। मूल में 12 योजन और सबसे उपर 4 योजन विस्तृत है। उसके अग्रभाग पर शाश्वत जिन मंदिर है।

चार वन – समभूतला पृथ्वी पर मेरु के चारों ओर भद्रशाल नामक वन है। वहाँ से 500 योजन उपर चारों ओर नंदनवन है। वहाँ से 62500 योजन उपर जाने पर चोतरफ सौमनस वन है। वहाँ से 36000 योजन उपर जाने पर चोतरफ पांडुक वन है। इस पांडुक वन में चारों दिशा में एक–एक शिला है। पूर्व–पश्चिम दिशा की शिलाओं पर दो–दो सिंहासन है। उत्तर–दक्षिण दिशा की शिलाओं पर एक–एक सिंहासन है। शिला के उपर स्थित सिंहासन पर जिनेश्वर भगवंतों का जन्माभिषेक होता है। (मेरु पर्वत और गतिशील ज्योतिष चक्र का चित्र परिशिष्ट – 2 में देखें)

जंबूद्वीप के क्षेत्र –

भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक्-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि।।३-१०।।

जंबूद्वीप में भरत, हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

भरतक्षेत्र दक्षिण दिशा में है। भरत से उत्तर दिशा में क्रमश: हैमवत वगैरह क्षेत्र हैं। भरत तथा ऐरावत, हैमवत तथा हैरण्यवत, हरिवर्ष तथा रम्यक्, ये दो-दो क्षेत्र प्रमाण आदि से तुल्य हैं। जंबूद्वीप के बराबर मध्यभाग में महाविदेह क्षेत्र है। मेरु पर्वत व्यवहार सिद्ध दिशा की अपेक्षा सर्वक्षेत्रों के उत्तर में है क्योंकि व्यवहार से जिस दिशा में सूर्य उगे, वह पूर्व और जिस दिशा में अस्त हो, वह पश्चिम दिशा है। पूर्व दिशा के अभिमुख खड़े रहने पर बाएँ हाथ की ओर उत्तर दिशा तथा दाएँ हाथ की ओर दक्षिण दिशा कहलाती है। भरत में जिस दिशा में सूर्योदय होता है, उससे ठीक विपरीत दिशा में ऐरावत क्षेत्र में होता है। अत: दोनों क्षेत्रों में पूर्व दिशा की ओर मुख करने पर मेरु पर्वत बाएँ हाथ की ओर रहता हैं। इसी प्रकार अन्य क्षेत्र में भी जानना।

जंबूद्वीप में रहे गिरि-पर्वत-

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः।।३-११।।

जंबूद्वीप में भरत-हैमवत आदि क्षेत्रों का विभाग करने वाले पूर्व-पश्चिम में लंबे 6 पर्वत हैं- हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी।

वर्ष यानी क्षेत्र, क्षेत्र को (= क्षेत्र की मर्यादा को) धारण करने वाला वर्षधर। हिमवान् वगैरह पर्वत भरतादि क्षेत्रों की मर्यादा = सीमा को धारण करने वाले होने से वर्षधर कहलाते हैं।

पूर्वोक्त भरतादि सात क्षेत्र तथा हिमवान् आदि 6 पर्वत पूर्व-पश्चिम में लंबे हैं तथा उत्तर-दक्षिण में चौड़े=विस्तार वाले हैं।

जंबूद्वीप में भरत से ऐरावत क्षेत्र की ओर जाने पर इस क्रम में क्षेत्र और पर्वत हैं- भरतक्षेत्र, हिमवान् पर्वत, हैमवंत क्षेत्र, महाहिमवान् पर्वत, हरिवर्ष क्षेत्र, निषध पर्वत, महाविदेह क्षेत्र, नील पर्वत, रम्यक् क्षेत्र, रुक्मि पर्वत, हैरण्यवत् क्षेत्र, शिखरी पर्वत, ऐरावत क्षेत्र।

जंबूद्वीप के सात क्षेत्र और छह पर्वतों का विस्तार - जंबूद्वीप 1 लाख योजन का है। इस 1 लाख के 190 खंड (= समान भाग) करने पर 1 खंड = 526 योजन और 6 कला [①] का होता है। भरतक्षेत्र का विस्तार एक खंड जितना है। तत्पश्चात् क्रमश: पर्वत और क्षेत्र का विस्तार दो-दो गुना होता है। अत: महाविदेह क्षेत्र का विस्तार 64 खंड जितना है। तत्पश्चात् पुन: पर्वत-क्षेत्र का विस्तार क्रमश: आधा-आधा होता है। अत: ऐरावत क्षेत्र का विस्तार 1 खंड (= 526 योजन 6 कला) होता है। नीचे आलेखित कोष्ठक देखने से स्पष्टता हो जाएगी।

① 1 योजन = 19 कला। अत: 1 कला = 1/19 योजन।

जंबूद्वीप के सात क्षेत्र और छह पर्वत का विस्तार

क्रम	स्थल	खंड संख्या	योजन	कला	कुल खंड
1	भरत क्षेत्र	1	526	6	526 योजन और 6 कला के माप वाले कुल 190 खंड होते हैं।
2	हिमवंत पर्वत	2	1052	12	
3	हैमवंत क्षेत्र	4	2105	5	
4	महा हिमवंत पर्वत	8	4210	10	
5	हरिवर्ष क्षेत्र	16	8421	1	
6	निषध पर्वत	32	16842	2	
7	महाविदेह क्षेत्र	64	33684	4	
8	नीलवंत पर्वत	32	16842	2	
9	रम्यक् पर्वत	16	8421	1	
10	रुक्मि पर्वत	8	4210	10	
11	हैरण्यवत क्षेत्र	4	2105	5	
12	शिखरी पर्वत	2	1052	12	
13	ऐरावत क्षेत्र	1	526	6	

छह पर्वतों की ऊँचाई – हिमवंत और शिखरी पर्वत जमीन में 25 योजन उंडे और 100 योजन ऊँचे हैं। महाहिमवान् और रूक्मि पर्वत जमीन में 50 योजन उंडे और बाहर 200 योजन ऊँचे है। निषध और नील पर्वत भूमि में 100 योजन गढे हुए और 400 योजन ऊँचे हैं।

छह पर्वतों की जमीन से ऊँचाई और जमीन में उंडाई

पर्वत	हिमवान्	महाहिमवान्	निषध	नील	रूक्मि	शिखरी
बाहर ऊँचाई	100 योजन	200 योजन	400 योजन	400 योजन	200 योजन	100 योजन
जमीन में उंडाई	25 योजन	50 योजन	100 योजन	100 योजन	50 योजन	25 योजन

भरत क्षेत्र की विशेष जानकारी

छह खंड – भरत के बराबर मध्यभाग में पूर्व–पश्चिम लंबा वैताढ्य पर्वत है। इससे भरत के दो भाग होते हैं – दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध। हिमवंत पर्वत के पद्मद्रह में से दो नदी निकलती है – पूर्व में गंगा और पश्चिम में सिंधु। ये नदी वैताढ्य पर्वत को पारकर क्रमश: पूर्व और पश्चिम में लवण समुद्र को मिलती हैं। इससे भरत के दक्षिणार्ध में तीन और उत्तरार्ध में तीन, कुल छह खंड होते हैं। दक्षिणार्ध भरत के तीन खंड में से जो मध्य खंड है,

उसके मध्यभाग में 9 योजन चौड़ी और 12 योजन लंबी अयोध्या नगरी है। अयोध्या नगरी से उत्तरदिशा में 12 योजन दूर अष्टापद पर्वत है। इस खंड में साढ़े पच्चीस (25½) आर्य देश हैं। इनके अलावा सभी देश अनार्य है। अन्य पाँच खंड भी अनार्य हैं। दक्षिणार्ध भरत के मध्यखंड के आर्यदेशों में ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव वगैरह उत्तम पुरुष उत्पन्न होते हैं।

वैताढ्य पर्वत का माप – 50 योजन चौड़ा, 25 योजन ऊँचा तथा 6 योजन 1 गाउ जमीन में अवगाढ़ है। यह संपूर्ण पर्वत चांदी का है।

नौ कूट – वैताढ्य पर्वत पर नौ कूट = शिखर हैं। पहला सिद्धायतन नामक कूट पूर्व समुद्र के पास और शेष आठ शिखर पश्चिम समुद्र के पास हैं। सिद्धायतन कूट पर एक सिद्धायतन = शाश्वत जिन मंदिर है। इसमें प्रत्येक दिशा में 27–27, कुल 108 शाश्वत जिन प्रतिमाएँ हैं। शेष प्रत्येक शिखर पर रत्नमय एक–एक महान प्रासाद (महल) है। जब इन शिखरों के स्वामी देव स्वयं की राजधानी से यहाँ आते हैं, तब प्रासाद में आनंद पूर्वक रहते हैं।

विद्याधरों का वास – वैताढ्य पर्वत पर समभूतला पृथ्वी से 10 योजन उपर जाने पर 10 योजन चौड़ी और वैताढ्य पर्वत जितनी लंबी दो मेखला हैं – एक दक्षिण में और एक उत्तर में। दोनों मेखलाओं पर विद्याधरों की श्रेणि है। दक्षिण श्रेणि में 50 और उत्तरक्षेणि में 60 नगर हैं। उनके आस–पास उन नगरों के देश हैं। इन नगरों के उत्तमकोटि के रत्नमय महलों में विद्याधर रहते हैं।

इन्द्र के लोकपालक देवों के सेवकदेवों का वास – विद्याधरों की श्रेणि से 10 योजन उपर दस योजन चौड़ी और वैताढ्य पर्वत जितनी ही लंबी दो मेखला और दो श्रेणि है – एक दक्षिण में और एक उत्तर में। इन श्रेणि में इन्द्र के लोकपाल देवों के सेवक रत्नमय भवनों में रहते हैं।

व्यंतरों की क्रीड़ा का स्थान – इसके बाद 5 योजन उपर जाने पर वैताढ्य पर्वत का उपरि भाग आता है। इसके मध्य में पद्मवर वेदिका और दोनों ओर सुंदर बगीचे हैं। इन बगीचों में क्रीड़ापर्वतों (क्रीड़ा करने के छोटे–छोटे पर्वत) पर कदलीगृहों में और बावड़ी वगैरह में व्यंतर देव क्रीड़ा करते हैं।

गुफा – वैताढ्य पर्वत में पूर्व दिशा में खंडप्रतापा गुफा और पश्चिम में तमिस्रा नामक गुफा है। ये गुफाएँ सदा अंधकारमय होती हैं। प्रत्येक गुफा 8 योजन ऊँची, 12 योजन चौड़ी और 50 योजन लंबी है।

ऋषभकूट – हिमवंत पर्वत के पास दक्षिण दिशा में गंगा और सिंधु नदी के बीच ऋषभकूट नामक पर्वत है। इस पर ऋषभ नामक महर्धिक देव का वास है।

तीर्थ – यहाँ तीर्थ यानी समुद्र में जाने का मार्ग। जहाँ गंगा नदी का लवण समुद्र के साथ संगम होता है, वहाँ मागध नामक तीर्थ है। जहाँ सिंधु नदी का लवण समुद्र के साथ संगम होता है, वहाँ प्रभास नामक तीर्थ है। तथा दोनों तीर्थों के बीच वरदाम नामक तीर्थ है।

बिल – वैताढ्य पर्वत की दक्षिण दिशा में गंगा और सिंधु के पूर्व तथा पश्चिम किनारों पर 9–9 बिल हैं। कुल 36 बिल = गुफा हुई। इसी तरह वैताढ्य पर्वत की उत्तर में 36 बिल हैं। कुल 72 बिल हैं। छठे आरे में मनुष्य इन बिलों में ही रहते हैं।

इस प्रकार भरतक्षेत्र का सामान्य वर्णन पूर्ण हुआ।

लघुहिमवंत पर्वत – भरतक्षेत्र के बाद हिमवंत पर्वत है। इस पर्वत पर पद्म नामक द्रह है। इस द्रह में पृथ्वीकाय का बड़ा कमल है। इस कमल की कर्णिका (केसरा) में श्रीदेवी का भवन है। इस भवन में श्रीदेवी रहती है। इस हिमवंत पर्वत पर 11 कूट = शिखर है। उसमें पहले सिद्धायतन कूट पर सिद्ध मंदिर है। इस मंदिर पर प्रत्येक दिशा में 27–27, कुल 108 जिन प्रतिमाएँ हैं। यह हिमवंत पर्वत पूरा सुवर्ण का है।

56 अंतर्द्वीप – हिमवंत पर्वत से गजदंत (हाथी दाँत) के आकार की चार दाढ़ निकलती हैं। इनमें से दो दाढ़ उस पर्वत के पूर्व छोर से और दो दाढ़ पश्चिम छोर से लवण समुद्र में निकली हुई हैं। प्रत्येक दाढ़ [1] पर सात–सात द्वीप होने से कुल 28 द्वीप हैं। इसी प्रकार 28 द्वीप शिखरी पर्वत से निकलती चार दाढ़ पर हैं। कुल 56 द्वीप होते हैं। ये द्वीप लवण समुद्र के अंदर होने से अंतर्द्वीप कहे जाते हैं। अंतर्द्वीप के युगलिक मनुष्य 800 धनुष ऊँचाई वाले, पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने आयुष्य वाले, एक दिन छोड़कर एक दिन आहार करने वाले, 64 पसली वाले, आयुष्य के 6 महिने शेष हो तब स्त्री पुरुष रूप एक युगल को जन्म देने वाले, 79 दिन संतान का पालन करने वाले होते हैं।

हैमवत क्षेत्र – हिमवंत पर्वत के बाद हैमवत क्षेत्र है। इसके बराबर मध्य में वैताढ्य पर्वत है। वह वृत्त = गोल होने से वृत्तवैताढ्य पर्वत कहा जाता है। उसके आसपास सुंदर पद्मवेदिका, बगीचा तथा उसके स्वामी देव का प्रासाद (महल) है। हैमवत क्षेत्र में दो नदी हैं– रोहितांशा और रोहिता। रोहितांशा नदी पद्मद्रह में से उत्तर दिशा की ओर निकलती है, आगे जाकर हैमवत क्षेत्र के वृत्त वैताढ्य पर्वत से दो गाउ दूर रहकर पश्चिम दिशा की ओर मुड़ जाती है तथा लवण समुद्र में मिलती है। रोहिता नदी महाहिमवंत पर्वत के महापद्म द्रह से निकलकर दक्षिण दिशा में बहती है। आगे जाने पर वृत्तवैताढ्य पर्वत से दो गाउ दूर रहकर पूर्वदिशा में मुड़ जाती है तथा लवण समुद्र में मिलती है। इस क्षेत्र में सदा अवसर्पिणी के तीसरे आरे जैसा काल होता है। इसमें रहे युगलिक जीव एक दिन छोड़कर एक दिन आँवले जितना आहार लेते हैं। उनका आयुष्य एक पल्योपम होता है तथा ऊँचाई एक गाउ होती है।

महाहिमवंत पर्वत – हैमवत क्षेत्र के बाद उत्तर दिशा में महाहिमवंत पर्वत है। इसके उपर मध्य भाग में महापद्म द्रह है। इसके कमल की कर्णिका पर ह्री देवी का भवन है। इस पर्वत पर पूर्व–पश्चिम लाईन में आठ कूट = शिखर हैं। पहले सिद्धायतन कूट पर जिनमंदिर में चारों दिशा में 27–27, कुल 108 प्रतिमाएँ हैं। शेष कूट पर उनके मालिक देव–देवी के प्रासाद हैं। यह संपूर्ण पर्वत सुवर्ण का है।

हरिवर्ष क्षेत्र – महाहिमवंत पर्वत के बाद उत्तर दिशा में हरिवर्ष क्षेत्र है। इसके मध्य भाग में वृत्त वैताढ्य (= गोलाकर) पर्वत है। इस क्षेत्र में हरिकांता और हरिसलिला नदियाँ हैं। हरिकांता नदी महापद्मद्रह से निकलकर उत्तर दिशा में बहती है। आगे जाकर इस क्षेत्र के वृत्तवेताढ्य पर्वत से चार गाउ दूर रहकर पश्चिम दिशा में मुड़कर लवण समुद्र को मिलती है। हरिसलिला नदी तिगिच्छ द्रह (निषध पर्वत पर) से निकलकर दक्षिण दिशा में बहती हुई वृत्त वैताढ्य पर्वत से चार गाउ दूर रहकर पूर्व दिशा में मुड़कर लवण समुद्र को मिलती है। इस क्षेत्र में सदा अवसर्पिणी के दूसरे आरे जैसा काल होता है। वहाँ रहते मनुष्य दो दिन छोड़कर बोर जितना आहार लेते हैं। इनका मुख्य आयुष्य दो पल्योपम और ऊँचाई 2 गाउ होती है।

निषध पर्वत – हरिवर्ष क्षेत्र के बाद उत्तर दिशा में निषध पर्वत है। इसके मध्य भाग में तिगिच्छ द्रह है। इसके कमल की कर्णिका पर धी देवी का भवन है। पर्वत, नौ कूट तथा जिनप्रासाद वगैरह का वर्णन पूर्व के अनुसार जानना।

---

① वास्तव में यह दाढ़ कोई जमीन नहीं है किंतु लवण समुद्र में जो सात–सात द्वीप हैं, उन्हें जोड़ने से दाढ़ जैसा आकार बनता है। इसलिए यहाँ ऐसा कहा है कि 'हिमवंत पर्वत से चार दाढ़ निकली हैं और प्रत्येक दाढ़ पर सात–सात द्वीप है।'

महाविदेह क्षेत्र – निषध पर्वत के बाद उत्तर दिशा में महाविदेह क्षेत्र है। इसके चार विभाग हैं – पूर्व महाविदेह, पश्चिम महाविदेह, देवकुरु, उत्तरकुरु। मेरु से पूर्व में पूर्व महाविदेह, पश्चिम में पश्चिम महाविदेह, उत्तर में उत्तर कुरु, दक्षिण में देवकुरु क्षेत्र है। सीता नदी से पूर्व महाविदेह के और सीतोदा नदी से पश्चिम महाविदेह के दो भाग हो जाते हैं। दोनों नदी की दोनों ओर 8–8 विजय हैं। अत: कुल 32 विजय [1] हैं। प्रत्येक विजय का माप क्षेत्रसमास आदि अन्य ग्रंथों से जानना। एक–एक विजय के बीच क्रमश: पर्वत और नदी है। जैसे विजय, पर्वत, विजय, नदी, पुन: विजय, पर्वत, विजय, नदी....। आठ विजय के अंतराल सात होते हैं इसलिए आठ विजय के बीच में उपर्युक्त क्रम से चार पर्वत और तीन नदी हैं। प्रत्येक विजय में छह खंड, वैताढ्य आदि पर्वत, गुफा, नदी, बिल, तीर्थ, द्रह इत्यादि का वर्णन भरत क्षेत्र की तरह जानना।

चार गजदंत पर्वत – मेरूपर्वत से अग्निकोण में सोमनस नामक, नैऋत्य कोण में विद्युत्प्रभ नामक, वायव्य कोण में गंधमादन नामक तथा इशान कोण में माल्यवंत नामक गजदंत पर्वत है। ये पर्वत हाथीदाँत के आकार वाले होने से गजदंत कहलाते हैं।

चित्र–विचित्र और यमक–समक पर्वत – देवकुरु में निषध पर्वत से उत्तर में सीतोदा नदी के पश्चिम और पूर्व किनारे पर क्रमश: चित्र और विचित्र कूट हैं। उत्तर कुरु में नीलवंत पर्वत से दक्षिण में सीता नदी के पूर्व और पश्चिम किनारे पर क्रमश: समक और यमक दो पर्वत हैं।

कांचन पर्वत – देवकुरु में सीतोदा नदी में एक समान अंतर वाले 5 द्रह हैं। इन प्रत्येक द्रह के पूर्व में और पश्चिम में 10–10 कांचन पर्वत हैं। इस प्रकार 5 द्रह के पूर्व में 50 और पश्चिम में 50, कुल 100 पर्वत हुए। इसी तरह उत्तरकुरु में सीतोदा नदी में एक समान अंतर वाले 5 द्रह हैं। इन प्रत्येक द्रह के पूर्व में तथा पश्चिम में 10–10 कांचन पर्वत हैं। ऐसे उत्तर कुरु में भी 100 कांचन पर्वत है। अत: कुल 200 कांचन पर्वत हैं।

महाविदेह क्षेत्र में अवसर्पिणी के चौथे आरे समान और देवकुरु–उत्तरकुरु में पहले आरे समान काल होता है। देवकुरु–उत्तरकुरु के युगलिक मनुष्य तीन दिन छोड़कर तुवर के दाने जितना आहार लेते है। इनका आयुष्य तीन पल्योपम और ऊँचाई तीन गाउ होती है।

शेष पर्वत और क्षेत्र – महाविदेह क्षेत्र के बाद उत्तर दिशा में क्रमश: नीलवंत पर्वत, रम्यक् क्षेत्र, रुक्मि पर्वत, हैरण्यवत क्षेत्र, शिखरी पर्वत और ऐरावत क्षेत्र हैं। इनका वर्णन क्रमश: निषध पर्वत, हरिवर्ष क्षेत्र, महाहिमवंत पर्वत, हैमवत क्षेत्र, लघु हिमवंत पर्वत और भरतक्षेत्र की तरह जानना। द्रह वगैरह के नाम अलग है, वे आगे दिए गए कोष्ठक से भी जान सकते हैं।

धातकीखंड द्वीप में क्षेत्र और पर्वत की संख्या–

द्विर्धातकीखण्डे ।।३-१२।।

धातकीखंड में क्षेत्र और पर्वत जंबूद्वीप से दो गुना हैं।

जंबूद्वीप में जिन नाम वाले क्षेत्र और पर्वत हैं, उन्हीं नाम वाले क्षेत्र और पर्वत धातकीखंड में हैं परंतु प्रत्येक क्षेत्र और पर्वत दो–दो हैं। दो भरत, दो हैमवत, दो हरिवर्ष, दो महाविदेह, दो रम्यक्, दो हैरण्यवत, दो ऐरावत – इस प्रकार दो–दो क्षेत्र हैं। इसी तरह पर्वत भी दो–दो हैं।

---

[1] वर्तमान में 8 वीं पुष्कलावती विजय में श्री सीमंधर स्वामी, 9 वीं वत्स विजय में श्री युगमंधर स्वामी, 24 वीं नलिनावती विजय में श्री बाहु स्वामी तथा 25 वीं वप्रावती विजय में श्री सुबाहु स्वामी विहरमान तीर्थंकर है।

पर्वतों की विशेष जानकारी

पर्वत का नाम	कितने शिखर?	कौन-सा द्रह?	किस देवी का वास?	किससे बना ?	उँचाई	भूमि में उंडाई	लंबाई	चौड़ाई	कौनसी नदी किस ओर निकलती है?
लघु हिमवंत	11	पद्म	श्री	पीत सुवर्ण	100 योजन	25 योजन	24932 योजन ½ कला	1052 योजन 12 कला	पूर्व-गंगा, पश्चिम-सिंधु, उत्तर-रोहितांशा
महा हिमवंत	8	महापद्म	ह्री	सुवर्ण	200 योजन	50 योजन	53931 योजन 6 ½ कला	4210 योजन 10 कला	दक्षिण-रोहिता, उत्तर- हरिकांता
निषध	9	तिगिच्छ	धी	लाल सुवर्ण	400 योजन	100 योजन	94156 योजन 2 कला	16842 योजन 2 कला	दक्षिण-हरिसलिला, उत्तर-सीतोदा
नीलवंत	9	केशरी	कीर्ति	नील वेडूर्य रत्न	400 योजन	100 योजन	94156 योजन. 2 कला	16842 योजन 2 कला	उत्तर-नारीकांता, दक्षिण-सीता
रुक्मि	8	महापुंडरिक	बुद्धि	चांदी	200 योजन	50 योजन	53931 योजन 6 ½ कला	4210 योजन 10 कला	उत्तर-रुप्यकूला, दक्षिण-नरकांता
शिखरी	11	पुंडरीक	लक्ष्मी	जातिवंत सुवर्ण	100 योजन	25 योजन	24932 योजन ½ कला	1052 योजन 12 कला	पूर्व-रक्ता, पश्चिम-रक्तवती, दक्षिण-सुवर्णकुला

पुष्करवर द्वीप में क्षेत्र और पर्वत की संख्या –

पुष्करार्धे च ।।३-१३।।

पुष्करवर द्वीप के आधे भाग में भी क्षेत्र और पर्वत जंबूद्वीप से दो-दो गुना हैं।

पुष्करवर द्वीप के बराबर मध्य में मानुषोत्तर पर्वत है। यह पर्वत किले की तरह वलयाकार (चूड़ी के आकार जैसा) गोल है। इससे पुष्करवर द्वीप के दो विभाग हो जाते हैं। पुष्करवरद्वीप का कुल विस्तार 16 लाख योजन है। उसके दो विभाग आठ-आठ लाख योजन प्रमाण होते हैं। इनमें से प्रथम अर्ध विभाग में ही क्षेत्र और पर्वत है। धातकीखंड में जितने क्षेत्र और पर्वत हैं, उतने ही क्षेत्र और पर्वत पुष्करवरद्वीप के आधे विभाग में हैं। अत: सूत्र में 'धातकीखंड की तरह पुष्करवरद्वीप के अर्ध भाग में क्षेत्र और पर्वत जंबूद्वीप से दोगुना हैं' ऐसा बताया है।

मनुष्य के निवासस्थान की मर्यादा-

प्राग् मानुषोत्तरान्मनुष्याः।।३-१४।।

मानुषोत्तर पर्वत के पहले मनुष्य (मनुष्यों का वास) है।

द्वीप और समुद्र असंख्य हैं परंतु जन्म और मृत्यु से मनुष्यों का निवास मानुषोत्तर पर्वत के पहले जंबूद्वीप, धातकीखंड और पुष्करवरद्वीप के अर्धभाग, ऐसे ढ़ाई द्वीप में ही है। तिर्यंचों का वास ढ़ाई द्वीप के बाहर प्रत्येक द्वीप-समुद्र में भी है।

ढ़ाई द्वीप के बाहर मनुष्यों का गमन-आगमन होता है। विद्याधर और चारण मुनि नंदीश्वर द्वीप तक जाते हैं। अपहरण होने के कारण से भी मनुष्य ढ़ाई द्वीप के बाहर हो सकते हैं। परंतु वहाँ किसी भी मनुष्य का जन्म और मरण कभी नहीं होता है। इसलिए ही पुष्करवर द्वीप के अर्ध भाग के बाद रहे वलयाकार पर्वत का नाम मानुषोत्तर है।

तदुपरांत व्यवहार काल, अग्नि, चन्द्र-सूर्यादि का परिभ्रमण, उत्पातसूचक गांधर्वनगर आदि चिह्न वगैरह पदार्थ ढ़ाई द्वीप के बाहर नहीं होते।

मनुष्य के भेद –

आर्या म्लेच्छाश्च।।३-१५।।

मनुष्यों के मुख्यतया दो भेद है – आर्य और म्लेच्छ।

आर्य यानी श्रेष्ठ । शिष्ट लोगों के अनुकूल आचरण करे वह आर्य । आर्य से विपरीत मनुष्य अनार्य = म्लेच्छ।

आर्य के 6 भेद हैं –

1. क्षेत्र आर्य – प्रत्येक महाविदेह की 32 चक्रवर्ती विजय, प्रत्येक भरत के साढ़े पच्चीस देश तथा प्रत्येक ऐरावत के साढ़े पच्चीस देश आर्य हैं। अत: इस क्षेत्र में उत्पन्न हुए मनुष्य क्षेत्र आर्य = क्षेत्र से आर्य हैं। आर्य क्षेत्र में उत्पन्न मनुष्य अधिकतर अच्छे संस्कार वाले और सदाचार वाले होते हैं। आर्यक्षेत्र की भूमि पवित्र होती है। धर्म आर्यक्षेत्र में ही हो सकता है। इसलिए ही महापुरुषों ने आर्यक्षेत्र की महत्ता बताई है।

2. जाति आर्य – इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, ज्ञात, कुरु, उग्र, भोग वगैरह उत्तम वंश में उत्पन्न मनुष्य जाति आर्य हैं।

3. कुल आर्य – कुलकर, चक्रवर्ती, वासुदेव वगैरह उत्तम कुलों में उत्पन्न मनुष्य कुल आर्य हैं।

4. कर्म आर्य – कर्म यानी व्यापार, धंधा। अल्पपापवाला व्यापार करने वाले मनुष्य कर्म आर्य हैं। जैसे – व्यापारी, किसान, सुतार, अध्यापक वगैरह।

5. शिल्प आर्य – शिल्प यानी कलाकारी। मानव जीवन में उपयोगी कला धारण करने वाले मनुष्य शिल्प आर्य हैं। जैसे – बुनकर, कुम्हार आदि।

6. भाषा आर्य – शिष्ट पुरुषों को मान्य, सुव्यवस्थित शब्द वाली, स्पष्ट उच्चार वाली शिष्ट भाषा बोलने वाले मनुष्य भाषा आर्य हैं।

7. म्लेच्छ आर्य – कर्मभूमि में यवन, शक, भील वगेरह जाति के मनुष्य तथा अकर्म भूमि के सभी मनुष्य म्लेच्छ हैं। अनार्य देश की व्याख्या करते हुए सूर्यप्रज्ञप्ति ग्रंथ में कहा है – जिन देशों में लोग 'धर्म' ऐसे अक्षर स्वप्न में भी नहीं जानते, वे अनार्य देश हैं (सूर्य प्र. अ. 5 उ. 1) । प्रवचन सारोद्धार नामक ग्रंथ में अनार्य देश का स्वरूप निम्नलिखित रूप से है–

पावा य चंडकम्मा, अणारिया निग्घिणा निरणुतावी।

धम्मोत्ति अक्खराइं, सुमिणेवि न नज्जए जाणं।।

अनार्य देश के लोग पाप कर्म करने के कारण पापी होते हैं। हिंसा आदि क्रूर कर्म करते हैं। पाप की जुगुप्सा से रहित होने के कारण निर्घृण (घृणा रहित, दया रहित) होते हैं। अकृत्य का थोड़ा भी पश्चाताप न करने से अनुताप रहित होते हैं। उन्हें 'धर्म' शब्द स्वप्न में भी जानने (सुनने) को नहीं मिलता। अनार्य देश की इस व्याख्या से समझा जा सकता है कि आज के अफ्रिका, अमेरिका वगैरह देश अनार्य नहीं है। अलबत्त उनमें कुछ जाति या कुटुंब अनार्य हो सकते है। परंतु पूरा देश अनार्य नहीं है।

कर्म भूमि की संख्या –

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।।३-१६।।

देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर पाँच भरत, पाँच ऐरावत, और पाँच महाविदेह, कुल 15 कर्मभूमि है। देवकुरु और उत्तरकुरु अकर्मभूमि हैं।

कर्म के नाश के लिए जो भूमि, वह कर्मभूमि अर्थात् जिस भूमि में सकल कर्मो का क्षय कर सिद्धि प्राप्त कर सके, वह कर्मभूमि। मोक्षमार्ग के ज्ञाता उपदेशक तीर्थंकर भगवंत कर्मभूमि में ही उत्पन्न होते हैं।

101 क्षेत्र – लघुहिमवंत पर्वत से इशान आदि चार विदिशा में लवण समुद्र की ओर चार दाढ़ है। प्रत्येक दाढ़ में 7–7 द्वीप हैं अतः कुल 28 द्वीप हुए। इसी तरह शिखरी पर्वत की चार दाढ़ में 28 द्वीप हैं। ये द्वीप लवणसमुद्र में होने से अंतर्द्वीप कहे जाते हैं। कुल 56 अंतर्द्वीप हुए।

महाविदेह क्षेत्र में मेरु पर्वत के दक्षिण में देवकुरु और मेरु के उत्तर में उत्तरकुरु क्षेत्र है।

56 अंतर्द्वीप, 5 भरत [①], 5 ऐरावत, 5 देवकुरु, 5 उत्तरकुरु, 5 महाविदेह, 5 हैमवत, 5 हैरण्यवत, 5 रम्यक्, 5 हरिवर्ष – इस प्रकार 101 क्षेत्र मनुष्य के हैं। इनमें से 5 भरत, 5 ऐरावत और 5 महाविदेह ये 15 क्षेत्र कर्मभूमि हैं। शेष सभी क्षेत्र अकर्मभूमि हैं।

① भरत क्षेत्र जंबूद्वीप में एक, धातकीखंड में दो और पुष्करार्ध में दो, इस प्रकार कुल 5 हैं। इसी तरह 5 ऐरावत, 5 देवकुरु, 5 उत्तरकुरु, 5 महाविदेह, 5 हैमवत, 5 हैरण्यवत, 5 रम्यक् और 5 हरिवर्ष क्षेत्र के लिए भी जानना।

मनुष्य के आयुष्य का काल–

नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते।।३-१७।।

मनुष्य की पर और अपर स्थिति क्रमश: तीन पल्योपम और अंतर्मुहूर्त है।

पर यानी उत्कृष्ट, अधिक–से–अधिक। अपर यानी जघन्य, न्यूनतम। मनुष्यों का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम और जघन्य आयुष्य अंतर्मुहूर्त है। यह नियम गर्भज मनुष्यों की अपेक्षा से है। संमूर्च्छिम मनुष्यों का आयुष्य जघन्य या उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त ही है।

तिर्यंचों के आयुष्य का काल–

तिर्यग्योनीनां च ।।३-१८।।

तिर्यंचों की भी पर और अपर स्थिति क्रमश: तीन पल्योपम और अंतमुहूर्त हैं।

तिर्यंचों की विशेष से स्थिति निम्नलिखित हैं–

जीव	उत्कृष्ट आयुष्य
पृथ्वीकाय	22000 वर्ष
अप्काय	7000 वर्ष
तेउकाय	3 दिन
वायुकाय	3000 वर्ष
वनस्पतिकाय	10000 वर्ष
बेइन्द्रिय	12 वर्ष
तेइन्द्रिय	49 दिन
चउरिन्द्रिय	6 मास
पंचेन्द्रिय गर्भज जलचर	पूर्व क्रोड़ वर्ष
पंचेन्द्रिय गर्भज उरपरिसर्प	पूर्व क्रोड़ वर्ष
पंचेन्द्रिय गर्भज भुजपरिसर्प	पूर्व क्रोड़ वर्ष
पंचेन्द्रिय गर्भज चतुष्पद	तीन पल्योपम
पंचेन्द्रिय गर्भज खेचर	पल्योपम का असंख्यातवां भाग
पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम जलचर	पूर्व क्रोड़ वर्ष
पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम उपररिसर्प	53000 वर्ष
पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम भुजपरिसर्प	42000 वर्ष

पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम चतुष्पद	84000 वर्ष
पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम खेचर	72000 वर्ष

मनुष्य और तिर्यंचों की दो प्रकार की स्थिति है – भवस्थिति और कायस्थिति। वर्तमान भव का आयुष्य, वह भवस्थिति। उसी भव में पुन: पुन: निरंतर कितने काल तक जीव उत्पन्न हो सकता है, वह कायस्थिति। कायस्थिति यानी उसी भव में पुन: पुन: निरंतर उत्पत्ति का काल। यहाँ दो सूत्र में भवस्थिति की विचारणा की। मनुष्य तथा तिर्यंचों की कायस्थिति निम्नलिखित है –

जीव	**उत्कृष्ट कायस्थिति**
पृथ्वीकाय–अप्काय–तेउकाय – वायुकाय–प्रत्येक वनस्पतिकाय	असंख्य उत्सर्पिणी – अवसर्पिणी
साधारण वनस्पतिकाय	अनंत उत्सर्पिणी – अवसर्पिणी
विकलेन्द्रिय	संख्यात हजार वर्ष
गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्य	7 या 8 भव

पृथ्वीकाय जीव असंख्य उत्सर्पिणी – अवसर्पिणी तक निरंतर पुन: पुन: पृथ्वीकाय रूप में उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार अप्काय आदि के विषय में भी जानना। मनुष्य पुन: पुन: लगातार सात आठ भव तक मनुष्य हो सकता है। यदि आठवें भव में देवकुरु या उत्तरकुरु में युगलिक मनुष्य बने तो ही कायस्थिति आठ भव होती है, अन्यथा सात भव ही होते हैं। इसी प्रकार तिर्यंच पंचेन्द्रिय के विषय में भी जानना।

मनुष्य और सभी प्रकार के तिर्यंचों की जघन्य कायस्थिति अंतर्मुहूर्त है।

***

चतुर्थ अध्याय

जीव तत्त्व का वर्णन चल रहा है। उसमें तृतीय अध्याय में नारक, तिर्यंच और मनुष्य के आश्रय से अनेक विषयों का प्रतिपादन किया। अब चौथे अध्याय में देव संबंधी अनेक विषयों का प्रतिपादन करते हैं।

देव के भेद –

देवाश्चतुर्निकायाः।।४-१।।

देव की चार निकाय = प्रकार हैं।

यहाँ 'निकाय' शब्द प्रकार या जाति के अर्थ में है। देवों के चार प्रकार हैं – भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक।

रत्नप्रभा पृथ्वी का पिंड 1 लाख 80 हजार योजन गहरा है। इसमें से उपर – नीचे 1000–1000 योजन छोड़कर मध्य के 1 लाख 78 हजार योजन में भवनपति देवों का निवास है। उपर जो एक हजार योजन छोड़े थे, उसमें से उपर और नीचे 100–100 योजन छोड़कर शेष 800 योजन में व्यंतर देव का निवास है। उपर जो 100 योजन छोड़े, उसमें से उपर–नीचे 10–10 योजन छोड़कर मध्य में 80 योजन में वाणव्यंतर देव का निवास है। समभूतला पृथ्वी से उपर 790 योजन के बाद 110 योजन के विस्तार में (अर्थात् 790 से 900 योजन तक) ज्योतिष देव हैं। तत्पश्चात् अर्ध रज्जु से कुछ अधिक उपर जाने पर वैमानिक देवों की सीमा शुरू होती है। यहाँ योजन की गिनती प्रमाणांगुल से समझना।

तीन अंगुल का संक्षिप्त स्वरूप–

अंगुल के तीन प्रकार हैं – उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। उनका स्वरूप इस प्रकार है–

1. उत्सेधांगुल – 8 यवमध्य = 1 उत्सेधांगुल।[①]

2. प्रमाणांगुल – प्रमाणांगुल उत्सेधांगुल से एक मतानुसार 400 गुना, दूसरे मतानुसार 1000 गुना, तीसरे [②] मतानुसार 2 ½ गुना है।

पहले मत से प्रमाणांगुल का 1 योजन = 400 योजन उत्सेधांगुल होता है। दूसरे मत से प्रमाणांगुल का 1 योजन = 1000 योजन उत्सेधांगुल होता है। तीसरे मत से प्रमाणांगुल का 1 योजन = 2 ½ योजन उत्सेधांगुल होता है।

3. आत्मांगुल – कोई भी काल में जो व्यक्ति स्वयं की उंगली के माप से 108 अंगुल ऊँचा हो, उस व्यक्ति का अंगुल आत्मांगुल कहा जाता है। यह अंगुल प्रत्येक काल में अनियत होता है।

उत्सेधांगुल से सभी प्राणियों के शरीर की ऊँचाई मापी जाती है। प्रमाणांगुल से द्वीप–समुद्र–पर्वत आदि शाश्वत पदार्थ मापे जाते हैं। आत्मांगुल से बावड़ी–तालाब, नगर–घर वगैरह अशाश्वत पदार्थ मापे जाते हैं।

---

① आठ जौ के दानों को मध्य भाग से जोड़ने पर 1 उत्सेधांगुल होता है।

② वस्तुतः ये तीनों भिन्न – भिन्न मत नहीं हैं किंतु अपेक्षा भेद है। एक उत्सेध अंगुल की ऊँचाई से 400 गुना ऊँचाई एक प्रमाणांगुल की है अर्थात् 400 उत्सेधांगुल की ऊँचाई मिलाकर एक प्रमाणांगुल की ऊँचाई होती है। तथा एक उत्सेधांगुल की चौड़ाई से 2 ½ गुना चौड़ाई एक प्रमाणांगुल की होती है अर्थात् 2 ½ उत्सेधांगुल की चौड़ाई मिलाकर एक प्रमाणांगुल की चौड़ाई होती है। 400 को 2 ½ से गुणाकार करने पर 1000 गुना होता है। अतः ऊँचाई और चौड़ाई का गुणाकार करने पर एक प्रमाणांगुल का क्षेत्रफल उत्सेधांगुल के क्षेत्रफल से 1000 गुणा होता है।

यहाँ भवनपति आदि ① देवों का जो स्थान बताया है, वह जन्म के आश्रय से बताया है। स्वयं के उत्पत्ति स्थान में उत्पन्न होकर ये देव लवण समुद्रादि स्थानों में रहे महलों में भी रहते हैं तथा जंबूद्वीप की जगती पर स्थित वेदिका और अन्य रमणीय स्थानों में क्रीड़ा करते हैं। मध्य लोक में जंबूद्वीप से असंख्य द्वीप–समुद्र के बाद भी व्यंतर देवों के निवास हैं। वहाँ कोई व्यंतर देव उत्पन्न नहीं होते। पूर्व में दर्शाए गए स्थान पर उत्पन्न हुए व्यंतर वहाँ निवास करते हैं।

ज्योतिष्क देवों की लेश्या–

तृतीयः पीतलेश्यः ।।४-२।।

तीसरे प्रकार ② के देव पीतलेश्या वाले हैं।

यहाँ 'लेश्या' शब्द वर्ण (रंग) अर्थ में है क्योंकि अध्यवसाय रूप लेश्या तो छहों होती है। ज्योतिष देवों को शारीरिक वर्ण रूप पीतलेश्या = तेजोलेश्या होती है।

देवों के अवांतर भेद (पेटाभेद)–

दशाऽष्ट-पञ्च-द्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।।४-३।।

भवनपति आदि चार प्रकार के देवों के क्रमशः दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं। ये भेद कल्पोपपन्न देव के हैं।

भवनपति देव 10 प्रकार के है। व्यंतर देव 8प्रकार के हैं। ज्योतिष देव 5 प्रकार तथा वैमानिक देव 12 प्रकार के हैं। वैमानिक देव के 12 भेद 12 देवलोक के आश्रय से हैं। ये सभी देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं। कल्प यानी मर्यादा, आचार। जहाँ छोट – बड़े वगैरह की मर्यादा हो, जहाँ पूज्यों की पूजा करना वगैरह आचार हो, उस स्थान में उत्पन्न देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं। भवनपति देव से लेकर बारहवें देवलोक तक देवों में छोटे–बड़े की मर्यादा, स्वामी–सेवक का व्यवहार तथा पूज्य की पूजा वगैरह आचार होता है। इसलिए वहाँ तक के देव कल्पोपपन्न कहे जाते हैं।

भवनपति आदि देवों के दूसरी अपेक्षा से भेद –

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्या-ऽऽत्मरक्ष-लोकपाला-ऽनीक-प्रकीर्णका-ऽऽभियोग्य-किल्बिषिकाश्चैकशः ।।४-४।।

भवनपति आदि देवों के प्रत्येक अवांतर भेद के भी 10 भेद हैं – इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्बिषिक।

1. इन्द्र – सभी देवों का अधिपति, राजा।

2. सामानिक – इन्द्र के समान ऋद्धि वाले तथा पिता, उपाध्याय वगैरह की तरह इन्द्र के लिए भी आदरणीय और पूजनीय।

---

① यहाँ आदि शब्द से व्यंतर और वाणव्यंतर देव लेना है, ज्योतिष्क वैमानिक नहीं।

② **प्रश्न –** देवों की चार निकाय के नाम बताने के बाद सीधे तीसरे निकाय की लेश्या क्यों बताई?

उत्तर – देवों का प्रतिपादन करने पर किसी को प्रश्न हो कि 'देव होते हैं या नहीं?' तो इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ तीसरे पीतलेश्या वाले देव बताए हैं अर्थात् सूर्य–चंद्र आदि जो ज्योतिष चक्र है, वे सब देव के विमान हैं तथा वे हमें यहाँ से प्रत्यक्ष दिखते हैं इसलिए 'देव होते हैं' यह बात सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष दिखने वाले पीत लेश्या वाले देव यहाँ बताएँ हैं।

3. त्रायस्त्रिंश – इन्द्र को सलाह देने वाले मंत्री जैसे अथवा शांति–पौष्टिक कर्म द्वारा प्रसन्न रखने वाले पुरोहित समान। ये देव भोग में बहुत आसक्त होने से दोगुंदक भी कहलाते हैं।

4. परिषद्य – इन्द्र की सभा के सभ्य। ये इन्द्र के मित्र होते हैं। अवसर आने पर इन्द्र को विनोद आदि द्वारा आनंदित करते रहते हैं।

5. आत्मरक्ष – इन्द्र की रक्षा के लिए कवच धारण कर शस्त्र सहित इन्द्र के पीछे खड़े रहने वाले देव। यद्यपि इन्द्र को किसी प्रकार का भय नहीं होता तो भी उसकी विभूति (ऐश्वर्य) बताने के लिए और अन्य देवों पर उसका प्रभाव जमाने के लिए आत्मरक्षक देव होते हैं।

6. लोकपाल – पुलिस या चौकीदार समान।

7. अनीक – सेना या सेनाधिपति।

8. प्रकीर्णक – शहर या गाँव में रहने वाली सामान्य प्रजा समान।

9. आभियोग्य – नौकर समान। इन्हें विमानवहन आदि कार्य अवश्य करने पड़ते हैं।

10. किल्बिषिक – अंत्यज (भंगी) समान हल्के देव। यद्यपि यहाँ की तरह देवलोक में हल्के कार्य करने नहीं पड़ते हैं किंतु इनकी जाति हल्की कोटि की मानी जाती है। अन्य देव इन्हें हल्की दृष्टि से देखते हैं। ये देव सौधर्म–ईशान (पहले–दूसरे), सनत्कुमार (तीसरे) और लांतक (छठे) देवलोक के नीचे रहते हैं।

व्यंतर–ज्योतिष देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल का अभाव–

त्रायस्त्रिंश-लोकपालवर्ज्या व्यन्तर-ज्योतिष्काः।।४-५।।

व्यंतर और ज्योतिष निकाय त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल रहित हैं।

पूर्व के सूत्र में भवनपति आदि चारों निकाय के प्रत्येक अवांतर भेद के इन्द्र आदि दस भेद बताए परंतु व्यंतर और ज्योतिष देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल का अभाव होने से इस सूत्र में इन दो का निषेध किया। अत: व्यंतर और ज्योतिष के अवांतर प्रत्येक भेद के त्रायस्त्रिंश और लोकपाल रहित इन्द्रादि आठ भेद हैं।

भवनपति और व्यंतर निकाय में इन्द्रों की संख्या–

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।।४-६।।

पूर्व के दो देवनिकाय (भवनपति–व्यंतर) में दो–दो इन्द्र हैं।

पूर्व के दो निकाय भवनपति और व्यंतर हैं। भवनपति और व्यंतर निकाय में दो–दो इन्द्र हैं। भवनपति के असुरकुमार आदि दस भेद आगे कहेंगे (सूत्र 4–11)। असुरकुमार आदि प्रत्येक भेद के देवो में दो–दो इन्द्र होने से भवनपति के कुल 20 इन्द्र हैं। व्यंतर निकाय के दो भेद हैं – व्यंतर और वाणव्यंतर। इन दोनों के अवांतर आठ–आठ भेद हैं। (सूत्र 4–12)। प्रत्येक अवांतर भेद के देवों मे से दो–दो इन्द्र होने से व्यंतर के सोलह और वाणव्यंतर के सोलह ऐसे व्यंतर निकाय के कुल 32 इन्द्र हैं। ज्योतिष्क निकाय के दो इन्द्र है – सूर्य ओर चन्द्र। वैमानिक निकाय में प्रथम आठ देवलोक के आठ इन्द्र, नौवें–दसवें देवलोक का एक और ग्यारहवें और बारहवें देवलोक का एक इन्द्र, इस तरह कुल बारह देवलोक के 10 इन्द्र हैं। इन सभी इन्द्रों की संख्या 64 होती हैं।

ये 64 इन्द्र प्रत्येक तीर्थंकर का जन्म होने पर उन्हें मेरु पर्वत के शिखर पर पांडुक वन में ले जाते हैं और वहाँ शिला पर स्थित सिंहासन पर उनका जन्माभिषेक करते हैं।

यद्यपि ज्योतिष्क देवों में सूर्य विमान तथा चन्द्र विमान असंख्य हैं और प्रत्येक सूर्य विमान तथा चन्द्र विमान में एक-एक इन्द्र हैं। अत: सूर्य-चंद्र इन्द्र भी अंसख्य हैं। तथापि यहाँ जाति की अपेक्षा से ज्योतिष के दो ही इन्द्र गिने हैं।

वैमानिक के बारह देवलोक से उपर नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर देव हैं। ये देव कल्पातीत (= कल्प से रहित) होने से वहाँ इन्द्र वगैरह भेद नहीं है।

भवनपति और व्यंतर निकाय में लेश्या-

पीतान्तलेश्याः।।४-७।।

पूर्व के दो निकाय पीत लेश्या तक की लेश्यावाले (= लेश्या जैसे वर्ण वाले) होते हैं।

यहाँ 'लेश्या' शब्द का प्रयोग शारीरिक वर्ण रूप अर्थ में किया गया है क्योंकि अध्यवसाय रूप लेश्या तो छहों होती हैं। भवनपति और व्यंतर निकाय में कृष्ण, नील, कापोत और पीत (तैजस), ये चार लेश्याएँ होती हैं।

देवों में मैथुन सेवन की विचारणा-

कायप्रवीचारा आ ऐशानात्।।४-८।।।

ईशान तक के देव काया से प्रवीचार (= मैथुन सेवन) करते हैं।

प्रवीचार यानी मैथुन सेवन। भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क, सौधर्म और ईशान देवलोक तक के देव काम-वासना जागने पर देवियों के साथ काया से मनुष्य की तरह मैथुन सेवन करते हैं।

ईशान देवलोक से उपर मैथुन सेवन-

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः।।४-९।।

ईशान से उपर के देवलोक में देव दो-दो कल्प [1] में क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और मन द्वारा मैथुन सेवन करते हैं।

प्रवीचार (मैथुन) 12 वें देवलोक तक ही होता है। उनमें पहले-दूसरे देवलोक के देव काया से मैथुन सेवन करते हैं। तीसरे-चौथे देवलोक के देव स्पर्श से मैथुन सेवन करते हैं। पाँचवें-छठे देवलों के देव रूप से मैथुन सेवन करते हैं। सातवें-आठवें देवलोक के देव शब्द से मैथुन सेवन करते हैं। नौंवे से बारहवें देवलोक के देव मन द्वारा मैथुन सेवन करते हैं।

तीसरे-चौथे देवलोक के देवों को जब कामवासना जागती है, तब वे देवियों के विविध अंगों का स्पर्श करते हैं। इससे उनकी कामवासना शांत हो जाती है। पाँचवें-छठे देवलोक के देवों की कामवासना देवी का रूप, वस्त्र-अलंकारों का श्रृंगार, विविध अंगोपांग वगैरह देखने से शांत हो जाती है। सातवें-आठवें देवलोक के देव देवियों के मधुर संगीत, मृदु हास्य, अलंकारों की ध्वनि वगैरह के श्रवण से कामवासना शांत करते हैं। नौंवे से बारहवें देवलोक के देव मन से देवियोंका संकल्प मात्र करने द्वारा कामवासना शांत करते हैं।

---

[1] 12 देवलोक में कल्प = आचार, मर्यादा होने से उन्हें कल्प भी कहा जाता हैं।

देवियों का जन्म दूसरे ईशान देवलोक तक ही है। बाद वाले देवलोक में देवी का जन्म नहीं होता किंतु उन देवलोक के देवों के संकल्प मात्र से उस प्रकार के मैथुन सेवन के सुख की इच्छा जानकर दैवी शक्ति से स्वयमेव देवी वहाँ जाती है और उनकी इच्छा पूर्ण करती है। सौधर्म और ईशान देवलोक में दो प्रकार की देवी है – परिगृहीता और अपरिगृहीता। किसी देव की पत्नी रूप में रही हुई देवी परिगृहिता है और सर्व सामान्य = किसी भी देव द्वारा उपभोग की जाती हुई देवी अपरिगृहीता है (वेश्या जैसी)। अपरिगृहीता देवियाँ उपर के देवलोक के देवों के संकल्प मात्र से उन देवों के पास उपस्थित होती हैं और उनकी इच्छाएँ पूर्ण करती हैं।

इस प्रकार नीचे–नीचे के देवलोक के देवों की कामवासना अधिक–अधिक होती है। अत: उसे शांत करने के लिए अधिक प्रयत्न और सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। उपर–उपर के देवों को अल्प–अल्प कामवासना होती है इसलिए उन्हें अल्प प्रयत्न करना पड़ता है।

मैथुन सेवन का अभाव–

परेऽप्रवीचारा: ।।४-१०।।

बारहवें देवलोक से उपर के देवों में मैथुन सेवन का अभाव है।

बारहवें देवलोक के बाद नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान में देव रहते हैं। वे मैथुन सेवन नहीं करते। मैथुनसेवन वेदमोहनीय कर्म के उदय से प्रगट होने वाली कामवासना के क्षणिक प्रतिकार रूप है। नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानवासी देवों को ऐसी कामवासना न होने से उसका क्षणिक प्रतिकार भी नहीं करना पड़ता। अत: वे मैथुन सेवन बिना भी अत्यंत सुख–आनंद का अनुभव करते हैं।

यह वास्तविकता हमें बहुत बोध देती है। संसार का सर्व प्रकार का सुख वासना के प्रतिकार रूप है। वह भी क्षणिक = थोड़े समय के लिए ही है। समय पसार होने पर पुन: अधिक प्रबल वासना जागृत होती है। पुन: उसका प्रतिकार करना पड़ता है। थोड़े समय शांत रहकर पुन: अति प्रबल वासना प्रगट होती है। पुन: उसे शांत करनी पड़ती है। इस तरह प्रगटी हुइ वासना का शमन करने के प्रयास में अधिक वासना प्रगट होती है। अत: जीव वासना के कारण अनेक पाप करके अनगिनत दु:ख भोगता है।

भवनपति निकाय के दस भेद–

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारा:

।।४-११।।

भवनपति निकाय के दस भेद हैं। उनके नाम – असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार,अग्नि–कुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार।

इस अध्याय के तीसरे सूत्र में 'भवनपति निकाय के दस भेद हैं' ऐसा सामान्य से प्रतिपादन किया था। इस सूत्र में दस भेद के नाम बताएँ गए हैं।

असुरकुमार अधिकतर आवास में रहते है, कभी–कभार भवन में भी रहते हैं। शेष नागकुमारादि नौ प्रकार के देव प्राय: भवनों में ही रहते हैं। आवास देहप्रमाण ऊँचाई वाले ओर समचोरस होते हैं, चारों ओर से खुले होने के कारण बड़े मंडप जैसे लगते हैं। भवन बाहर से गोल और अंदर से चोरस होते हैं। भवनों का आकार नीचे से

कमल की कर्णिका जैसा होता है। भवनों का विस्तार जघन्य से जंबूद्वीप जितना, मध्यम से संख्यात योजन और उत्कृष्ट से असंख्यात योजन होता है।

भवनपति देवों के मुकुट में विशेष प्रकार के चिह्न होते हैं। शरीर का वर्ण भी भिन्न-भिन्न होता है। तथा वस्त्र का वर्ण भी विविध प्रकार का होता है। ये तीन बात और असुरकुमारादि देवों के भवनों की संख्या निम्नलिखित हैं –

भवनपति देव के मुकुट-चिह्न, शरीर वर्ण, वस्त्रवर्ण और भवनों की संख्या

क्रम.	निकाय	मुकुट में चिह्न	शरीर वर्ण	वस्त्रवर्ण	भवन की संख्या	
					दक्षिण दिशा में	उत्तर दिशा में
1	असुर	चुडामणि	काला	लाल	34 लाख	30 लाख
2	नाग	सर्पफन	गोरा	हरा	44 लाख	40 लाख
3	विद्युत्	वज्र	रक्त	हरा	38 लाख	34 लाख
4	सुपर्ण	गरूड	पीला	श्वेत	40 लाख	36 लाख
5	अग्नि	कलश	रक्त	हरा	40 लाख	36 लाख
6	वायु	मगर	हरा	संध्या जैसा	40 लाख	36 लाख
7	स्तनित	शरावसंपुट	पीला	श्वेत	40 लाख	36 लाख
8	उदधि	अश्व	गोरा	हरा	40 लाख	36 लाख
9	द्वीप	सिंह	रक्त	हरा	50 लाख	46 लाख
10	दिक्	हस्ति	पीला	श्वेत	40 लाख	36 लाख

भवनपति निकाय के अधिकतर देव भवनों में रहते होने से वे भवन के पति = भवनपति कहलाते हैं और कुमार (युवान) की तरह कांतदर्शन, मृदु-मधुर-ललित गति वाले तथा क्रीड़ा में तत्पर रहने से कुमार कहलाते हैं।

व्यंतरनिकाय के आठ भेद-

व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः ॥४-१२॥

व्यंतर निकाय के आठ भेद हैं। इनके नाम – किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गांधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत ओर पिशाच।

व्यंतर देव पर्वत, गुफा, वन वगैरह के विविध अंतराल में रहते होने से अथवा भवनपति और ज्योतिष्क निकाय के बीच में रहने से व्यंतर कहलाते हैं। व्यंतर देव रत्नप्रभा पृथ्वी के उपर के 1000 योजन में से उपर-नीचे 100-100 योजन छोड़कर मध्य के 800 योजन में उत्पन्न होते हैं परंतु उनके निवास ऊर्ध्व, अधो और

तिर्च्छा तीनों लोक में हैं। वे भवन, नगर और आवास में रहते हैं। ये देव चक्रवर्ती आदि पुण्यशाली मनुष्यों की भी सेवा करते हैं।

किन्नर आदि प्रत्येक भेद के भी अवांतर भेद हैं।

व्यंतर देवों की ध्वजा में किन्नर आदि जाति के सूचक भिन्न-भिन्न चिह्न होते हैं। उनके शरीर का वर्ण भी श्याम वगैरह अनेक प्रकार का होता हैं।

व्यंतर देवों के अवांतर भेद, ध्वज चिह्न और शाारीरिक वर्ण

जाति	अवांतर भेद	ध्वज चिह्न	शारीरिक वर्ण
किन्नर	किंपुरुष आदि दस	अशोक वृक्ष	हरा
किंपुरुष	पुरुष आति दस	चंपक वृक्ष	श्वेत
महोरग	भुजग आदि दस	नाग वृक्ष	श्याम
गांधर्व	हाहा आदि बारह	तुंबरू वृक्ष	श्याम
यक्ष	पूर्णभद्र आदि तेरह	वट वृक्ष	श्याम
राक्षस	भीम आदि सात	खट्वांग	श्वेत
भूत	सुरूप आदि नौ	सुलस वृक्ष	श्याम
पिशाच	कुष्मांड आदि पंद्रह	कदंब वृक्ष	श्याम

व्यंतर देवों में किन्नर आदि आठ जाति के देवों के अलावा वाणव्यंतर जाति के देव भी हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी के उपर के 100 योजन में से उपर नीचे 10-10 योजन छोड़कर शेष 80 योजन में वाणव्यंतर देवों का जन्म होता है। परंतु ये देव प्राय: पर्वत की गुफा वगैरह में रहते हैं।

तीसरे ज्योतिष निकाय के 5 भेद -

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णतारकाश्च।।४-१३।।

ज्योतिष निकाय के पाँच भेद हैं-सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण [1] तारे

ज्योतिष्क विमानों का स्थान - समभूतला पृथ्वी से 790 योजन उपर तारे हैं। उससे 10 योजन उपर सूर्य, उससे 80 योजन उपर चन्द्र, उससे 4 योजन उपर नक्षत्र, उससे 4 योजन उपर बुध ग्रह, उससे 3 योजन उपर शुक्र ग्रह, उससे 3 योजन उपर गुरु ग्रह, उससे 3 योजन उपर मंगल ग्रह और उससे 3 योजन उपर शनि ग्रह है।

प्रश्न - ग्रह 88 है तो यहाँ 5 ग्रहों का स्थान क्यों बताया?

उत्तर - बृहत्संग्रहणी नामक ग्रंथ में अन्य ग्रहों के स्थान 'आदि' शब्द से समझने के लिए कहा है। जैसे - बुध की जितनी ऊँचाई है, उतनी ऊँचाई पर अन्य भी ग्रह होने से 'बुध वगैरह' ग्रह समझना। कुछ ग्रह शुक्र की समान ऊँचाई पर होने से 'शुक्र आदि' ग्रह समझना। इस तरह अन्य ग्रहों में भी आदि शब्द से समझना। वह इस प्रकार-

[1] प्रकीर्ण यानी बिखरे हुए।

समभूतला पृथ्वी से 888 योजन उपर बुध आदि ग्रह हैं। समभूतला पृथ्वी से 891 योजन उपर शुक्र आदि ग्रह हैं। समभूतला पृथ्वी से 894 योजन उपर गुरु आदि ग्रह हैं। समभूतला पृथ्वी से 897 योजन उपर मंगल आदि ग्रह हैं। समभूलता पृथ्वी से 900 योजन उपर शनि आदि ग्रह हैं।

इस प्रकार संपूर्ण ज्योति चक्र ऊँचाई में 110 योजन और लंबाई में असंख्य द्वीप–समुद्र प्रमाण है।

सूर्यादि देव और उनके विमान ज्योति = प्रकाश फैलाने वाले होने से उन्हें ज्योतिष्क विमान [1] कहा जाता है। सूर्यादि देवों के मुकुट में स्वयं की जाति अनुसार सूर्य वगैरह के प्रभामंडल समान दैदीप्यमान चिह्न होता है। जैसे – सूर्य विमान के देवों के मुकुट में प्रभामंडल सहित दैदीप्यमान सूर्य का चिह्न है। चन्द्र विमान के देवों के मुकुट में प्रभामंडल सहित दैदीप्यमान चन्द्र का चिह्न है। इस प्रकार तारे इत्यादि में भी जानना।

ज्योतिष्क विमानों का परिभ्रमण क्षेत्र–

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।।४-१४।।

उपर्युक्त पाँच प्रकार के ज्योतिष्क विमान मनुष्यलोक में सदा मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए परिभ्रमण करते हैं।

मनुष्यलोक (ढाई द्वीप) में सूर्यादि की संख्या –

जंबूद्वीप में दो सूर्य, लवणसमुद्र में चार सूर्य, धातकीखंड में 12 सूर्य, कालोदधि समुद्र में 42 सूर्य पुष्करार्ध में 72 सूर्य हैं। इस प्रकार ढ़ाई द्वीप में कुल 132 सूर्य है। इसी प्रकार इतने ही चन्द्र हैं। ग्रह, नक्षत्र और तारे चन्द्र के परिवार हैं। चन्द्र का परिवार ही सूर्य का भी परिवार है। सूर्य का परिवार अलग नहीं है। क्योंकि चन्द्र सूर्य से अधिक ऋद्धिमान और पुण्यशाली है। एक चन्द्र के परिवार में 88 ग्रह, 28 नक्षत्र और 66975 कोड़ाकोड़ी तारे का समावेश होता है। जंबूद्वीप में दो चन्द्र होने से नक्षत्र वगैरह की संख्या दुगुनी है। ढाई द्वीप में सूर्य आदि की संख्या निम्नलिखित है।

ढाई द्वीप में सूर्य, चंद्र, ग्रह,नक्षत्र और तारों की संख्या

द्वीप समुद्र	चन्द्र	सूर्य	ग्रह	नक्षत्र	तारे
जंबूद्वीप	2	2	176	56	133950 कोड़ा कोड़ी
लवणसमुद्र	4	4	352	112	267900 कोड़ा कोड़ी
धातकीखंड	12	12	1056	336	803700 कोड़ा कोड़ी
कालोदधि	42	42	3696	1176	2812950 कोड़ा कोड़ी
पुष्करार्ध	72	72	6336	2016	4822200 कोड़ा कोड़ी

ये सभी ज्योतिष्क जंबूद्वीप के ही मेरु पर्वत की चारों ओर परिमंडलाकार में गोल परिधि अनुसार परिभ्रमण करते ही रहते हैं। इन विमानों की ऐसी वलयाकार गोल गति स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं है। ये विमान मेरु पर्वत से 1121 योजन दूर रहकर परिभ्रमण करते हैं। विमान आधी मौसंबी के आकार वाले और स्फटिक रत्नमय हैं।

---

[1] वस्तुत: सूर्य–चन्द्र आदि सभी देव के विमान हैं। सूर्य–चन्द्र विमानों के नीचे मणि है। वह मणि सचित्त पृथ्वीकायमय है। उन पृथ्वीकाय के जीवों को आतप–उद्योत नामकर्म का उदय होने से वह प्रकाश फैलाता है। (देखो सूत्र 8–12 का विवेचन)

जघन्य स्थिति वाले तारे की लंबाई–चौड़ाई 500 धनुष ओर ऊँचाई 250 धनुष है।

सूर्यादि विमान के प्रमाण

विमान	लंबाई–चौड़ाई	ऊँचाई
चन्द्र	$^{56}/_{61}$ योजन	$^{28}/_{61}$ योजन
सूर्य	$^{48}/_{61}$ योजन	$^{24}/_{61}$ योजन
ग्रह	2 गाउ	1 गाउ
नक्षत्र	1 गाउ	½ गाउ
तारा	½ गाउ	¼ गाउ

ज्योतिष्क विमान स्वाभाविक ही परिभ्रमणशील होने पर भी विशेष प्रकार की समृद्धि प्रगट करने हेतु तथा आभियोग्य नाम कर्म के उदय से कुछ देव उन्हें वहन करते हैं। ये देव परिभ्रमण करते हुए विमानों के नीचे गमन करते हुए उन्हें सिंहादि रूप में वहन करते हैं। पूर्व में सिंह के रूप में, दक्षिण में हाथी के रूप में, पश्चिम में बैल के रूप में और उत्तर में घोड़े के रूप में देव विमान वहन करते हैं। चन्द्र विमान को 16000, सूर्य विमान को 16000, ग्रह विमान को 8000, नक्षत्र विमान को 4000 और तारों के विमान को 2000 देव वहन करते हैं।

चन्द्र आदि विमानों के परिभ्रमण की गति क्रमश: अधिक–अधिक है। चन्द्र की गति सबसे न्यून है। सूर्य की गति उससे अधिक है। ग्रह की गति उससे अधिक है। नक्षत्र की गति उससे अधिक है। तारों की गति सबसे अधिक है।

ऋद्धि के विषय में उपर्युक्त क्रम से विपरीत है। तारों की ऋद्धि सर्वथा अल्प है। नक्षत्र की ऋद्धि उससे विशेष है। ग्रह की ऋद्धि विशेष है। सूर्य की ऋद्धि उससे विशेष है। चन्द्र की ऋद्धि सबसे अधिक है।

ज्योतिष्क गति से काल–

तत्कृत: कालविभाग: ।।४–१५।।

ज्योतिष्क विमानों की गति से काल का विभाग (= गिनती) होता है।

काल दो प्रकार का है – मुख्य (नैश्चयिक) और औपचारिक (व्यवहार)। मुख्य काल अनंत समयात्मक है। उसका लक्षण अध्याय 5 के 39 वे सूत्र में कहेंगे। यह काल एक स्वरूप = भेद रहित है। भेद रहित इस मुख्य काल के ज्योतिष्क विमानों की गति से दिन–रात्रि वगैरह भेद होते हैं।

किसी नियत स्थान से सूर्य की गति के प्रारंभ को सूर्योदय कहा जाता है तथा किसी नियत स्थान पर सूर्य पहुँचने पर सूर्यास्त कहा जाता है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक का काल दिन कहलाता है और सूर्यास्त से सूर्योदय तक का काल रात कहा जाता है। 15 दिन–रात का एक पक्ष। शुक्ल और कृष्ण पक्ष रूप दो पक्ष का एक मास। दो मास की एक ऋतु। तीन ऋतु (6मास) का एक अयन। दो अयन का एक संवत्सर, वर्ष। पाँच वर्ष का एक युग। 84 लाख वर्ष का एक पूर्वांग । 84 लाख पूर्वांग (= 84 लाख X 84 लाख वर्ष) का एक पूर्व। ये सभी काल ज्योतिष्क विमानों की गति की अपेक्षा से है। यह स्थूल काल का वर्णन हुआ।

समय वगैरह सूक्ष्म काल हैं। ज्योतिष्क की गति से स्थूल काल की ही गिनती होती है, सूक्ष्म काल की नहीं। सर्व जघन्य गति वाले परमाणु को एक आकाश प्रदेश से एकदम पास वाले आकाश प्रदेश में जाने के लिए जितना काल होता है, वह एक समय कहा जाता है। यह काल अत्यंत सूक्ष्म है। केवली भी इस काल के दो भाग नहीं कर सकते और इस समय का निर्देश भी नहीं कर सकते, मात्र इसे जान सकते हैं। ऐसे असंख्य समयों की एक आवलिका। संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास या एक श्वास । बलवान्, इन्द्रियों से पूर्ण, नीरोगी, मध्यम वय वाले और स्वस्थ मन वाले पुरुष के एक श्वासोच्छ्वास [1] का एक प्राण। सात प्राण का एक स्तोक। सात स्तोक का एक लव। 38 ½ लव की एक नालिका = घड़ी। दो नालिका का एक मुहूर्त। 30 मुहूर्त का एक अहोरात्र। ये सभी काल औपचारिक है।

मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिष्क की स्थिरता

बहिरवस्थिताः।।४-१६।।

मनुष्यलोक के बाहर सभी ज्योतिष्क विमान अवस्थित = स्थिर हैं।

मनुष्यलोक के बाहर चन्द्र-सूर्य आदि स्थिर होने से सूर्यादि का प्रकाश जहाँ नहीं पहुँचता है, वहाँ सदा अंधकार और जहाँ पहुँचता है, वहाँ सदा प्रकाश रहता है। मनुष्य लोक के बाहर वाले ज्योतिष्क विमानों का माप ढ़ाई द्वीप के विमानों के माप से आधा होता है। वहाँ चन्द्र की किरण अत्यंत शीतल नहीं होती तथा सूर्य की किरण अत्यंत उष्ण नहीं होती। किंतु दोनों की किरण समशीतोष्ण होती है। उन विमानों की किरणें समशीतोष्ण होने से सुखकारी होते हैं।

वैमानिक निकाय का अधिकार-

वैमानिकाः।।४-१७।।

यहाँ से वैमानिक देवों के अधिकार का प्रारंभ होता है।

वैमानिक देव विमान में उत्पन्न होने से वैमानिक कहे जाते हैं। वैमानिक नाम पारिभाषिक है क्योंकि ज्योतिष्क देव भी विमानों में ही उत्पन्न होते हैं।

वैमानिक देव के मुख्य दो भेद-

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।।४-१८।।

वैमानिक देवों के दो प्रकार हैं - कल्पोपपन्न और कल्पातीत।

जहाँ छोटे-बड़े की मर्यादा = कल्प है, वे देवलोक कल्प कहे जाते हैं। कल्प में उत्पन्न देव कल्पोपपन्न हैं और कल्परहित विमानों में उत्पन्न देव कल्पातीत हैं। प्रथम 12 देवलोक में कल्प होने से उनमें उत्पन्न हुए देव कल्पोपपन्न हैं। उसके बाद वाले नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले देव कल्पातीत हैं। भवनपति आदि तीन निकाय के देव तो कल्पोपपन्न ही हैं क्योंकि उनमें कल्प है।

वैमानिक निकाय के देवलोक का अवस्थान-

उपर्युपरि ।।४-१९।।

[1] उच्छ्वास = श्वास अंदर लेना। श्वास = श्वास बाहर छोड़ना। श्वास+उच्छ्वास = श्वासोच्छ्वास।

वैमानिक निकाय का अवस्थान व्यंतर निकाय की तरह अव्यवस्थित नहीं है तथा ज्योतिष्क की तरह तिर्च्छा भी नहीं है, किंतु उपर-उपर है।

वैमानिक देवों के नाम-

सौधर्मैशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ।।४-२०।।

सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, नौ गैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, और सर्वार्थसिद्ध देवलोक में वैमानिक देव रहते हैं।

ज्योतिष्क चक्र के उपर असंख्य योजन जाने के बाद मेरु के दक्षिण भाग में सौधर्म और उत्तर भाग में ईशान कल्प हैं। ईशान कल्प सौधर्म से कुछ उपर है, दोनों समश्रेणि में नहीं है।[1] सौधर्म से असंख्य योजन उपर (सौधर्म की) समश्रेणि में सनत्कुमार कल्प है। ईशान से असंख्य योजन उपर (ईशान की) समश्रेणि में माहेन्द्र कल्प है। इन दोनों के मध्य में किंतु दोनों से असंख्य योजन उपर ब्रह्मलोक कल्प है। उसके उपर समश्रेणि में एक के उपर एक क्रमश: लांतक, महाशुक्र, और सहस्रार कल्प हैं। उसके उपर सौधर्म-ईशान की तरह आनत और प्राणत ये दो कल्प हैं अर्थात् दक्षिण भाग में आनत और उत्तर भाग में प्राणत कल्प है। प्राणत आनत से कुछ उपर है। उसके उपर समश्रेणि में सनत्कुमार-माहेन्द्र की तरह आरण-अच्युत कल्प हैं अर्थात् अनात के ऊपर (आनत की) समश्रेणि में आरण और प्राणत के उपर (प्राणत की) समश्रेणि में अच्युत कल्प है। आरण से अच्युत कुछ उपर है।

प्रश्न - इस सूत्र में सभी शब्दों का एक ही समास नहीं करके अलग-अलग समास क्यों किए?

उत्तर - सबसे पहले सौधर्म से सहस्रार तक शब्दों का समास किया है। इसका कारण यह है कि सहस्रार तक मनुष्य और तिर्यंच दोनों प्रकार के जीव उत्पन्न होते है। उससे उपर केवल मनुष्य ही उत्पन्न होते है। यह भेद बताने के लिए सौधर्म से सहस्रार तक के शब्दों का एक ही समास किया है। आनत-प्राणत, इन दो कल्पों में समुदित एक इन्द्र है तथा आरण-अच्युत में समुदित एक इन्द्र है, यह बताने आनत-प्राणत और आरण-अच्युत, इन दो-दो शब्दों का अलग-अलग समास किया। नौ ग्रैवेयक तक उत्पन्न होने वाले जीव बहुल संसारी भी हो सकते हैं जबकि विजयादि में उत्पन्न होने वाले जीव अल्प संसारी ही होते है। यह भेद बताने के लिए ग्रैवेयक शब्द का असमस्त (समास रहित) प्रयोग किया है। विजयादि चार विमान में उत्पन्न होने वाले जीव दो जन्म लेकर मोक्ष में जाते है (सूत्र 4-27) जबकि सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होने वाले जीव एक भव में मोक्ष पाते हैं। इस रहस्य का सूचन करने के लिए विजयादि चार शब्द का समास किया और सर्वार्थसिद्ध का असमस्त (समास रहित) प्रयोग किया।

प्रश्न - पाँचवें कल्प का नाम ब्रह्म है तो भी इस सूत्र में 'ब्रह्मलोक' शब्द में ब्रह्म के साथ लोक शब्द का प्रयोग क्यों किया ?

उत्तर - ब्रह्मकल्प में लोकांतिक देव भी रहते हैं, यह बताने के लिए ब्रह्म शब्द के साथ लोक शब्द का प्रयोग किया ।

---

① चौदह राजलोक का चित्र परिशिष्ट - 2 में देखें ।

हम पहले देख चुके हैं कि वैमानिक निकाय के मुख्य दो भेद हैं – कल्पोपपन्न और कल्पातीत। इनमें से यहाँ कल्पोपपन्न के 12 भेदों के सौधर्मादि 12 नाम दर्शाए [1] कल्पातीत के दो भेद हैं – ग्रैवेयक और अनुत्तर। ग्रैवेयक के नौ भेद हैं और अनुत्तर के पाँच भेद हैं। इस सूत्र में अनुत्तर के पाँच भेदों के विजयादि पाँच नामों का निर्देश किया है। नौ ग्रैवेयक का सामान्य से (नाम बिना) निर्देश किया है।

गले के अलंकार को ग्रैवेयक कहा जाता है। लोक को हम पुरुष की उपमा दें तो नौ ग्रैवेयक लोक रूपी पुरुष की ग्रीवा (गले) के स्थान पर आते हैं, ग्रीवा के आभरण रूप हैं। अत: उन्हें ग्रैवेयक कहा जाता है।

ग्रैवेयक के उपर वाले विमानों में उत्पन्न हुए जीव अल्पसंसारी होने से उत्तम=प्रधान हैं। कोई भी अन्य देव उनसे उत्तम = प्रधान नहीं है। इसलिए उन्हें अनुत्तर कहा जाता है। अथवा देवलोक के अंत में होने से उनके उत्तर=बाद में कोई विमान न होने से अनुत्तर कहलाते हैं।

उपर–उपर के देवों में स्थिति आदि की अधिकता–

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्याविशुद्धीन्द्रिया-ऽवधि-विषयतोऽधिकाः ॥४-२१॥

स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिविषय, ये 7 वस्तु उपर–उपर के देवों में क्रमश: अधिक–अधिक है।

1. स्थिति – स्थिति यानी देवगति में रहने का काल, आयुष्य। इस अध्याय के 29 वें सूत्र से स्थिति का अधिकार शुरू होगा। वहाँ जघन्य–उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन हैं।

2. प्रभाव – निग्रह–अनुग्रह की शक्ति, अणिमादि लब्धियाँ [2], अन्य पर वर्चस्व वगैरह प्रभाव है। यह प्रभाव उपर–उपर के देवों में अधिक–अधिक होता है। परंतु उपर–उपर के देव मंद अभिमान और अल्पक्लेश वाले होने से निग्रहादि के लिए प्राय: प्रवृत्ति नहीं करते।

3. सुख – साता वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य विषयों में इष्ट अनुभव रूप सुख उपर–उपर के देवों में अधिक होता हैं।

4. द्युति– द्युति यानी देह, वस्त्र, आभूषण वगैरह की कांति।

5. लेश्या– लेश्या का निरूपण आगे आएगा (सूत्र 4–23) परंतु यहाँ इतनी बात ध्यान देने योग्य है कि जिन देवों में समान लेश्या है, उनमें भी उपर–उपर के देवों की लेश्या अधिक–अधिक विशुद्ध होती है।

6. इन्द्रिय विषय – उपर–उपर चक्षु आदि इन्द्रियाँ अधिक पटु = अधिक शक्तिशाली होने से इन्द्रिय का विषय अधिक है। उपर–उपर के देव आँख से अधिक दूर देख सकते हैं। ऐसा ही अन्य इन्द्रियों के लिए भी समझना।

---

① दिगंबर मत में 16 कल्प माने जाते हैं। वे दो–दो कल्प का युग्म समश्रेणि में अवस्थित मानते हैं। जैसे – समश्रेणि में सौधर्म–ईशान, उसके ऊपर समश्रेणि में सनत्कुमार–माहेन्द्र..इत्यादि ।

② **अणिमा लब्धि –** छोटा शरीर बनाकर कमल के तंतु (रेशे) में प्रवेश कर सकते हैं। **महिमालब्धि –** मेरु पर्वत जितना बड़ा शरीर बनाने की शक्ति। **लघिमा लब्धि –** हवा से भी हल्का शरीर बनाने की शक्ति। **गरिमा लब्धि –** वज्र से भी भारी शरीर बनाने की शक्ति। **प्राप्ति लब्धि –** जमीन पर खड़े–खड़े किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की शक्ति ,जैसे–मेरु पर्वत के शिखर को छूना। **प्राकाम्य लब्धि –** पानी में पृथ्वी की तरह और पृथ्वी पर पानी की तरह गमनागमन करने की शक्ति। **ईशित्व लब्धि –** तीर्थंकर, इन्द्र जैसी ऋद्धि विकुर्वने की शक्ति। **वशित्व लब्धि –** सर्व जीव को वश करने की शक्ति। (योगशास्त्र 1–8, त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र 1–1–843 आदि)

7. अवधि विषय – उपर–उपर के देवों का अवधिज्ञान अधिक–अधिक विशुद्ध होता है। सौधर्म–ईशान कल्प के देव नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी तक, उपर स्वयं के विमान की ध्वजा तक ,तिर्च्छा असंख्य योजन तक अवधिज्ञान से देख सकते हैं। सनत्कुमार–माहेन्द्र के देव नीचे शर्कराप्रभा तक, उपर स्वविमान की ध्वजा तक, तिर्च्छा असंख्य योजन तक देख सकते हैं। इस तरह क्रमश: बढ़ते–बढ़ते अनुत्तर देव संपूर्ण त्रसनाड़ी–लोकनाड़ी को देख सकते हैं। जिन देवों में क्षेत्र से अवधिज्ञान का विषय समान है, उन देवों में भी उपर–उपर के विमानों की अपेक्षा अधिक–अधिक अवधिज्ञान होता है। इसी प्रकार अवधिज्ञान की विशुद्धि भी उपर–उपर अधिक होती है।

वैमानिक देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र

देव	उत्कृष्ट ऊर्ध्व अवधि	उत्कृष्ट अधो अवधि	उत्कृष्ट तिर्यग् अवधि
1–2 कल्प	स्वयं के विमान की ध्वजा तक	रत्नप्रभा पृथ्वी तक।	असंख्य योजन तक उपर–उपर के देवों में असंख्य का प्रमाण अधिक समझना।
3–4 कल्प		शर्कराप्रभा पृथ्वी तक	
5–6 कल्प		वालुकाप्रभा पृथ्वी तक	
7–8 कल्प		पंकप्रभा पृथ्वी तक	
9–12 कल्प		धूमप्रभा पृथ्वी तक	
1–6 ग्रैवेयक		तम:प्रभा पृथ्वी तक	
7–9 ग्रैवेयक		महातम:प्रभा पृथ्वी तक	
5 अनुत्तर		त्रसनाड़ी के अंत तक	स्वयंभूरमण सुमुद्र तक

उपर–उपर गति आदि की हीनता–

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीना:।।४-२२।।

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान ये चार वस्तु उपर–उपर के देवों में क्रमश: हीन होती है।

1. यहाँ गति शब्द से अन्य स्थल पर जाने की शक्ति विवक्षित है। जिन देवों की जघन्यस्थिति दो सागरोपम [1] है, वे देव नीचे सातवीं पृथ्वी तक और तिर्च्छा असंख्य योजन तक जा सकते हैं। तत्पश्चात् जैसे–जैसे जघन्य स्थिति दो सागरोपम से न्यून होती है, वैसे–वैसे गति की शक्ति हीन होती जाती है। यावत् सर्वजघन्य स्थिति वाले देव नीचे चौथी पृथ्वी तक जा सकते हैं। यह विचारणा शक्ति की अपेक्षा से है, गमन तो मात्र तीसरी पृथ्वी तक होता है। शक्ति होने पर भी देव प्रयोजनवशात् तीसरी पृथ्वी तक ही जाते हैं, प्राय:[2] उससे आगे नहीं जाते। उपर–उपर वाले देवों में महानता और उदासीनता अधिक–अधिक होने से वे गति नहीं करते। नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर के देव तो कभी भी स्वयं के विमान से बाहर ही नहीं जाते।

2. शरीर की ऊँचाई भी उपर–उपर के देवों में कम होती है। सौधर्म–ईशान में 7 हाथ, सनत्कुमार–माहेन्द्र में 6 हाथ शरीर का प्रमाण होता है। ब्रह्मलोक–लांतक में 5 हाथ तथा महाशुक्र–सहस्रार में 4 हाथ ऊँचा शरीर है। 9 से 12 देवलोक में 3 हाथ ऊँचाई वाला शरीर है। नौ ग्रैवेयक में 2 हाथ और पाँच अनुत्तर में 1 हाथ जितनी शरीर की उंचाई होती है।

① सूत्र में ऊपर – ऊपर के देवों की गति हीन बताई है, जबकि भाष्य में स्थिति की न्यूनता से गति की न्यूनता बताई है। तत्त्वं केवलीगम्यम्।
② सीतेन्द्र चौथी नरक में गए थे, इसलिए यहाँ प्राय: लिखा है।

3. यहाँ परिग्रह शब्द से विमानों का परिवार अभिप्रेत है। वैमानिक निकाय में तीन प्रकार के विमान हैं – इन्द्रक, श्रेणिगत और पुष्पावकीर्ण। बराबर मध्य में रहे विमान को इन्द्रक कहा जाता है। चारों दिशा के पंक्तिबद्ध विमान श्रेणिगत कहलाते हैं। पुष्प की तरह बिखरे हुए विमान पुष्पावकीर्ण कहे जाते हैं। श्रेणिगत विमान तीन प्रकार के हैं– त्रिकोण, चतुष्कोण, और गोल। पहले त्रिकोण, फिर चतुष्कोण, बाद में गोल; इस क्रम में हैं। ये विमान इन्द्रक विमान की चारों दिशा में हैं। पुष्पावकीर्ण विमान नंदावर्त, स्वस्तिक वगैरह आकार के हैं तथा ये श्रेणिगत विमानों के अंतराल में हैं। ये विमान पूर्व दिशा के अलावा अन्य तीनों दिशा में होते हैं। 'सकलतीर्थ' सूत्र में प्रत्येक देवलोक के विमानों की संख्या दर्शाई गई है। उनकी कुल संख्या 8497023 है। वैमानिक निकाय में इन्द्रक, श्रेणिगत तथा पुष्पावकीर्ण विमान किस तरह होते हैं उसका चित्र परिशिष्ट – 2 में है, उसे ध्यान से देखें।

इस चित्र में वैमानिक कल्प के एक प्रतर का सामान्य दृश्य है। इसमें मध्यवर्ती एक द्वार और कंगूरे वाले गढ़ से युक्त गोल इन्द्रक विमान है। फिर चारों ओर पंक्तिबद्ध विमानों की व्यवस्था बताई गई है। इनमें पहले तीन द्वार वाला त्रिकोण विमान एक तरफ वेदिका और दो तरफ कंगूरे वाले गढ़ से युक्त है। फिर चार द्वार वाला चतुष्कोण विमान चारों तरफ वेदिका से युक्त है। तत्पश्चात् एक द्वार वाला गोल विमान कंगूरे वाले गढ़ से युक्त है। इसी क्रम से आगे की व्यवस्था जानना।

4. उपर–उपर के देवों में सुन्दर स्थान, देव–देवियों का परिवार, सामर्थ्य, अवधिज्ञान, इन्द्रियशक्ति, विभूति, शब्दादि विषयों की समृद्धि आदि अधिक होने पर भी अभिमान अल्प–अल्प होता है। इसलिए वे देव अधिक–अधिक सुखी होते हैं।

देव संबंधी विशेष जानकारी–

श्वासोच्छ्वास और आहार – जघन्य स्थिति वाले (10 हजार वर्ष की स्थितिवाले) देव सात स्तोक में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं। और एक अहोरात्र होने पर आहार करते हैं। पल्योपम की स्थिति वाले देव एक दिन में एक बार श्वासोच्छवास लेते हैं।[1] और दो से नौ दिन में आहार करते हैं। उसके बाद जिसकी जितने सागरोपम की स्थिति हो, उतने पक्ष में एक श्वासोच्छ्वास और उतने हजार वर्ष में एक बार आहार लेते हैं।

आहार के भेद – आहार के तीन भेद हैं – ओजाहार, लोमाहार और प्रक्षेपाहार।

1. ओजाहार – उत्पत्ति के प्रथम समय से शरीर पर्याप्ति की निष्पति तक (मतांतर से स्वयोग्य सर्व पर्याप्ति की निष्पत्ति तक) ग्रहण किए जाते पुद्गल का आहार।

2. लोमाहार – शरीर पर्याप्ति (मतांतर से स्वयोग्य सर्व पर्याप्ति) पूर्ण होने के बाद स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) द्वारा ग्रहण किए जाते पुद्गल का आहार।

3. प्रक्षेपाहार – कवल से ग्रहण किया जाता आहार।

देवों को दो प्रकार का आहार होता है – ओजाहार और लोमाहार। यहाँ देवों के आहार का जो नियम होता है, वह लोमाहार के आश्रय से है।

प्रश्न – लोमाहार प्रत्येक समय होता है तो देवों में उपर्युक्त नियम कैसे घटित होगा?

उत्तर – लोमाहार के दो भेद हैं – आभोग और अनाभोग। जानते हुए = ईरादे पूर्वक जो लोमाहार हो, वह आभोग लोमाहार। जैसे – शीत काल में मनुष्यादि प्राणी ठंड दूर करने सूर्य आदि के उष्ण पुद्गलों का सेवन करते हैं। अनजानपने में = ईरादे बिना जो लोमाहार हो, वह अनाभोग लोमाहार है। जैसे – शीतकाल में शीतल और

[1] बृहत्संग्रहणि में '10 हजार वर्ष से अधिक और सागरोपम से न्यून स्थिति वाले देव 2 से 9 मुहूर्त में श्वासोच्छ्वास लेते हैं' ऐसा कहा है।

गर्मी में उष्ण पुद्गल त्वचा द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं। इसलिए ही शीतकाल में कम पानी पीने पर भी मूत्र बहुत होता है और गर्मी में पानी बहुत पीने पर भी मूत्र कम होता है। यह अनाभोग लोमाहार प्रतिसमय होता है जबकि आभोग लोमाहार कुछ समय ही होता है। यहाँ देवों में आहार का नियम आभोग लोमाहार की अपेक्षा से है। देवों को जब आहार की इच्छा होती है तब उनके पुण्योदय से मनकल्पित आहार के शुभ पुद्गल स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा शरीर रूप में परिणमित होते हैं। शरीर रूप में परिणत ये पुद्गल शरीर को पुष्ट करते हैं और मन को तृप्त करने से आह्लाद का अनुभव कराते हैं। देवों को हमारी तरह प्रेक्षेपाहार = कवलाहार नहीं होता।

वेदना – देवों को सामान्य से शुभ वेदना = सुखानुभव होता है। तथापि बीच–बीच में अशुभवेदना = दु:खानुभव भी होता है। सतत शुभवेदना छह महिने तक हो सकती है। छह मास बाद अवश्य एक बार अशुभ वेदना होती है। अशुभ वेदना अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त तक ही होती है। अंतर्मुहूर्त के बाद पुन: शुभ वेदना शुरू हो जाती है।

उपपात – 1. अन्य तीर्थिक (= जैन के अलावा अन्य धर्म वाले) मिथ्यादृष्टि 12 वें देवलोक तक ही उत्पन्न होते हैं।

2. द्रव्य चारित्रलिंगी मिथ्यादृष्टि ग्रैवेयक देवलोक तक उत्पन्न होता है।

3. सम्यग्दृष्टि संयत सौधर्म से लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान तक उत्पन्न होते हैं। इससे यह तात्पर्य निकला कि सम्यग्दृष्टि संयत जघन्य से भी सौधर्म विमान से नीचे उत्पन्न नहीं होते, जघन्य से सौधर्म कल्प में ही उत्पन्न होते हैं।

4. चौदह पूर्वधर ब्रह्मलोक से सर्वार्थसिद्ध तक उत्पन्न होते हैं।

अनुभाव – विमान तथा सिद्धशिला किसी भी प्रकार के आधार बिना आकाश में अवस्थित है। यहाँ लोकस्थिति ही कारण है। जगत् में अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं, जो लोकस्वभाव = लोकस्थिति से ही सिद्ध होती हैं।

तीर्थंकर भगवंतों के जन्माभिषेक, केवलज्ञानोत्पत्ति, महासमवसरण की रचना तथा निर्वाण आदि में इन्द्रों के आसन कंपायमान होते हैं, ग्रैवेयक देवों के स्थान कंपित होते हैं और अनुत्तर देवों की शय्या कंपायमान होती है। इसमें तीर्थंकर भगवंतों के शुभ कर्म का उदय अथवा लोकस्वभाव ही कारण है। आसनादि कंपायमान होने से इन्द्र अवधिज्ञान द्वारा तीर्थंकरों की तीर्थंकर नाम कर्म से उत्पन्न असाधारण धर्म विभूति को देखते हैं। बाद में इन्द्र देवों सहित भगवान् के पास आकर स्तुति, वंदना, उपासना, देशनाश्रवण आदि द्वारा यथायोग्य आत्मकल्याण करते हैं जबकि नौ ग्रैवेयक के देव स्वयं के स्थान में और अनुत्तर देव स्वयं की शय्या में ही रहकर स्तुति आदि करते हैं।

वैमानिक निकाय में लेश्या–

पीत-पद्म-शुक्ललेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु।।४-२३।।

दो, तीन और शेष देवलोक में क्रमश: पीत, पद्म और शुक्ललेश्या होती है।

प्रथम दो देवलोक (सौधर्म–ईशान) में पीत लेश्या, उसके बाद वाले तीन देवलोक (सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक) में पद्मलेश्या और बाद वाले सभी देवों में शुक्ललेश्या होती है। यहाँ शारीरिक वर्ण रूप द्रव्य लेश्या विवक्षित है क्योंकि भावलेश्या तो छहों प्रकार की होती है।

कल्प की अवधि–

प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः।।४-२४।।

ग्रैवेयकों के पूर्व (के देवलोक में) कल्प = पूज्य-पूजकभाव वगैरह मर्यादा है।

इस अध्याय के 18वें सूत्र में वैमानिक देवों के दो भेद बताए थे – कल्पोपपन्न और कल्पातीत। जहाँ कल्प होता है, वहाँ उत्पन्न देव कल्पोपपन्न और जहाँ कल्प नहीं होता, वहाँ उत्पन्न देव कल्पातीत है। अतः 'कल्प कहाँ तक हैं?' यह इस सूत्र में बताया है। सौधर्म से अच्युत तक के 12 देवलोक में कल्प है। नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानों में कल्प नहीं है। कल्पातीत देवों में सामानिक वगैरह भेद (सूत्र 4-4) नहीं होने से सभी देव स्वयं को इन्द्र मानते हैं। अतः वे 'अहमिन्द्र' कहलाते हैं।

लोकांतिक देवों का स्थान-

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः।।४-२५।।

लोकांतिक देवों का स्थान ब्रह्मलोक (5 वां कल्प) है।

लोकांतिक देव ब्रह्मलोक में रहते हैं। ब्रह्मलोक में रहने वाले सभी देव लोकांतिक नहीं हैं किंतु जो ब्रह्मलोक के अंत में रहते है, वे लोकांतिक कहे जाते हैं। ब्रह्मलोक के अंत में चार दिशा में चार विमान, चार विदिशा में चार विमान तथा मध्य में एक विमान, इस प्रकार नौ विमान हैं। इन नौ विमान के कारण उनके नौ भेद हैं। ब्रह्मलोक के अंत में रहने से तथा लोक = संसार का अंत करने वाले होने से उन्हें लोकांतिक कहते हैं। जब तीर्थंकर भगवंतों का प्रव्रज्या काल आता है तब ये देव उनके पास जाकर 'जय जय नंदा , जय जय भद्दा' कहकर स्तुति करने पूर्वक उन्हें 'भयवं तित्थं पवत्तेह = हे भगवन्! तीर्थ का प्रवर्तन करो' इस प्रकार तीर्थ प्रवर्तन की विनंति करते हैं।

ये देव अवश्य लघुकर्मी होते हैं। ये विषय – रति से विमुख होने से इन्हें देवर्षि भी कहा जाता है। 'ये कितने भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे' इस विषयक भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं। कुछ शास्त्रों में 'लोकांतिक देव सात-आठ भव में मोक्ष पाते हैं' ऐसा उल्लेख है, तो कुछ ग्रंथों में 'लोकांतिक देव एकावतारी होते है अर्थात् वहाँ से मनुष्य भव में आकर मोक्ष पाते हैं। ऐसा उल्लेख दिखाई देता हैं, जबकि अन्य कुछ ग्रंथों में 'नौवें विमान के देव एकावतारी होते हैं, शेष 8 विमानों के लोकांतिक देव एकावतारी ही होते हैं; ऐसा नियम नहीं है' ऐसा पाठ भी मिलता है।

नौ प्रकार के लोकांतिक देवों के नाम-

सारस्वता-ऽऽदित्य-वह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिता-ऽव्याबाध-मरुतो-ऽरिष्टाश्च।।४-२६।।

नौ प्रकार के लोकांतिक देव हैं- सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत, अरिष्ट।

लोकांतिक देवों के विमानों के नाम सारस्वत आदि हैं। उन विमानों के देवों को भी सारस्वत आदि कहा जाता है।

अनुत्तर के विजयादि चार विमान के देवों का संसारकाल-

विजयादिषु द्विचरमाः।।४-२७।।

विजयादि चार विमानों में रहे देव के अंतिम दो भव बाकी होते हैं।

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, इन चार विमान के देव मनुष्य के दो भव में जन्म लेकर अवश्य मोक्ष पाते हैं। विजय आदि विमान में से च्युत होकर देव मनुष्य गति में आता है। यहाँ आयुष्य पूर्ण कर पुन: विजयादि विमान में उत्पन्न होता है। वहाँ पुन: आयुष्य पूर्ण होने पर मृत्यु पाकर मनुष्य गति में आता है और संयम की साधना कर इसी भव में मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार यहाँ दो भव मनुष्य की अपेक्षा से है, अन्यथा बीच वाले देवभव के साथ कुल तीन भव होते हैं। मनुष्य भव में ही मोक्ष प्राप्त होने से सूत्र में मनुष्य भव की अपेक्षा से विजयादि देवों को द्विचरम कहा है। सर्वार्थसिद्ध विमान के देव नियमा एकावतारी होते हैं।

पाँचों प्रकार के अनुत्तर देव लघुकर्मी होते हैं। जिन मुनियों की मोक्ष की साधना थोड़ी ही बाकी रह गई हो, वे मुनि इन पाँच विमानों में उत्पन्न होते हैं। अनुत्तर विमान में उत्पन्न जीवों का यदि पूर्वभव में अंतर्मुहूर्त जितना आयुष्य अधिक होता अथवा बेले (छट्ठ) के तप जितनी निर्जरा ज्यादा होती तो वे सीधे मोक्ष में ही चले जाते। किंतु भवितव्यता आदि के बल से थोड़ी साधना बाकी रह जाने से अनुत्तर विमान में उत्पन्न होते हैं।

'तिर्यंच' संज्ञा वाले जीव–

औपपातिक-मनुष्येभ्य: शेषास्तिर्यग्योनय:।।४-२८।।

औपपातिक और मनुष्य से अन्य जीव तिर्यग्योनि = तिर्यंच हैं।

नारक और देव औपपातिक हैं क्योंकि उनका उपपात जन्म होता है। नारक, देव और मनुष्यों से अन्य सभी जीव तिर्यग्योनि = तिर्यंच हैं। शास्त्र में भिन्न–भिन्न दृष्टि से जीवों के भेद बताए गए हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा से जीव के पाँच भेद होते हैं– एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। गति की अपेक्षा से जीवों के चार भेद हैं – नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव। नारक, देव और मनुष्य से अन्य शेष सभी पंचेन्द्रिय जीव और एकेन्द्रिय से चउरिन्द्रिय तक के जीव तिर्यंच कहलाते हैं।

स्थिति का अधिकार–

स्थिति: ।।४-२९।।

यहाँ से स्थिति (आयुष्य) का अधिकार शुरू होता है।

यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से स्थिति = आयुष्य काल के वर्णन के अधिकार का प्रारंभ होता है, यह बताने के लिये इस सूत्र की रचना की है।

भवनपति निकाय में दक्षिणार्ध के इन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति–

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम्।।४-३०।।

भवनों में दक्षिणार्ध के अधिपति (इन्द्रों) की डेढ (1.5) पल्योपम उत्कृष्ट स्थिति है।

भवनपति देवों के 10 भेद हैं। उन प्रत्येक के 2–2 विभाग होते हैं –

(1) दक्षिण दिशा के भवनों में रहने वाले देव,(2) उत्तर दिशा के भवनों में रहने वाले। इन दोनों के इन्द्र अलग–अलग हैं। इसलिए दक्षिण दिशा के भवनों में रहने वाले असुरकुमार आदि दस प्रकार के देवों के 10 इन्द्र

और उत्तर दिशा के भवनों में रहने वाले असुरकुमार आदि दस प्रकार के देवों के 10 इन्द्र, इस तरह भवनपति निकाय में कुल 20 इन्द्र हैं। दक्षिण दिशा के इन्द्र दक्षिणार्धाधिपति और उत्तर दिशा के इन्द्र उत्तरार्धाधिपति कहलाते हैं। इनमें सभी दक्षिणार्धाधिपति की उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ (1.5) पल्योपम है।

भवनपति निकाय में उत्तरार्ध के इन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति–

शेषाणां पादोने ।।४-३१।।

भवनपति के शेष इन्द्रों की स्थिति पोने दो पल्योपम है।

भवनपति निकाय के शेष इन्द्र = उत्तरार्धाधिपति की उत्कृष्ट स्थिति पोने दो (1 ¾) पल्योपम है।

भवनपति निकाय के इन्द्रों की स्थिति में अपवाद–

असुरेन्द्रयो: सागरोपममधिकं च।।४-३२।।

असुरेन्द्रों की स्थिति क्रमश: एक सागरोपम और सागरोपम से कुछ अधिक है।

दक्षिणार्धाधिपति चमर की एक सागरोपम और उत्तरार्धाधिपति बलि की एक सागरोपम से कुछ अधिक स्थिति है।

सौधर्मादिषु यथाक्रमम्।।४-३३।।

नीचे के सूत्रों में जो स्थिति कही जाएगी, वह क्रमश: सौधर्मादि देवलोक के देवों की उत्कृष्ट स्थिति है।

सागरोपमे ।।४-३४।।

सौधर्म कल्प के देवों की 2 सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है।

अधिके च ।।४-३५।।

ईशान कल्प के देवों की उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम के कुछ अधिक है।

सप्त सानत्कुमारे।।४-३६।।

सनत्कुमार कल्प के देवों की सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है।

विशेष-त्रि-सप्त-दशैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि च।।४-३७।।

सात संख्या में विशेष, 3,7,10,11,13,15 जोड़ने से क्रमश: माहेन्द्र आदि कल्प के देवों की उत्कृष्ट स्थिति होती है।

वह इस प्रकार–

माहेन्द्र की 7+विशेष = साधिक 7 सागरोपम।

ब्रह्मलोक की 7+3=10 सागरोपम।

लांतक की 7+7= 14 सागरोपम।

महाशुक्र की 7+10=17 सागरोपम।

सहस्रार की 7+11=18सागरोपम।

आनत–प्राणत की 7+13=20 सागरोपम।

आरण–अच्चुत की 7+15 = 22 सागरोपम।

बृहत्संग्रहणि आदि ग्रंथों में आनत की 19, प्राणत की 20, आरण की 21 और अच्युत की 22 सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही है।

आरणाऽच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ।।४-३८।।

आरण–अच्युत कल्प से उपर एक–एक सागरोपम की वृद्धि करने से क्रमश: नौ ग्रैवेयक, विजयादि चार और सर्वार्थसिद्ध विमान की उत्कृष्ट स्थिति होती है। वह इस प्रकार–

देवलोक	आयुष्य
1 ग्रैवेयक	23 सागरोपम
2 ग्रैवेयक	24 सागरोपम
3 ग्रैवेयक	25 सागरोपम
4 ग्रैवेयक	26 सागरोपम
5 ग्रैवेयक	27 सागरोपम
6 ग्रैवेयक	28 सागरोपम
7 ग्रवेयक	29 सागरोपम
8 ग्रैवेयक	30 सागरोपम
9 ग्रैवेयक	31 सागरोपम
विजयादि चार	32 सागरोपम
सर्वार्थसिद्ध	33 सागरोपम

जघन्य स्थिति के अधिकार का प्रारंभ–

अपरा पल्योपममधिकं च ।।४-३९।।

सौधर्म और ईशान में जघन्य स्थिति क्रमश: एक पल्योपम और साधिक एक पल्योपम है।

सागरोपमे।।४-४०।।

सनत्कुमार में जघन्य स्थिति दो सागरोपम है।

अधिके च ।।४-४१।।

माहेन्द्र कल्प में जघन्य स्थिति साधिक दो सागरोपम है।

परतः परतः पूर्वा-पूर्वाऽनन्तरा।।४-४२।।

माहेन्द्र के बाद वाले देवलोक में स्वयं के पूर्व के देवलोक की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वही स्वयं की जघन्य स्थिति है। वह इस प्रकार-

देवलोक	जघन्य स्थिति
5	साधिक 7 सागरोपम①
6	10 सागरोपम
7	14 सागरोपम
8	17 सागरोपम
9	18 सागरोपम
10	19 सागरोपम
11	20 सागरोपम
12	21 सागरोपम
1 ग्रैवेयक	22 सागरोपम
2 ग्रैवेयक	23 सागरोपम
3 ग्रैवेयक	24 सागरोपम
4 ग्रैवेयक	25 सागरोपम
5 ग्रैवेयक	26 सागरोपम
6 ग्रैवेयक	27 सागरोपम
7 ग्रैवेयक	28 सागरोपम
8 ग्रैवेयक	29 सागरोपम
9 ग्रैवेयक	30 सागरोपम
विजयादि चार	31 सागरोपम

① बृहत्संग्रहणी गाथा 14 की वृत्ति में ब्रह्मलोक की जघन्यस्थिति 7 सागरोपम कही गई है।

नारकाणां च द्वितीयादिषु।।४-४३।।

दूसरी से सातवीं नरक तक पूर्व नरक की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वह बाद वाली नरक की जघन्य स्थिति है। वह इस प्रकार -

नरक	जघन्य स्थिति
2	1 सागरोपम
3	3 सागरोपम
4	7 सागरोपम
5	10 सागरोपम
6	17 सागरोपम
7	22 सागरोपम

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।।४-४४।।

प्रथम नरक में जघन्य स्थिति 10 हजार वर्ष है।

भवनेषु च ।।४-४५।।

भवनपति निकाय के देवों की भी जघन्य स्थिति 10 हजार वर्ष है।

व्यन्तराणां च।।४-४६।।

व्यंतर निकाय के देवों की भी जघन्य स्थिति 10 हजार वर्ष है।

व्यंतर देवों की उत्कृष्ट स्थिति-

परा पल्योपमम् ।।४-४७।।

व्यंतर देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम है।

ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति का अधिकार-

ज्योतिष्काणामधिकम् ।।४-४८।।

ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम से कुछ अधिक है।

ग्रह, नक्षत्र और तारों की उत्कृष्ट स्थिति आगे कहने वाले होने से यहाँ सूर्य-चंद्र की उत्कृष्ट स्थिति दर्शाई गई है। सूर्य की एक पल्योपम में एक हजार वर्ष अधिक और चन्द्र की एक पल्योपम में एक लाख वर्ष अधिक उत्कृष्ट स्थिति है।

ग्रहाणामेकम्।।४-४९।।

ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम है।

नक्षत्राणामर्धम्।।४-५०।।

नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति आधा (½) पल्योपम है।

तारकाणां चतुर्भागः।।४-५१।।

तारों की उत्कृष्ट स्थिति एक-चौथाई (¼) पल्योपम है।

ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति-

जघन्या त्वष्टभागः।।४-५२।।

तारों की जघन्य स्थिति $^{1}/_{8}$ पल्योपम है।

चतुर्भागः शेषाणाम्।।४-५३।।

शेष ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति एक-चौथाई (¼) पल्योपम है।

तारों की जघन्य स्थिति उपर के सूत्र में कहीं गई। इसलिए ज्योतिष्क के सूर्यादि चार भेदों में जघन्य स्थिति की विचारणा बाकी है। ज्योतिष्क के चार भेदों में भी सूर्य-चंद्र इन्द्रों की, इन्द्राणी की तथा विमानाधिपति देवों की जघन्य स्थिति नहीं होती, उत्कृष्ट ही होती है।[①] अतः यहाँ शेष रूप में सूर्य आदि चार विमानों में रहने वाले सामान्य देव जानना।

भवनपति देव-देवियों की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति

निकाय	देव-देवी	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
असुरकुमार	दक्षिण के देव	1 सागरोपम	10000 वर्ष (दस हजार वर्ष)
	दक्षिण की देवी	3½ सागरोपम	
	उत्तर के देव	साधिक 1 सागरोपम	
	उत्तर की देवी	4½ पल्योपम	
नागकुमारादि नौ भेद	दक्षिण के देव	1½ पल्योपम	
	दक्षिण की देवी	½ पल्योपम	
	उत्तर के देव	1¾ पल्योपम	
	उत्तर की देवी	1 पल्योपम से न्यून	

व्यंतर देव-देवियों की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति

देव-देवी	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
किन्नरादि व्यंतर देव	1 पल्योपम	10000 वर्ष
व्यंतर देवी	½ पल्योपम	10000 वर्ष

① भवनपति आदि चारों निकाय में इन्द्र और इन्द्राणी की स्थिति उत्कृष्ट ही होती है। इन्द्र की देवों की अपेक्षा से और इन्द्राणी की देवियों की अपेक्षा से उत्कृष्ट स्थिति होती है।

वैमानिक देवियों की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति

देवलोक	देवी	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
सौधर्म	परिगृहीता	7 पल्योपम	1 पल्योपम
	अपरिगृहीता	50 पल्योपम	1 पल्योपम
ईशान	परिगृहीता	9 पल्योपम	साधिक 1 पल्योपम
	अपरिगृहीता	55 पल्योपम	साधिक 1 पल्योपम

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति

देवलोक	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
1 कल्प	2 सागरोपम	1 पल्योपम
2 कल्प	साधिक 2 सागरोपम	साधिक 1 पल्योपम
3 कल्प	7 सागरोपम	2 सागरोपम
4 कल्प	साधिक 7 सागरोपम	साधिक 2 सागरोपम
5 कल्प	10 सागरोपम	साधिक 7 सागरोपम
6 कल्प	4 सागरोपम	10 सागरोपम
7 कल्प	17 सागरोपम	14 सागरोपम
8 कल्प	18 सागरोपम	17 सागरोपम
9 कल्प	19 सागरोपम	18 सागरोपम
10 कल्प	20 सागरोपम	19 सागरोपम
11 कल्प	21 सागरोपम	20 सागरोपम
12 कल्प	22 सागरोपम	21 सागरोपम
1 ग्रैवेयक	23 सागरोपम	22 सागरोपम
2 ग्रैवेयक	24 सागरोपम	23 सागरोपम
3 ग्रैवेयक	25 सागरोपम	24 सागरोपम
4 ग्रैवेयक	26 सागरोपम	25 सागरोपम
5 ग्रैवेयक	27 सागरोपम	26 सागरोपम
6 ग्रैवेयक	28 सागरोपम	27 सागरोपम
7 ग्रैवेयक	29 सागरोपम	28 सागरोपम
8 ग्रैवेयक	30 सागरोपम	29 सागरोपम

9 ग्रैवेयक	31 सागरोपम	30 सागरोपम
विजयादि 4	32 सागरोपम	31 सागरोपम
सर्वार्थसिद्ध	33 सागरोपम	–

* * *

पंचम अध्याय

प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और नय का निरूपण किया। दूसरे, तीसरे, चौथे अध्याय में जीवतत्त्व का विविध दृष्टि से प्रतिपादन किया। अब पाँचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का वर्णन करते हैं।

अजीव तत्त्व के मुख्य भेद–

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः।।५-१।।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल, ये चार अजीवकाय हैं।

धर्म आदि चार द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्ति यानी प्रदेश, काय यानी समूह। धर्म आदि चार द्रव्य प्रदेशों के समूह रूप होने से अस्तिकाय कहलाते हैं। चार अजीव तत्त्व हैं – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। जीव से विपरीत तत्त्व अजीव रूप हैं।

जीव भी प्रदेशों के समूह रूप होने से अस्तिकाय है। अत: जीवास्तिकाय सहित पाँच तत्त्व अस्तिकाय रूप हैं। परंतु यहाँ अजीव का प्रकरण होने से चार तत्त्वों को अस्तिकाय रूप कहा जाता है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के तीन–तीन भेद हैं – स्कंध, देश, प्रदेश। पुद्गलास्तिकाय के चार भेद हैं – स्कंध, देश, प्रदेश, परमाणु। इस तरह अजीव तत्त्व के कुल 13 भेद हैं।

स्कंध यानी संपूर्ण वस्तु। देश यानी वस्तु का कोई एक सविभाज्य भाग। सविभाज्य यानी जिसके अन्य विभाग हो सकते हैं। जिसके अन्य विभाग हो सके, वैसा कोई एक अंश, वह देश। स्कंध और देश की विचारणा में इतना विशेष है कि सविभाज्य भाग यदि वस्तु के साथ प्रतिबद्ध हो तो देश कहलाता है किंतु यदि वस्तु से अलग हो गया हो तो एक अपेक्षा से देश कहलाता है और दूसरी अपेक्षा से स्कंध कहलाता है। अलग हुआ भाग जिस वस्तु से अलग हुआ है, उस वस्तु की अपेक्षा देश कहलाता है क्योंकि वह उसका एक भाग है परंतु यदि उसे मूल वस्तु की अपेक्षा बिना स्वंतत्र वस्तु मानें तो स्कंध कहलाता है क्योंकि स्कंध यानी संपूर्ण वस्तु। पुद्गलास्तिकाय से अन्य सभी द्रव्यों में कभी भी विभाग अलग नहीं होता, सिर्फ पुद्गलास्तिकाय में ही विभाग अलग होता है। इसलिए यह विचारणा पुद्गलास्तिकाय के आश्रय से ही है।

प्रदेश यानी वस्तु के साथ संबद्ध निर्विभाज्य अंश। निर्विभाज्य अंश यानी जिसके केवली की दृष्टि से भी दो टुकड़े न हो सके, ऐसा सूक्ष्म अंतिम अंश। परमाणु यानी मूल वस्तु से भिन्न हुआ एक निर्विभाज्य अंश।[1]

प्रदेश और परमाणु में अंतर–केवली की दृष्टि से भी जिसके दो टुकड़े न हो सके, ऐसा अंतिम सूक्ष्म अंश प्रदेश भी कहलाता है और परमाणु भी कहलाता है। दोनों में फर्क इतना ही है कि वह सूक्ष्म अंश यदि स्कंध के साथ प्रतिबद्ध हो तो प्रदेश कहलाता है और यदि स्कंध से अलग हो तो परमाणु कहलाता है। इसलिए प्रदेश ही स्कंध से अलग होकर परमाणु का नाम धारण करता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय ओर जीवास्तिकाय, इन चार द्रव्यों के तीन भेद हैं – स्कंध, देश, प्रदेश । परमाणु रूप चौथा भेद नहीं है क्योंकि ये चार द्रव्य स्वयं के सभी प्रदेशों के साथ हमेशा संबद्ध ही रहते हैं, इन चार द्रव्यों में से एक भी प्रदेश कभी भी

---

① शास्त्रों में स्कंध–देश–प्रदेश–परमाणु की व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए मोदक का दृष्टांत दिया जाता है । कोई लड्डु है, वह पूरा एक स्कंध है । उस लड्डु का आधा या एक तिहाई या एक चौथाई अथवा कोई भी भाग (एक कण के अलावा दो कण तक का) देश है । उस लड्डु का सबसे छोटा एक कण, जिसके हम दो भाग न कर सके, वह कण यदि लड्डु से जुडा हुआ है तो प्रदेश है। वही कण लड्डु से अलग हो जाने पर परमाणु कहलाता है । यह काल्पनिक दृष्टांत है, बाकी तो असंख्य परमाणु के स्कंधों को भी हम इन्द्रियों से नही जान सकते, अनंतानंत परमाणु के स्कंध को ही हम इन्द्रियों से जान सकते हैं ।

अलग नहीं होता। पुद्गल के ही स्कंध में से प्रदेश अलग होते हैं, उन्हें परमाणु कहा जाता है। प्रदेश और परमाणु का कद समान ही होता है क्योंकि दोनों वस्तु के निर्विभाज्य अंतिम सूक्ष्म अंश हैं।①

प्रश्न – नवतत्त्व प्रकरण ग्रंथ में अजीवकाय के 14 भेद बताए हैं जबकि यहाँ 13 भेद बताए हैं, इसका क्या कारण?

उत्तर – नवतत्त्व प्रकरण में काल की द्रव्य में गणना की है। इसलिए काल सहित अजीवकाय के 14 भेद होते हैं। परंतु यहाँ ग्रंथकार ने काल को द्रव्य नहीं माना। ग्रंथकार आगे 'कालश्चेत्येके (सूत्र 5–38)' से कोई काल को भी द्रव्य कहते हैं, ऐसा सूचन करते हैं। अत: ग्रंथकार काल का द्रव्य रूप में स्वीकार नहीं करते, ऐसा प्रतीत होता है। प्रस्तुत ग्रंथकार ने जैसे काल का द्रव्य रूप में स्वीकार नहीं किया वैसे जो काल को द्रव्य मानते हैं, उनका खंडन भी नहीं किया। अत: ग्रंथकार इस विषय में मध्यस्थ रहे, ऐसा लगता है। काल को किस दृष्टि से द्रव्य मानते हैं और काल को द्रव्य नहीं मानने में क्या तर्क है, उसका विचार 'कालश्चेत्येके (सूत्र 5–38)' और 'सोऽनन्तसमय: (सूत्र 5–39)' में किया है।

धर्मास्तिकाय आदि तत्त्वों की विशेष संज्ञा–

द्रव्याणि जीवाश्च।।५-२।।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये 5 द्रव्य हैं।

धर्मास्तिकाय आदि की सामान्य संज्ञा 'द्रव्य' हैं और विशेष संज्ञा 'धर्मास्तिकायादि' है। द्रव्य का लक्षण अर्थात् द्रव्य किसे कहते हैं, वह सूत्र 5–37 में कहेंगे।

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों मे समानता–

नित्याऽवस्थितान्यरूपाणि च।।५-३।।

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित = स्थिर हैं तथा अरूपी हैं।

धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यों में नित्यता, अवस्थितता और पुद्गल के अलावा चार द्रव्यों में अरूपीपन का साधर्म्य = समानता है–

नित्यता = जिसके धर्मों का विनाश न हो वह नित्य। अस्तित्व वगैरह सामान्य धर्म और निमित्तकारणता वगैरह विशेष धर्मों ② का कभी विनाश न होने से धर्मास्तिकायादि पाँचों द्रव्य नित्य हैं।③

अवस्थितता = जिसके धर्मों का परावर्तन = संक्रमण नहीं होता, वह अवस्थित। जीव में जड़ के गुण का और जड़ में जीव के गुण का परिवर्तन = संक्रमण नहीं होता। ये द्रव्य स्वयं के गुणों में ही अवस्थित रहते हैं। अथवा अवस्थान यानी संख्या की हानि–वृद्धि का अभाव धर्मास्तिकाय आदि पाँचों द्रव्य सदा स्थिर रहते हैं अर्थात् कम होकर चार नहीं होते और ज्यादा होकर छह नहीं होते, जितने हैं उतने ही रहते हैं।

---

① एक आकाश प्रदेश, एक आत्मप्रदेश, धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, पुद्गल का एक परमाणु और पुद्गलस्कंध का एक प्रदेश इन सब का कद समान ही होता है।

② सामान्य धर्म= जो धर्म पाँचो द्रव्यों में समान हो, विशेष धर्म = जो धर्म सभी द्रव्यों में न हो, किसी एक द्रव्य में ही हो । जैसे रूपीपन पुद्गल में ही है, अत: रूपीपना पुद्गल का विशेष धर्म है ।

③ भावार्थ यह है कि जो वस्तु कभी भी अपना स्वरूप नही छोडती,वह नित्य है। पाँचो द्रव्य कभी भी अपना स्वरूप नहीं छोडते, अनादि अनंत काल तक यह द्रव्य थे और रहेंगे ।

अरूपीपन = अरूपीपन यानी रूप का अभाव। यहाँ अरूपीपन के उपलक्षण से रस, गंध, स्पर्श वगैरह गुणों का भी अभाव लेना। पुद्गल से अन्य चारों द्रव्य अरूपी हैं अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण से रहित हैं। इसलिए इन चार द्रव्यों का चक्षु आदि इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता। ज्ञानावरणीय कर्म रहित आत्मा (सर्वज्ञ) ही इन चार द्रव्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकते हैं।

रूपी द्रव्य –

रूपिणः पुद्गलाः।।५-४।।

पुद्गल रूपी हैं।

पाँच द्रव्यों में सिर्फ पुद्गल द्रव्य ही रूपी है। इसलिए हमें चक्षु आदि इन्द्रिय द्वारा पुद्गल का या पुद्गल के गुणों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जहाँ रूप होता है, वहाँ रस–गंध–स्पर्श वगैरह गुण भी अवश्य होते हैं। इसलिए रूप की तरह रस–गंध–स्पर्श वगैरह गुण भी पुद्गल द्रव्य के ही हैं। हमें आँख से जो कुछ दिखता है, कान से जो कुछ सुनाई देता है, नाक से जो कुछ गंध आती है, जीभ से जो स्वाद आता है और स्पर्शेन्द्रिय से जो स्पर्श का अनुभव होता है, वह सब पुद्गल ही हैं।

आकाश तक के द्रव्यों की एकता–

आऽऽकाशादेकद्रव्याणि।।५-५।।

आकाश तक के द्रव्य एक–एक ही हैं।

जगत् में जीव अनेक हैं, पुद्गल भी अनेक हैं परंतु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशस्तिकाय, ये तीनों द्रव्य एक–एक हैं। धर्मास्तिकाय आदि के स्कंध आदि भेद बुद्धि की कल्पना से किए जा सकते हैं, वे भेद मूल द्रव्य से अलग नहीं कर सकते। इससे विपरीत जीव द्रव्य अनेक व्यक्ति रूप में अनंत हैं, पुद्गल द्रव्य भी अनंत हैं।

आकाशादि द्रव्यों में निष्क्रियता–

निष्क्रियाणि च।।५-६।।

आकाश तक के द्रव्य निष्क्रिय = क्रिया रहित हैं।

यहाँ सामान्य क्रिया का निषेध नहीं है किंतु गति वगैरह विशेष क्रिया का निषेध है। जैसे–जीव और पुद्गल एक जगह से अन्यत्र गमनागमनादि करते हैं, वैसे ये धर्मास्तिकायादि तीन द्रव्य गमनागमनादि क्रियाएँ नहीं करते। परंतु उत्पाद–व्यय रूप [①] क्रिया तो उनमें भी होती ही है क्योंकि जैनदर्शन प्रत्येक वस्तु में पर्याय की अपेक्षा उत्पाद–व्यय मानता है।

धर्म–अधर्म द्रव्यों में प्रदेशों का परिमाण–

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः।।५-७।।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के असंख्य प्रदेश हैं।

① उत्पाद–व्यय का अर्थ 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् (सूत्र 5-29)' के विवेचन में देखें।

वस्तु के साथ प्रतिबद्ध निर्विभाज्य सूक्ष्म अंश प्रदेश कहलाता है। ऐसे प्रदेश धर्म और अधर्म द्रव्य के असंख्य–असंख्य हैं।

प्रत्येक जीव के प्रदेश का परिमाण–

जीवस्य च।।५-८।।

प्रत्येक जीव के असंख्य प्रदेश हैं।

जीव अनंत हैं। प्रत्येक जीव के प्रदेश समान रूप से असंख्य हैं अर्थात् एक जीव के जितने असंख्य प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश दूसरे जीव के, उतने ही तीसरे जीव के.... इस तरह हर जीव के उतने ही प्रदेश हैं। एक जीव के जितने असंख्य प्रदेश होते हैं, दूसरे जीव के प्रदेश उससे कम या अधिक होते हैं, ऐसा नहीं है। एक जीव के जितने असंख्य प्रदेश हैं उतने ही असंख्य प्रदेश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के भी हैं।

आकाश के प्रदेशों का परिमाण–

आकाशस्यानन्ता:।।५-९।।

आकाश के अनंत प्रदेश हैं।

आकाश के दो भेद हैं– लोकाकाश और अलोकाकाश। यहाँ आकाश के अनंत प्रदेशों का कथन लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों के समुदित प्रदेशों की अपेक्षा से है। प्रत्येक के प्रदेशों की विचारणा करें तो लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं और अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं।

पुद्गल के प्रदेशों का परिमाण–

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम्।।५-१०।।

पुद्गल द्रव्य के संख्य, असंख्य और अनंत प्रदेश हैं।

जीव की तरह पुद्गल द्रव्य भी अनंत हैं। किसी पुद्गल द्रव्य के संख्य प्रदेश होते हैं, किसी पुद्गल द्रव्य के असंख्य प्रदेश होते हैं, किसी पुद्गल द्रव्य के अनंत प्रदेश होते हैं। संख्य प्रदेश वाले पुद्गल द्रव्यों में भी अनेक भेद होते हैं। किसी पुद्गल द्रव्य में दो प्रदेश, किसी में तीन प्रदेश, किसी में चार प्रदेश, किसी में सौ प्रदेश, किसी में करोड़ प्रदेश, किसी में उससे भी अधिक प्रदेश होते हैं। इसी प्रकार संख्य प्रदेश वाले और असंख्य प्रदेश वाले पुद्गलों में भी अनेक भेद होते हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश के प्रदेश संकोच–विकास की क्रिया से रहित हैं, सदा विस्तृत ही होते हैं जबकि जीव और पुद्गल के प्रदेश संकोच–विकास करते हैं। जीव हाथी के शरीर से निकलकर चींटी के शरीर में आता है तब आत्मप्रदेशों का संकोच होने से सर्वप्रदेश चींटी के शरीर में ही समा जाते हैं। इसी प्रकार जीव छोटे शरीर से बड़े शरीर में जाता है तब शरीर अनुसार आत्मप्रदेशों का विकास होता है। छोटा शरीर जैसे–जैसे बड़ा होता है वैसे–वैसे आत्मप्रदेशों का विकास होता है। अत: आत्मप्रदेश शरीर के बाहर रहते हो या शरीर के कुछ भाग में न हो, ऐसा कभी नहीं होता। आत्मप्रदेश पूरे शरीर में फैलकर रहते हैं।

पुद्गल के प्रदेशों का भी संकोच–विकास होता है, ऐसा तो हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। पूरे कमरे में बिखरे हुए दीपक के प्रकाश के पुद्गल दीपक को छोटी पेटी में रखने पर संकुचित होकर उतने अवकाश में ही समा जाते हैं। दीपक को बाहर निकालने पर प्रकाश के प्रदेशों का विकास होने से वे प्रदेश संपूर्ण कमरे में फैल जाते हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और जीव के प्रदेश मूल द्रव्य से कभी अलग नहीं होते क्योंकि धर्मास्तिकायादि अरूपी है और अरूपी द्रव्यों में संश्लेष (जुड़ना) या विश्लेष (अलग होना) का अभाव होता है। पुद्गल द्रव्य के प्रदेश मूल द्रव्य से अलग भी होते हैं और जुड़ते भी हैं। ऐसे ही एक स्कंध के प्रदेश उस स्कंध से अलग होकर अन्य स्कंध में जुड़ जाते हैं। इसलिए पुद्गल द्रव्य के स्कंधों के प्रदेशों की संख्या अनियत ही रहती है। एक ही स्कंध में कभी संख्य कभी असंख्य तो कभी अनंत प्रदेश होते हैं।

परमाणु में प्रदेशों का अभाव–

नाणोः।।५-११।।

अणु=परमाणु के प्रदेश नहीं है।

अणु स्वयं ही अविभाज्य अंश है। इसलिए यदि अणु के प्रदेश हो तो अणु कहलाएगा ही नहीं। अणु कभी आँखों से नहीं देखा जा सकता, उसे विशिष्ट ज्ञान से ही देख सकते हैं। अणु निरवयव है। उसे आदि, मध्य या अंत में कोई अवयव नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा माना गया अणु वास्तविक नहीं है, बल्कि वह अनंत प्रदेशात्मक स्कंध है।

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का आधार क्षेत्र–

लोकाकाशेऽवगाहः ।।५-१२।।

धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य लोकाकाश में हैं।

आकाश के दो भेद हैं – लोकाकाश और अलोकाकाश। जितने आकाश में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य हैं, उतना आकाश लोकाकाश है और शेष आकाश अलोकाकाश है। 'धर्मास्तिकायादि द्रव्य लोकाकाश में हैं' यह बात लोकाकाश की उपर्युक्त व्याख्या से ही सिद्ध हो जाती है। लोकाकाश में अन्य द्रव्य को अवगाह = जगह देने का स्वभाव है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकाकाश में ही होने से जीव और पुद्गल भी लोकाकाश में ही रहते हैं क्योंकि जीवों तथा पुद्गलों को गति करने में धर्मास्तिकाय और स्थिति करने में अधर्मास्तिकाय की सहायता आवश्यक है। इसलिए जहाँ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय होते हैं वहाँ ही जीव और पुद्गल गति–स्थिति कर सकते हैं। अलोकाकाश में अन्य द्रव्य को अवगाह = जगह देने का स्वभाग होने पर भी वहाँ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय न होने से जीव या पुद्गल गति–स्थिति नहीं कर सकते।[①]

धर्मास्तिकाय आदि के स्थितिक्षेत्र की मर्यादा–

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने।।५-१३।।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्।।५-१४।।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम्।।५-१५।।

① आकाश का आधार नहीं है। वह स्वप्रतिष्ठित है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय संपूर्ण लोकाकाश में हैं। लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर असंख्य तक में पुद्गलद्रव्य रहता है। लोकाकाश में अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण लोकाकाश तक जीवद्रव्य रहता है।

लोकाकाशेऽवगाह: (सूत्र 5–12) में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं, यह बताया है, लेकिन संपूर्ण लोकाकाश में हैं या उसके कुछ भाग में हैं, यह नहीं बताया। ये तीन सूत्र इस प्रश्न के उत्तर रूप हैं।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय संपूर्ण लोक में फैले हुए हैं। लोकाकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है, जहाँ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय न हो। इसलिए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश, इन तीनों के प्रदेश समान हैं। जितने प्रदेश धर्मास्तिकाय के हैं, उतने ही प्रदेश अधर्मास्तिकाय के हैं और उतने ही प्रदेश लोकाकाश के हैं।

पुद्गल द्रव्य व्यक्ति रूप में अनेक हैं। प्रत्येक पुद्गल द्रव्य के अवगाहना क्षेत्र का प्रमाण भिन्न–भिन्न होता है। कोई पुद्गलद्रव्य लोकाकाश के एक प्रदेश में, कोई दो प्रदेश में.... यावत् कोई पुद्गल असंख्य प्रदेश में रहता है। जैसे – परमाणु एक प्रदेश में रहता है, द्व्यणुक(दो प्रदेश वाला स्कंध) एक या दो प्रदेश में रहता है, त्र्यणुक(तीन प्रदेश वाला स्कंध) एक, दो या तीन प्रदेश में रहता है। संख्यात प्रदेश वाला स्कंध एक, दो..... यावत् संख्य प्रदेश में रहता है। असंख्य प्रदेश वाले स्कंध एक, दो, तीन.... यावत् असंख्य प्रदेश में रहते हैं। अनंत प्रदेश वाले स्कंध एक, दो.... यावत् संख्य या असंख्य प्रदेश में रह सकते हैं। लोकाकाश असंख्य प्रदेश प्रमाण ही है।

जैसे पुद्गल द्रव्य, व्यक्ति रूप में अनेक होने से प्रत्येक द्रव्य का अवगाहना क्षेत्र भिन्न–भिन्न होता है, वैसे पुद्गल द्रव्य के परिणमन की विविधता(=विचित्रता) होने से एक ही पुद्गल द्रव्य का अवगाहना क्षेत्र भी भिन्न–भिन्न काल में भिन्न–भिन्न होता है। एक विवक्षित समय में जो अनंतप्रदेशी स्कंध एक आकाश–प्रदेश में है, वही स्कंध कुछ समय बाद दो, तीन.... यावत् असंख्य प्रदेश में भी रह सकता है। इस तरह जो स्कंध असंख्य प्रदेश में है, वह कुछ समय बाद एक प्रदेश में भी रह सकता है। इस प्रकार जो स्कंध जितने प्रदेश का होता है, वह उतने या उससे कम आकाश प्रदेशों में रह सकता है, लेकिन कभी उससे अधिक प्रदेश में नही रहता। अत: पुद्गल द्रव्य का अवगाहना क्षेत्र कम–से–कम एक प्रदेश और ज्यादा–से–ज्यादा लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेश हैं। चाहे कितना भी बड़ा पुद्गल स्कंध हो, वह लोकाकाश में समा जाता है।

प्रश्न – अनंतप्रदेशी स्कंध एक प्रदेश में कैसे रहता है?

उत्तर – यह पुद्गलों का स्वभाव है कि वे एक–दूसरे के अंदर प्रवेश करते हैं तथा आकाश का भी पुद्गलों को उस तरह अवगाहना देने का स्वभाव है। अत: अनंतप्रदेशी एक स्कंध तो क्या! अनंतप्रदेशी अनंत स्कंध भी एक प्रदेश में रह सकते हैं। जैसे – जिस कमरे में हजारों दीपक का तेज व्याप्त हो, उस कमरे के एक–एक प्रदेश में तेज के हजारों पुद्गल हैं। 12 इंच लंबी रूई को संकोच करें तो वह एक इंच से भी छोटी हो जाती है। दूध से भरे ग्लास में जगह न होने पर भी शक्कर डालने पर उसमें समा जाती है।

इस प्रकार जैसे अग्नि का जलाने का स्वभाव है और घास का जलने का स्वभाव है, वैसे पुद्गलों का सूक्ष्म परिणाम पाकर एकादि प्रदेशों में रहने का स्वभाव है और आकाश का उस प्रकार अवगहना देने का स्वभाव है।

पुद्गल की तरह जीव द्रव्य भी व्यक्ति रूप में अनेक हैं तथा प्रत्येक जीव के अवगाहना क्षेत्र का प्रमाण भिन्न–भिन्न होता है। जीव द्रव्य का न्यूनतम अवगाहनाक्षेत्र अंगुल का असंख्यातवां भाग और अधिकतम अवगाहना क्षेत्र संपूर्ण लोक है। कोई जीव अंगुल के एक असंख्यातवें भाग में रहेगा, कोई जीव दो असंख्यातवें भाग में....

यावत् कोई जीव कभी संपूर्ण लोक में रहता है। जब केवली भगवंत समुद्घात करते हैं तब उनके आत्मप्रदेश संपूर्ण लोकव्यापी बनते हैं। समुद्घात के समय ही जीव संपूर्ण लोक में व्याप्त होता है, शेष समय तो जीव स्वयं के शरीर जितने आकाश प्रदेश में ही रहता है। जैसे–जैसे शरीर बड़ा, वैसे–वैसे आकाश प्रदेश अधिक होते हैं। जैसे–जैसे शरीर छोटा, वैसे–वैसे आकाश प्रदेश कम होते हैं।

जैसे समकाल में अनेक जीव के अवगाहना क्षेत्र का प्रमाण भिन्न–भिन्न होता है, वैसे भिन्न–भिन्न काल की अपेक्षा से एक ही जीव की अवगाहना भी अलग–अलग होती है। हाथी के भव में जीव हाथी जितने शरीर में रहता है। वही जीव चींटी के भव में चींटी जितने शरीर में रहता है। अन्य भव में वही जीव अन्य शरीर में रहता है।

जीव की भिन्न अवगाहना का हेतु–

प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्।।५-१६।।

जीव प्रदेशों का दीपक की तरह संकोच–विकास होने से जीव की भिन्न–भिन्न अवगाहना होती है।

जैसे प्रदीप (प्रदीप के प्रकाश के पुद्गलों) का संकोच और विकास होता है वैसे जीवप्रदेशों का भी संकोच–विकास होता है। कमरे में फैले हुए दीपक के प्रकाश के पुद्गल दीपक को छोटी पेटी में रखने पर उतने में ही समा जाते हैं और बड़े कमरे में रखने पर पूरे कमरे में फैल जाते हैं। इसी तरह जीव के प्रदेशों का भी शरीर अनुसार संकोच–विकास होता रहता है। इसका कारण जीव और पुद्गलों का वैसा स्वभाव ही है। भिन्न–भिन्न वस्तु का भिन्न–भिन्न स्वभाव होता है।

प्रश्न – पुद्गल और जीव दोनों का संकोच–विकास करने का स्वभाव होने पर भी पुद्गल द्रव्य एक प्रदेश में रह सकता है और जीव एक प्रदेश में नही रह सकता। जीव की न्यूनतम अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग होने का क्या कारण है?

उत्तर – जीव का संकोच–विकास स्वंतत्र रूप से नहीं होता किंतु सूक्ष्म कार्मण शरीर अनुसार होता है। अत: जितना संकोच–विकास कार्मण शरीर का होता है। उतना ही संकोच–विकास जीव का होता है। कार्मण शरीर अनंतानंत पुद्गल के समूह रूप है। उसकी कम–से–कम अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग होने से जीव की भी न्यूनतम अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग है।

प्रश्न – सिद्ध के जीवों की अवगाहना पूर्व शरीर जितनी न होकर पूर्व शरीर से दो–तृतीयांश $^{2}/_{3}$ क्यों रहती है?

उत्तर – शरीर का तीसरा भाग शुषिर = पोला होता है। योगनिरोध [1] के समय वह शुषिर पूर जाने से जीव के तीसरे भाग का संकोच हो जाता है, इसलिए सिद्ध अवस्था में जीव की अवगाहना पूर्व शरीर से $^{2}/_{3}$ भाग रहती है।

धर्मास्तिकाय – अधर्मास्तिकाय का लक्षण–

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माऽधर्मयोरुपकार:।।५-१७।।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का क्रमश: गति–उपग्रह और स्थिति–उपग्रह उपकार है।

यहाँ उपग्रह का अर्थ निमित्तकारण है। उपकार का अर्थ कार्य है। जीव और पुद्गलों का गति और स्थिति करने का स्वभाव है। जीव और पुद्गल जब गति करते हैं, तब धर्मास्तिकाय गति में सहायता करता है और स्थिति

[1] योगनिरोध का वर्णन देखें, सूत्र 9–41 में शुक्लध्यान के द्वितीय–तृतीय भेद में।

करते है तब अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायता करता है। जीव–पुद्गल को गति और स्थिति में मदद करना ही क्रमश: धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का कार्य है। जैसे मछली में तैरने की शक्ति होने पर भी उसे तैरने में पानी की सहायता लेनी पड़ती है। मनुष्य में स्थिर रहने की शक्ति होने पर भी उसे पृथ्वी की मदद चाहिए। चक्षु में देखने की शक्ति होने पर भी उसे प्रकाश की सहायता की अपेक्षा है। ऐसे ही जीव–पुद्गल में गति और स्थिति की शक्ति होने पर भी उन्हें क्रमश: धर्मास्तिकाय और अधर्मस्तिकाय की सहायता लेनी पड़ती है। धर्मास्तिकाय बिना गति नहीं हो सकती और अधर्मास्तिकाय बिना स्थिति नहीं हो सकती।

प्रश्न – जीव ओर पुद्गल की गति–स्थिति मात्र स्वशक्ति से ही होती है। उसमें अन्य कोई कारण मानने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए ही नैयायिक, वैशेषिक वगैरह अन्य दर्शनकार इन दो द्रव्यों को नहीं मानते।

उत्तर – यदि जीव और पुद्गल की गति–स्थिति मात्र स्वशक्ति से ही होती है तो अलोकाकाश में उनकी गति–स्थिति क्यों नहीं होती? लोकाकाश में ही क्यों होती है? अत: गति–स्थिति में स्वशक्ति के अलावा अन्य कोई निमित्त कारण भी होना ही चाहिए। दूसरा, स्वशक्ति अंतरंग कारण है। केवल अंतरंग कारण से कार्य नहीं होता। अंतरंग और बाह्य दोनों कारण मिले तो ही कार्य होता है। जैसे पक्षी में उडने की शक्ति है परंतु पंख या हवा न हो तो वह नहीं उड़ सकता, वैसे जीव और पुद्गल में गति–स्थिति करने की शक्ति होने पर भी यदि बाह्य कारण धर्मास्तिकाय–अधर्मास्तिकाय न हो तो गति–स्थिति नहीं हो सकती। अत: जीव और पुद्गल की गति के कारण रूप में धर्मास्तिकाय की और स्थिति के कारण रूप में अधर्मास्तिकाय की सिद्धि होती है।

प्रश्न – जीव और पुद्गल की गति और स्थिति के बाह्य कारण रूप में आकाश को मानने से गति–स्थिति हो सकती है। जैसे पानी मछली का आधार होने के साथ–साथ गति–स्थिति में कारण भी है, वैसे आकाश को ही जीव–पुद्गल के आधार रूप मानने से और गति–स्थिति के कारण रूप मानने से इष्ट की सिद्धि हो जाती है। अत: धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को मानने की आवश्यकता नहीं है।

उत्तर – यदि आकाश ही गति–स्थिति में कारण हो तो अलोकाकाश में गति–स्थिति क्यों नहीं होती? अलोक में भी आकाश है। वहाँ जीव–पुद्गल की गति–स्थिति न होने से आकाश से अन्य कोई दूसरा द्रव्य होना चाहिए जो जीव–पुद्गल की गति–स्थिति में कारण हो। तथा जो गति में कारण होगा, वह स्थिति में कारण नहीं हो सकता; जो स्थिति में कारण होगा, वह गति में कारण नहीं हो सकता। अत: गति और स्थिति के अलग–अलग कारण रूप दो द्रव्य होने ही चाहिए। ये दो द्रव्य ही धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय हैं। 'गति रूप में परिणत जीव–पुद्गलों को गति में सहायक होना' धर्मास्तिकाय का लक्षण [1] है। 'स्थिति रूप में परिणत जीव–पुद्गलों को स्थिति में सहायक होना' अधर्मास्तिकाय का लक्षण है।

आकाश का लक्षण–

आकाशस्यावगाह: ।। ५-१८।।

आकाश का उपकार अवगाह (जगह देना) है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव और पुद्गल चारों द्रव्य को आकाश अवगाह देता है। आकाश का यह कार्य लक्षण रूप है। अत: 'धर्मास्तिकायादि द्रव्यों को अवगाह प्रदान करना' आकाश का लक्षण है।

पुद्गल का उपकार–

---

[1] लक्षण यानी वस्तु की पहचान कराने वाला असाधारण धर्म (= जो अन्य वस्तु में नहीं रहता हो वैसा धर्म) वर्णन देखें सूत्र 2-8 के विवेचन में।

शरीर-वाङ्-मनः-प्राणापानाः पुद्गलानाम्।।५-१९।।

सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च।।५-२०।।

शरीर, वाणी, मन और प्राणापान = श्वासोच्छ्वास पुद्गलों का उपकार है। तथा सुख, दुःख, जीवित और मरण भी पुद्गल का उपकार है।

इन दो सूत्रों में पुद्गलों का जीवों की अपेक्षा से मात्र उपकार बताया है, उनका लक्षण तो 'स्पर्श-रस-गंध-वर्णवन्तः पुद्गलाः (सूत्र 5-23)' में कहेंगे।

1. शरीर पाँच हैं। उनका वर्णन सूत्र 2-37 में आ चुका है। पाँचों शरीर पुद्गल के परिणाम रूप होने से पौद्गलिक है।

2. वाणी – भाषा भी पौद्गलिक है। जीव जब बोलता है तब पहले आकाश में स्थित भाषावर्गणा (=भाषा रूप में बनने योग्य) पुद्गलों को ग्रहण करता है। बाद में उन पुद्गलों को प्रयत्न विशेष से भाषा रूप में परिणत करता है। फिर उन पुद्गलों को प्रयत्न विशेष द्वारा छोड़ता है। भाषा रूप में परिणत पुद्गल ही शब्द हैं। भाषा रूप में परिणत पुद्गलों को छोड़ना ही बोलने की क्रिया है। भाषा रूप में परिणमित पुद्गलों को छोड़ने से अर्थात् बोलने से उन पुद्गलों में ध्वनि उत्पन्न होती है। इस प्रकार वाणी (शब्द) भाषावर्गणा के पुद्गलों का परिणाम होने से पौद्गलिक द्रव्य है। कुछ दर्शनकार वाणी को आकाश का गुण मानते हैं लेकिन वह असत्य है। भाषा (शब्द) का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है और भाषा स्वरपेटी रसनेन्द्रिय आदि की सहाय से उत्पन्न होती है।

प्रश्न – एक बार सुनने के बाद पुनः वही शब्द क्यों नहीं सुन सकते?

उत्तर – जैसे एक बार दिखाई देती बिजली उसके पुद्गल बिखर जाने से पुनः नहीं दिखती, वैसे एक बार सुनाई देते शब्द उसके पुद्गल चारों ओर बिखर जाने से पुनः सुनाई नहीं देते।

प्रश्न – ग्रामोफोन की रेकॉर्ड, सीडी, डीवीडी वगैरह में वही शब्द पुनः कैसे सुनाई देते हैं?

उत्तर – जैसे चमकती बिजली का फोटो खींच लें तो वही बिजली बार-बार देख सकते हैं, वैसे शब्द रूप पुद्गल को ग्रामोफोन की रेकॉर्ड, सीडी, डीवीडी वगेरह में संस्कारित कर दिए होने से वे शब्द हम पुनः-पुनः सुन सकते हैं, परंतु पुद्गल तो बदल ही जाते हैं। मूल शब्द दूसरी बार नहीं सुन सकते।

प्रश्न – भाषा (शब्द) यदि पुद्गल हो तो शरीर की तरह आँखों से क्यों नही दिखता?

उत्तर – शब्द के पुद्गल अत्यंत सूक्ष्म होने से आँखों से नहीं देख सकते। शब्द केवल श्रोत्रेन्द्रिय से ही ग्राह्य है।

प्रश्न – भाषा आँख से तो नहीं दिखती इसलिए उसे अरूपी मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर – भाषा को अरूपी मानने से अनेक विरोध उत्पन्न होंगे। वह इस प्रकार-

1. अरूपी वस्तु रूपी इन्द्रिय की मदद से नहीं जान सकते जबकि शब्द रूपी श्रोत्रेन्द्रिय की मदद से जान सकते हैं।

2. रूपी पदार्थ अरूपी पदार्थ को गति में सहायता नहीं कर सकता। जबकि शब्द को वायु सहायक है। इसलिए ही वायु अनुकूल होने पर हम दूर के शब्द भी सुन सकते हैं और वायु प्रतिकूल होने पर पास के शब्द भी नहीं सुन सकते।

3. अरूपी वस्तु को रूपी पदार्थ से ग्रहण नहीं किया जा सकता परंतु जैसे केमरे से दृश्यमान पदार्थ का फोटो खींच सकते हैं, वैसे रेडियो, फोन वगैरह से शब्द को ग्रहण कर सकते हैं = संस्कारित कर सकते हैं।

3. मन – मन भी पुद्गल के परिणाम रूप होने से पौद्गलिक है। जीव जब विचार करता है तब पहले आकाश में रहे मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है। फिर उन पुद्गलों को मन रूप में परिणमित करता है। यहाँ मन रूप में परिणत पुद्गलद्रव्य के आलंबन वाला जीव का चिंतन रूप व्यापार विचार है। मन रूप में परिणत पुद्गल द्रव्य के आश्रय से मन पौद्गलिक है। इस प्रकार मन रूप में परिणत पुद्गल ही मन है।

मन के दो भेद हैं – द्रव्य और भाव। भाव मन के दो भेद हैं – लब्धि और उपयोग। विचार करने की शक्ति लब्धि रूप भाव मन है। विचार उपयोग रूप भावमन है। विचार करने में सहायक मन रूप में परिणत मनोवर्गणा के पुद्गल द्रव्यमन है। यहाँ द्रव्यमन को ही पौद्गलिक कहाँ है, भावमन को तो उपचार से पौद्गलिक कहा जाता है।

4. प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) – जीव जब श्वासोच्छ्वास लेता है, तब पहले श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है। फिर श्वासोच्छ्वास रूप में परिणमित करता है। बाद में श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत पुद्गलों को छोड़ देता है। श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत इन पुद्गलों को छोड़ना ही प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) है। इस तरह श्वासोच्छ्वास भी पुद्गल के परिणाम रूप है।

हाथ से मुख और नाक बंद करने से श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात होता है। कंठ में कफ भर जाने पर श्वासोच्छ्वास का अभिभव होता है। अत: श्वासोच्छ्वास पुद्गल द्रव्य है, ऐसा सिद्ध होता है।

इस तरह शरीर, भाषा, मन और प्राणापान चारों पुद्गल के परिणाम रूप हैं अर्थात् पौद्गलिक हैं।

(सूत्र 5–20 का वर्णन–)

1. सुख – सुख यानी साता वेदनीय कर्म के उदय से इष्ट स्त्री, भोजन, वस्त्र आदि द्वारा उत्पन्न होने वाली मानसिक प्रसन्नता, आनंद। इस सुख में दो कारण हैं– बाह्य और अभ्यंतर। सातावेदनीय कर्म का उदय अभ्यंतर कारण है। इष्ट भोजन आदि की प्राप्ति बाह्य कारण है। ये दोनों कारण पुद्गल रूप होने से सुख पुद्गल का उपकार है।

2. दु:ख – दु:ख यानी असातावेदनीय कर्म के उदय से अनिष्ट भोजन–वस्त्र आदि द्वारा उत्पन्न होने वाला मानसिक संक्लेश, दु:ख असातावेदनीय कर्म के उदय रूप अभ्यंतर और अनिष्ट भोजनादि की प्राप्ति रूप बाह्य कारण से होता है। ये दोनों कारण पौद्गलिक होने से दु:ख पुद्गल का उपकार है।

3. जीवित – (जीवन) भवस्थिति में कारण आयुष्यकर्म के उदय से प्राण का टिकना जीवित = जीवन है। यह जीवन आयुष्य कर्म, भोजन, श्वासोच्छ्वास आदि अभ्यंतर और बाह्य कारण से चलता है। ये कारण पौद्गलिक होने से जीवित (जीवन) पुद्गल का उपकार है।

4. मरण – मरण यानी वर्तमान जीवन का अंत। मरण आयुष्य कर्म के क्षय, विषभक्षण आदि अभ्यंतर और बाह्य पुद्गल की सहायता से होता है। अत: मरण पुद्गल का उपकार है।

प्रश्न – शरीर आदि पुद्गल का उपकार है और सुख आदि भी पुद्गल का उपकार है तो यहाँ दोनों एक सूत्र में क्यों नहीं लिखे? अलग–अलग सूत्र क्यों बनाए?

उत्तर – शरीर आदि पुद्गल का उपकार है अर्थात् पुद्गल का कार्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर आदि कार्य में पुद्गल कारण है। कारण दो प्रकार के होते हैं– उपादान कारण ओर निमित्त कारण। यहाँ शरीर आदि

में पुद्गल उपादान = परिणामी [1] कारण है। और सुख आदि में पुद्गल निमित्त कारण है। उपादान कारण उसे कहते हैं, जो कारण स्वयं कार्य रूप बना जाए। जो कारण स्वंतत्ररूप से अगल रहकर कार्य में सहाय करे, वह निमित्त कारण है। प्रस्तुत में विचार करने पर पता चलेगा कि शरीर आदि कार्य में पुद्गल स्वयं ही शरीर रूप बन जाता है जबकि सुख आदि कार्य में पुद्गल सुख रूप नहीं बनता किंतु सुख आदि उत्पन्न होने में मात्र सहाय करता है। जैसे – घट रूप कार्य में मिट्टी और कुम्हार दोनों कारण है लेकिन मिट्टी स्वयं ही घट रूप बन जाने से उपादान कारण है और कुम्हार स्वतंत्र रूप से अलग रहकर घट की उत्पत्ति में सहायता करता है इसलिए वह निमित्त कारण है।

अब दूसरी तरह से विचारते हैं। घट मिट्टी का कार्य है और रोग शांत करना भी मिट्टी का कार्य है। लेकिन घट रूप कार्य में मिट्टी स्वयं ही घड़े रूप में परिणत होती है जबकि रोग की शांति में मिट्टी अलग स्वरूप में रहकर उपकार करती है। अत: घट रूप कार्य के लिए मिट्टी उपादान कारण है। और रोग शांति रूप कार्य में मिट्टी निमित्त कारण है। इसी तरह शरीर आदि कार्य के प्रति पुद्गल उपादान कारण (परिणामी कारण) है और सुखादि कार्य में पुद्गल निमित्त कारण है। इस भेद का सूचन करने के लिए ग्रंथकार ने दो अलग सूत्र की रचना की है। तथा 'शरीर–वाङ् –मन:–प्राणापाना: पुदगलानाम् (सूत्र 5–19)' में शरीरादि शब्द का प्रथमा विभक्ति में प्रयोग किया है और 'सुख–दु:ख–जीवित–मरणोपग्रहाश्च (सूत्र 5–20)' में सुख वगैरह शब्दों के साथ उपग्रह शब्द जोड़ा है।

जीवों का परस्पर उपकार–

परस्परोपग्रहो जीवानाम्।।५-२१।।

परस्पर सहायता करना जीवों का उपकार है।

जीव का लक्षण 'उपयोगो लक्षणम् (सूत्र 2–8)' में कह दिया है। यहाँ जीवों के उपकार का कथन है। जीव स्वामी–सेवक, गुरु–शिष्य, शत्रु–मित्र आदि भावों द्वारा परस्पर एक–दूसरे के कार्य में निमित्त बनकर परस्पर उपकार करते हैं। गुरु हितोपदेश और सदनुष्ठान के आचरण द्वारा शिष्य पर उपकार करते हैं। शिष्य गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति करने द्वारा गुरु पर उपकार करता है। सेवक अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा स्वामी पर उपकार करता है। स्वामी धन आदि देने द्वारा सेवक पर उपकार करता है। दो शत्रु एक–दूसरे के प्रति वैरभाव रखकर, लड़कर या अन्य अयोग्य प्रवृत्ति द्वारा एक–दूसरे पर उपकार करते हैं।

प्रश्न – शत्रुता से तो एक–दूसरे पर अपकार होता है। आप 'उपकार होता है' ऐसा क्यों कहते हो?

उत्तर – यहाँ 'उपकार' का अर्थ 'अन्य का हित करना' नहीं है किंतु 'निमित्त' अर्थ है। जीव एक–दूसरे के हित–अहित सुख–दु:ख आदि में निमित्त बनने से परस्पर उपकार करते हैं।

काल का उपकार–

वर्तना परिणाम: क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य।।५-२२।।

काल का उपकार वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व है।

---

[1] जो स्वयं परिणमित होकर कार्य की उत्पत्ति करे , वह परिणामी कारण । उपादान स्वयं ही कार्य रूप में परिणमित होने से परिणामी कारण भी कहलाता है ।

यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रकार के मत में काल द्रव्य नहीं है, तथापि अन्य मत से काल द्रव्य है, ऐसा वे आगे कहने वाले हैं। यदि काल द्रव्य है तो उसका कोई उपकार होना चाहिए। अत: यहाँ उपकार के प्रकरण में काल का वर्तना आदि उपकार दर्शाया गया है।

1. वर्तना – प्रतिसमय उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य रूप स्वसत्ता से युक्त द्रव्य का वर्तन (रहना, होना) वर्तना है। यद्यपि द्रव्य स्वयं विद्यमान रहते हैं तो भी काल उसमें निमित्त बनता है अर्थात् सभी द्रव्य ध्रौव्य रूप में प्रत्येक समय स्वयं विद्यमान है और उन द्रव्यों में उत्पाद व्यय भी प्रत्येक समय हो रहे हैं। उसमें काल मात्र निमित्त कारण है। यह वर्तना, प्रतिसमय प्रत्येक पदार्थ में होती है। सूक्ष्म होने से हम उसे प्रत्येक समय नहीं जान सकते, असंख्य समय होने पर ही जान सकते हैं। जैसे – आधे घंटे में चावल पक गए तो यहाँ 29 मिनिट तक चावल नहीं पके थे और 30 वें मिनिट में पक गए, ऐसा नहीं है। पहले समय से ही चावल सूक्ष्म रूप में पक रहे थे। यदि पहले समय नहीं पकते तो दूसरे समय में भी नहीं पक सकते; दूसरे समय में नहीं पकते तो तीसरे समय में भी नहीं पक सकते.... यावत् अंतिम समय में भी चावल नहीं पकते। परंतु चावल पक गए हैं। इसलिए अवश्य मानना चाहिए कि प्रथम समय से ही उनमें पकने की क्रिया हो रही थी।

2. परिणाम – परिणाम यानी स्वयं की सत्ता का त्याग किए बिना द्रव्य में होने वाला फेरफार अर्थात् मूल द्रव्य में पूर्व पर्याय का नाश और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति, परिणाम कहलाता है। द्रव्य के परिणाम में काल का बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। यह ऋतु आने पर इस फल की उत्पत्ति होती है, ठंड–गर्मी–आर्द्रता वगैरह मौसम बदलते हैं, इनका कारण काल है। काल से बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था वगैरह अवस्थाएँ होती हैं। ये फेरफार (उत्पत्ति–विनाश) नियम रूप से क्रमश: होते रहते हैं। यदि काल को इनमें कारण नहीं मानें तो ये उत्पत्ति–विनाश एक साथ होने की आपत्ति होगी। परिणाम का विशेष वर्णन 'तद्भाव: परिणाम:'(सूत्र 5–41) में आएगा।

3. क्रिया – क्रिया यानी व्यापार। प्रयोग से या विस्रसा से जीव–अजीव का परिणमन (उस–उस रूप में बनने) के लिए होता व्यापार क्रिया है।

प्रयोग से – मैंने घट बनाया, मैं घट बनाता हूँ, मैं घट बनाऊँगा। विस्रसा से – विस्रसा यानी दूसरे द्वारा किए बिना स्वाभाविक रूप से। जैसे – बारिश हुई, बारिश हो रही है, बारिश होगी।

यहाँ काल होने के कारण ही भूत–वर्तमान–भविष्य तीनों काल की क्रिया का प्रयोग कर सकते हैं। अत: क्रिया में काल निमित्त हैं।

4. परत्वापरत्व – परत्व और अपरत्व दोनों सापेक्ष हैं। इसके तीन भेद हैं।

(क) प्रशंसाकृत – यह धर्म पर = श्रेष्ठ है, यह धर्म अपर = हल्का है। जैसे – जैनधर्म से अन्य धर्म हल्के है। यह परत्वापरत्व प्रशंसाकृत है।

(ख) क्षेत्रकृत – अहमदाबाद से महेसाणा पर = दूर है, अहमदाबाद से आणंद अपर = पास है, यहाँ परत्व – अपरत्व क्षेत्रकृत = क्षेत्र की अपेक्षा से है।

(ग) कालकृत – 10 वर्ष के लड़के से 16 वर्ष का लड़का पर = बड़ा है, 16 वर्ष के लड़के से 10 वर्ष का लड़का अपर = छोटा है। यह कालकृत= काल की अपेक्षा से परत्व–अपरत्व है।

तीन प्रकार के परत्वापरत्व में से यहाँ कालकृत परत्व–अपरत्व की विवक्षा है। अर्थात् कालकृत परत्वापरत्व काल का उपकार है।

पुद्गल का लक्षण–

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः।।५-२३।।

स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

स्पर्श–रस–गंध–वर्ण ये चार गुण जिसमें होते हैं, वह द्रव्य पुद्गल है। स्पर्श आदि चारों गुण एक साथ ही होते हैं अर्थात् जहाँ इनमें से कोई एक गुण होता है, वहाँ शेष तीन भी अवश्य होते हैं। 'अन्य गुण अव्यक्त हो' ऐसा हो सकता है। परंतु 'हो ही नहीं' ऐसा नहीं होता। जैसे – वायु के स्पर्श को हम जान सकते हैं, परंतु रूप को हम नहीं जान सकते क्योंकि वायु का रूप इतना सूक्ष्म है कि हमारी चक्षु में उसे देखने का सामर्थ्य नहीं है। जब साइंटिफिक पद्धति से हाइड्रोजन और ऑक्सीजन वायु मिश्रित होकर पानी स्वरूप हो जाती है तब उसमें रूप देख सकते है क्योंकि उसके अणु का स्पर्श स्थूल हो जाता है।

1. स्पर्श – स्पर्श आठ प्रकार के हैं –

(क) कठीन – जिसे मोड़ नहीं सकते, वह कठीन स्पर्श।

(ख) मृदु – कठीन स्पर्श से विपरीत कोमल स्पर्श।

(ग) गुरु – जिससे द्रव्य नीचे जाता है, भारी लगता है।

(घ) लघु – जिससे द्रव्य उपर या तिर्च्छा जाता है।

(ड़) स्निग्ध – जिससे दो वस्तु चिपक जाए, वह स्निग्ध स्पर्श।

(च) रूक्ष –स्निग्ध स्पर्श से विपरीत रूक्ष स्पर्श।

(छ) शीत – ठंडा स्पर्श।

(ज) उष्ण – गर्म स्पर्श।

2. रस – पाँच प्रकार के हैं – तिक्त, कटु, कषाय (तूरा), खट्टा, मधुर। कुछ विद्वान खारे रस सहित कुल छह भेद कहते हैं। जबकि कुछ विद्वान खारे रस का मधुर में अन्तर्भाव करते हैं। कुछ विद्धान दो रस के संसर्ग से खारा रस उत्पन्न होता है, ऐसा कहते हैं।

3. गंध – दो प्रकार की है – 1. चंदन आदि की सुरभि गंध है, 2. लहसून आदि की दुरभि गंध है।

4. वर्ण – पाँच प्रकार के हैं– कृष्ण(काला), नील(नीला), रक्त(लाल), पीत(पीला), श्वेत(सफेद)।

पुद्गल के शब्दादि परिणामों का वर्णन–

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ।।५-२४।।

पुद्गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तमः (अंधकार), छाया, आतप, उद्योत वाले भी है अर्थात् शब्दादि पुद्गल के परिणाम हैं।

1. शब्द – शब्द पुद्गल का ही परिणाम है, इस विषयक निम्नलिखित युक्तियाँ हैं –

(क) बजते हुए ढोल के पास में पड़े सिक्के ढोल के शब्द से टकराकर दूर चले जाते हैं।

(ख) जोरदार शब्द कान में आने पर कान का पर्दा फट जाता है।

(ग) जैसे पत्थर वगैरह का पर्वतादि से प्रतिघात होता है (अर्थात् पत्थर पर्वत से टकरा जाता है वैसे) शब्द का भी कुएँ, पर्वत आदि में प्रतिघात होता है और प्रतिध्वनि (इको) सुनाई देती हैं।

(घ) वायु से शब्द, तृण की तरह दूर–दूर तक ले जाए जाते हैं।

(ड़) प्रदीप के प्रकाश की तरह शब्द चारों ओर फैलते हैं।

(च) एक शब्द दूसरे शब्द का अभिभव कर सकता है अर्थात् तेज आवाज से धीमी आवाज का अभिभव हो जाता है। इसलिए ही दूर से तेज आवाज सुनाती हो तो पास की धीमी आवाज भी नहीं सुनाई देती।

(छ) पहले देवलोक की सुधर्मा सभा की सुघोषा घंटा बजने पर तथा प्रकार की विशिष्ट रचना से सभी विमानों की घंटा बजने लगती है। यदि शब्द पुद्गल न हो तो ऐसा नहीं हो सकता। इस तरह अनेक प्रकार से शब्द पुद्गल है, वह सिद्ध होता है।

शब्द की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है – प्रयोग और विस्रसा से। बादल, बिजली वगैरह की आवाज किसी भी प्रकार के जीव के प्रयत्न बिना स्वाभाविक रूप (विस्रसा) से उत्पन्न होते हैं। प्रायोगिक शब्द (प्रयोग से उत्पन्न होने वाले शब्द) के छह भेद हैं –

(क) तत – हाथ के प्रतिघात से उत्पन्न होते ढोल वगैरह के शब्द।

(ख) वितत – तार की सहायता से उत्पन्न होते वीणा वगैरह के शब्द।

(ग) घन – कांस्य वगैरह के वाजिंत्र परस्पर टकराने से उत्पन्न होते शब्द।

(घ) शुषिर – हवा से बांसुरी वगैरह में उत्पन्न होते शब्द।

(ड़) संघर्ष – डांडिया वगैरह के परस्पर टकराने से उत्पन्न होते शब्द।

(च) भाषा – जीव की स्वरपेटी–जिह्वा वगैरह के प्रयत्न से उत्पन्न होते शब्द।

भाषा दो प्रकार की है – व्यक्त और अव्यक्त। बेइन्द्रिय आदि जीवों की भाषा अव्यक्त है। मनुष्य आदि की भाषा व्यक्त है। वर्ण, पद और वाक्य स्वरूप भाषा व्यक्त है। क, ख, ग, वगैरह वर्ण हैं। विभक्ति युक्त वर्णो का समुदाय पद हैं। पदों का समुदाय वाक्य है।

प्रश्न – शब्द का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय रहित प्राणी, शब्द नहीं सुन सकते। तो फिर खेत में हरी वनस्पति आदि पर बैठे हुए तीड ढोल की आवाज से उड क्यों जाते हैं? तीड तो चउरिन्द्रिय प्राणी होने से श्रोत्रेन्द्रिय रहित होता है।

उत्तर – तीड़ ढोल की आवाज सुनते नहीं है परंतु शब्द पुद्गल रूप होने से चारों ओर फैले हुए शब्द के पुद्गलों से तीड़ के शरीर पर प्रहार जैसी असर होती है। शब्द के पुद्गलों का प्रहार सहन नहीं कर पाने से तीड़ उड़ जाते हैं। जैसे शब्द रूप पुद्गल के प्रहार आदि से प्रतिकूल असर होता है, वैसे संगीत आदि द्वारा अनुकूल असर भी होती है। इसलिए ही कुछ वनस्पति–वृक्ष संगीत के प्रयोग से अधिक और जल्दी [1] विकसित हो जाते हैं। गाय को दोहते हुए संगीत सुनाने से गाय अधिक दूध देती है। कुछ प्रकार के शब्द प्रयोग से रोग भी नष्ट होते हैं। यह वास्तविकता वैज्ञानिकों ने प्रयोग द्वारा सिद्ध कर दी है।

---

① पौधे के पास संगीत बजाने पर उनका विकास जल्दी होता है, ऐसी खोज अभी ही की गई है। (मुंबई समाचार ता. 24–10–1976)

2. बंध – बंध यानी दो वस्तुओं का परस्पर एकमेक होना। बंध के दो भेद हैं – प्रयोग बंध और विस्रसा बंध।

(क) प्रयोग बंध – जीव के प्रयत्न से होने वाला बंध प्रयोग बंध है। जैसे – जीव के साथ शरीर का, जीव के साथ कर्म का, लाख और लकड़ी का बंध इत्यादि।

(ख) विस्रसा बंध – जीव के प्रयत्न बिना होने वाला बंध विस्रसा (स्वाभाविक) बंध है। जैसे – बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष इत्यादि।

जीव के साथ कर्म का बंध शास्त्र में भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण से अनेक प्रकार का बताया है। उनमें फल की अपेक्षा से कर्मबंध के चार प्रकार बताए हैं – स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त, निकाचित।

(क) स्पृष्ट बंध – परस्पर स्पर्शी हुई सुई समान। जैसे परस्पर छूकर पड़ी हुई सुई को अलग करना हो तो छूने मात्र से अलग कर सकते है, बिखेर सकते हैं; वैसे कर्म विशेष फल दिए बिना प्रदेशोदय में आकर आत्मा से अलग हो जाए ,वह स्पृष्ट बंध।

(ख) बद्ध बंध–धागे से बंधी हुई सुई समान। जैसे धागे से बंधी हुई सुई को अलग करने के लिए धागा खोलने की थोड़ी मेहनत करनी पड़ती है वैसे कर्म थोड़ा फल देकर छूट जाए, वह बद्ध बंध।

(ग) निधत्त बंध – धागे से बंधी हुई और उपयोग किए बिना बहुत समय पड़ी रहने से काट लगी हुई सुई समान। जेसे – ऐसी सुई को अलग कर उपयोग करने में बहुत मेहनत करनी पड़ती है, वैसे कर्म स्वयं का बहुत फल देकर ही अलग हो, वह निधत्त बंध।

(घ) निकाचित बंध – घन (हथोड़े) से कूटकर एकमेक बनी हुई सुई समान। ऐसी सुई उपयोग में नहीं ले सकते, उसमें से नई सुई बनाने की मेहनत करनी पड़ती है वैसे कर्म स्वयं का पूर्ण फल दिए बिना नहीं छूटे, पूरा फल देकर ही छूटे वह निकाचित बंध।

3. सूक्ष्मता – सूक्ष्मता के दो भेद हैं–

(क) अन्त्य – परमाणु की सूक्ष्मता अन्त्य सूक्ष्मता है। इस जगत् में परमाणु से अधिक सूक्ष्म कोई पुद्गल नहीं है इसलिए उसकी सूक्ष्मता अन्त्य = अंतिम हैं।

(ख) आपेक्षिक – अन्य वस्तु की अपेक्षा से होने वाली सूक्ष्मता आपेक्षिक है। जैसे – आँवले की अपेक्षा बोर सूक्ष्म है, चतुरणुक स्कंध की अपेक्षा त्र्यणुक सूक्ष्म है।

4. स्थूलता – सूक्ष्मता की तरह स्थूलता के भी दो भेद हैं –

(क) अन्त्य – संपूर्ण लोक व्यापी स्कंध की स्थूलता अन्त्य है क्योंकि सबसे बड़ा पुद्गल द्रव्य लोक समान होता है। अलोक में किसी भी द्रव्य की गति न होने से लोकाकाश से बड़ा कोई पुद्गल द्रव्य नहीं है।

(ख) आपेक्षिक – अन्य वस्तु की अपेक्षा से होने वाली स्थूलता आपेक्षिक स्थूलता है। जैसे – आँवले की अपेक्षा आम स्थूल है चतुरणुक स्कंध से पंचाणुक स्कंध स्थूल है।

5. संस्थान – संस्थान यानी आकृति, आकार। आकृति के दो भेद हैं –

(क) इत्थंलक्षण – लंबा, गोल, चतुरस्र आदि प्रकार से जिसका वर्णन हो सके वह इत्थंलक्षण संस्थान। जैसे – वस्त्र, मकान, वगैरह की आकृति।

(ख) अनित्थंलक्षण – लंबा, गोल आदि शब्दों से जिसका वर्णन न हो सके, 'इसका यह आकार है' ऐसा नहीं कहा जा सके वह अनित्थंलक्षण संस्थान। जैसे – बादल आदि का संस्थान।

6. भेद – एक वस्तु को विभाजित करना भेद कहलाता है। भेद के पाँच प्रकार हैं–

(क) औत्करिक – लकड़ी आदि कोतरने से होने वाला भेद।

(ख) चौर्णिक – गेहूँ वगैरह पीसने (चूर्ण करने) से होने वाला भेद।

(ग) खंड – लकड़ी वगैरह के टुकड़े (खंड) करने से होने वाला भेद।

(घ) प्रतर – अभ्रक वगैरह के होने वाले पटल, पड़, वह प्रतर भेद।

(ड़) अनुतट – बांस, गन्ना, छिलका, चमड़ी वगैरह छीलने से होने वाला भेद।

7. अंधकार – अंधकार काले रंग में परिणत पुद्गलों का समूह है। प्रकाश के अभाव रूप नहीं है क्योंकि उससे दृष्टि का प्रतिबंध होता है। जैसे किसी वस्तु से एक वस्तु ढँक जाने पर नहीं दिखती, वैसे यहाँ अंधकार से वस्तु ढँक जाती है इसलिए वस्तुएँ सामने होने पर भी नहीं दिखती। अंधकार पुद्गल स्वरूप हो तो ही उससे दृष्टि का प्रतिबंध हो सकता है। अंधकार के पुद्गलों पर जब प्रकाश की किरणें फैल जाती हैं तब अंधकार के पुद्गल वस्तुओं को आच्छादित नहीं कर सकते। जब प्रकाश की किरणें आना बंद हो जाती है तब अंधकार के पुद्गलों का आवरण आने से हम वस्तु को नहीं देख सकते।

8. छाया – छाया दो प्रकार की है –

(क) तद्वर्ण परिणत छाया – दर्पण आदि स्वच्छ द्रव्यों में शरीर आदि के पुद्गल शरीर आदि के वर्ण रूप में परिणमित होते हैं। स्वच्छ द्रव्यों में मूल वस्तु के वर्ण आदि रूप में परिणत पुद्गलों को तद्वर्ण परिणत छाया या प्रतिबिंब कहते हैं।

(ख) आकृति रूप छाया – अस्वच्छ द्रव्यों पर शरीर आदि के पुद्गलों का मात्र आकृति अनुसार होने वाला परिणाम [①], जो धूप में दिखता है, वह आकृति रूप छाया है।

तद्र्णपरिणाम और आकृति, दोनों छाया रूप होने पर भी व्यवहार में हम तद्वर्णपरिणत छाया को प्रतिबिंब रूप में पहचानते है और आकृति रूप छाया को छाया (परछाई) रूप में पहचानते हैं। प्रतिबिंब में आकृति और वर्ण (रंग) दोनों स्पष्ट होते हैं। जबकि छाया में दोनों अस्पष्ट होते हैं।

प्रत्येक वस्तु में से प्रतिसमय जल के फव्वारे की तरह स्कंध निकलते रहते हैं। निकलते हुए स्कंध अति सूक्ष्म होने से हमें दिखते नहीं हैं। प्रतिसमय निकलते ये पुद्गल प्रकाश आदि द्वारा अथवा वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा तदाकार पिंडित हो जाते हैं। तदाकार पिंडित पुद्गलों को हम प्रतिबिंब या छाया रूप में पहचानते हैं।

9. आतप – सूर्य के प्रकाश को आतप कहा जाता है। सूर्य ज्योतिष्क देवों का विमान है। उसमें देव रहते हैं। ये विमान अति मूल्यवान रत्नों का बना है इसलिए उसमें से प्रकाश के पुद्गल फैलते रहते हैं। यह प्रकाश आतप रूप में पहचाना जाता है। आतप अग्नि की तरह उष्ण होने से पुद्गल है। आतप उष्ण और श्वेतरंग में परिणत पुद्गल स्कंधों का समूह है।

---

① इसमें वर्ण नहीं दिखता मात्र आकृत्ति ही दिखती है।

प्रश्न – दूर रहे सूर्य का प्रकाश भी यहाँ पृथ्वी को और पृथ्वी की वस्तुओं को गर्म कर देता है। वैशाख–जेठ मास में पृथ्वी पर पैर भी नहीं रख सके, ऐसी गर्मी होती हैं। तो देव वहाँ कैसे रहते हैं?

उत्तर – सूर्य का प्रकाश उष्ण होता है परंतु सूर्य विमान का स्पर्श शीत होता है। अग्नि और सूर्य के प्रकाश में यही फर्क है। अग्नि का प्रकाश भी उष्ण होता है, और स्पर्श भी उष्ण होता है जबकि सूर्य का प्रकाश ही उष्ण होता हैं, उसका स्पर्श तो शीत होता है। जैसे–जैसे वस्तु दूर वैसे–वैसे सूर्य के प्रकाश की उष्णता भी अधिक अधिक होती है। अत: देवों को वहाँ रहने में थोड़ी भी तकलीफ नहीं होती।

10. उद्योत – चंद्रकान्तमणि, कुछ रत्न और औषधि वगैरह के प्रकाश को उद्योत कहा जाता है। उद्योत और आतप दोनों प्रकाश स्वरूप है। शीत वस्तु के उष्ण प्रकाश को आतप और अनुष्ण प्रकाश को उद्योत कहा जाता है।

प्रश्न – स्पर्श वगैरह पुद्गल की पर्याय हैं और शब्द वगैरह भी पुद्गल की ही पर्याय हैं तो 23–24 सूत्र दो अलग क्यों किए? दोनों की जगह एक ही सूत्र क्यों नही बनाया?

उत्तर – 5–23 वें सूत्र में कहे हुए स्पर्श आदि गुण परमाणु और स्कंध दोनों में होते हैं जबकि सूत्र 24 वें सूत्र में दर्शाई गई शब्द आदि पर्यायें मात्र स्कंध में ही होती हैं। स्कंधों में भी प्रत्येक स्कंध में शब्दादि पर्यायें हो ही, ऐसा नियम नहीं है। जबकि स्पर्शादि गुण तो प्रत्येक परमाणु और स्कंध में अवश्य होते हैं। इस विशेषता का सूचन करने यहाँ दो सूत्र की रचना की।

प्रश्न – स्पर्श आदि की तरह सूक्ष्मता भी अणु और स्कंध दोनों में होती है। अत: सूक्ष्मता का निरूपण स्पर्श आदि के साथ 23 वें सूत्र में करना चाहिए?

उत्तर – स्थूलता केवल स्कंध में ही होती है। अत: स्थूलता का निरूपण इस 24 वें सूत्र में किया। सूक्ष्मता, स्थूलता की प्रतिपक्षी है और वह लोकव्यापी अचित्त महास्कंध वगैरह में नही होती, यह बताने स्थूलता के साथ सूक्ष्मता का भी निरूपण इस सूत्र में किया है।

पुद्गल के मुख्य दो भेद हैं–

अणव: स्कन्धाश्च।।५-२५।।

पुद्गल के मुख्य दो भेद हैं – परमाणु और स्कंध।

परमाणु यानी पुद्गल का अंतिम अंश, इसलिए ही उसे परम (अंतिम) + अणु (अंश) = परमाणु कहा जाता है। इस तरह परमाणु पुद्गल का अविभाज्य अंश है। इससे छोटा विभाग कभी नहीं होता। उसकी आदि, मध्य और अंत वह स्वयं ही है। वह अबद्ध = अलग ही होता है। उसके प्रदेश नहीं होते। वह स्वयं एक प्रदेश रूप है।

परमाणु कारण रूप ही है अर्थात् परमाणु से अन्य द्वयणुक (दो अणुओं का स्कंध) आदि कार्य होते हैं। अत: वह कारण बनता है किंतु किसी में से वह उत्पन्न न होने से कार्य रूप नहीं होता। वह सूक्ष्म ही होता है। उसका कभी नाश नहीं होता। उसकी पर्याय बदलती है परंतु सर्वथा कभी नाश नहीं होता इसलिए वह नित्य है। उसमें कोई भी एक रस, कोई भी एक गंध, कोई भी एक वर्ण और कोई भी दो स्पर्श (स्निग्ध–शीत, स्निग्ध–उष्ण, रूक्ष–शीत, रूक्ष–उष्ण इन चार विकल्पों में से कोई भी एक विकल्प के दो स्पर्श) होते हैं। अकेला परमाणु कभी आँखों से नहीं दिखता। जब अनेक परमाणु इकट्ठे होकर कार्य रूप में परिणत होते है तब अनुमान द्वारा अकेले

परमाणु का ज्ञान होता है। दृश्यमान घटादि कार्यों में परंपरा से अनेक कारण होते है, उनमें जो अंतिम कारण है, वह परमाणु है।①

स्कंध यानी परस्पर जुड़े हुए दो वगैरह परमाणु का समूह। ये स्कंध दो प्रकार के हैं – सूक्ष्म परिणाम वाले और बादर परिणाम वाले।

1. सूक्ष्मपरिणामी – सूक्ष्म परिणाम वाले स्कंध आँख ② से नहीं देख सकते।

2. बादरपरिणामी – बादर परिणाम वाले स्कंध ही आँख ③ से देख सकते हैं। अत: दृश्यमान घटादि सर्व स्कंध बादर परिणामी है।

स्कंधों में स्पर्शादि की विचारणा – बादर परिणामी स्कंध में आठों प्रकार के स्पर्श और सूक्ष्म परिणामी स्कंध में चार प्रकार के स्पर्श होते हैं। सूक्ष्म परिणामी स्कंध में मृदु और लघु, ये दो स्पर्श नियत होते हैं तथा अन्य दो प्रकार के स्पर्श अनियत होते हैं। स्निग्ध–उष्ण, स्निग्ध–शीत, रूक्ष–उष्ण, रूक्ष–शीत, इन चार विकल्पों में से किसी एक विकल्प के दो स्पर्श होते है। दोनों प्रकार के स्कंधों में सर्व प्रकार के रस, गंध और वर्ण होते हैं।

(परमाणु और स्कंध दोनों पुद्गल रूप में समान होने पर भी दोनों की उत्पत्ति के कारण भिन्न हैं। उन दोनों की उत्पत्ति कैसे होती है, वह दो सूत्र से बताते हैं–)

स्कंध की उत्पत्ति के कारण–

संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते।।५-२६।।

स्कंध की उत्पत्ति के तीन कारण हैं – संघात, भेद, संघात–भेद।

1. संघात – संघात यानी जुड़ना, इकट्ठा होना। दो अणु के संघात से = परस्पर जुड़ने से द्वयणुक स्कंध बनता है। दो अणु में एक अणु जुड़ने से त्र्यणुक स्कंध बनता है। तीन अणु में एक अणु जुड़ने से चतुरणुक स्कंध बनता है। इस तरह संख्य, असंख्य और अनंत अणु जुड़ने से क्रमश: संख्याताणुक, असंख्याताणुक और अनंताणुक स्कंध उत्पन्न होते हैं।

यहाँ एक–एक अणु क्रमश: जुड़े ऐसा नियम नहीं है। द्वयणुक स्कंध में एक साथ दो अणु जुड़ने से त्र्यणुक स्कंध बने बिना सीधा चतुरणुक स्कंध उत्पन्न होता है। इस प्रकार चार परमाणु एक साथ जुड़कर द्वयणुक–त्र्यणुक बने बिना सीधे चतुरणुक स्कंध को उत्पन्न करते हैं। कभी अलग–अलग संख्यात अणु के संघात से द्वयणुकादि स्कंध बने बिना संख्याताणुक स्कंध बन जाता है। इस प्रकार असंख्याताणुक और अनंताणुक स्कंध के लिए समझना।

2. भेद – भेद यानी अलग होना। अनंताणुक स्कंध में से एक अणु अलग हो तो एक अणु न्यून अनंताणुक स्कंध बनता है, दो परमाणु अलग होते हैं तो दो अणु न्यून अनंताणुक स्कंध बनता है। इस तरह परमाणु अलग–अलग होते–होते अनंताणुक स्कंध असंख्य अणु वाला हो जाए तो उस असंख्याताणुक स्कंध की उत्पत्ति भेद से हुई, ऐसा कहा जाता है। असंख्याताणुक स्कंध से उपर्युक्त क्रम से परमाणु अलग होते–होते वह संख्य अणु वाला बन जाए तो 'उस संख्याताणुक स्कंध की उत्पत्ति भेद से हुई' ऐसा कहा जाता है। संख्याताणुक स्कंध

① **कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।**
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च।। (तत्त्वार्थसूत्र स्वोपज्ञ भाष्य)

② यहाँ आँख के उपलक्षण से पाँचों इन्द्रिय का ग्रहण करना। सूक्ष्म–परिणामी स्कंध हम किसी भी इन्द्रिय द्वारा नहीं जान सकते।

③ यहाँ भी आँख के उपलक्षण से पाँचों इन्द्रिय लेना। किसी भी एक इन्द्रिय से जाने जाते हुए स्कंध भी बादर परिणामी है। जैसे– मात्र स्पर्शनेन्द्रिय से ज्ञात होती हवा भी बादर परिणामी है।

में से भी परमाणु अलग–अलग होते–होते मात्र दो ही अणु बचे तो 'उस द्वयणुक स्कंध की उत्पत्ति भेद से हुई' ऐसा कहलाता है।

जैस संघात में एक साथ एक–एक अणु ही जुड़े, ऐसा नियम नहीं है; वैसे भेद में भी एक–एक अणु ही अलग हो, ऐसा नियम नहीं है। अनंताणुक आदि स्कंधों में से कभी एक, कभी दो, कभी तीन.... यावत् कभी एक साथ मात्र दो अणु को छोड़कर सभी अणु अलग हो जाते हैं और वह स्कंध द्वयणुक बन जाता है।

3. संघात–भेद – संघातभेद यानी एक ही समय में इकट्ठा होना, अलग–अलग होना। जिस स्कंध में से एक, दो वगैरह, परमाणु अलग होते हैं और उसी समय एक, दो वगैरह परमाणु जुड़ते हैं, उस स्कंध की उत्पत्ति संघातभेद से कही जाती है। जैसे – चतुरणुक में से एक परमाणु, अलग हुआ और उसी समय दो परमाणु जुड़े, तो वह पंचाणुक (पाँच अणु वाला) बना। यहाँ पंचाणुक स्कंध की उत्पत्ति संघातभेद से हुई। इस तरह चतुरणुक स्कंध में एक परमाणु जुड़ा और उसी समय उसमें से दो परमाणु अलग हो गए तो यहाँ त्र्यणुक स्कंध की उत्पत्ति संघातभेद से हुई। इस तरह स्कंध में कुछ परमाणु जुड़े और कुछ परमाणु उसी समय निकले तो 'नए स्कंध की उत्पत्ति संघातभेद से हुई' ऐसा कहा जाता है।

परमाणु की उत्पत्ति –

भेदादणुः।।५-२७।।

परमाणु की उत्पत्ति स्कंध के भेद से ही होती है।

परमाणु पुद्गल का अंतिम अंश है। संघात होने पर वह अंतिम अंश रूप से मिटकर स्कंध रूप बनता है अर्थात् संघात से स्कंध की उत्पत्ति होती है परंतु परमाणु की उत्पत्ति नहीं होती। तथा संघातभेद होने पर भी कुछ परमाणु जुड़ते है और कुछ परमाणु अलग होते हैं। अत: संघातभेद से भी परमाणु की उत्पत्ति नहीं होती। जब स्कंध से परमाणु अलग होता है तभी परमाणु की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न – परमाणु नित्य है और कारण रूप ही है, कार्य रूप नहीं है। लेकिन यहाँ भेद से परमाणु उत्पन्न होता है। अत: इसका मतलब यह हुआ कि परमाणु अनित्य है और कार्य रूप भी है। अत: यहाँ 'वदतो व्याघात:'[①] हो रहा है।

उत्तर – आप इतना समझ लिजिए कि जैन दर्शन किसी भी वस्तु को एकांत से नित्य या एकांत से अनित्य नहीं मानता। वह प्रत्येक वस्तु को अपेक्षा से नित्य और अपेक्षा से अनित्य, दोनों स्वरूप मानता है। अत: कभी वह वस्तु को एक अपेक्षा से नित्य कहता है तो कभी दूसरी अपेक्षा से अनित्य कहता है। जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु को द्रव्यार्थिक नय से नित्य और पर्यायार्थिक नय से अनित्य मानता है। अत: जब वह किसी वस्तु को नित्य या अनित्य कहता है तब वह वस्तु नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, ऐसा एकांत से मत समझना। वह वस्तु नित्य–अनित्य दोनों स्वरूप है किंतु वहाँ द्रव्यार्थिक नय को प्रधान बनाकर उसे नित्य अथवा पर्यायार्थिक नय को प्रधान बनाकर उसे अनित्य कहा जाता है।

पहले परमाणु को अनित्य कहा था, वह द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से कहा था। अर्थात् परमाणु पहले था ही नहीं, नया ही द्रव्य रूप में उत्पन्न हुआ है, ऐसा नहीं है। अत: द्रव्य रूप में वह नित्य है परंतु किसी पर्याय रूप से उत्पन्न हुआ है। जब परमाणु स्कंध से अलग होता है। तब उसकी 'स्कंधबद्ध अस्तित्व' पर्याय नष्ट होती है और 'स्वतंत्र अस्तित्व' पर्याय उत्पन्न होती है। अत: पर्यायार्थिक नय से स्वतंत्र अस्तित्व पर्याय रूप में परमाणु

① 'वदतो व्याघात:' यानी स्वयं की पूर्व में कही हुई बात को कुछ देर बाद स्वयं ही काटना ।

उत्पन्न होता है। बाकी स्कंध में जो परमाणु था, वही अलग होता है अत: 'कोई नया ही परमाणु उत्पन्न होता है' ऐसा नहीं है। अत: यहाँ 'भेद से परमाणु उत्पन्न होता है' इस वाक्य का अर्थ इतना ही है कि परमाणु स्कंध से बद्ध था, वह स्वतंत्र होता है। परमाणु में इस स्वतंत्र अस्तित्व पर्याय की उत्पत्ति को उपचार से परमाणु की उत्पत्ति कहा जाता है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से वह (उत्पन्न नहीं होने से) कारण रूप है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से वह (उत्पन्न होने से) कार्य रूप भी है।

तीन कारणों में से किस कारण से उत्पन्न हुए स्कंध देख सकते हैं, उसका निरूपण–

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः।।५-२८।।

भेद और संघात, दोनों से उत्पन्न हुए स्कंध ही चाक्षुष (चक्षु से ग्राह्य) होते हैं अर्थात् चक्षु से देखे जा सकते हैं।

पहले कहा कि स्कंध तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं – भेद से, संघात से और संघातभेद से। इन तीन में से जो स्कंध केवल भेद से या केवल संघात से उत्पन्न होते हैं, वे स्कंध आँख से नहीं देखे जा सकते। जो स्कंध संघात–भेद दोनों से उत्पन्न होते हैं, वे ही स्कंध आँख से देखे जा सकते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि – अत्यंत स्थूल परिणाम वाले स्कंध ही आँखों से देख सकते हैं। ये स्कंध केवल भेद या केवल संघात से उत्पन्न नहीं होते किंतु भेद–संघात से ही उत्पन्न होते हैं। भेद–संघात से उत्पन्न हुए सभी स्कंध देखे जा सकते हैं, ऐसा नहीं है परंतु जो स्कंध देखे जा सकते हैं, वे स्कंध भेद – संघात से ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा नियम है। यहाँ 'चक्षु से ग्राह्य' में चक्षु उपलक्षण होने से 'पाँचों इन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं' ऐसा समझना। अर्थात् भेद–संघात से उत्पन्न स्कंध ही इंद्रिय ग्राह्य होते हैं।

(यहाँ तक धर्मास्तिकाय आदि प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र लक्षण और स्वरूप बताया। अत: सिद्ध हुआ कि धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य सत् विद्यमान हैं। अत: अब पाँचों का सत् रूप में एक लक्षण क्या है? सत् किसे कहते हैं? यह बताते हैं।)

सत् का लक्षण–

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् ।। ५-२९।।

जो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से युक्त होता है, वह सत् कहलाता है।

यह तीन जिसमें नहीं होते हैं, वह वस्तु असत् है अर्थात् जगत् में विद्यमान नहीं है। सत् वस्तु में उत्पादादि तीन सदा अवश्य होते हैं। उत्पाद = उत्पत्ति, व्यय=नाश, ध्रौव्य = स्थिरता। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय पर्याय रूप में उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। तथा द्रव्य रूप में स्थिर भी रहती है। प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं – (1) द्रव्यांश और (2) पर्यायांश। इनमें द्रव्य अंश स्थिर (ध्रुव) होता है और पर्याय अंश अस्थिर (उत्पाद–व्ययशील) होता है। अत: प्रत्येक सत् वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्त होती है।

यहाँ अन्य दर्शनकारों के मत से सत् का लक्षण क्या है? उसकी विचारणा आवश्यक है। वेदांत दर्शन वाले संपूर्ण जगत् को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। चेतन या जड़ वस्तु ब्रह्म के ही अंश हैं। जैसे एक चित्र में अलग–अलग रंग और अगल–अगल आकृति होती है, वे सभी रंग और आकृति एक ही चित्र के विभाग हैं, चित्र से अलग नहीं है; वैसे यह संपूर्ण जगत् एक ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्म ध्रुव = नित्य है। अत: वेदान्त दर्शन संपूर्ण सत् पदार्थ को ब्रह्म

स्वरूप नित्य ही मानता है। बोद्धदर्शन प्रत्येक चेतन या जड़ वस्तु को क्षणिक = प्रत्येक क्षण में सर्वथा नष्ट होने वाली मानता है। अत: उसके मत से सत् का लक्षण क्षणिकता है। यत् सत् तत् क्षणिकम् = जो सत् है, वह क्षणिक है। सांख्य और योगदर्शन जगत् को पुरुष और प्रकृति स्वरूप मानता है। पुरुष यानी आत्मा, प्रकृति यानी दृश्यमान जड़ वस्तुएँ। प्रकृति के संयोग से ही पुरुष का संसार है। इस दर्शन के मत से पुरुष ध्रुव = कूटस्थ नित्य है जबकि प्रकृति परिणामी नित्य अर्थात् नित्यानीत्य है। न्याय और वैशेषिक दर्शन आत्मा, परमाणु आकाश वगैरह को केवल नित्य मानते है। और घटादि पदार्थों को उत्पाद–व्ययशील (अनित्य) मानते हैं।

(वस्तु स्थिर रहती है इसलिए नित्य है तथा उत्पन्न–नष्ट होती है इसलिए अनित्य है। अत: एक ही वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। यह वास्तविकता स्थूल दृष्टि से विचारने पर समझ में न आए, ऐसा संभवित है। अत: इस विषय में अधिक स्पष्टता की आवश्यकता होने से सूत्रकार अब नित्यता की व्याख्या करते हैं।)

नित्य का लक्षण–

तद्भावाव्ययं नित्यम्।।५-३०।।

जो वस्तु उसके स्वयं के भाव से अव्यय रहे अर्थात् स्वयं के भाव से रहित न हो, वह नित्य।

नित्यता की यह व्याख्या हरेक सत् वस्तु में घटित होगी। प्रत्येक सत् वस्तु परिवर्तित होने पर भी स्वयं के भाव = मूल स्वरूप को छोड़ती नहीं है। प्रत्येक सत् वस्तु परिवर्तित होती है इसलिए अनित्य है और परिवर्तित होने पर भी वह स्वयं के मूल स्वरूप को नहीं छोड़ती इसलिए नित्य है। इसे परिणामी नित्य कहा जाता है। परिणमित (परिवर्तित) होने पर भी जो नित्य रहे, वह परिणामी नित्य।

सूक्ष्म दृष्टि से यदि विचार करें तो यह बात ख्याल में आए बिना नहीं रहेगी कि कोई भी वस्तु प्रत्येक क्षण परिवर्तित हुए बिना नहीं रहती। प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक क्षण थोड़ा परिवर्तन तो अवश्य होता है। प्रतिक्षण होने वाला यह परिवर्तन बहुत सूक्ष्म होने से हमारे ख्याल में नहीं आता। इस परिवर्तन को सर्वज्ञ भगवंत ही देख सकते हैं। हम स्थूल परिवर्तन ही देख सकते हैं। वस्तु में सूक्ष्मरूप में या स्थूल रूप में परिवर्तन होने पर भी वह कभी स्वयं के स्वरूप (=द्रव्यत्व) को नहीं छोड़ती। अत: सभी वस्तु परिणामी नित्य है। जैसे – कपड़े का यान काटकर कोट वगैरह वस्त्र बनाए। यहाँ यान का नाश हुआ और कोट आदि वस्त्रों की उत्पत्ति हुई तो भी मूल द्रव्य (कपड़े) में किसी भी प्रकार का फेरफार नहीं हुआ। कपड़ा कपड़े रूप से नष्ट होकर कागज या अन्य कोई वस्तु रूप नहीं बना। यहाँ कपड़ा यान रूप से नष्ट होकर कोट आदि वस्त्र रूप में उत्पन्न होने पर भी कपड़े रूप में कायम = नित्य रहता है।

हम अब घड़े की ओर नजर करते हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर हमें घड़ा जैसा है, वैसा का वैसा ही बहुत काल तक दिखता है। लेकिन सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो उस घड़े में प्रतिसमय परिवर्तन हो रहा है। जैसे – उस घड़े को बने हुए दो साल हुए तो वह अभी दो साल पुराना है, एक समय बाद वह दो वर्ष और एक समय पुराना होगा, दूसरे समय वह दो वर्ष और दो समय पुराना होगा। अत: पूर्व के समय से वर्तमान समय में उसमें कालकृत परिवर्तन आ गया। इस प्रकार अन्य भी रूप आदि के फेरफार प्रत्येक समय होते रहते हैं। किंतु सूक्ष्म होने से वे परिवर्तन हमें पता नही चलते, जब कोई स्थूल परिवर्तन होता है तभी हमें ख्याल आता है। घट में भी प्रत्येक समय परिवर्तन होने पर भी वह घट रूप में स्थिर रहता है, अत: वह परिणामी नित्य है।

जैन दर्शन जैसे उपर्युक्त नित्य–अनित्यत्व धर्म एक ही वस्तु में मानता है, वैसे अन्य भी सामान्य – विशेष, भेद–अभेद, एकत्व–अनेकत्व, सत्त्व–असत्त्व वगैरह अनेक विरूद्ध धर्मों का भी स्वीकार करता है। इसकी पृष्ठभूमि में एक दिव्यदृष्टि है और वह दिव्यदृष्टि है स्याद्वाद।

स्यात् यानी अपेक्षा। अत: स्याद्वाद यानी अपेक्षावाद। स्याद्वाद, अपेक्षावाद, अनेकांतवाद, नयवाद वगैरह शब्द एकार्थक हैं। जैन दर्शन के सिद्धांतों का महल इस स्याद्वाद की नींव पर ही निर्मित है। स्याद्वाद जैनदर्शन का प्राण है। जहाँ स्याद्वाद नहीं है, वहाँ जैनदर्शन नहीं है। जैनदर्शन ने जगत् को स्याद्वाद की एक अनमोल भेंट दी है। राजकीय, सामाजिक, धार्मिक, व्यावहारिक, शैक्षणिक वगैरह छोटे–बड़े सभी क्षेत्रों में स्याद्वाद की आवश्यकता है। स्याद्वाद बिना किसी भी क्षेत्र का विकास नहीं होता। जितने अंश में हम स्याद्वाद का भंग करेंगे, उतने अंश में हमारी प्रगति में अवरोध उत्पन्न होता है। इसलिए ही जैनदर्शन के प्रत्येक सिद्धांत में स्याद्वाद की झलक है।

एक ही वस्तु में नित्यत्व–अनित्यत्व वगैरह परस्पर विरूद्ध धर्मों की सिद्धि स्याद्वाद से होती है। अत: सूत्रकार अब स्याद्वाद की पहचान करते हैं–

अर्पिताऽनर्पितसिद्धेः।।५-३१।।

एक ही वस्तु में नित्यत्व – अनित्यत्व आदि परस्पर विरूद्ध धर्म की सिद्धि अर्पित = अपेक्षा से और अनर्पित = अपेक्षा के अभाव से होती है।

वस्तु में अनेक धर्म होते हैं। जब जिस धर्म की अपेक्षा होती है, तब उस धर्म को मुख्य बनाकर हम वस्तु को पहचानते हैं। जैसे – एक ही व्यक्ति पिता भी है और पुत्र भी है। अत: उस व्यक्ति में पितृत्व और पुत्रत्व ये दो परस्पर विरूद्ध धर्म हैं। उसमें से कभी पितृत्व धर्म को मुख्य बनाकर पितृत्व की अपेक्षा से उस व्यक्ति को पिता कहते हैं, कभी पुत्रत्व धर्म को मुख्य बनाकर पुत्रत्व की अपेक्षा से उस व्यक्ति को पुत्र कहते हैं। जब पितृत्व की अपेक्षा होती है तब पुत्रत्व धर्म की अपेक्षा नहीं होती। जब पुत्रत्व धर्म की अपेक्षा होती है तब पितृत्व धर्म की अपेक्षा नहीं होती। जब उस व्यक्ति की पहचान कराना होती है तब जो लोग उसके पिता को पहचानते हैं 'यह इस व्यक्ति का पुत्र है' ऐसी पहचान कराते हैं; जो लोग उसके पिता को नहीं पहचानते किंतु पुत्र को पहचानते हैं, वे लोग उसकी 'यह इस व्यक्ति का पिता है' ऐसी पहचान कराते हैं। ऐसे एक ही व्यक्ति में पितृत्व ओर पुत्रत्व, दो परस्पर विरूद्ध धर्म रहते हैं। जब जिस धर्म की अपेक्षा होती है, तब उस धर्म को मुख्य किया जाता है। इसी प्रकार प्रस्तुत मे नित्यत्व–अनित्यत्व आदि धर्म भी घटित हो जाएँगे।

हमने पूर्वसूत्र में देख लिया है कि प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं – द्रव्य अंश और पर्याय अंश। द्रव्यार्थिक नय द्रव्य अंश की ओर दृष्टि रखता है और पर्यायार्थिक नय पर्याय अंश की ओर दृष्टि करता है। द्रव्य अंश स्थिर = नित्य है और पर्याय अंश अस्थिर = अनित्य है। अत: प्रत्येक वस्तु द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से देखने पर नित्य दिखती है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से देखने पर अनित्य दिखाई देती है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी। प्रत्येक वस्तु स्वरूप (स्वयं के रूप) से सत् (विद्यमान) होती है और पररूप (दूसरे के रूप) से असत् (अविद्यमान) होती है। जैसे घट स्वरूप = घट रूप से सत् है और पररूप = पट रूप से असत् है। (पट यानी वस्त्र) यदि घट पररूप में भी सत् हो तो उसे पट भी कहना चाहिए ओर पट के सभी कार्य घट से होना चाहिए परंतु ऐसा नहीं होता। हम बोलते भी हैं कि यह घट है, पट नहीं। अत: घट पटरूप से असत् है। इस प्रकार जीव एक = समान भी हैं और अनेक = भिन्न भी हैं क्योंकि प्रत्येक वस्तु

सामान्य ① और विशेष, उभय स्वरूप में होती हैं। सामान्य स्वरूप एकता की बुद्धि कराता है और विशेष स्वरूप भिन्नता की बुद्धि कराता है। प्रत्येक जीव का जीवत्व सामान्य स्वरूप है। अत: हम जब जीवों जीवत्व रूप सामान्य से देखेंगे तब यह जीव है, यह भी जीव है, वह भी जीव है, ऐसे हरेक जीव में एकता की बुद्धि होगी। सभी जीव जीवरूप में एक लगेंगे। जीवों में मनुष्यपन, देवपन, गायपन, वगैरह विशेष स्वरूप है। अत: जब हम यह मनुष्य है, यह गाय है, यह देव है वगैरह विशेष रूप में देखेंगे तब मनुष्य–गाय–देव रूप में जीव अलग–अलग लगेंगे।

वाचकों! यहाँ ज़रा सावधान रहना। स्याद्वाद के सिद्धांत में एक वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी। अत: वस्तु का कोई निश्चित स्वरूप न होने से स्याद्वाद संशयवाद है, ऐसा मत मान लेना। स्याद्वाद को संशयवाद कहने वाले स्याद्वाद के वास्तविक स्वरूप को समझे ही नहीं हैं। संशय में किसी धर्म का निर्णय नहीं होता जबकि स्याद्वाद में ऐसा नहीं है। जैसे – रास्ते में चमकती शुक्ति (= मोती की सीप) को देखकर आपको संशय हुआ कि यह शुक्ति है या रजत? यहाँ शुक्ति या चांदी, दोनों में से एक का भी निर्णय नहीं है। जबकि स्याद्वाद में हरेक धर्म के अस्तित्व का निर्णय होता है। वस्तु अपेक्षा से नित्य है और अपेक्षा से अनित्य है परंतु 'वस्तु अपेक्षा से नित्य है या अनित्य' ऐसा संशय स्याद्वाद में नहीं है।

सप्तभंगी–

स्याद्वाद की दृष्टि से वस्तु की बराबर पहचान कराना हो तो सात वाक्यों से करा सकते हैं। कोई प्रश्न पूछे कि आत्मा कैसी है? नित्य है या अनित्य? इसके जवाब में 'आत्मा नित्य है' ऐसा कहा जाए तो यह उत्तर अपूर्ण होने से यथार्थ नहीं है क्योंकि आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म होते हैं। अत: वस्तु की पहचान बताने में हमें इतना ख्याल रखना चाहिए कि जिस धर्म को मुख्य बनाकर वस्तु की पहचान कराते हैं, उससे अन्य धर्मों का सर्वथा निषेध नहीं होना चाहिए। यहाँ 'आत्मा नित्य है' ऐसा कहने में आत्मा के अनित्यता धर्म का निषेध होता है। इससे सुनने वाला यह समझता है कि आत्मा नित्य है, अनित्य नहीं। इसलिए 'आत्मा नित्य है' यह वाक्य अपूर्ण होने से अयथार्थ है। अत: 'अपेक्षा से आत्मा नित्य है' ऐसा कहने पर 'अपेक्षा' शब्द से अनित्यता का निषेध नही होता। अपेक्षा से आत्मा नित्य है, ऐसा बोध होते ही मन में प्रश्न होता है कि अपेक्षा से आत्मा नित्य है तो क्या अपेक्षा से अनित्य भी है? इस प्रश्न के समाधान के लिए दूसरा वाक्य कहना पड़ता है कि 'आत्मा अपेक्षा से अनित्य है।' अभी भी ये दोनों वाक्य पूर्ण नहीं है क्योंकि जिस अपेक्षा से आत्मा नित्य है, उस अपेक्षा से नित्य ही है, अनित्य नहीं है। जिस अपेक्षा से आत्मा अनित्य है, उस अपेक्षा से अनित्य ही है, नित्य नहीं है। अत: दोनों वाक्यों में 'एव' कार जोड़ने की जरूरत है। इससे दो वाक्य ऐसे होंगे – (1) आत्मा अपेक्षा से नित्य ही है। (2) आत्मा अपेक्षा से अनित्य ही है। यहाँ प्रथम वाक्य का अर्थ यह है कि आत्मा अपेक्षा से नित्य है और जिस अपेक्षा से नित्य है, उस अपेक्षा से नित्य ही है। दूसरे वाक्य का तात्पर्य यह है कि आत्मा अपेक्षा से अनित्य है और जिस अपेक्षा से अनित्य है, उस अपेक्षा से अनित्य ही है।

(शास्त्र में वस्तु के निरूपण में जहाँ 'अपेक्षा' शब्द और एवकार का प्रयोग नहीं हो, वहाँ भी अध्याहार से उनका प्रयोग समझ लेना।)

उपर्युक्त दोनों वाक्यों के संयोग रूप तीसरा वाक्य इस प्रकार है – (3) अपेक्षा से आत्मा नित्य ही है, अपेक्षा से आत्मा अनित्य ही है। इस वाक्य से आत्मा की नित्यता ओर अनित्यता का प्रतिपादन क्रमश: (क्रम से) होता है। पूर्व के वाक्यों से प्राप्त हुआ बोध इस तीसरे वाक्य से दृढ़ होता है।

---

① सामान्य–विशेष स्वरूप का वर्णन देखें सूत्र 1–35 के विवेचन में देखें।

अब कोई पूछे कि 'आत्मा अपेक्षा से नित्य है और अपेक्षा से अनित्य है' ऐसे आत्मा के नित्यत्व और अनित्यत्व का प्रतिपादन क्रमश: किया, परंतु आत्मा नित्य–अनित्य युगपद् = क्रम बिना (एक साथ) है, ऐसा समझाओं, तो उसे कहना पड़ेगा कि आत्मा नित्य–अनित्य है, ऐसा क्रम बिना (एक साथ) नहीं कह सकते क्योंकि जगत् में एक भी ऐसा शब्द नहीं है जिससे नित्यता – अनित्यता दोनों का एक साथ बोध हो। इसलिए नित्य–अनित्य, इन दो शब्दों का ही प्रयोग करना पड़ता है। अत: आत्मा नित्य रूप में और अनित्य रूप में एक साथ कह नहीं सकते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा अपेक्षा (नित्य–अनित्य दोनों स्वरूप एक साथ कहने की अपेक्षा) से आत्मा अवक्तव्य ही है। चौथा वाक्य (4) 'आत्मा अपेक्षा से अवक्तव्य ही है' ऐसा होता है। प्रत्येक वाक्य में एवकार (ही) का अर्थ पूर्वोक्त समझना।

इन चार वाक्यों में प्रथम दो वाक्य मुख्य हैं। इन दो वाक्यों के बोध को दृढ़ करने के लिए तीसरा वाक्य है। तीसरे वाक्य का अर्थ एकसाथ नहीं कह सकते, यह दर्शाने चौथा वाक्य है। इन चार वाक्यों के मिश्रण से अन्य तीन वाक्य बनते हैं। नित्य पद और अवक्त्व्य पद से पाँचवाँ, अनित्यपद और अवक्तव्य पद से छठा, नित्य–अनित्य और अवक्तव्य पद से सातवाँ वाक्य बनता है। वह इस प्रकार (5) 'आत्मा अपेक्षा से नित्य ही है, अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।'इसका अर्थ यह है कि आत्मा अपेक्षा से नित्य ही है तथा जैसे अपेक्षा से नित्य ही है, वैसे अपेक्षा से अनित्य ही है परंतु दोनों एकसाथ नहीं कह सकते । शेष दो वाक्य में भी अवक्तव्य का अर्थ यही समझना। (6) 'आत्मा अपेक्षा से अनित्य ही है, अपेक्षा से अवक्तव्य ही है' यह छठा वाक्य है। (7) आत्मा अपेक्षा से नित्य ही है, अपेक्षा से अनित्य ही है, अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

इन सात वाक्यों में सात भंग = प्रकार होने से इन्हें सप्तभंगी कहा जाता है। संस्कृत में इन सात वाक्यों की रचना निम्नलिखित है–

(1) आत्मा स्यान्नित्य एव – आत्मा अपेक्षा से नित्य ही है।

(2) आत्मा स्यादनित्य एव – आत्मा अपेक्षा से अनित्य ही है।

(3) आत्मा स्यान्नित्य एव स्यादनित्य एव – आत्मा अपेक्षा से नित्य ही है, अपेक्षा से अनित्य ही है।

(4) आत्मा स्यादवक्तव्य एव – आत्मा अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

(5) आत्मा स्यान्नित्य एव, स्यादवक्तव्य एव – आत्मा अपेक्षा से नित्य ही है, अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

(6) आत्मा स्यादनित्य एव, स्यादवक्तव्य एव – आत्मा अपेक्षा से अनित्य ही है, अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

(7) आत्मा स्यान्नित्य एव, स्यादनित्य एव, स्यादवक्तव्य एव – आत्मा अपेक्षा से नित्य ही है, अपेक्षा से अनित्य ही है, अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरूद्ध, भिन्न–भिन्न अपेक्षा से सिद्ध होने वाले एकत्व – अनेकत्व आदि धर्म युगल के आश्रय से विधि–निषेध द्वारा सप्तभंगी होती है।

बंध प्रकरण

इस अध्याय में स्कंध की उत्पत्ति के प्रसंग में सूत्र 5-26 में संघात शब्द का उल्लेख किया। संघात यानी पुद्गलों का परस्पर जुड़ना अथवा बंध।[1] अत: पुद्गलों का बंध किन कारणों से होता है और किन कारणों से पुद्गलों का बंध नहीं होता, इसका विस्तार करने के लिये बंध प्रकरण शुरू करते हैं।

पुद्गलों के बंध में हेतु-

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः।।५-३२।।

स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श से पुद्गलों का बंध होता है।

बंध यानी पुद्गलों का परस्पर एकमेक संश्लेष = जुड़ना अर्थात् अलग-अलग पुद्गल (स्कंध या परमाणु) परस्पर जुड़कर एक हो जाए वह बंध। यह बंध पुद्गल के स्निग्ध ओर रूक्ष स्पर्श गुण से होता है। स्निग्ध स्पर्श वाले पुद्गलों का स्निग्ध स्पर्श वाले और रूक्ष स्पर्श वाले, दोनों प्रकार के पुद्गलों के साथ बंध होता है। इसी प्रकार रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गलों के लिए भी जानना। यहाँ बंध प्रकरण में पुद्गल शब्द से परमाणु और स्कंध दोनों समझना।

(यहाँ किसी भी प्रकार के पुद्गलों का किसी भी प्रकार के पुद्गलों के साथ बंध होता है, ऐसा सामान्य नियम कहा। अब इसके अपवाद बताते हैं।)

बंध के विषय में प्रथम अपवाद-

न जघन्यगुणानाम्।।५-३३।।

जघन्य गुण वाले पुद्गलों का परस्पर बंध नहीं होता।

किसी पुद्गल में स्निग्ध स्पर्श तो किसी पुद्गल में रूक्ष स्पर्श होता है। अब पुद्गलों में जो स्निग्ध या रूक्ष गुण होता है, उन सभी पुद्गलों में वह गुण समान ही हो, ऐसा नियम नहीं है। वे गुण न्यूनाधिक भी होते हैं। जैसे - पानी, बकरी का दूध, भैंस का दूध - इन तीनों में स्निग्ध गुण होने पर भी सबमें समान नहीं है। पानी से बकरी के दूध में स्निग्धता अधिक है। उससे भैंसे के दूध में स्निग्धता अधिक है। वैसे ही धूल, धान्य के कोतरे और रेती - तीनों में रूक्षता उत्तरोत्तर अधिक है। अत: सभी पुद्गलों में स्निग्धता और रूक्षता गुण न्यूनाधिक भी होता है।

पुद्गलों में स्निग्ध और रूक्ष गुण समान भी होता है और न्यूनाधिक भी होता है, इसकी विचारणा हुई। परंतु अभी भी मूल सूत्र का अर्थ समझना तो बाकी है। मूल सूत्र के अर्थ तक पहुँचने के लिए हमें निम्नलिखित भूमिका भी समझना आवश्यक है।

हम गुण (स्निग्ध और रूक्ष) की ऐसी सबसे कम मात्रा की कल्पना करें कि जिस मात्रा के केवली की दृष्टि से भी दो टुकड़े न हो सके। गुण की इतनी सबसे न्यून मात्रा जिस पुद्गल में होती है, वह एकगुण [2] पुद्गल कहलाता है। ऐसी दो मात्रा जिसमें हो, वह द्विगुण पुद्गल कहलाता है। ऐसे आगे त्रिगुण, चतुर्गुण, पंचगुण.... संख्यातगुण, असंख्यातगुण.... यावत् अनंतगुण पुद्गल होते हैं। इनमें सबसे न्यून गुण एकगुण पुद्गल में होता है। द्विगुण पुद्गल में उससे अधिक गुण होता है। त्रिगुण पुद्गल में उससे अधिक गुण होता है। ऐसे आगे बढ़ते हुए अनंत गुण पुद्गल में सबसे अधिक गुण होता है।

① पुद्गलों का संयोग (दूरी बिना सह अवस्थान) होने के बाद अवयव-अवयवी रूप में परिणमन (एकमेक बनना) बंध कहा जाता है।
② गुण शब्द यहाँ मात्रा अर्थ में है।

इस प्रकार पुद्गलों में गुण की मात्रा की दृष्टि से अनंत भेद होते हैं। उन सभी भेदों का समावेश तीन प्रकार में हो जाता है –

(1) जघन्य गुण – जिन पुद्गलों में गुण की मात्रा सबसे कम होती है, वे जघन्य गुण (एकगुण पुद्गल)

(2) उत्कृष्ट गुण – जिन पुद्गलों में गुण की मात्रा सबसे अधिक होती है, वे उत्कृष्ट गुण पुद्गल।

(3) मध्यम गुण – उपर्युक्त दोनों प्रकार से अन्य मध्यम गुण वाले पुद्गल।

एक गुण पुद्गलों में गुण की मात्रा सबसे न्यून होती है, अत: वे ही जघन्य गुण पुद्गल हैं। जघन्य गुण और एक गुण दोनों का एक ही अर्थ है।

इस सूत्र में जघन्य गुण (एक गुण) पुद्गल में परस्पर बंध का निषेध किया गया है अर्थात् जघन्यगुण स्निग्ध पुद्गल का जघन्य गुण रूक्ष या जघन्य गुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बंध नहीं होता। इसी प्रकार जघन्य गुण रूक्ष पुद्गल का जघन्य गुण स्निग्ध या जघन्य गुण रूक्ष पुद्गल के साथ बंध नहीं होता।

बंध के विषय में दूसरा अपवाद–

गुणसाम्ये सदृशानाम्।।५-३४।।

गुण [1] साम्य(= गुण की समानता) हो तो सदृश पुद्गलों का बंध नहीं होता।

यहाँ सदृशता स्निग्ध या रूक्ष गुण की अपेक्षा से समझना अर्थात् स्निग्धगुण वाला पुद्गल अन्य स्निग्धगुण वाले पुद्गलों की अपेक्षा से सदृश है। रूक्ष गुण वाला पुद्गल अन्य रूक्ष गुण वाले पुद्गलों की अपेक्षा से सदृश है। स्निग्धगुण वाला पुद्गल रूक्षगुण वाले पुद्गलों की अपेक्षा से असदृश है। रूक्षगुणवाला पुद्गल स्निग्धगुण वाले पुद्गलों की अपेक्षा से असदृश है।

गुण साम्य यानी गुण की तरतमता का अभाव। जैसे – 10 हजार की पूंजी वाले सभी व्यक्तियों में पूंजी की दृष्टि से समानता है। लाख रूपये पूंजी वाले सभी व्यक्तियों में पूंजी की दृष्टिसे समानता है। वैसे गुण की समान मात्रा वाले सभी पुद्गलों में मात्रा की दृष्टि से समानता है। जितने पुद्गलों में एकगुण स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श है, उन सभी पुद्गलों में गुणसाम्य है। स्पर्श की मात्रा की दृष्टि से सभी समान है। जिन पुद्गलों में द्विगुण स्पर्श होता है, वे सब परस्पर समान है। परंतु एकगुण पुद्गल और द्विगुण पुद्गल में परस्पर गुणसाम्य का अभाव है, भले ही उन दोनों में स्निग्ध स्पर्श हो। वे दोनों (एकगुण स्निग्ध और द्विगुण स्निग्ध पुद्गल) स्निग्धस्पर्श होने से सदृश कहलाएँगे परंतु गुण की मात्रा अलग–अलग होने से समान नहीं कहलाएँगे। ऐसे ही एकगुण रूक्ष और एकगुण स्निग्ध पुद्गल परस्पर सदृश नहीं कहलाएँगे किंतु समान कहे जाएँगे।

इस सूत्र में यह बताया गया है कि जो पुद्गल सदृश हैं और गुण समान है (अर्थात् जिनमें गुण की मात्रा समान है), उनका परस्पर बंध नहीं होता। कौन सदृश है, कौन समान है और किनका परस्पर बंध नहीं होता, यह नीचे आलेखित कोष्टक से बराबर समझ में आएगा।

[1] यहाँ 'गुण' शब्द मात्रा अर्थ में है, एकगुण, द्विगुण इत्यादि तथा 'सदृश' शब्द स्निग्ध–रूक्ष की समानता अर्थ में है।

पुद्गल	सदृश/असदृश	गुण समान/ गुण असमान	बंध होगा या नहीं
पंचगुण स्निग्ध तथा सप्तगुण स्निग्ध	सदृश	गुण असमान	होगा
चतुर्गुण स्निग्ध तथा दशगुण स्निग्ध	सदृश	गुण असमान	होगा
पचंगुण रूक्ष तथा सप्तगुण रूक्ष	सदृश	गुण असमान	होगा
चतुर्गुण रूक्ष तथा दशगुण रूक्ष	सदृश	गुण असमान	होगा
पंचगुण स्निग्ध तथा पंचगुण रूक्ष	असदृश	गुण समान	होगा
चतुर्गुण स्निग्ध तथा चतुर्गुण रूक्ष	असदृश	गुण समान	होगा
पंचगुण स्निग्ध तथा पंचगुण स्निग्ध	सदृश	गुण समान	नहीं होगा
पंचगुण रूक्ष तथा पंचगुण रूक्ष	सदृश	गुण समान	नहीं होगा

बंध के विषय में तीसरा अपवाद–

द्व्यधिकादिगुणानां तु।।५-३५।।

सदृश पुद्गलों में गुणवैषम्य होने के साथ–साथ द्विगुण वगैरह स्पर्श से अधिक हो तो परस्पर बंध होता है।

पूर्व सूत्र में सदृश पुद्गलों में गुणसाम्य हो तो बंध का निषेध किया है। इसका मतलब यह हुआ कि सदृश पुद्गलों में गुणवैषम्य होता है तो बंध होता है। इस सूत्र से सदृश पुद्गलों में गुणवैषम्य हो तो भी बंध का निषेध किया है। वह इस प्रकार – सदृश पुद्गलों में मात्र एकगुण वैषम्य हो तो बंध नहीं होता। जैसे – चतुर्गुण स्निग्ध पुद्गल का पंचगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बंध नहीं होता। चतुर्गुण रूक्ष पुद्गल का पंचगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बंध नहीं होता क्योंकि यहाँ सिर्फ एकगुण वैषम्य (पुद्गल के गुण में एक मात्रा का अंतर) है। अत: सदृश पुद्गलों में द्विगुण, त्रिगुण वगैरह गुणवैषम्य हो तो बंध होता है। जैसे – चतुर्गण स्निग्ध पुद्गल का षड्गुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बंध होता है। यहाँ द्विगुणवैषम्य है। चतुर्गुण स्निग्ध पुद्गल का सप्तगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बंध होता है। यहाँ त्रिगुण वैषम्य है। इसी तरह रूक्ष स्पर्श में भी जानना।

32–33–34–35 सूत्र का सार–

पुद्गलों के स्निग्ध और रूक्ष गुण के कारण किसी भी पुद्गल का किसी भी पुद्गल के साथ बंध हो सकता है, ऐसा 32 वें सूत्र में कहा है। उसके बाद तीन सूत्र में बंध के अपवाद बताए हैं। उनमें सबसे पहले 33 वें सूत्र में जघन्यगुण पुद्गलों का परस्पर बंध नहीं होता, ऐसा बताया। इसका फलितार्थ यह हुआ कि जघन्यगुण पुद्गल का मध्यमगुण या उत्कृष्ट गुण पुद्गल के साथ बंध होता है तथा मध्यमगुण और उत्कृष्ट गुण पुद्गल का परस्पर बंध होता है। इस फलितार्थ का 34 वें सूत्र में संकोच कर कहा कि सदृश पुद्गलों में गुणसाम्य हो तो बंध नहीं होता। इसका फलितार्थ यह हुआ कि सदृश पुद्गलों में गुणवैषम्य हो तो बंध होगा। इस फलितार्थ का 35 वें सूत्र में संक्षेपकर कहा कि सदृश पुद्गलों में एकगुण गुणवैषम्य हो तो बंध नहीं होता। सदृश पुद्गलों में द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण वगैरह गुणवैषम्य हो तो बंध होता है अर्थात् सदृश पुद्गलों में एक गुण से अधिक वैषम्य हो तो बंध होता है।

निम्नलिखित पुद्गलों का परस्पर बंध होता है।

पुद्गल	बंध क्यों होता है?
एकगुण स्निग्ध – द्विगुण रूक्ष	दोनों में जघन्य गुण नहीं है, सदृश नहीं है
एकगुण स्निग्ध – द्विगुण स्निग्ध	दोनों में जघन्य गुण नहीं है, सदृश नहीं है
एकगुण स्निग्ध – त्रिगुण स्निग्ध	दोनों में जघन्य गुण नहीं है, सदृश होने पर भी एकगुण गुणवैषम्य नहीं है।
एकगुण स्निग्ध – द्विगुण रूक्ष	दोनों में जघन्य गुण नहीं है, सदृश होने पर भी एकगुण गुणवैषम्य नहीं है
द्विगुण स्निग्ध – द्विगुण रूक्ष	साम्य है किंतु सदृश नहीं है
द्विगुण रूक्ष–द्विगुण स्निग्ध	साम्य है किंतु सदृश नहीं है

निम्नलिखित पुद्गलों का बंध नहीं होता।

पुद्गल	क्यों नहीं होता?	
एकगुण स्निग्ध – एकगुण स्निग्ध	दोनों में जघन्य गुण है	33
एकगुण स्निग्ध – एकगुण रूक्ष	दोनों में जघन्य गुण है	33
एकगुण रूक्ष – एकगुण रूक्ष	दोनों में जघन्य गुण है	33
एकगुण रूक्ष – एकगुण स्निग्ध	दोनों में जघन्य गुण है	33
द्विगुण स्निग्ध – द्विगुण स्निग्ध	सदृश है, गुण साम्य है	34
द्विगुण रूक्ष – द्विगुण रूक्ष	सदृश है, गुण साम्य है	34
पंचगुण स्निग्ध – पंचगुण स्निग्ध	सदृश है, गुण साम्य है	34
पंचगुण रूक्ष –पंचगुण रूक्ष	सदृश है, गुण साम्य है	34
द्विगुण स्निग्ध –त्रिगुण स्निग्ध	मात्र एकगुण वैषम्य है	35
द्विगुण रूक्ष – त्रिगुण रूक्ष	मात्र एकगुण वैषम्य है	35
एकगुण स्निग्ध –द्विगुण स्निग्ध	मात्र एकगुण वैषम्य है	35
एकगुण रूक्ष – द्विगुण स्निग्ध	मात्र एकगुण वैषम्य है	35

बंध होने के बाद स्कंध में होने वाला स्पर्श का परिणाम–

बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ।।५-३६।।

पुद्गल का बंध होने के बाद सम और अधिक गुण क्रमश: सम और हीन गुण को स्वयं के रूप में परिणमित करते हैं।

रूक्ष और स्निग्ध गुणवाले पुद्गलों (परमाणु या स्कंध) का परस्पर बंध होता है। उनमें जब स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का, स्निग्ध और स्निग्ध पुद्गलों का अथवा रूक्ष–रूक्ष पुद्गलों का बंध होता है, तब बंध होने के बाद उस स्कंध में कौन–सा गुण रहता है, वह इस सूत्र में समझाते हैं।

जब समान गुण (समान मात्रा वाले) रूक्ष और स्निग्ध पुद्गल का बंध होता है तब कभी रूक्षगुण स्निग्धगुण को रूक्षरूप में परिणमित करता है अर्थात् रूक्ष बना देता है; तो कभी स्निग्ध गुण रूक्ष गुण को स्निग्धरूप में परिणमित करता है। जैसे – द्विगुणरूक्ष का द्विगुणस्निग्ध के साथ बंध होने पर भी द्विगुणरूक्ष द्विगुणस्निग्ध को द्विगुणरूक्ष रूप में परिणमित करता है और कभी द्विगुणस्निग्ध द्विगुणरूक्ष को द्विगुणस्निग्ध रूप में परिणमित करता है।

समगुण स्निग्ध–स्निग्ध का अथवा रूक्ष–रूक्ष का परस्पर बंध नहीं होता क्योंकि सूत्र 5–34 में उसका निषेध किया है। अत: उस विषयक विचारणा यहाँ करने की आवश्यकता ही नहीं है।

जब द्विगुण आदि विषमगुण (विषम मात्रा वाले) रूक्ष–स्निग्ध का, स्निग्ध–स्निग्ध का या रूक्ष–रूक्ष का बंध होता है तब अधिक गुण (अधिक मात्रा वाला स्पर्श) हीन गुण को स्वयं के रूप में परिणत करता है। जैसे – त्रिगुण स्निग्ध का एकगुण स्निग्ध या एकगुण रूक्ष के साथ बंध होता है तब त्रिगुणस्निध एकगुण स्निग्ध या एकगुण रूक्ष को त्रिगुण स्निग्ध रूप में परिणत करता है। इससे वह पूरा स्कंध त्रिगुण स्निग्ध बनता है। यदि त्रिगुण रूक्ष का एकगुण रूक्ष या एकगुण स्निग्ध के साथ बंध होता है, तो त्रिगुण रूक्ष एकगुण रूक्ष स्निग्ध को या एकगुण को त्रिगुण रूक्ष रूप में परिणमित करता है। इससे वह पूरा स्कंध त्रिगुण रूक्ष बन जाता है।

पुद्गलों का बंध	स्कंध का परिणाम
द्विगुण रूक्ष + द्विगुण स्निग्ध	द्विगुण रूक्ष अथवा द्विगुण स्निग्ध
द्विगुण स्निग्ध + द्विगुण रूक्ष	द्विगुण रूक्ष अथवा द्विगुण स्निग्ध
त्रिगुण स्निग्ध + एकगुण स्निग्ध	त्रिगुण स्निग्ध
त्रिगुण स्निग्ध + एकगुण रूक्ष	त्रिगुण स्निग्ध
त्रिगुण रूक्ष + एकगुण स्निग्ध	त्रिगुण रूक्ष
त्रिगुण रूक्ष + एकगुण रूक्ष	त्रिगुण रूक्ष

द्रव्य का लक्षण–

गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।।५-३७।।

जिसमें गुण और पर्यायें होती हैं, वह द्रव्य।

हरेक द्रव्य में अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न धर्म = परिणाम होते हैं। ये धर्म = परिणाम दो प्रकार के हैं। कुछ धर्म द्रव्य में सदा रहते हैं, कभी भी उन धर्मों का द्रव्य में अभाव नहीं होता। जबसे द्रव्य की सत्ता है, तबसे ही धर्मों की द्रव्य में सत्ता है। अर्थात् वे द्रव्य के सहभावी हैं। द्रव्य के सहभावी (= सदा द्रव्य के साथ रहने वाले) धर्मों को गुण कहा जाता है। जैसे – आत्मद्रव्य का चैतन्य धर्म। चैतन्य धर्म आत्मा के साथ ही रहता है, आत्मद्रव्य में चैतन्य न हो ऐसा कभी नहीं बनता। आत्मा और चैतन्य सूर्य-प्रकाश की तरह सदा साथ ही रहता है। अत: चैतन्य आत्मा का गुण है। रूप, रस, गंध, स्पर्श वगैरह पुद्गल द्रव्य के गुण हैं क्योंकि वे निरंतर पुद्गल के साथ ही रहते हैं। अत: निष्कर्ष यह हुआ कि जो धर्म जिस द्रव्य के सहभावी हैं, वे धर्म उस द्रव्य के गुण हैं।

अब दूसरे प्रकार के धर्मों का विचार करते हैं। कुछ धर्म द्रव्य में सदा नहीं रहते, कभी रहते हैं, कभी नहीं रहते अर्थात् कुछ धर्म क्रमभावी (उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले) होते हैं। क्रमभावी धर्मों को पर्याय कहा जाता हैं। जैसे – आत्मा का ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग आदि धर्म। आत्मा में जब ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता और दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग धर्म क्रमभावी (नष्ट होने वाले और उत्पन्न होने वाले) होने से आत्मा की पर्याय है। इस तरह कृष्ण आदि वर्ण, तिक्त आदि रस, सुरभि आदि गंध, कठिन आदि स्पर्श पुद्गल की पर्यायें हैं। क्योंकि कालांतर में वे धर्म नष्ट होते हैं और उत्पन्न होते हैं। यहाँ इतना ख्याल रखना है कि सामान्य से वर्ण गुण है जबकि कृष्णवर्ण श्वेतवर्ण पर्यायें हैं। इसी तरह रस आदि के विषय में भी जानना।

हरेक द्रव्य में अनंत गुण और अनंत पर्याय हैं। द्रव्य और गुण कभी उत्पन्न न होने से नित्य हैं अर्थात् अनादि-अनंत हैं। पर्यायें प्रतिसमय उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं, अत: अनित्य हैं अर्थात् सादि-सांत हैं। पर्यायों की अनित्यता व्यक्ति की अपेक्षा से है, प्रवाह की अपेक्षा से तो पर्याय भी नित्य है। हरेक द्रव्य में प्रतिसमय कुछ पर्याय नष्ट होती हैं और कुछ उत्पन्न होती हैं। अत: पर्यायों का प्रवाह सदा चलता ही रहता है। पर्यायों के प्रवाह का प्रारंभ या अंत न होने से प्रवाह की अपेक्षा से पर्याय अनादि-अनंत है। इसलिए ही जैसे द्रव्य कभी गुण से रहित नहीं होता, वैसे पर्याय से भी कभी रहित नहीं होता। द्रव्यों में गुण व्यक्ति की अपेक्षा से रहते हैं जबकि पर्याय प्रवाह की अपेक्षा से सदा रहती है; परंतु दोनों रहते तो सदा हैं।

प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक समय अनंत पर्याय होती है। एक समय में अनंत पर्यायों की उपलब्धि भिन्न-भिन्न गुणों की अपेक्षा से है, किसी एक गुण की अपेक्षा से नहीं। किसी एक गुण की अपेक्षा से एक समय में एक ही पर्याय होती है। आत्मा में चैतन्य, वेदना, चारित्र वगैरह गुणों की अपेक्षा से एक ही समय में अनंत पर्यायें हैं लेकिन यदि चैतन्य आदि किसी एक गुण की अपेक्षा से सोचे तो एक समय में ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग, दो में से कोई एक ही पर्याय होती है। इस प्रकार किसी एक पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गंध, स्पर्श वगैरह भिन्न-भिन्न गुणों की अपेक्षा से एक ही समय में अनंत पर्यायें हैं लेकिन रूप आदि किसी एक गुण की अपेक्षा से श्वेत, कृष्ण, नील, पीत आदि पर्यायों में से कोई एक ही पर्याय होती है। तीनों काल की अपेक्षा से सोचें तो एक ही गुण की अपेक्षा से भी अनंत पर्याय होती हैं। जैसे – आत्मा के चैतन्य गुण की अपेक्षा से आत्मा में एक समय ज्ञानोपयोग, दूसरे समय दर्शनोपयोग, तीसरे समय पुन: ज्ञानोपयोग, चौथे समय पुन: दर्शनोपयोग, ऐसे उपयोग का प्रवाह चलता रहने से त्रिकाल की अपेक्षा से चैतन्य गुण की अनंत पर्यायें होती हैं। इस प्रकार पुद्गल द्रव्य में रूपगुण की अपेक्षा से त्रिकाल में श्वेत, कृष्ण, नील आदि अनंत पर्यायें हैं।

एक ही समय में एक द्रव्य में पर्यायों की अनंतता अनंत गुणों की अपेक्षा से होती है। प्रत्येक द्रव्य में सदा अनंत गुण होते हैं, अत: प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक समय पर्याय भी अनंत होती है। प्रत्येक द्रव्य में सदा अनंत गुण

होने पर भी सामान्य बुद्धि वाले जीव कल्पना नहीं कर सकते। विशिष्ट ज्ञानी भगवंत ही अनंतगुणों को जान सकते हैं। छद्मस्थ जीवों की कल्पना में तो आत्मा के चेतना, सुख, चारित्र, वीर्य आदि तथा पुद्गल के रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि परिमित गुण ही आ सकते हैं। शेष सभी गुण विशिष्ट ज्ञानीगम्य हैं।

द्रव्य के गुण दो प्रकार के हैं– (1) साधारण (2) असाधारण। जो गुण किसी–किसी द्रव्य में ही रहते हैं, अन्य में नहीं होते, वे गुण जिस द्रव्य में होते हैं, उस द्रव्य के असाधारण गुण कहलाते हैं। जैसे–चेतना आत्मा का असाधारण गुण है क्योंकि वह आत्मा में ही होता है, आत्मा से अतिरिक्त किसी भी द्रव्य में नहीं होता। रूप, रस आदि पुद्गल के असाधारण गुण हैं, ये गुण पुद्गल द्रव्य से अतिरिक्त किसी द्रव्य में नहीं हैं। जो गुण अनेक द्रव्यों में होते हैं, वे गुण साधारण कहलाते हैं। जैसे–अस्तित्व, द्रव्यत्व, ज्ञेयत्व वगैरह साधारण गुण हैं, ये गुण सभी द्रव्यों में होते हैं।

काल का निरूपण–

कालश्चेत्येके ।। ५-३८।।

कुछ आचार्य काल को भी द्रव्य मानते हैं।

यहाँ कुछ आचार्य काल को द्रव्य–रूप मानते हैं, ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है कि काल में द्रव्य का लक्षण घटित नहीं होने से सूत्रकार काल को द्रव्य नहीं मानते । जगत् की सत्ता, जगत् में होते परिवर्तन, कार्यों की क्रम से पूर्णता, छोटे–बड़े का व्यवहार आदि काल बिना घटित नहीं हो सकते। इसलिए ही वर्तना, परिणाम वगैरह काल के उपकार सूत्र 5–22 में दर्शाए गए। अत: काल जैसी वस्तु जगत् में है, इसका कोई निषेध नहीं कर सकता परंतु वह काल द्रव्य–रूप है या गुण–पर्यायरूप, इसमें भतभेद है। इस मतभेद का प्रस्तुत सूत्र द्वारा निर्देश किया गया है।

काल का विशेष स्वरूप–

सोऽनन्तसमयः ।। ५-३९।।

काल अनंत समय प्रमाण है।

समय यानी काल का अविभाज्य अंतिम सूक्ष्म अंश। काल के तीन भेद हैं – भूत, भविष्य, वर्तमान। इनमें वर्तमानकाल एक समय का है। भूत–भविष्य, दोनों काल अनंत समय के हैं। यहाँ भूत–भविष्य के आश्रय से काल को अनंत समय प्रमाण कहा है।

जैसे पुद्गल का अविभाज्य अंश (जिसके दो विभाग न हो सके) प्रदेश या परमाणु कहा जाता है, वैसे काल का अविभाज्य अंश समय कहलाता है। आँख के एक पलकारें में असंख्य समय पसार हो जाते हैं। कोई सशक्त युवान् स्वयं के संपूर्ण बल का उपयोग कर तीक्ष्ण भाले से कमल के सौ पत्रों का एक साथ छेद करे, उसमें एक–एक पत्र के छेद में असंख्य समय पसार हो जाते हैं। सशक्त युवान् जीर्ण–शीर्ण वस्त्र को पूरी शक्ति से फाड़े, उसमें हरेक तंतु टूटने में असंख्य समय पसार हो जाते हैं। इन दृष्टांतों से यह समझ सकते हैं कि समय कितना सूक्ष्म है। काल के अन्य भेद निम्नलिखित हैं–

असंख्य समय = 1 आवलिका। 256 आवलिका = 1 क्षुल्लक भव। साधिक 17½ क्षुल्लक भव = 1 श्वासोच्छ्वास। 7 श्वासोच्छवास (प्राण) = 1 स्तोक । 7 स्तोक = 1 लव। 38½ लव = 1 घड़ी। 2 घड़ी

= मुहूर्त्त। 30 मुहूर्त्त = 1 दिन (अहोरात्र)।15 दिन (अहोरात्र) = 1 पक्ष । 2 पक्ष = 1 मास। 6 मास = 1 अयन (उत्तरायण या दक्षिणायन)। 2 अयन (12 मास) = 1 वर्ष। 84 लाख वर्ष = 1 पूर्वांग। 1 पूर्वांग 1 पूर्वांग (840 लाख पूर्वांग) = 1 पूर्व (7060 अरब वर्ष)। असंख्य वर्ष = 1 पल्योपम। 10 कोड़ाकोड़ी ① पल्योपम = 1 सागरोपम। 10 कोड़ाकोड़ी सागरोपम = 1 उत्सर्पिणी या 1 अवसर्पिणी। 1 उत्सर्पिणी + 1 अवसर्पिणी (20 कोड़ाकोड़ी सागरोपम) = 1 कालचक्र। अनंत कालचक्र = 1 पुद्गल परावर्त।

काल के दो भेद हैं – नैश्यचिक और व्यावहारिक। पहले सूत्र 5–22 में काल के उपकार रूप में दर्शाई गई वर्तना आदि पर्याय नैश्चयिक काल है। समय से लेकर पुद्गल परावर्त तक का उपर्युक्त काल व्यवहारिक है। नैश्चयिक काल लोक और अलोक, दोनों में है, क्योंकि वर्तनादि पर्याय जैसे लोक में है, वैसे अलोक में भी है। व्यावहारिक काल मात्र लोक में है, लोक में भी मात्र ढाई द्वीप में ही है क्योंकि व्यवहारिक काल ज्योतिषचक्र के परिभ्रमण से उत्पन्न होता है और ज्योतिषचक्र का परिभ्रमण मात्र ढाईद्वीप में ही है।

अथवा ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से वर्तमान समय रूप काल नैश्चयिक है और भूत–भविष्य काल व्यवहारिक है क्योंकि ऋजुसूत्र नय वर्तमान अवस्था को ही तात्त्विक मानता है इसलिए ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से वर्तमान एक समय विद्यमान होने से नैश्चयिक=मुख्य, तात्त्विक काल है, जबकि भूतकाल नष्ट होने से और भविष्यकाल उत्पन्न न होने से व्यावहारिक = गौण, अतात्त्विक है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचारणा की जाए तो काल द्रव्य नहीं है किंतु द्रव्य के वर्तनादि पर्याय रूप है। जीवादि द्रव्यों में होते वर्तनादि पर्यायों में काल उपकारक होने से उसे पर्याय और पर्यायी के अभेद की विवक्षा से औपचारिक (= उपचार से) द्रव्य कहा जाता है।

प्रश्न – पर्याय और पर्यायी (द्रव्य) के अभेद की विवक्षा से यदि काल को द्रव्य कहा जाए तो वर्तनादि पर्याय जैसे अजीव के है, वैसे जीव के भी हैं। अत: काल को जीव–अजीव दोनों स्वरूप कहना चाहिए जबकि शास्त्रों में काल को अजीव स्वरूप कहा गया है। इसका क्या कारण?

उत्तर – यद्यपि यह नैश्चयिक काल जीव–अजीव उभय स्वरूप है तथापि जीव द्रव्य से अजीवद्रव्य की संख्या अनंतगुना होने से अजीव द्रव्य की बहुलता के आश्रय से काल को सामान्य से अजीव द्रव्य कहा गया है।

गुण का लक्षण –

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।। ५-४०।।

जो द्रव्य में सदा रहते हैं और स्वयं गुण से रहित हैं, वे गुण कहलाते हैं।

यद्यपि पर्याय भी द्रव्य में रहती है और स्वयं गुण से रहित होती है तो भी वे द्रव्य में सदा नहीं रहती जबकि गुण सदा रहते हैं। अस्तित्व, ज्ञान, दर्शन वगैरह जीव के गुण हैं। अस्तित्व, रूप, रस, गंध, स्पर्श वगैरह पुद्गल के गुण हैं। घटज्ञान वगैरह जीव की पर्यायें हैं, शुक्लरूप वगैरह पुद्गल की पर्यायें हैं।

प्रमाणनयतत्त्वालोक ग्रंथ में गुण और पर्याय का लक्षण निम्नलिखित दिया गया है–

सहभाविनो गुणाः= द्रव्य के सहभावी (सदा रहने वाले) धर्मों को गुण कहा जाता है।

क्रमभाविनो पर्यायाः = द्रव्य के क्रमभावी (क्रमश: उत्पन्न–नष्ट होने वाले) धर्मों को पर्याय कहा जाता है।

परिणाम का लक्षण–

① कोड़ाकोड़ी यानी 1 करोड़ ह्न 1 करोड़ (1 के पीछे 14 शून्य) ।

तद्भावः परिणामः ।। ५-४१।।

उनका (द्रव्य और गुण का) भाव परिणाम है।

द्रव्य और गुण जिस स्वरूप होते हैं, वह स्वरूप द्रव्य और गुणों का परिणाम है अर्थात् स्वजाति (द्रव्यत्व-गुणत्व) का त्याग किए बिना द्रव्य और गुण का जो विकार होता है, वह परिणाम कहलाता है।

बौद्धदर्शन क्षणिकवादी होने से प्रत्येक वस्तु को क्षणविनाशी मानता है। अतः उसके मत से उत्पन्न होकर वस्तु का सर्वथा नाश होना ही परिणाम है। द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न मानने वाले न्याय दर्शन आदि भेदवादी दर्शनों के मत से अविकृत द्रव्य में गुणों की उत्पत्ति और नाश ही परिणाम है। जैनदर्शन भेदाभेदवादी होने से परिणाम का अर्थ उपर्युक्त दोनों प्रकार के अर्थों से अलग ही बताता है। जैन दृष्टि से परिणाम स्वजाति (स्वरूप) के त्याग बिना वस्तु (द्रव्य या गुण) में होने वाला विकार है। द्रव्य और गुण हर समय विकार (अवस्थांतर) को प्राप्त होते हैं। मनुष्य देव, पशु आदि भिन्न-भिन्न अवस्था को प्राप्त होने पर भी जीव में जीवत्व विद्यमान होता है। जीवत्व में किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। अतः मनुष्यत्व, देवत्व आदि जीव के परिणाम हैं। इस प्रकार आत्मा के चैतन्यगुण के घटज्ञान, परज्ञान, घटदर्शन, पटदर्शन आदि विकार होने पर भी मूल चैतन्यगुण में किसी भी प्रकार की विकृति नहीं होती। अतः घटज्ञान, घटदर्शन वगैरह आत्मा के चैतन्यगुण के परिणाम हैं। चैतन्य की ज्ञानोपयोग आदि विकृति होने पर भी उनमें चैतन्य विद्यमान होता है।

पुद्गल के द्वयणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि अनंत परिणाम हैं। उन सबमें पुद्गलत्व विद्यमान रहता है। रूप आदि गुण के श्वेत, नील आदि अनेक परिणाम हैं। उन सबमें रूपत्व (रूपजाति) विद्यमान है। इस प्रकार धर्मास्तिकायादि सभी द्रव्यों में भी जानना।

परिणाम के दो भेद-

अनादिरादिमांश्च ।। ५-४२।।

परिणाम दो प्रकार के हैं- अनादि और आदिमान।

जिसकी आदि (शुरुआत) नहीं है अर्थात् 'यह परिणाम इस समय शुरू हुआ है' ऐसा जिसके लिए नहीं कह सकते, वह अनादि परिणाम है। जिसकी आदि है अर्थात् 'यह परिणाम इस समय शुरू हुआ है' ऐसा जिसके लिए कह सकते हैं, वह आदिमान। द्रव्यों के दो भेद हैं- रूपी और अरूपी। उनमें अरूपी द्रव्यों के परिणाम अनादि हैं। धर्मास्तिकाय के असंख्यप्रदेशवत्त्व, लोकाकाशव्यापित्व, गतिसहायकरणत्व, अगुरुलघुत्व आदि, अधर्मास्तिकाय के असंख्यप्रदेशवत्त्व, लोकाकाशव्यापित्व, स्थितिसहायकरणत्व, अगुरुलघुत्व वगैरह, आकाश के अनंतप्रदेशवत्त्व, अवगाहदायित्व आदि, जीव के जीवत्व आदि, काल के वर्तना आदि परिणाम अनादि हैं। ये परिणाम कभी उत्पन्न हुए हैं, ऐसा नहीं है किंतु जबसे द्रव्य हैं तबसे ही ये परिणाम हैं। द्रव्य अनादि हैं इसलिए ये परिणाम भी अनादि हैं।

आदिमान परिणाम -

रूपिष्वादिमान् ।। ५-४३।।

रूपी द्रव्यों में आदिमान परिणाम होता है।

पुद्गल रूपी द्रव्य है। उसके श्वेतरूप आदि परिणाम आदिमान हैं क्योंकि उसमें प्रतिक्षण रूप आदि का परिवर्तन होता रहता है। किसी एक विवक्षित समय का परिणाम पूर्वसमय में न होने से आदिमान है। प्रवाह की अपेक्षा से तो रूपी द्रव्यों में भी अनादि परिणाम है। अत: यहाँ रूपी द्रव्यों में आदिमान परिणाम का कथन व्यक्ति की अपेक्षा से है।

यदि हम कुछ सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेंगे तो पता चलेगा कि जैसे रूपी द्रव्यों में प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और व्यक्ति की अपेक्षा से आदिमान परिणाम है वैसे अरूपी द्रव्यों में भी दोनों प्रकार के परिणाम है ही। उदा. गति करने में प्रवृत्त पदार्थ को धर्मास्तिकाय द्रव्य सहायता करता है। विवक्षित समय में किसी पदार्थ की गति हुई तो उस समय धर्मास्तिकाय में उस गतिमान पदार्थ संबंधी उपग्राहकत्व पर्याय उत्पन्न हुआ। इस समय के पहले धर्मास्तिकाय में उस पदार्थ संबंधी उपग्राहकत्व परिणाम नहीं था। जब वह पदार्थ स्थिर होता है तब उपग्राहकत्व परिणाम नष्ट होता है। इस प्रकार धर्मास्तिकाय में विवक्षित समय के पहले उस पदार्थ संबंधी अविद्यमान उपग्राहकत्व रूप परिणाम विवक्षित समय में उत्पन्न हुआ और नष्ट हुआ इसलिए वह उपग्राहकत्व रूप परिणाम आदिमान हुआ। परंतु प्रवाह की अपेक्षा से अनादिकाल से उपग्राहकत्व परिणाम उसमें है ही। इस तरह सर्व अरूपी द्रव्यों में भी दोनों प्रकार के परिणाम घटित हो सकते हैं।

ऐसा होने पर भी तत्त्वार्थसूत्रकार पूज्य श्री उमास्वाति महाराज ने अरूपी में अनादि और रूपी में आदिमान परिणाम क्यों कहा? यह प्रश्न होगा। इस प्रश्न का समाधान ऐसा लगता है कि यह प्रतिपादन पूज्य श्री उमास्वाति महाराज ने स्थूलबुद्धि वाले बाल जीवों को लक्ष्य में रखकर किया हो। स्थूलबुद्धि वाले बालजीवों को भी यह विषय समझ में आ जाए इस हेतु से व्यावहारिक प्रसंग के अनुसार ऐसा प्रतिपादन किया है। अथवा रूपी द्रव्यों में सादि परिणाम की प्रधानता है और अरूपी द्रव्यों में अनादि परिणाम की प्रधानता को लक्ष्य में रखकर उपर्युक्त उल्लेख किया हो। अथवा अनादि–आदिमान का कुछ अलग अर्थ हो, यह भी संभव है। इस विषय में तत्त्व क्या है? वह सर्वज्ञ या बहुश्रुत भगवंत पर छोड़ना ही हितावह है।

जीवों में आदिमान परिणाम–

योगोपयोगौ जीवेषु ।। ५-४४।।

जीवों में दो आदिमान परिणाम है– योग और उपयोग।

पुद्गल के संबंध से आत्मा में उत्पन्न होने वाला वीर्य का परिणाम विशेष योग है। ज्ञान और दर्शन उपयोग है। ये दोनों परिणाम सादि है क्योंकि ये परिणाम उत्पन्न होते है और नष्ट भी होते है। पूर्व की तरह यहाँ भी प्रवाह और व्यक्ति की अपेक्षा से क्रमश: अनादि और सादि विषयक विचारणा कर लेना।

***

षष्ठ अध्याय

यहाँ तक सात तत्त्वों में से जीव और अजीव इन दो तत्त्वों का विविध प्रकार से वर्णन किया। अब तीसरे आस्रवतत्त्व के निरूपण का प्रारंभ करते हैं। आस्रव का मुख्य कारण योग है। अत: प्रथम योग का स्वरूप बताते हैं।

काय-वाङ्-मन:कर्म योगः ।। ६-१।।

काया, वचन और मन की क्रिया योग है।

योग शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ योग शब्द आत्मवीर्य अर्थ में है। योग यानी वीर्यांतराय के क्षयोपशमादि से और पुद्गल के आलंबन से प्रगट होने वाला आत्मवीर्य आत्मशक्ति। हरेक संसारी जीव को वीर्यांतराय के क्षयोपशम से प्रगट होने वाली आत्मशक्ति का उपयोग करने के लिए पुद्गल का आलंबन आवश्यक है। जैसे नदी के पानी का नहर आदि से उपयोग होता है वैसे हरेक संसारी जीव की शक्ति का उपयोग मन-वचन-काया के आलंबन से होता है। आत्मा की शक्ति एक ही होने पर भी उसके उपयोग के साधन तीन होने से उसके तीन भेद हैं। काया के आलंबन से होने वाला शक्ति का उपयोग काययोग, वचन के आलंबन से होने वाला शक्ति का उपयोग वचनयोग और मन के आलंबन द्वारा होता शक्ति का उपयोग मनोयोग है।[1]

तीन प्रकार के योग के कुल 15 भेद हैं। उनमें काययोग के 7, वचन योग के 4 और मन योग के 4 भेद हैं।

काययोग के सात भेद हैं - (1) औदारिक (2) औदारिक मिश्र (3) वैक्रिय (4) वैक्रिय मिश्र (5) आहारक (6) आहारक मिश्र (7) कार्मण।

औदारिक काययोग यानी औदारिक शरीर द्वारा होने वाला आत्मशक्ति का उपयोग। इस प्रकार औदारिक मिश्र आदि भी जानना। अर्थात् उस-उस काया द्वारा होने वाला शक्ति का उपयोग वह काययोग है। काया के औदारिक आदि सात भेद हैं इसलिए काययोग के भी सात भेद हैं।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक और कार्मण, इन चार का अर्थ सूत्र 2-37 में कह चुके हैं। यद्यपि वहाँ पाँच शरीर का वर्णन है, तो भी इन चार शरीर का व्यापार वहाँ कहा होने से वही योगरूप हैं। तैजस शरीर सदा कार्मण के साथ ही रहने से कार्मणकाय में तेजस शरीर का समावेश किया गया है। अत: काययोग के सात भेद ही होते हैं।

औदारिक मिश्र आदि तीन मिश्र योग का अर्थ इस प्रकार है- **औदारिकमिश्र -** परभव में उत्पन्न होने के साथ ही जीव औदारिक शरीर की रचना शुरू कर देता है। जब तक वह शरीर पूर्ण स्वरूप से तैयार नहीं होता तब तक काया की प्रवृत्ति केवल औदारिक शरीर से नहीं होती, कार्मण शरीर की मदद भी आवश्यक होती है। अत: जब तक औदारिक शरीर की रचना पूर्ण नहीं होती तब तक औदारिक और कार्मण, इन दो का मिश्र योग होता है। इसमें औदारिक शरीर की प्रधानता होने से इस मिश्रयोग को औदारिक मिश्र काय योग कहा जाता है। औदारिक शरीर की पूर्णता के बाद औदारिक काययोग होता है। इसी प्रकार **वैक्रियमिश्र** और **आहारकमिश्र** के लिए भी जानना। थोड़ा फर्क इस प्रकार है- वैक्रिय ओर आहारक शरीर की रचना शुरू हुई, वहाँ से लेकर जब तक वैक्रिय ओर आहारक शरीर की रचना पूर्ण न हो तब तक वैक्रियमिश्र और आहारक मिश्र योग होता है। वैक्रियमिश्र योग देवों के अलावा लब्धिधारी मुनि आदि को भी होता है। उसमें देवों के वैक्रियमिश्र योग में वैक्रिय और कार्मण शरीर की मिश्रता होती है जबकि लब्धिधारी मुनि वगैरह को वैक्रिय और औदारिक शरीर की मिश्रता होती है। दोनों में

① मन-वचन-काया पुद्गल हैं। देखो सूत्र 5-19 ।

वैक्रिय की प्रधानता होने से वैक्रिय मिश्र योग कहा जाता है। आहारक मिश्र में आहारक और औदारिक की मिश्रता होती है। आहारक की प्रधानता होने से आहारकमिश्र कहा जाता है।

चार वचनयोग–

(1) सत्य – सत्य वचन बोलना। उदा. पाप का त्याग करना चाहिए इत्यादि।

(2) असत्य – असत्य वचन बोलना। उदा. पाप–पुण्य जैसा जगत् में कुछ नहीं है।

(3) मिश्र – थोड़ा सत्य और थोड़ा असत्य बोलना। उदा. स्त्रियाँ और पुरुष दोनों जा रहे हो तब पुरुष जा रहे हैं – ऐसा कहना। यहाँ पुरुष जा रहे हैं, इतना अंश सही है, परंतु वहाँ स्त्रियाँ भी होने से यह वचन कुछ अंश में गलत भी है। अत: यह वचन मिश्र–सत्यमृषा है।

(4) असत्यामृषा – जो वचन सही भी न हो, गलत भी न हो उदा. गाँव जा वगैरह।

चार मनोयोग– वचनयोग के जो चार भेद हैं, वही मनोयोग के भी हैं। उनका अर्थ भी वही है, मात्र बोलने की जगह विचारने का समझना।

आस्रव का निरूपण–

स आस्रवः ।। ६–२।।

वह योग आस्रव है।

आस्रव यानी कर्मों का आत्मा में आना। जैसे व्यवहार में जीवन के कारण बनने वाले अन्न को उपचार से जीवन कहा जाता है, वैसे यहाँ कर्मों के आने के कारण को भी आस्रव कहा जाता है, जैसे खिड़की से मकान में कचरा आता है, वैसे योग द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं। अत: योग भी आस्रव हैं। जैसे हवा से आती धूल जल से गीले कपड़े पर चिपक जाती है, वैसे हवा रूपी योग द्वारा आती कर्मरूपी रज कषाय रूप पानी से गीले आत्मा के सभी प्रदेशों में एकमेक होकर चिपक जाती है।

योग से कर्म का आस्रव होता है। कर्म के आस्रव से बंध, बंध से कर्म का उदय और कर्म के उदय से संसार होता है। अत: संसार से मुक्ति पाना हो तो आस्रव का त्याग करना चाहिए। जैसे छिद्रों द्वारा नौका में जल का प्रवेश होने पर वह समुद्र में डूब जाती है, वैसे योगरूप छिद्रों से जीवरूप नौका में कर्मरूप जल का प्रवेश होने पर वह संसाररूप समुद्र में डूब जाता है।

आस्रव का द्रव्य–भाव की दृष्टि से विचार किया जाए तो मन–वचन–काया, ये तीन योग द्रव्यास्रव हैं। जीव के शुभ या अशुभ अध्यवसाय भावास्रव हैं। द्रव्य यानी अप्रधान=गौण, भाव यानी प्रधान=मुख्य। आस्रव में मुख्य कारण आत्मा के शुभ–अशुभ अध्यवसाय हैं क्योंकि योग की विद्यमानता होने पर भी शुभ या अशुभ अध्यवसाय न हो तो कर्म का आस्रव नहीं होता। जैस– 13वें गुणस्थानक में वर्तमान केवली भगवंत को काया आदि योग होने पर भी केवल सातावेदनीय कर्म का ही आस्रव होता है। तथा आगे दो सूत्रों में कहा जाएगा कि शुभयोग पुण्य का कारण है और अशुभ योग पाप का कारण है। योग की शुभता और अशुभता अध्यवसाय के आधार पर होती है। शुभ अध्यवसाय से योग शुभ होता है और अशुभ अध्यवसाय से योग अशुभ होता है। अत: आस्रव में योग गौण कारण है और अध्यवसाय मुख्य कारण है।

पुण्यकर्म के आस्रव का निर्देश–

शुभः पुण्यस्य ।। ६-३।।

शुभ योग पुण्य का आस्रव है।

कायादि प्रत्येक योग के दो भेद हैं– शुभ और अशुभ। आत्मा के शुभ परिणाम (अध्यवसाय) से होने वाला योग शुभयोग है। आत्मा के अशुभ परिणाम (अध्यवसाय) से होने वाला योग अशुभ योग है। आस्रव के भी दो भेद हैं– पुण्य और पाप। शुभ कर्मों का आस्रव पुण्य और अशुभ कर्मों का आस्रव पाप कहलाता है। कौन–से कर्म शुभ और कौन–से कर्म अशुभ हैं, इसका वर्णन आठवें अध्याय के अंतिम सूत्र (सूत्र 8–26) में बताया जाएगा।

अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, देवगुरुभक्ति, दया, दान वगैरह की प्रवृत्ति शुभ काययोग है। सत्य और हितकर वाणी, देवगुरु आदि की स्तुति, गुण–गुणी की प्रशंसा, इत्यादि शुभ वचन योग है। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, देवगुरुभक्ति, दया, दान वगैरह के विचार शुभ मनोयोग है।

प्रश्न – शुभयोग से निर्जरा भी होती है तो यहाँ उसे मात्र पुण्य के आस्रव रूप क्यों कहा है?

उत्तर – शुभयोग से पुण्य ही होता है, निर्जरा नहीं होती। निर्जरा शुभ आत्मपरिणाम से (ज्ञानादि के उपयोग से) होती है। जितने अंश में शुभ आत्मपरिणाम उतने अंश में निर्जरा तथा जितने अंश में शुभ योग उतने अंश में पुण्यबंध।[1]

प्रश्न – शुभ योग के समय ज्ञानावरणीयादि घातीकर्मों का भी आस्रव तो होता ही है। घातीकर्म आत्मा के गुण का घात करने वाले (रोकने वाले) होने से अशुभ हैं। अतः शुभयोग से पुण्य का आस्रव होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है।

उत्तर – शुभ योग के समय ज्ञानावरणीयादि अशुभकर्मों का आस्रव होने पर भी उसमें रस अत्यन्त अल्प होने से उसका फल अत्यन्त अल्प मिलता है। वस्तु होने पर भी यदि अल्प हो तो वस्तु नहीं है ऐसा कह सकते हैं। जैसे–पाँच, पच्चीस रूपये होने पर भी व्यक्ति निर्धन कहलाता है। इसी प्रकार प्रस्तुत में शुभयोग के समय बांधे जाते ज्ञानावरणीयादि कर्मों में अल्प रस होने पर भी वे स्वकार्य करने में समर्थ नहीं बनते। अतः यहाँ उनका निषेध करना जरा भी अयोग्य नहीं है। अथवा यहाँ पुण्य और पाप का निर्देश अघातीकर्मों की अपेक्षा से है। अथवा शुभ योग से ही पुण्य का आस्रव होता है। सूत्र का ऐसा अर्थ करने से शुभयोग के समय होने वाले ज्ञानावरणीयादि घातीकर्मो के आस्रव का निषेध नहीं होगा। शुभयोग के समय घातीकर्मों का बंध, पुण्य और निर्जरा तीनों होते हैं। लेकिन घातीकर्म में मंद रस, पुण्य में तीव्र रस और निर्जरा अधिक होती है।

पापकर्म का आस्रव –

अशुभः पापस्य ।। ६-४।।

अशुभयोग पाप का आस्रव है।

---

① **येनांशेनात्मनो योगस्तेनांशेनाश्रवो मतः।**
येनांशेनोपयोगस्तु तेनांशेनास्य संवरः।। (अध्यात्मसार श्लोक 825)

हिंसा, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह इत्यादि प्रवृत्ति अशुभकाययोग है। असत्य–कठोर–अहितकर वचन, पैशुन्य (चुगली), निंदा इत्यादि अशुभ वचनयोग है। हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह आदि के विचार तथा राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या वगैरह अशुभ मनोयोग है।

आस्रव के दो भेद –

सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।। ६-५।।

सकषाय (कषायसहित) आत्मा का योग साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है और अकषाय (कषायरहित) आत्मा का योग ईर्यापथ (रसरहित) कर्म का आस्रव होता है।

संपराय यानी संसार। जिससे संसार में परिभ्रमण हो, वह सांपरायिक कर्म। कषाय के सहयोग से होने वाला शुभ या अशुभ आस्रव संसार का हेतु है क्योंकि प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और रस, इन चार प्रकार के बंध में स्थिति और रस मुख्य हैं। कषाय से शुभ या अशुभ स्थिति और रस का बंध अधिक होता है। अतः संसार के मुख्य कारण कषाय = राग–द्वेष हैं। प्रशस्त कषाय के सहयोग से होने वाला कर्मबंध शुभ होता है। तथा अप्रशस्त कषाय के सहयोग से होने वाला कर्मबंध अशुभ होता है। दोनों प्रकार का कर्मबंध संसार का हेतु है लेकिन प्रशस्त कषाय के सहयोग से होने वाला शुभ कर्मबंध परंपरा द्वारा संसार से मुक्ति दिलाने वाला है।

ईर्या यानी गमन। गमन के उपलक्षण से मन–वचन–काया की कषायरहित हर प्रवृत्ति जानना। पथ यानी द्वारा। केवल योग (कषायरहित योग) द्वारा होने वाला आस्रव (बंध) ईर्यापथ है। कषाय से रहित आत्मा के आस्रव (कर्मबंध) केवल योग से ही होता है। इसलिए वह ईर्यापथ आस्रव कहलाता है। इस आस्रव से होने वाला बंध रस रहित होता है और उसकी स्थिति भी मात्र एक समय की होती है। ईर्यापथ में प्रथम समय कर्मबंध होता है, दूसरे समय उदय में आता है और तीसरे समय वह कर्म आत्मा से अलग हो जाता है। जैसे शुष्क दिवाल पर पत्थर फेंका जाए तो वह दिवाल के साथ चिपके बिना टकराकर तुरंत नीचे गिर जाता है, वैसे ईर्यापथ में कर्म तुरंत (एक समय में) आत्मा से अलग हो जाता है।

सकषाय आस्रव से होने वाले सांपरायिक बंध में कर्म आत्मा के साथ गीली दिवाल पर धूल की तरह चिपक जाते हैं और लंबे समय तक सत्ता में रहते हैं। अबाधाकाल पूर्ण होने पर स्वयं का फल देते हैं।

पहले गुणस्थानक से 10 वें गुणस्थानक तक कषायोदय होने से सांपरायिक आस्रव और 11 से 13 वें गुणस्थानक तक ईर्यापथ आस्रव होता है। 14 वें गुणस्थानक में योग का भी अभाव होने से आस्रव का सर्वथा अभाव होता है।

सांपरायिक आस्रव के भेद –

इन्द्रिय-कषाया-ऽव्रत-क्रियाः पञ्च-चतुः-पञ्च-पञ्चविंशति-संख्याः पूर्वस्य भेदाः ।। ६-६।।

5 इन्द्रिय, 4 कषाय, 5 अव्रत, 25 क्रिया, इस प्रकार सांपरायिक आस्रव के कुल 39 भेद हैं।[1]

पांच इन्द्रिय का स्वरूप सूत्र 2–20 में आ चुका है। इन्द्रियाँ रागादियुक्त प्रवृत्ति द्वारा सांपरायिक आस्रव हैं। रागादि बिना इन्द्रियाँ सांपरायिक आस्रव नहीं होती किंतु ईर्यापथ आस्रव होती हैं। कषाय का स्वरूप सूत्र 8–10

① नवतत्त्व प्रकरण में तीन योग सहित कुल 42 भेद बताए हैं ।

में आएगा। पाँच अव्रतों का वर्णन सातवें अध्याय के 8-9-10-11-12वें सूत्र में आएगा। 25 क्रियाओं का स्वरूप इस प्रकार है-

(1) सम्यक्त्व क्रिया - सम्यक्त्व युक्त जीव की देव-गुरु संबंधी नमस्कार, पूजा, स्तुति, सत्कार, सन्मान, दान, विनय, वैयावच्च इत्यादि क्रिया। ये क्रियाएँ सम्यक्त्व की पुष्टि और शुद्धि करती है। इन क्रिया से सातावेदनीय, देवगति वगैरह पुण्यकर्म का आस्रव होता है।

(2) मिथ्यात्व क्रिया- मिथ्यादृष्टि जीव की स्वमान्य देव-गुरु संबंधी नमस्कार, पूजा, स्तुति, सत्कार, सन्मान, दान, विनय, वैयावच्च वगैरह क्रिया। इन क्रिया से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है।

(3) प्रयोग क्रिया- अशुभ कर्मबंध कराने वाली मन-वचन-काया की क्रिया।

(4) समादान क्रिया - जिससे कर्मबंध हो, ऐसी संयम की सावद्य क्रिया।[①]

(5) ईर्यापथ क्रिया [②] **-** चलने की क्रिया।

(6) कायक्रिया - इसके दो भेद हैं - अनुपरत और दुष्प्रयुक्त। मिथ्यादृष्टि की कायिक क्रिया अनुपरत काय क्रिया है। प्रमत्त संयमी की दुष्प्रयुक्त (समिति आदि से रहित) कायिक क्रिया दुष्प्रयुक्त कायक्रिया है।

(7) अधिकरण क्रिया [③]- हिंसा के साधन बनाना, सुधारना इत्यादि।

(8) प्रादोषिकी क्रिया - क्रोधावेश से होने वाली क्रिया।

(9) पारितापिकी क्रिया - अन्य या स्व को परिताप = संताप करना।

(10) प्राणातिपातिकी क्रिया - स्व या पर के प्राण का नाश करने वाली क्रिया।

(11) दर्शन क्रिया - राग से स्त्री आदि का दर्शन-निरीक्षण करना।

(12) स्पर्शन क्रिया - राग से स्त्री आदि का स्पर्श करना।

(13) प्रत्यय क्रिया - नए-नए शस्त्रों का आविष्कार कर बनाना।

(14) समन्तानुपात क्रिया - जहाँ मनुष्य, पशु वगैरह का गमनागमन होता हो, वहाँ मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थ का त्याग करना।

(15) अनाभोग क्रिया - देखे बिना और प्रमार्जना किए बिना वस्तु रखना।

(16) स्वहस्त क्रिया - अन्य का कार्य अभिमान से स्वयं करना।

(17) निसर्ग क्रिया - पापकार्यों में सम्मति देना, स्वीकार करना

(18) विदारण क्रिया - अन्य के गुप्त पाप लोक में प्रगट करना।

(19) आनयनी क्रिया - स्वयं पालन नहीं कर सकने से शास्त्राज्ञा की अन्यथा प्ररूपणा करना।

(20) अनवकांक्षा क्रिया - प्रमाद से जिनोक्त विधि का अनादर करना।

(21) आरंभ क्रिया - पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा हो, ऐसी क्रिया करना।

(22) परिग्रहिकी क्रिया - लोभ से खूब धन कमाना, उसका रक्षण करना आदि।

① श्लोकवार्तिक के आधार पर यह व्याख्या है।
② सकषाय जीव की चलने की क्रिया सांपरायिक कर्म का आस्रव है और कषाय रहित जीव की चलने की क्रिया ईर्यापथ कर्म का आस्रव है।
③ अधिकरण के विशेष वर्णन के लिए देखें सूत्र 6-8 इत्यादि।

(23) माया क्रिया – विनयरत्न आदि की तरह माया पूर्वक मोक्षमार्ग की आराधना करना।

(24) मिथ्यादर्शन क्रिया – ऐहलौकिक आदि सांसारिक फल की इच्छा से मिथ्यादृष्टि की साधना करना।

(25) अप्रत्याख्यान क्रिया – पापकर्मों के प्रत्याख्यान(पच्चक्खाण) से रहित जीव की क्रिया।

प्रश्न [1] – जहाँ इन्द्रिय, कषाय और अव्रत हैं वहाँ क्रिया अवश्य होने वाली है। अत: केवल क्रिया के निर्देश से आस्रव का विधान हो सकता है तो इन्द्रिय आदि के निर्देश की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – सही बात है, केवल 25 क्रिया के ग्रहण से आस्रव (आस्रव हेतु) का विधान हो सकता है। लेकिन 25 क्रिया में इन्द्रिय, कषाय, अव्रत कारण हैं, ऐसा बताने के लिए इन्द्रिय आदि का ग्रहण किया है। उदा. पारिग्रहिकी क्रिया में परिग्रह रूप अव्रत कारण है। परिग्रह में लोभ कषाय कारण है। स्पर्श क्रिया में स्पर्शनेन्द्रिय की प्रवृत्ति कारण है। स्पर्शेन्द्रिय की प्रवृत्ति में राग कारण है। माया क्रिया में माया कारण है। इस प्रकार अन्य क्रियाओं में भी कार्य–कारण भाव जानना।

प्रश्न – केवल इन्द्रियों के निर्देश से अन्य कषायादि का भी ग्रहण हो जाएगा क्योंकि कषायादि का मूल इन्द्रियाँ हैं। जीव इन्द्रियों द्वारा वस्तु का ज्ञान कर उस वस्तु विषयक विचारणा द्वारा कषायों, अव्रतों और क्रियाओं में प्रवृत होता है। अत: यहाँ कषायादि का पृथक निर्देश करने की आवश्यकता नहीं है?

उत्तर – यदि केवल इन्द्रिय का ही ग्रहण किया जाए तो केवल प्रमत्त जीव के ही आस्रवों का कथन होता है। अप्रमत्त जीव के आस्रवों का कथन बाकी रह जाए क्योंकि अप्रमत्त जीवों को इन्द्रियों द्वारा कर्म का आस्रव ही नहीं होता। उन्हें कषाय और योग से ही आस्रव होता है। दूसरी बात; एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को यथासंभव पूर्ण इन्द्रियाँ और मन न होने पर भी कषाय आदि से आस्रव होता है। अत: सर्वजीवों में सर्वसामान्य आस्रव का विधान करने के लिए इन्द्रिय आदि चारों का सूत्र में ग्रहण आवश्यक है।

प्रश्न – केवल कषाय का ग्रहण करने से इन्द्रिय आदि का ग्रहण हो जाता है। क्योंकि सांपरायिक आस्रव में मुख्यतया कषाय ही कारण है, ऐसा इस अध्याय के पाँचवें सूत्र में कहा है। कषायरिहत इन्द्रिय आदि सांपरायिक आस्रव नहीं होते। अत: इन्द्रियादि का ग्रहण करना क्यों आवश्यक है?

उत्तर – सही बात है किंतु कषाय के संयोग से जीव आस्रव की प्रवृत्ति कैसे करता है, उसका स्पष्ट बोध होता है और उस बोध से वह प्रवृत्ति को रोकने के लिए प्रयत्न करे इसलिए यहाँ इन्द्रिय आदि का पृथक ग्रहण किया है।

प्रश्न – केवल अव्रत का ग्रहण करने से इन्द्रिय, कषाय आदि का ग्रहण हो जाता है क्योंकि इन्द्रिय आदि के परिणाम बिना अव्रत में प्रवृत्ति नहीं होती अत: यहाँ इन्द्रिय आदि का ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – सही बात है किंतु अव्रत में इन्द्रिय आदि के परिणाम कारणरूप हैं, यह बताने के लिए इन्द्रियादि का ग्रहण किया है।

सारांश – इन्द्रिय आदि चार में से किसी भी एक का ग्रहण करने पर भी अन्य आस्रवों का उसमें समावेश हो जाता है। ऐसा होने पर भी इन्द्रिय वगैरह एक–दूसरे में कैसे निमित्त रूप हैं और उसके संयोग से कैसी प्रवृत्ति होती है, इत्यादि का स्पष्ट बोध हो, इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर यहाँ चार आस्रवों का ग्रहण किया है। इन चार में भी कषाय की प्रधानता है। शेष तीन का उसमें समावेश हो जाता है।

---

[1] यह प्रश्नोत्तरी श्लोकवार्तिक वगैरह के आधार पर है।

'योग के दो प्रकार हैं – शुभ और अशुभ, उनमें शुभयोग पुण्यकर्म का आस्रव है और अशुभयोग पापकर्म का आस्रव है' ऐसा पहले कहा है। इसी प्रकार इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति भी दो प्रकार की प्रशस्त और अप्रशस्त।

उसमें इन्द्रियादि की प्रशस्त प्रवृत्ति पुण्यकर्म का और अप्रशस्त प्रवृत्ति पापकर्म का आस्रव है। पौद्गलिक सुख के लिए होने वाली इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति अप्रशस्त है और आत्मकल्याण के उद्देश्य से होने वाली इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति प्रशस्त है। स्त्री के अंगोपांग, नाटक आदि देखने में चक्षु इन्द्रिय की प्रवृत्ति अप्रशस्त है। वीतराग देव, गुरु वगैरह के दर्शन में चक्षु इन्द्रिय की प्रवृत्ति प्रशस्त है। स्वयं का अपमान करने वाले के प्रति अहंकार आदि वश होकर क्रोध करना अप्रशस्त क्रोध है। अविनीत शिष्यादि को सन्मार्ग पर लाने के शुभ उद्देश्य से उस पर बाह्य क्रोध करना प्रशस्त क्रोध है।

इस प्रकार अन्य इन्द्रियाँ वगैरह में भी यथायोग्य प्रशस्त–अप्रशस्त भेद घटित करना। संक्षेप में कहे तो जिनेश्वर देव की आज्ञानुसार होने वाली इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति प्रशस्त है और आज्ञा का उल्लंघन करके होने वाली इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति अप्रशस्त है।

आस्रव के बाह्य कारण समान होने पर भी आंतरिक परिणाम में भेद द्वारा कर्मबंध में होने वाले भेद (विविधता) का प्रतिपादन–

तीव्र-मन्द-ज्ञाता-ऽज्ञातभाव-वीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।। ६-७।।

तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरण के भेद से (परिणाम में भेद होने से) कर्मबंध में भेद होता है।

तीव्र–मंदभाव – तीव्रभाव यानी अधिक परिणाम और मंदभाव यानी अल्प परिणाम। जैसे – मंद आवेश से और तीव्र आवेश से प्राण का नाश करने में प्राणातिपातिकी क्रिया समान होने पर भी मंद आवेश से होने वाली हिंसा में हिंसा के परिणाम मंद होते हैं और तीव्र आवेश से होने वाली हिंसा में हिंसा के परिणाम तीव्र होते हैं। राजा या अन्य की परतंत्रता से = आज्ञा से जीव का वध करने में और स्वयं के सांसारिक स्वार्थ के लिए जीव का वध करने में क्रिया समान होने पर भी हिंसा के परिणाम में बहुत भेद (अंतर) होता है। एक में मंदभाव होता है जबकि दूसरे में तीव्रभाव होता है। एक पेट भरने के लिए अनीति करता है और दूसरा पेटी भरने के लिए अनीति करता है। यहाँ अनीति के परिणाम एक में तीव्र और एक में मंद है। अत: कर्मबंध भिन्न–भिन्न होता है। एक को तीव्र कर्मबंध होता है और एक को मंद कर्मबंध होता है। एक खूब उल्लास से जिनभक्ति करता है और एक सामान्य उल्लास से जिनभक्ति करता है। यहाँ जिनभक्ति की क्रिया समान होने पर भी परिणाम भिन्न है, इससे पुण्य भिन्न–भिन्न होता है। अत्यंत उल्लास वाले को उत्कृष्ट पुण्यबंध और सामान्य उल्लास वाले को सामान्य पुण्यबंध होता है। तीव्रभाव और मंदभाव के भेद से कर्मबंध भी भिन्न होता है।

ज्ञात–अज्ञातभाव – ज्ञातभाव यानी जानबूझकर उद्देश्यपूर्वक आस्रव की प्रवृत्ति करना। अज्ञातभाव यानी अज्ञानता से उद्देश्य बिना आस्रव की प्रवृत्ति करना। जैसे – शिकारी जानबूझकर उद्देश्यपूर्वक बाण से हिरण का वध करता है जबकि अन्य कोई व्यक्ति स्तंभ आदि के लक्ष्य से बाण छोड़ता है किंतु बीच में कोई प्राणी मर जाता है। यहाँ पहला जीव हिंसा करता है जबकि दूसरा जीव हिंसा करता नहीं है, उससे हिंसा हो जाती है, इतना फर्क है। अत: दोनों के परिणाम में भिन्नता है। परिणाम के भेद से कर्मबंध भी भिन्न होता है।

वीर्य – वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम आदि से प्राप्त होने वाली शक्ति वीर्य है। जैसे–जैस वीर्य = शक्ति अधिक, वैसे–वैसे परिणाम अधिक तीव्र और जैसे–जैसे वीर्य कम, वैसे–वैसे परिणाम अधिक मंद होता है।

तीव्रशक्तिवाला और मंदशक्तिवाला, दोनों एक ही प्रकार की हिंसा की क्रिया करते होने पर भी वीर्य के भेद के कारण दोनों के परिणाम भिन्न हैं। इसलिए ही छठे संघयणवाला ① (अत्यंत कमजोर संघयण वाला) सातवी नरक में जाने योग्य पाप ही नहीं कर सकता। जबकि प्रथम संघयणवाला वैसे पाप कर सकता है। जैसे कमजोर संघयणवाला जीव प्रबल पाप नहीं कर सकता, वैसे प्रबल पुण्य भी नहीं कर सकता। छठे संघयण वाला चाहे जितना उत्कृष्ठ धर्म करे, तो भी चौथे देवलोक से उपर नहीं जाता। वीर्य का आधार शरीर के संघयण पर ही है। अत: जैसे–जैसे संघयण मजबूत वैसे–वैसे पुण्य या पाप अधिक हो सकता है। कौन–से संघयण वाला जीव अधिक–से–अधिक कितना पुण्य–पाप कर सकता है, यह जानने के लिए कौन–से संघयणवाला जीव किस देवलोक या किस नरक तक जा सकता है, वह जानना आवश्यक है। वह इस प्रकार–

संघयण	स्वर्ग	नरक
6	4	2
5	6	3
4	8	4
3	10	5
2	12	6
1	मोक्ष	7

भरतक्षेत्र में वर्तमानकाल में छठ्ठा संघयण ही होने से जीव उपर अधिक–से–अधिक चौथे देवलोक तक और नीचे दूसरी नरक तक ही जा सकते हैं।

अधिकरण – अधिकरण यानी आस्रव की क्रिया के साधन। अधिकरण के भेद से भी कर्मबंध होता है। जैसे– एक के पास धारदार तलवार है और एक के पास बेधार तलवार है, तो इन दोनों की हिंसा की क्रिया समान होने पर भी परिणाम भिन्न होते हैं।

प्रश्न – अधिकरण आदि के भेद से कर्मबंध भिन्न होता है, ऐसा नियम एकांत से नहीं है। कुछ जीवों को अधिकरण आदि न होने पर भी तीव्र कर्मबंध होता है, जैसे – तंदुल मत्स्य। उसके पास हिंसा के साधन नहीं होते, वासुदेव आदि जैसा बल भी नहीं होता, तो भी वह सातवीं नरक में जाता है।

उत्तर – यहाँ कहे गए तीव्रभाव आदि छह भेदों में तीव्रभाव और मंदभाव की मुख्यता है। ज्ञातभाव आदि चार तीव्रभाव और मंदभाव में निमित्त कारण होने से उनका ग्रहण किया है। ज्ञातभाव आदि की विशेषता से कर्मबंध (आस्रव) में विशेषता आएगी ही, ऐसा नियम एकांत से नहीं है। यहाँ ज्ञातभाव आदि की विशेषता से कर्मबंध में विशेषता आती है, यह कथन बहुलता की दृष्टि से है। तंदुल मत्स्य आदि अपवादरूप दृष्टांत को छोड़कर अधिकतर ज्ञातभाव आदि की विशेषता से कर्मबंध में विशेषता होती है। अथवा आगे के सूत्र में कहे जाने के अनुसार अधिकरण दो प्रकार का है। तलवारादि बाह्य अधिकरण है। कषायादि की तीव्रता–मंदता वगैरह अभ्यंतर अधिकरण 108 प्रकार के हैं, जो 9वें सूत्र में कहे जाएँगे। तंदुल मत्स्य आदि को तलवार वगैरह बाह्य अधिकरण का अभाव होने पर भी रौद्रध्यान स्वरूप मन और कषायादि अभ्यंतर अधिकरण अत्यंत भयंकर होने से वह सातवी नरक में जा सकता है।

① संघयण के वर्णन के लिए देखें सू. 8–12 ।

अधिकरण के भेद–

अधिकरणं जीवाऽजीवाः।।६-८।।

अधिकरण के दो भेद हैं – जीव और अजीव।

केवल जीव या केवल अजीव से आस्रव नहीं होता। जीव–अजीव दोनों हो तो ही आस्रव होता है। इसलिए यहाँ जीव–अजीव दोनों को आस्रव का अधिकरण कहाँ जाता हैं। जीव आस्रव का कर्ता है और अजीव उसमें सहायक है। अतः जीव ही भाव (= मुख्य) अधिकरण है और अजीव द्रव्य (=गौण) अधिकरण [1] है। यद्यपि तीव्रभाव और मंदभाव में जीव अधिकरण का समावेश [2] हो जाता है। तो भी उसके विशेषभेद बताने के लिए यहाँ भाव अधिकरण रूप में जीव का ग्रहण किया है।

जीव अधिकरण के 108भेद–

आद्यं संरम्भ-समारम्भा-ऽऽरम्भ-योग-कृत-कारिताऽनुमत-कषायविशेषैस्त्रि-स्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः।।६-९।।

संरम्भ–समारम्भ–आरम्भ, योग, कृत–कारित–अनुमत, चार कषाय; इन सभी के संयोग से जीवाधिकरण के 108भेद हैं।

108भेद – संरंभ–समारंभ और आरंभ ये तीन मन–वचन–काया द्वारा होते हैं इसलिए 3 × 3=9। ये नौ भेद जीव स्वयं करता है, कराता है और अनुमोदना करता है इसलिए 9 × 3=27। इन 27 भेदों में क्रोधादि निमित्त होते हैं इसलिए 27 × 4=108।

संरंभादि का अर्थ–

संरंभ = हिंसा आदि क्रिया का [3] संकल्प।

समारंभ = हिंसा आदि के संकल्प को पूर्ण करने के लिए आवश्यक सामग्री एकत्रित करना।

आरंभ = हिंसा आदि क्रिया करना।

तीन योगों का स्वरूप सूत्र 6–1 में आ गया है।

कृत = स्वयं हिंसादि की क्रिया करना।

कारित = हिंसादि की क्रिया अन्य द्वारा कराना।

अनुमत = अन्य द्वारा की गई हिंसादि क्रिया की अनुमोदना करना, प्रशंसा करना।

क्रोधादि चार कषाय सामान्य से प्रसिद्ध हैं। विशेष से कषायों का स्वरूप सूत्र 8–10 में आएगा।

अजीव अधिकरण के भेद–

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतु-र्द्वि-त्रिभेदाः परम्।।६-१०।।

---

① आद्यं च जीवविषयत्वाद् भावाधिकरणमुक्तं, कर्मबन्धहेतुर्मुख्यतः। इदं तु द्रव्याधिकरणमुच्यते, परममुख्यं, निमित्तमात्रत्वाद्। (6–10 टीका)

② भावः तीव्रादिपरिणाम आत्मनः स एवाधिकरणम् (6–8 टीका)

③ संरंभो संकप्पो परितावकरो भवे समारंभो।
आरंभो उद्दवलतो शुद्धनयाणं तु सव्वेसिं।।

अजीव अधिकरण के चार प्रकार हैं – निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग, निसर्ग इन चार के क्रमश: 2,4,2,3 भेद हैं।

(1) निर्वर्तना यानी रचना। निर्वर्तना के दो भेद हैं – मूलगुण और उत्तरगुण। मूलगुण निर्वर्तना यानी औदारिक आदि पाँच शरीर, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास की रचना। उत्तरगुण निर्वर्तना यानी काष्ठ तलवार आदि की रचना। यहाँ 'मूल' शब्द का अर्थ मुख्य या अभ्यंतर है और 'उत्तर' का अर्थ अमुख्य या बाह्य है। हिंसा आदि क्रिया करने में शरीर आदि मुख्य = अभ्यंतर साधन हैं ओर तलवार आदि अमुख्य = बाह्य साधन हैं। मूलगुण और उत्तरगुण की रचना में हिंसादि होने से यह रचना स्वयं अधिकरण रूप है और अन्य अधिकरण में कारणरूप भी है।

(2)निक्षेप अर्थात् रखना। निक्षेप के चार भेद हैं – अप्रत्यवेक्षित, दुष्प्रमार्जित, सहसा और अनाभोग। अप्रत्यवेक्षित निक्षेप यानी भूमि को दृष्टि से देखे बिना (अथवा जैसे–तैसे देखकर) वस्तु रखना। दुष्प्रमार्जित निक्षेप यानी भूमि का जैसे–तैसे प्रमार्जन कर अथवा प्रमार्जन किए बिना वस्तु रखना। सहसा निक्षेप यानी अशक्ति आदि के कारण सहसा (अचानक या जल्दबाजी में) बराबर देखे बिना और प्रमार्जना किए बिना भूमि पर वस्तु रखना। अनाभोग निक्षेप यानी विस्मृत होने से उपयोग के अभाव से देखे बिना और प्रमार्जन किए बिना भूमि पर वस्तु रखना।

यहाँ निक्षेप अधिकरण के चार भेद कारण के भेद से हैं। कोई भी वस्तु रखना हो तो जहाँ रखना हो वहाँ पहले दृष्टि से निरीक्षण करना चाहिए, जिससे वस्तु रखने पर कोई जीव नहीं मरे। कोई सूक्ष्म जीव ऐसे भी होते हैं कि बराबर देखने पर भी नज़र में नहीं आते। इसलिए आँख से बराबर देखने पर भी रजोहरण वगैरह जीवरक्षा के साधन से भूमि का प्रमार्जन करना चाहिए, जिससे वहाँ सूक्ष्म जीव हो तो दूर हो जाए। अत: वस्तु जहाँ रखना हो वहाँ दृष्टि से निरीक्षण तथा रजोहरण आदि से भूमि का प्रमार्जन नहीं किया जाए अथवा बराबर नहीं किया जाए, तो निक्षेप [1] अधिकरण होता है। इसमें यदि दृष्टि से बराबर निरीक्षण नहीं किया जाए तो अप्रत्यवेक्षित और रजोहरण आदि से बराबर प्रर्माजन न करने में आये तो दुष्प्रमार्जित, ऐसे दो निक्षेप अधिकरण होते हैं। बाद वाले दो निक्षेप भी निरीक्षण और प्रमार्जन न करने से या बराबर नहीं करने से ही अधिकरण होते है किंतु प्रथम दो (अप्रत्यवेक्षित और दुष्प्रमार्जित) प्रमाद से होते हैं जबकि बाद वाले दो (सहसा ओर अनाभोग) प्रमाद से नहीं होते किंतु क्रमश: सहसा और विस्मृति से होते हैं। यद्यपि अनाभोग में प्रमाद तो है ही किंतु प्रथम दो भेद जितना नहीं है। इस प्रकार कारण भेद से एक ही निक्षेप के चार भेद होते हैं।

(3) संयोग यानी एकत्रित करना, जोड़ना, मिलाना। संयोग अधिकरण के दो भेद हैं – भक्तपान और उपकरण। भक्तपान संयोग यानी भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए रोटी के साथ गुड़, मुरब्बा, सब्जी आदि का संयोग करना, दूध में शक्कर डालना इत्यादि। उपकरण संयोग यानी वेशभूषा के उद्देश्य से एक वस्त्र पुराना हो और एक नया हो तो पुराना निकालकर नया पहनना।

(4) निसर्ग यानी त्याग। निसर्ग अधिकरण के तीन भेद हैं – मन, वचन, काया। मनोनिसर्ग यानी शास्त्र विरुद्ध विचार करना। यहाँ मन का त्याग यानी मनरूप में परिणमित मनोवर्गणा के पुद्गलों का त्याग और मन रूप में परिणत पुद्गलों का त्याग ही विचार है। भाषा निसर्ग यानी शास्त्रविरुद्ध बोलना। यहाँ भी भाषा का त्याग यानी भाषा रूप में परिणमित किए हुए भाषावर्गणा के पुद्गलों का त्याग और भाषा रूप में परिणत पुद्गल का त्याग ही भाषा बोलना है। कायनिसर्ग यानी शस्त्र, अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, पाशबंधन आदि से काया का त्याग।

---

[1] निक्षेप यानी भूमि पर वस्तु रखने की क्रिया । यदि वह क्रिया इन चार कारण सहित हो तो वह क्रिया ही जीवहिंसा का कारण होने से अधिकरण स्वरूप बन जाती है।

(यहाँ तक सामान्य से आस्रव का और आस्रव में होने वाली विशेषता के कारको का वर्णन किया। अब ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के आश्रय से उस–उस कर्म संबंधी विशेष आस्रवों के क्रमश: वर्णन का प्रारंभ करते हैं। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का वर्णन सूत्र 8–3 से शुरू होगा।)

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के आस्रव–

तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्या-ऽन्तराया-ऽऽसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो: ॥६-११॥

ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधन संबंधी यथासंभव प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात, ये छह ज्ञानावरणीय कर्म के तथा दर्शन , दर्शनी और दर्शन के साधन संबंधी यथासंभव प्रदोष आदि छह दर्शनावरणीय कर्म के आस्रव हैं।

(1) प्रदोष – वाचना या व्याख्यान आदि के समय प्रकाशित होने वाले तत्त्वज्ञान के प्रति अरुचि होना। ज्ञान पढ़ते हुए खेद होना, ज्ञानी की प्रशंसा आदि सहन न होने से या अन्य कारण से उनके प्रति द्वेष–वैरभाव रखना। ज्ञान के साधन देखकर उनके प्रति रुचि प्रेम नहीं होना इत्यादि।

(2) निह्नव – स्वयं के पास ज्ञान होने पर भी कोई पढ़ने आए तो (प्रमाद, आदि के कारण) 'मैं नहीं जानता' कहकर नहीं पढ़ाना। जिनके पास अभ्यास किया हो, उन्हें ज्ञानगुरु रूप में नहीं स्वीकारना। ज्ञान के साधन स्वयं के पास होने पर भी 'नहीं है' कहना इत्यादि।

(3) मात्सर्य – स्वयं के पास ज्ञान हो और कोई योग्य व्यक्ति पढ़ने आए तब, 'यह पढ़कर मेरे समान विद्वान हो जाएगा अथवा मुझसे भी आगे निकल जाएगा' ऐसी ईष्या से उसे ज्ञान का दान नहीं करना। ज्ञानी के प्रति ईर्ष्या धारण करना।

(4) अंतराय – अन्य को पढ़ने में विघ्न करना। स्वाध्याय चालु हो तब उसे (स्वाध्याय करने वाले को) निरर्थक बुलाना, काम सौंपना, उसके स्वध्याय में विक्षेप हो ऐसे बोलना या वर्तन करना। व्याख्यान आदि में बातचीत करना, आवाज करना, अन्य को व्याख्यान में जाने से रोकना, ज्ञान के साधन होने पर भी नहीं देना इत्यादि।

(5) आसादन – ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञान के साधनों के प्रति अनादर से वर्तन करना, विनय–बहुमान वगैरह नहीं करना, उपेक्षा करना, अविधि से पढ़ना–पढ़ाना इत्यादि।[1]

(6) उपघात – अज्ञानता आदि से 'यह कथन असत्य है' इत्यादि रूप से ज्ञान में दूषण लगाना। 'ऐसा नहीं ही होता' वगैरह रूप से ज्ञानी के वचन असत्य मानना। ज्ञानी को आहारादि के दान से सहायता नहीं करना। ज्ञान के साधनों का नाश करना इत्यादि।

यद्यपि आसादान और उपघात, दोनों का अर्थ एक ही 'नाश' होता है लेकिन आसादन में ज्ञान आदि के प्रति अनादर की प्रधानता है जबकि उपघात में दूषण की प्रधानता है। आसादन और उपघात में ऐसा फर्क है, यह सर्वार्थसिद्धि टीका [2] में बताया है।

तदुपरांत – ज्ञानी के प्रति प्रतिकूल वर्तन करना, ज्ञानी के वचन पर श्रद्धा नहीं रखना, ज्ञानी का अपमान करना, ज्ञान का गर्व करना, अकाल में अध्ययन करना, अभ्यास में प्रमाद करना, स्वाध्याय–व्याख्यान श्रवण

① आसादना अविध्यादिग्रहणादिना, उपघातो मतिमोहेनाहाराद्यदानेन। (श्री हरिभद्रसूरिकृत टीका)

② सतो ज्ञानस्य विनयप्रदानादिगुणकीर्तनाननुष्ठानमासादनम्, उपघातस्तु ज्ञानमज्ञानमेवेति ज्ञाननाशाभिप्राय: इत्यनयोरयं भेद:। (सर्वार्थसिद्धि टीका)

वगैरह अनादर से करना, गलत उपदेश देना, सूत्र से विरूद्ध बोलना, शास्त्र (पैसा कमाने के लिए) बेचना इत्यादि का भी प्रदोष आदि [1] में समावेश होता है।

वर्तमानकाल में होने वाली ज्ञान की आशातना – पुस्तक आदि ज्ञान के साधन नीचे भूमि पर रखना, इधर–उधर फेंकना, मैले कपड़े या शरीर आदि अशुद्ध वस्तु के साथ रखना, बगल या जेब में रखना, साथ में रखकर विष्ठा या मूत्र करना, झूठे मुँह बोलना, अक्षरवाले पेड़े–कपड़े–साबुन वगैरह का उपयोग करना, कागज में खाद्य वगैरह वस्तु बांधना, कागज में खाना, कागज चाहे जहाँ फेंक देना, पैर लगाना, जलाना, चरवला–ओघा–मुहपत्ति वगैरह से पुस्तकों को स्पर्श करना या रखना इत्यादि, उपर्युक्त आस्रवों से भवांतर में ज्ञान नहीं चढे, ऐसे अशुभ कर्मों का बंध होता है। इस प्रकार दर्शन गुण के आश्रय से भी समझ लेना। दर्शन यानी तात्त्विक पदार्थों की श्रद्धा, विशिष्ट आचार्य वगैरह दर्शनी है, विशिष्ट ज्ञान के ग्रंथ, जिनमंदिर वगैरह दर्शन के साधन है।[2]

असाता वेदनीय कर्म के आस्रव–

दुःख-शोक-तापा-ऽऽक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥६-१२॥

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन (1) स्वयं अनुभव करे (2) दूसरे को कराए तथा (3) स्वयं [3] भी करे और दूसरे को भी कराए'', ऐसे तीन प्रकार के असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

(1) दुःख यानी अनिष्ट वस्तु का संयोग और इष्ट वस्तु का वियोग आदि बाह्य निमित्त तथा राग आदि अभ्यंतर निमित्तों द्वारा असातावेदनीय कर्म के उदय से होनेवाली पीड़ा।

(2) शोक यानी अनुग्रह करने वाले बंधु वगैरह के वियोग से बार–बार उसके वियोग के विचारों द्वारा मानसिक चिंता–खेद आदि।

(3) ताप यानी कठोर वचन, श्रवण, पराभव वगैरह से हृदय में जलते रहना इत्यादि।

(4) आक्रंदन – हृदय में परिताप (मानसिक जलन) होने से सिर पटकना, छाती कूटना, हाथ–पैर पटकना अश्रुपात करने पूर्वक रोना इत्यादि।

(5) वध – प्राण का वियोग करना, लकड़ी वगैरह से मारना इत्यादि।

(6) परिदेवन – अनुग्रह करने वाले बंधु आदि के वियोग से विलाप करना, दूसरे को दया आए, ऐसे दीन बनकर उसके वियोग का दुःख प्रगट करना इत्यादि।

यद्यपि शोक वगैरह भी दुःख रूप ही है तो भी असातावेदनीय कर्म के उदय से जीव कैसे–कैसे दुःखों का अनुभव करता है, यह बताने के लिए शोक वगैरह को अलग–अलग बताया है।

शोक से मन में चिंता या खेद आदि होते हैं जबकि परिदेवन से हृदय की चिंता आदि करुण शब्दों से बाहर प्रगट होती है। इस तरह शोक और परिदेवन में भेद है।

---

① राजवार्तिक वगैरह ग्रंथ देखें।

② नवरं दर्शनस्य तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणस्य, दर्शनिनां विशिष्टाचार्याणां, दर्शनसाधनानां च सम्मत्यादिपुस्तकानामिति वाच्यम्। (श्री हरिभद्रसूरि टीका)

③ खराब स्वभाव के लोग अयोग्य वर्तन करके स्वयं तो दुःखी होते हैं और स्वयं के सहवासी लोगों को भी दुःखी करते हैं, उन्हें अनेक तकलीफ देते हैं। इसलिए ऐसे लोग दोनों प्रकार से असाता का बंध करते हैं।

अनीति, विश्वासघात, त्रास, तिरस्कार, चुगली, परपराभव (दूसरे का अपमान), परनिंदा, आत्मश्लाघा, निर्दयता ,महाआरंभ, महापरिग्रह वगैरह भी असातावेदनीय के आस्रव हैं। संक्षेप में अन्य को दु:ख हो ऐसी कोई भी प्रवृत्ति असातावेदनीय कर्म का आस्रव है। इन आस्रवों से भवांतर में या इस भव में भी दु:ख मिले, ऐसे अशुभ कर्मों का बंध होता है।

प्रश्न – यदि दु:ख असातावेदनीय का आस्रव है तो तीर्थंकरों को तप–त्याग–केशलुंचन वगैरह का उपदेश नहीं देना चाहिए क्योंकि उससे दु:ख उत्पन्न होता है।

उत्तर – यहाँ दु:ख असातावेदनीय कर्म का आस्रव है, इसका मतलब यह है कि क्रोधादि कषाय के आवेश से दीनतापूर्वक उत्पन्न होनेवाला दु:ख असातावेदनीय कर्म का आस्रव है। किंतु आत्मशुद्धि के ध्येय से स्वेच्छापूर्वक स्वीकारा जाता दु:ख अथवा उस प्रकार के कर्मों के उदय से स्वयं उत्पन्न होने पर भी आत्मशुद्धि के ध्येय से समभाव पूर्वक सहन किया जाता दु:ख असातावेदनीय का आस्रव नहीं है। अध्यात्मप्रेमी जीव आत्मशुद्धि के ध्येय से स्वेच्छापूर्वक तप आदि का दु:ख सहन करते हैं इसलिए उस दु:ख में क्रोधादि कषाय का आवेश न होने से तथा मन की प्रसन्नता होने से उन्हें असातावेदनीय का बंध नही होता, बल्कि बहुत निर्जरा (= पूर्व में बांधे हुए अशुभ कर्म का क्षय) होता है।

सूक्ष्मदृष्टि से विचारा जाए तो अध्यात्मप्रेमी जीवों को तप आदि में उत्पन्न होने वाला दु:ख दु:खरूप नहीं लगता, किंतु उन्हें सुख का अनुभव होता है। क्योंकि उनकी नजर भावी सुख की ओर होती है। हम हमारे जीवन के अनेक प्रसंगों में क्या अनुभव नहीं करते कि वर्तमान का चाहे जितना दु:ख भावी सुख की आशा से दु:खरूप नहीं लगता? रोगी रोग दूर करने के लिए कटु औषधि का सेवन, पथ्यपालन वगैरह अनेक कष्ट सहन करता है। उसके मुख पर प्रसन्नता होती है क्योंकि उसकी नज़र भावी सुख की ओर होती है। वर्षो से पति के वियोग में झूरती युवती, जब 'दो–चार दिन में पति का संयोग होगा' ऐसे समाचार मिलते हैं, तब कैसे सुख का अनुभव करती है? पतिसंयोग के संदेश मात्र से उत्पन्न हुआ सुख उसके दिल में समाता नहीं है। क्या अभी उसे प्रति का वियोग नहीं है? पतिवियोग का दु:ख होने पर भी भावी संयोग सुख की आशा से वह दु:ख उसे दु:ख रूप नही लगता।

आध्यात्मिक मार्ग में कष्ट का विधान भावी सुख को लक्ष्य में रखकर किया गया है। अत: तीर्थंकरों के उपदेश से किए जाते तप आदि में मन की प्रसन्नता = समता होने से असातावेदनीय कर्म का क्षय भी होता है। दु:ख से सर्वथा मुक्त होने का उपाय भी यही है। यदि समभाव से सहन किए जाते दु:ख से भी असातावेदनीय कर्म का बंध हो तो दु:ख का कभी अंत नहीं होगा क्योंकि जब–जब दु:ख आएगा, तब–तब असातावेदनीय कर्म का बंध होगा। यह कर्म उदय में आएगा तब पुन: दु:ख का अनुभव ओर असातावेदनीय कर्म का बंध होगा। पुन: यह कर्म उदय में आएगा तब पुन: दु:ख का अनुभव और असातावेदनीय कर्म का बंध होगा। इस प्रकार दुश्चक्र चलता रहेगा, किंतु ऐसा नहीं है। समभाव से दु:ख सहन करने से नए असातावेदनीय कर्म का बंध तो नहीं होता, बल्कि पूर्व में बंधा हुआ असातावेदनीय कर्म भी जल जाता है। अत: जिसे दु:ख से सर्वथा मुक्त होना हो उसे तप आदि का सेवन करना ही चाहिए। प्राय: प्रत्येक जीव ने पहले अज्ञान अवस्था से असातावेदनीय कर्मों का बंध किया है, इसलिए वे कर्म कभी उदय में आकर दु:ख देने ही वाले हैं। वे कर्म कब उदय में आएँगे, यह हम नहीं जानते किंतु वे उदय में आएँगे, यह तो निश्चित है। अब यदि वे कर्म उदय में आए और उस समय अनिच्छा से भी दु:ख का अनुभव करना पड़े और नए कर्मों का बंध भी हो; इससे अच्छा तो वे कर्म उदय में आए, उसके पहले ही तप आदि द्वारा उनका नाश क्यों नहीं करना? स्वयं के पास पूंजी होने पर भी लेनदार को स्वयं न दे, फिर वह मांगने

आए तब दे तो वह कैसा माना जाए? समझदार व्यक्ति तो स्वयं के पास पैसे हो तो लेने आए उससे पहले स्वयं ही जाकर स्वेच्छा से आनंदपूर्वक पूरी रकम दे देता है। एक साथ नहीं दे सकता हो तो थोड़े-थोड़े देकर भी पूरे करे। वैसे साधक भी कर्म उदय में आए, उसके पहले ही यथाशक्ति खपाने का प्रयत्न करता है। यदि मन की निर्बलता से कर्म उदय में आने के पहले नाश करने का प्रयत्न न करे तो भी स्वयं कर्म उदय में आने पर उसे समभाव पूर्वक सहन करता है। क्योंकि वह समझता है कि इच्छा या अनिच्छा से मुझे दु:ख तो सहन करना ही है, अत: मन कलुषित किए बिना सहन करना ही अच्छा है।

इससे भावी नए कर्मों का बंध रुक जाता है। उदय में आते कर्म समभाव पूर्वक सहन किए जाए और नए कर्म नहीं बंधे तो एक दिन ऐसा आता है कि सभी कर्मों का नाश हो जाता है और आत्मा दु:ख से सर्वथा मुक्त हो जाता है। संक्षेप में, जिसे दु:ख से सर्वथा मुक्त होना हो, उसे तप आदि द्वारा पूर्व में बांधे हुए कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा न हो सके तो भी स्वयं उदय में आए हुए कर्मों को तो समभावपूर्वक ही सहन कर लेना चाहिए, अन्यथा कर्मों और दु:खों की परंपरा चलती ही रहेगी।

सातावेदनीय कर्म का आस्रव-

भूत-व्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥६-१३॥

भूत-अनुकंपा, व्रती-अनुकंपा, दान, सरागसंयम, आदि शब्द से संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप (ये सरागसंयमादि रूप योग है), क्षमा और शौच; ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।

(1) भूत-अनुकंपा-भूत यानी जीव। सर्व जीवों के प्रति अनुकंपा = दया के परिणाम।

(2) व्रती-अनुकंपा - व्रती के दो प्रकार हैं - अगारी और अणगार। गृहस्थ अवस्था में रहकर स्थूल प्राणातिपात आदि पापों का त्याग करने वाले देशविरति श्रावक अगारी व्रती हैं। सर्व प्रकार के पापों का त्याग करने वाले पंचमहाव्रतधारी साधु अणगार व्रती हैं। दोनों प्रकार के व्रती की भक्त-पान, वस्त्र, पात्र, आश्रय, औषध आदि से अनुकंपा = भक्ति करना व्रती अनुकंपा है।

(3) दान - स्व-पर के प्रति अनुग्रह बुद्धि से स्वयं की वस्तु पर को देना।

(4) सरागसंयम - संज्वलन लोभादि कषाय राग हैं। राग से सहित, वह सराग संयम यानी प्राणातिपात आदि पापों से निवृत्ति। राग सहित संयम, वह सराग संयम अथवा सराग (राग सहित) व्यक्ति का संयम सरागसंयम अर्थात् संज्वलन कषाय के उदय वाले मुनियों का संयम सराग संयम है।

(5) संयमासंयम - जिसमें आंशिक संयम हो और आंशिक असंयम हो, वह संयमासंयम अर्थात् देशविरति।

(6) अकामनिर्जरा - काम यानी इच्छा, निर्जरा यानी कर्मों का क्षय। स्वेच्छा से कर्मों का नाश, वह सकाम निर्जरा और इच्छा बिना कर्मों का नाश वह अकामनिर्जरा। इच्छा न होने पर भी परतंत्रता, अनुरोध, साधन का अभाव, रोग वगैरह के कारण से पाप प्रवृत्ति न करे, विषयसुख का सेवन न करे, आए हुए कष्ट शांति से सहन न करे इत्यादि से अकामनिर्जरा होती है।

परतंत्रता से अकामनिर्जरा – जेल में गया हुआ व्यक्ति, नौकर वगैरह परतंत्रता के कारण इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग का दु:ख सहन करते हैं, आहार–सुंदर वस्त्र आदि का भोग–उपभोग नहीं करते, आई हुई परिस्थिति को शांति से सहन करते हैं इत्यादि से अकामनिर्जरा होती है।

अनुरोध (दाक्षिण्य या प्रीति) से अकामनिर्जरा – मित्र या स्वजन आदि संकट में आए तब दाक्षिण्यता से या प्रीति से उन्हें मदद करने के लिए कष्ट सहन करे, व्यवहार के लिए मिष्ठान्न आदि का त्याग करना इत्यादि से अकामनिर्जरा होती है।

साधन के अभाव से अकामनिर्जरा – भिखारी, गरीब मनुष्य, तिर्यंच वगैरह को शीत–ताप आदि कष्ट सहने से अकामनिर्जरा होती है।

रोग से अकामनिर्जरा – राग के कारण मिष्ठान्न आदि का त्याग करना, वैद्यादि की परतंत्रता सहन करना, बुखार आदि का दु:ख सहन करना इत्यादि से अकामनिर्जरा होती है। यहाँ सहन करने के उद्देश्य बिना सहन करने से अकामनिर्जरा होती है।

(7) बालतप – अज्ञानता से (विवेक बिना) किया जाने वाला अग्निप्रवेश, पंचाग्नितप, भृगुपात वगैरह बालतप हैं।

(8) क्षमा – क्रोध कषाय के उदय को रोकना या उदय में आए हुए कषाय को निष्फल बनाना।

(9) शौच – लोभकषाय का त्याग अर्थात् संतोष।

ये सभी सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।

तदुपरांत – धर्मराग, तप का सेवन, बाल–ग्लान–तपस्वी आदि की वैयावच्च, देवगुरु की भक्ति, माता–पिता की सेवा इत्यादि के शुभ परिणाम भी सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं। इन आस्रवों से भवांतर में या इस भव [1] में भी सुख मिले, ऐसे शुभ कर्मों का बंध होता है।

दर्शनमोहनीय के आस्रव–

केवलि-श्रुत-सङ्घ-धर्म-देवाऽवर्णवादो दर्शनमोहस्य।।६-१४।।

केवली–श्रुत–संघ–धर्म और देवों का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय का आस्रव है। (अवर्णवाद यानी निंदा)

(1) केवली अवर्णवाद – जो रागद्वेष रहित और केवलज्ञान से युक्त हो, वे केवली। ''केवली शर्म से रहित हैं क्योंकि नग्न रहते हैं। वे समवसरण में होने वाली अप्काय आदि की हिंसा की अनुमोदना करते हैं क्योंकि हिंसा से निर्मित समवसरण का उपयोग करते हैं। सर्वज्ञ होने से मोक्ष के सभी उपाय जानते हुए भी तप–त्याग आदि कठिन उपाय बताते हैं। निगोद में अनंत जीव नहीं हो सकते'' इत्यादि रूप केवली का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय का आस्रव है।

(2) श्रुत अवर्णवाद – अर्थ से तीर्थंकर प्रणीत और सूत्र से गणधर द्वारा गूंथे हुए आचारांग वगैरह अंग सूत्र, औपपातिक वगैरह उपांगसूत्र छेद ग्रंथ आदि श्रुत है। '' सूत्र प्राकृत = सामान्य भाषा में रचे हुए हैं। एक–की–एक वस्तु का बार–बार वर्णन निरर्थक आता है। व्रत, छह जीवनिकाय प्रमाद वगैरह का निरर्थक बार–बार उपदेश आता है। अनेक प्रकार के अयोग्य अपवाद बताए हैं '' इत्यादि रूप में श्रुत का अवर्णवाद दर्शन मोहनीय का आस्रव है।

[1] यदि तीव्रभाव से शुभकार्य किया जाए तो इस भव में भी उसका फल मिलता है।

(3) संघ अवर्णवाद – साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका इन चार प्रकार का संघ है। '' साधु साध्वी शरीर आदि की पवित्रता नहीं रखते, कभी स्नान नहीं करते, समाज पर बोझ जैसे हैं, समाज का अन्न खाने पर भी समाज की सेवा नहीं करते। श्रावक–श्राविका स्नान को धर्म नहीं मानते, ब्राह्मणों को दान नहीं देते, अस्पताल वगैरह आरोग्य के साधन नहीं बनाते'' इत्यादि रूप में संघ का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय का आस्रव है।

(4) धर्म अवर्णवाद – पाँच महाव्रत आदि अनेक प्रकार के धर्म हैं। ''धर्म का प्रत्यक्ष फल नहीं दिखता इसलिए धर्म मिथ्या है। धर्म से सुख मिलता है, ऐसा है ही नहीं क्योंकि धर्म करने पर भी दु:खी और धर्म न करने पर भी लोग सुखी दिखते हैं '' इत्यादि रूप में धर्म का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय का आस्रव है।

(5) देव अवर्णवाद – यहाँ 'देव' शब्द से भवनपति आदि देव विवक्षित हैं। ''देव है ही नहीं, देव होते तो यहाँ क्यों नहीं आते? देव मद्य–मांस का सेवन करते हैं। इत्यादि रूप में देवों का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय का आस्रव है।

तदुपरांत – मिथ्यात्व का तीव्र परिणाम, उन्मार्ग देशना, धार्मिक लोगों के दोष देखना, असद् अभिनिवेश (कदाग्रह), कुदेव आदि का सेवन भी दर्शनमोहनीय के आस्रव हैं। इन आस्रवों से भवांतर में सद्धर्म नहीं मिले, ऐसे कर्मों का बंध होता है।

दु:ख का मूल संसार है। संसार का मूल दर्शनमोहनीय = मिथ्यात्व है। अत: साधक को भूल–चूक से भी केवली आदि का अवर्णवाद न हो जाए, उसकी सावधानी रखना चाहिए। देव आदि के विषय में बोलने से पहले खूब विचार करना चाहिए। किसी का भी अवर्णवाद पाप है तो केवली आदि का अवर्णवाद तो महापाप है।

स्वयं अवर्णवाद नहीं करे किंतु अन्य बोले उसमें सम्मति दे या उसे सुने तो भी महापाप लगता है। इसलिए कभी भी किसी को भी सुनने या पढ़ने में बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

चारित्रमोहनीय के आस्रव–

कषायोदयात् तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य।।६-१५।।

कषाय के उदय से आत्मा के अत्यंत क्लिष्ट परिणाम चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव हैं।

सम्यग्दर्शनादि गुणसंपन्न साधुओं या श्रावक आदि की निंदा करना, उन पर झूठे आरोप लगाना, उनकी साधना में विघ्न करना, उनके दूषण देखते रहना, स्वयं कषाय करना और अन्य को कषाय कराना वगैरह अत्यंत संक्लिष्ट परिणामों से भवांतर में चारित्र की प्राप्ति नहीं होती, ऐसे कर्मों का बंध होता है।

नरकगति के आयुष्य के आस्रव–

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः।।६-१६।।

अतिशय आरंभ और अतिशय परिग्रह नरकायु के आस्रव हैं।

तदुपरांत मांसाहार पंचेन्द्रियवध, कृष्णलेश्या के परिणाम, रौद्रध्यान, तीव्रकषाय इत्यादि भी नरकगति के आस्रव हैं। इन आस्रवों से भवांतर में नरक में जाने योग्य कर्मों का बंध होता है।

तिर्यंचगति के आयुष्य के आस्रव–

माया तैर्यग्योनस्य।। ६-१७।।

माया तिर्यंच आयुष्य का आस्रव है।

कुधर्म देशना, आरंभ, परिग्रह, असत्य,अतिअनीति, बहुत कूट–कपट, नील या कापोत लेश्या के परिणाम, आर्तध्यान इत्यादि भी तिर्यंचआयुष्य के आस्रव है। इन आस्रवों से भवांतर में तिर्यंचगति में उत्पन्न होने योग्य अशुभ कर्मों का बंध होता है।

मनुष्यगति के आयुष्य के आस्रव–

अल्पाऽऽरम्भ–परिग्रहत्वं स्वभावमार्दवा–ऽऽर्जवं च मानुषस्य।।६–१८।।

अल्प आरंभ, अल्प परिग्रह, स्वाभाविक (= अकृत्रिम) मृदुता और स्वभाविक सरलता मनुष्य आयुष्य के आस्रव हैं।

तथा विनय, कषाय की अल्पता, सुस्वभाव, देव–गुरु की पूजा, अतिथि–सत्कार, कापोतलेश्या के परिणाम, धर्मध्यान इत्यादि भी मनुष्य आयु के आस्रव हैं।

उक्त नरकायु आदि तीन आयुष्य का समुदित आस्रव–

निःशील–व्रतत्वं च सर्वेषाम्।।६–१९।।

शील [1] और व्रत के परिणाम का अभाव नरक, तिर्यंच और मनुष्य तीनों आयुष्य का आस्रव है अर्थात् व्रत और शील के परिणाम से रहित जीव तीनों प्रकार के आयुष्य का बंध कर सकता है।

पूर्व में बताए हुए तीनों आयुष्य के तीन भिन्न आस्रव तो है ही। तदुपरांत शील–व्रत के परिणाम का अभाव भी इन तीनों प्रकार के आयुष्य का आस्रव है।

प्रश्न – शीलव्रत के परिणाम का अभाव जैसे नरकादि के आयुष्य का आस्रव है, वैसे देवगति के आयुष्य का भी आस्रव है क्योंकि भोग–भूमि में उत्पन्न हुए युगलिक अवश्य देवलोक में उत्पन्न होते हैं। युगलिकों को शील–व्रत के परिणाम का अभाव होता है। तो यहाँ शील–व्रत के अभाव को तीन ही आयुष्य के आस्रव रूप क्यों बताया?

उत्तर – सूत्र में '**सर्वेषां**' पद है। **'सर्वेषां'** पद से तीन आयुष्य लेने पर उपर्युक्त विरोध होता है। यदि **'सर्वेषां'** पद से चारों आयुष्य का ग्रहण किया जाए तो यह विरोध नहीं रहता। परंतु प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में **'सर्वेषां'** पद से तीन ही आयुष्य का ग्रहण किया है। सूत्रकार स्वयं ही भाष्यकार है, इसलिए 'उनकी गलती है' ऐसा जरा भी नहीं कह सकते। अतः इसके पीछे कुछ रहस्य होना चाहिए। तत्त्व तो केवली भगवंत जाने।

देवगति के आयुष्य के आस्रव–

सरागसंयम–संयमासंयमा–ऽकामनिर्जरा–बालतपांसि दैवस्य।।६–२०।।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप देव आयुष्य के आस्रव हैं।

सराग संयम आदि चार शब्दों के अर्थ इस अध्याय के 13 वें सूत्र में आ चुके हैं।

कल्याणमित्र का संपर्क, धर्मश्रवण, दान, शील, तप, भावना, शुभ लेश्या के परिणाम, अव्यक्त सामायिक, विराधित सम्यग्दर्शन वगैरह भी देव आयुष्य के आस्रव हैं।

---

[1] साधुओं के पाँच महाव्रत व्रत हैं। इन व्रतों के पालन के लिए आवश्यक पिंड विशुद्धि (42 दोष से रहित भिक्षा), गुप्ति, समिति, भावना वगैरह शील हैं। श्रावकों के पाँच अणुव्रत व्रत हैं। इन व्रतों के पालन के लिए आवश्यक चार गुणव्रत, तीन शिक्षाव्रत, अभिग्रह वगैरह शील हैं। व्रतों का निरूपण सूत्र 7–1 में आएगा। गुप्ति आदि के निरूपण का प्रारंभ सूत्र 9–2 से होगा। गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का वर्णन सूत्र 7–16 में है।

अशुभ नामकर्म के आस्रव–

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः।।६–२१।।

मन–वचन–काया इन तीनों योगों की वक्रता=कुटिल प्रवृत्ति तथा विसंवादन अशुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

(1) काययोगवक्रता – काया के रूपांतर कर के अन्य को ठगना।

(2) वचनयोगवक्रता – झूठ बोलना इत्यादि।

(3) मनोयोगवक्रता – मन में कुछ अलग होने पर भी लोकपूजा, सत्कार, सन्मान वगैरह के लिए बाह्य काया और वचन की प्रवृत्ति अलग करना।

(4) विसंवादन – पूर्व में स्वीकारी हुई बात का कालांतर में परिवर्तन करना इत्यादि।

यद्यपि सामान्य से विसंवादन और वचनयोग वक्रता का अर्थ एक ही है किंतु सूक्ष्मदृष्टि से दोनों के अर्थ में भेद है। केवल स्वयं के आश्रय से मन–वचन–काया की प्रवृत्ति अलग होती हो तब योगवक्रता कहलाती है। और दूसरे के विषय में भी वैसा हो तो विसंवादन कहलाता है। अर्थात् केवल स्वयं की विरुद्ध प्रवृत्ति वचनयोगवक्रता और स्वयं की वचनयोगवक्रता के कारण अन्य की भी विरुद्ध प्रवृत्ति हो, वह विसंवादन। जैसे भय आदि के कारण झूठ बोले तो वह वचनयोग की वक्रता है लेकिन एक को कुछ कहे और दूसरे को कुछ कहे, ऐसा कहकर एक–दूसरे का झगड़ा कराए तो वह विसंवादन है तथा नीति से वर्तन करने वाले को भी गलत समझाकर अनीति कराना इत्यादि भी विसंवादन है। अत: वचनयोगवक्रता में स्वयं की ही प्रवृत्ति विरुद्ध होती है। जबकि विसंवादन में स्व और पर, दोनों की प्रवृत्ति विरुद्ध होती है।

मिथ्यादर्शन, पैशुन्य, अस्थिरचित्त, गलतमाप–तोल रखना, असली वस्तु में नकली वस्तु की मिलावट करना, परनिंदा, आत्मप्रशंसा, परद्रव्यहरण, महाआरंभ, महापरिग्रह, कठोरवचन, असभ्यवचन, व्यर्थ बोल–बोल करना, वशीकरण प्रयोग, सौभाग्योपघात इत्यादि भी अशुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

शुभ नामकर्म के आस्रव–

तद्विपरीतं शुभस्य।।६–२२।।

अशुभ नामकर्म के आस्रवों से विपरीत भाव शुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

मन–वचन–काया की सरलता तथा अविसंवाद, ये चार, शुभ नामकर्म के मुख्य आस्रव हैं। तदुपरांत धर्म के प्रति आदरभाव, संसारभय, अप्रमाद इत्यादि भी शुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव–

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शील–व्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग–संवेगौ शक्तितस्त्याग–तपसी संघ–साधु–समाधिं–वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य–बहुश्रुत–प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणि–र्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य।।६–२३।।

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील-व्रत में अप्रमाद, बार-बार ज्ञानोपयोग और संवेग, यथाशक्ति त्याग और तप, संघ और साधुओं की समाधि तथा वैयावृत्त्य, अरिहंत-आचार्य-बहुश्रुत और प्रवचन की भक्ति, आवश्यक की अपरिहानि, मोक्षमार्ग की प्रभावना, प्रवचन-वात्सल्य, ये तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव हैं।

(1) दर्शन विशुद्धि – शंकादि पाँच अतिचार से रहित सम्यग्दर्शन[①] का पालन।

(2) विनय – सम्यग्ज्ञानादि मोक्ष के साधनों का तथा उपकारी आचार्य आदि का योग्य सत्कार, सन्मान, बहुमान इत्यादि करना [②] ।

(3) शील-व्रत में अप्रमाद – शील और व्रतों का प्रमाद [③] रहित निरतिचार पालन करना।

(4) बार-बार ज्ञानोपयोग – बार-बार यानी प्रतिक्षण वाचना आदि पाँच प्रकार के स्वाध्याय में रत रहना [④]।

(5) बार-बार संवेग – संसार के सुख भी दुःख रूप लगने से मोक्षसुख प्राप्त करने की इच्छा से उत्पन्न हुआ शुभ आत्मपरिणाम [⑤]।

(6) यथाशक्ति त्याग – स्वयं की शक्ति अनुसार न्यायोपार्जित वस्त्र-पात्र आदि का सुपात्र में दान देना [⑥]।

(7) यथाशक्ति तप – स्वयं की शक्ति अनुसार बाह्य-अभ्यंतर तप का सेवन करना [⑦]।

(8) संघ-साधु की समाधि – संघ और साधुओं में समाधि रहे वैसा वर्तन करना। संघ में स्वयं के निमित्त से अशांति नहीं करना और अन्य से हुई अशांति को दूर करना। पीड़ा पाते हुए श्रावकों को धर्म में जोड़ना। साधु सुंदर संयम पालन कर सके, इसलिए जो हो सके वह करना इत्यादि। साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका संघ है। साधुओं का संघ में समावेश होने पर भी यहाँ साधुओं का पृथग् निर्देश संघ में साधुओं की प्रधानता बताने के लिए किया है।

(9) संघ-साधु की वैयावच्च – आर्थिक या अन्य किसी आपत्ति में फँसे हुए श्रावकों को अनुकूलता कर देना। साधुओं को आहार-पानी का दान करना, बीमारी में औषध आदि से सेवा करना इत्यादि। [⑧]

(10) अरिहंतभक्ति – रागादि अठारह दोषों से रहित अरिहंत होते हैं। गुणों की स्तुति, वंदन, पुष्पादि से पूजा इत्यादि प्रकार से अरिहंत की भक्ति करना।

(11) आचार्यभक्ति – पाँच इन्द्रियों का जय आदि 36गुणों से जो युक्त हो, वे आचार्य हैं। आचार्य पधारे तब बहुमानपूर्वक सामने लेने जाना, वंदन करना, प्रवेशमहोत्सव करना इत्यादि प्रकार से आचार्य की भक्ति करना।

---

① सम्यग्दर्शन का वर्णन सूत्र 1-2 में आ चुका है। पाँच अतिचारों का वर्णन सूत्र 7-18 में आएगा।
② विनय का विस्तृत वर्णन सूत्र 9-23 में आएगा।
③ प्रमाद का विस्तृत वर्णन देखें सूत्र 8-1 में।
④ स्वाध्याय का विस्तृत वर्णन देखें सूत्र 9-25।
⑤ संवेग लाने के उपाय देखें सूत्र 7-7।
⑥ दान का विस्तृत वर्णन सूत्र 7-33/34।
⑦ तप का विस्तृत वर्णन देखें सूत्र 9-19 इत्यादि।
⑧ वैयावच्च का विशेष वर्णन देखें सूत्र 9-24।

(12) बहुश्रुतभक्ति – बहुतश्रुत = शास्त्रों को जानने वाला बहुश्रुत [1] कहलाता है। बहुतश्रुत के पास विधि पूर्वक अभ्यास करना, विनय करना, उनके बहुश्रुतपने की अनुमोदना–प्रशंसा करना इत्यादि।

(13) प्रवचनभक्ति – प्रवचन यानी आगमशास्त्र आदि श्रुत। प्रतिदिन नए–नए श्रुत का अभ्यास करना, अभ्यस्त श्रुत का रोज परावर्तन करना, अन्य को श्रुत पढ़ाना, श्रुत का प्रचार करना इत्यादि अनेक प्रकार से श्रुतभक्ति हो सकती है।

(14) आवश्यक अपरिहानि – जो अवश्य करने योग्य, जिसके बिना नहीं चलता, वह आवश्यक। सामान्य से सामायिक आदि छह आवश्यक हैं। किंतु यहाँ आवश्यक शब्द से संयम निर्वाह के लिए जरूरी सभी क्रिया समझना। संयम की सभी प्रकार की क्रियाएँ भाव से यथोक्त समय पर विधिपूर्वक करना, वह आवश्यक की अपरिहानि है। भाव से अर्थात् मानसिक उपयोग पूर्वक। उपयोग रहित सभी धार्मिक अनुष्ठान, द्रव्य अनुष्ठान हैं। द्रव्य अनुष्ठानों से आत्मकल्याण नहीं होता।

(15) मोक्षमार्ग प्रभावना – सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र, ये तीन मोक्ष के मार्ग (मोक्ष प्राप्ति के उपाय) हैं। मोक्षमार्ग की प्रभावना यानी स्वयं मोक्षमार्ग का पालन करने के साथ अन्य जीव भी मोक्ष प्राप्त करें, इसलिए उपदेश आदि द्वारा मोक्षमार्ग का प्रचार करना।

(16) प्रवचन–वत्सलत्व – यहाँ प्रवचन शब्द से श्रुतधर, बाल, वृद्ध, ग्लान [2], तपस्वी, शैक्षक, गण वगैरह मुनि भगवंत समझना। उन पर संग्रह, उपग्रह और अनुग्रह से वात्सल्यभाव रखना प्रवचनवात्सल्य है। संग्रह यानी अभ्यास आदि के लिए आए हुए परसमुदाय के साधु का शास्त्रोक्त विधिपूर्वक स्वीकार करना। स्वयं के पास रखकर अभ्यास कराना आदि। उपग्रह यानी साधुओं को आवश्यक वस्त्र–पात्र, वसति आदि प्राप्त करा देना। अनुग्रह यानी शास्त्रोक्त विधिपूर्वक साधुओं को भक्त–पान आदि लाकर देना। अथवा प्रवचन यानी जिनशासन की आराधना करने वाला साधर्मिक, जैसे माता स्वयं के पुत्र पर अकृत्रिम स्नेह धारण करती है, वैसे साधर्मिक पर अकृत्रिम स्नेह धारण करना प्रवचन वात्सल्य है।

(1) अरिहंत (2) सिद्ध (3) प्रवचन (4) आचार्य = गुरु (5) स्थविर (6) उपाध्याय = बहुश्रुत (7) साधु (8) ज्ञान (पाँच प्रकार के स्वाध्याय) (9) सम्यग्दर्शन (10) विनय (11) आवश्यक क्रिया (12) मूलगुण–उत्तरगुण रूप चारित्र (13) ध्यान (14) तप (15) दान (16) वैयावच्च (17) संघ (18) ज्ञान (नूतन अभ्यास) (19) श्रुतज्ञान (श्रद्धा, प्रचार आदि) (20) शासन प्रभावना, इन बीस स्थानक (पद) की आराधना से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। अरिहंत आदि बीस पदों का इस सूत्र में बताए हुए आस्रवों में यथायोग्य समावेश हो जाता है। ये आस्रव समुदित (सब एकसाथ) अथवा प्रत्येक (एक), दो, तीन वगैरह भी तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव हैं।

इन आस्रवों के सेवन के साथ जब जगत् के सर्व जीवों के प्रति विशिष्ट प्रकार की करुणा जागृत होती है तब तीर्थंकर नामकर्म का निकाचित बंध होता है। तीर्थंकर के जीव तीर्थंकर के भव से पूर्व के तीसरे भव में अरिहंत आदि बीस स्थानक पदों की आराधना करते हैं और 'अहो! आश्चर्य है कि सकल गुणसंपन्न तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित स्फुरायमान तेजस्वी प्रवचन होने पर भी महामोह के अंधकार मे सुख का सत्य मार्ग नहीं दिखने से अत्यंत दु:खी और विवेकरहित जीव इस गहन संसार में भटकते रहते हैं, अत: मैं इन जीवों को पवित्र प्रवचन

---

[1] यहाँ श्री हरिभद्रसूरि म. की टीका में बहुश्रुत का अर्थ उपाध्याय किया गया है जबकि श्री सिद्धसेनगणि की टीका में उपाध्याय वाचनाचार्य होने से 'आचार्यभक्ति' पद से आचार्य और उपाध्याय, दोनों का ग्रहण किया है।

[2] ग्लान आदि के अर्थ के लिए देखें सूत्र 9–24।

(जैनशासन) से मोक्षमार्ग बताकर इस संसार से पार उतारूँ' इस तरह वे जगत् के सभी जीवों के प्रति सर्वोत्कृष्ट करुणा भावना से भावित होते हैं। प्रत्येक क्षण उनकी यह भावना उत्तरोत्तर अत्यंत वृद्धि को प्राप्त होती है। सदा परार्थव्यसनी (= पर का कल्याण करने के व्यसन वाले) और करुणादि अनेक गुणों से युक्त वे जीव मात्र ऐसी भावना से भावित होकर बैठे नहीं रहते किंतु जिस प्रकार जीवों का कल्याण हो, वैसा प्रयत्न भी करते हैं। इसलिए वे तीर्थंकर नामकर्म का निकाचित बंध करते हैं।

मुख्यतया तीर्थंकर के भव से पूर्व के तीसरे भव में तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है और निकाचित होता है लेकिन कभी तीसरे भव से पहले के भवों में भी तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो सकता है किंतु निकाचित नहीं होता, निकाचित तो तीसरे भव में ही होता है। अनिकाचित बंधा हुआ तीर्थंकर नामकर्म बिखर भी जाता है। सावद्याचार्य का शुद्ध प्ररूपणा से बंधा हुआ तीर्थंकर नामकर्म उत्सूत्र प्ररूपणा से बिखर गया था।

नीच गोत्र के आस्रव–

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।।६-२४।।

परनिंदा, आत्मप्रशंसा, सद्गुण–आच्छादन और असद्गुण–उद्भावन नीच गोत्र के आस्रव हैं।

(1) परनिन्दा – अन्य के विद्यमान या अविद्यमान दोषों को कुबुद्धि से प्रगट करना।

(2) आत्मप्रशंसा – स्व के विद्यमान या अविद्यमान गुणों को स्वोत्कर्ष साधने के लिए प्रगट करना।

(3) सद्गुणाच्छादन – पर के विद्यमान गुणों को ढाँकना अर्थात् प्रसंगवशात पर के गुणों को प्रकाश में लाने की आवश्कता होने पर भी ईर्ष्या आदि से नहीं लाना।

(4) असद्गुणोद्भावन – स्व में गुण न होने पर भी स्वोत्कर्ष साधने के लिए 'मुझमें गुण है' ऐसा दिखावा करना।

तदुपरांत – जाति आदि का मद, पर की अवज्ञा(तिरस्कार), दूसरे की हँसी–मजाक, धार्मिकजन का उपहास, मिथ्याकीर्ति प्राप्त करना, वडीलों का पराभव (अपमान) करना इत्यादि भी नीचगोत्र कर्म के आस्रव हैं।

उच्चगोत्र के आस्रव –

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।।६-२५।।

नीचगोत्र के आस्रवों से विपरीत कारण अर्थात् स्वनिंदा, परप्रशंसा, सद्गुणाच्छादन, असद्गुणोद्भावन तथा नम्रवृत्ति ओर अनुत्सेक, ये छह उच्चगोत्र कर्म के आस्रव हैं।

(1) स्वनिन्दा – स्वयं के दोषों को प्रगट करना।

(2) परप्रशंसा – पर के गुणों को प्रगट करना।

(3) सद्गुणाच्छादन – स्वोत्कर्ष से बचने के लिए स्वयं के विद्यमान गुणों को ढाँकना।

(4) असद्गुणोद्भावन – स्वयं के दुर्गुणो को प्रगट करना।

यद्यपि यहाँ स्वनिंदा असद्गुणोद्भावन का अर्थ समान है। तथापि स्वनिंदा का 'स्वयं की लघुता बताने, विद्यमान या अविद्यमान [1] स्वयं के दोषों को प्रगट करना 'ऐसा अर्थ करें और असद्गुणोद्भावन का' विद्यमान

① जैसे स्वोत्कर्ष से बचने के लिए विद्यमान स्वगुणों को छुपाना भी दोषरूप नहीं है किंतु गुणरूप है, वैसे स्वयं की लघुता बताने में स्वयं में अविद्यमान दोषों को कहना भी दोषरूप नहीं है किंतु गुणरूप है।

दुर्गुणों को प्रगट करना' ऐसा अर्थ करें तो दोनो के अर्थ में कुछ फर्क पड़ेगा। अथवा 'आत्मनिंदा यानी स्वयं के केवल दोष देखना, प्रगट नहीं करना' और 'असद्गुणोद्भावन यानी स्वयं के दुर्गुणो = दोषों को बाहर प्रगट करना' ऐसा अर्थ करने पर दोनों के अर्थ में भेद होगा।

अथवा सद्गुण = आच्छादन का विपरीत अर्थ सद्गुणोद्भावन और सद्गुण–उद्भावन का विपरीत अर्थ असद्गुणाच्छादन भी हो सकता है। पर के गुणों का प्रकाशन सद्गुणोद्भावन है और पर के दोषों को ढाँकना असद्गुणाच्छादन है। इस अर्थ में पर प्रशंसा और सद्गुण उद्भावन का अर्थ समान होगा।

अत: सद्गुणाच्छादन का विपरीत अर्थ स्वसद्गुणाच्छादन = स्वयं के गुणों को ढाँकना और असद्गुण–उद्भावन का विपरीत अर्थ पर–असद्गुणाच्छादन = पर के दोषों को ढाँकना, ऐसा अर्थ किया जाए तो स्वनिंदा आदि चारों के अर्थ भिन्न होंगे।

(5) नम्रवृत्ति – गुणी पुरुषों के प्रति नम्रता और विनयपूर्वक वर्तन करना।

(6) अनुत्सेक – विशिष्ट श्रुतादि की प्राप्ति होने पर भी गर्व नहीं करना।

तदुपरांत – जाति आदि का मद नहीं करना, पर की अवज्ञा नहीं करना, मजाक नहीं करना, धार्मिकों की प्रशंसा करना इत्यादि भी उच्चगोत्र कर्म के आस्रव हैं।

अंतरायकर्म के आस्रव –

विघ्नकरणमन्तरायस्य।।६-२६।।

दान आदि में विघ्न करना, वह क्रमश: दानांतराय आदि के आस्रव हैं।

अंतराय कर्म पाँच प्रकार का है – दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यांतराय। अन्य को दान में विघ्न किया जाए तो दानांतराय, लाभ में विघ्न किया जाए तो लाभांतराय, भोग में अंतराय किया जाए तो भोगांतराय, उपभोग में अंतराय किया जाए तो उपभोगांतराय और वीर्य में अंतराय किया जाए तो वीर्यांतराय कर्म का आस्रव = बंध होता है।[①]

दान = स्व – पर अनुग्रह की बुद्धि से स्ववस्तु पर को देना।[②]

लाभ = वस्तु की प्राप्ति।

भोग = जिनका एक ही बार भोग कर सके ऐसे शब्दादि विषयों का उपयोग करना।

उपभोग = जिन्हें अनेक बार भोग सके ऐसे स्त्री, वस्त्र आदि पदार्थों का उपयोग करना।

वीर्य = आत्मिक शक्ति।

(1) दानांतराय = दान देने वाला दान नहीं दे सके, वैसा प्रयत्न कर दान में विघ्न करना। ज्ञानदान आदि अनेक प्रकार का दान है। जिस दान में विघ्न किया जाता है, उस दानांतराय कर्म का बंध होता है। ज्ञानदान करने वाले को ज्ञानदान में अंतराय करने से ज्ञानदानांतराय कर्म का बंध होता है, जिससे वह कर्म उदय में आने पर ज्ञान होते हुए भी दूसरे को ज्ञान नहीं दे सकते। किसी के सत्कार–सन्मान के दान में अंतराय करने से गुणी को

① पाँच अंतराय के विशेष वर्णन के लिए देखें सूत्र 8–14।
② दान का विशेष वर्णन देखें सूत्र 7–33/34।

सत्कार–सन्मान का दान नहीं कर सके, वैसे कर्म का बंध होता है। इस प्रकार सुपात्रदान, अभयदान आदि के विषय में भी जानना।

(2) लाभांतराय – ज्ञान, धन आदि की प्राप्ति में अन्य को विघ्न करने से ज्ञान, धनादि के लाभांतराय कर्म का बंध होता है। जैसे – दूसरे को ज्ञानप्राप्ति में विघ्न करना, चोरी, अनीति आदि करके अन्य के धनलाभ में अंतराय करना इत्यादि।

(3) भोगांतराय – नौकर आदि को समय पर खाना नहीं देना या समय पर वह नहीं खा सके ऐसे कार्य बताना इत्यादि रूप से दूसरे के भोग में अंतराय करने से भोगांतराय कर्म का बंध होता है।

(4) उपभोगांतराय – परस्त्री अपहरण, क्लेश कराना इत्यादि रूप से स्त्री आदि के उपभोग में विघ्न करने से उपभोगांतराय कर्म का बंध होता है।

(5) वीर्यांतराय – अन्य की शक्ति का नाश करना, बैल की खसी करना, धार्मिक कार्यों में शक्ति अनुसार प्रवृत्ति नहीं करना, किसी के तप आदि में उत्साह का भंग करना, अन्य को तप आदि में अंतराय करना इत्यादि रूप से अंतराय कर्म का बंध होता है।

प्रश्न – यहाँ जिस–जिस कर्म के जो–जो आस्रव बताए हैं, उन–उन आस्रवों की उपस्थिति में उन–उन कर्मों का ही बंध होता है या अन्य कर्मों का भी बंध होता है?

उत्तर – यहाँ सभी कर्म के जो–जो आस्रव बताए हैं, उन–उन आस्रवों की उपस्थिति में उन–उन कर्मों का ही बंध होता है, ऐसा नहीं है। अन्य कर्मों का बंध भी अवश्य होता है। प्रत्येक संसारी जीव को आस्रव चाहे जो भी हो किंतु हरेक समय सात कर्मों का और आयुष्य बंध के समय आठ कर्मों का बंध अवश्य होता है। तो भी यहाँ इन आस्रवों से इस कर्म का बंध होता है' ऐसा कथन रसबंध की अपेक्षा से किया गया है अर्थात् उन–उन आस्रवों से उस–उस कर्म के रस का गाढ़ बंध होता है और अन्य कर्म का रस मंद होता है। चार प्रकार के बंध[1] में मुख्यता रसबंध की है। जैसे – दान में विघ्न करने के अध्यवसाय आत्मा में उत्पन्न होते हैं तब दानांतराय कर्म के साथ ज्ञानावरणीयादि अन्य कर्मों का भी बंध होता है किंतु दानांतराय कर्म के तीव्र रस का बंध होता है और अन्य कर्मों के मंद रस का बंध होता है। इसी प्रकार अन्य आस्रवों में भी जानना।

प्रश्न – संयम, देशविरति आदि देवगति के आस्रव होने से उन्हें धर्म क्यों कहते हैं? धर्म का मुख्य फल तो मोक्ष है। मोक्ष तो कर्म के संवर से और निर्जरा से होता है। अत: जो संवर और निर्जरा का कारण है, उसे ही धर्म कहना चाहिए। देवगति आदि के कारण को धर्म क्यों कहते हैं? शुभ आस्रव भी संसार के कारण है।

उत्तर – कोई भी प्ररूपणा दो नयों से होती है – निश्चय और व्यवहार। अत: यहाँ यदि निश्चय नय से विचार किया जाए तो देशविरति आदि धर्म संवर और निर्जरा के ही कारण हैं। व्यवहार नय के आश्रय से देशविरति आदि को देवगति आदि का कारण कहा है। देवगति के कारण संयमादि धर्म नहीं हैं किंतु उनमें कषाय की शुभपरिणति कारण है। इसलिए देवगति आदि कर्म के आस्रव का कारण प्रशस्त राग–द्वेष की परिणति है। संयम आदि में जितने अंश राग–द्वेष है, उतने अंश उन आस्रवों के कारण बनते हैं। प्रशस्त राग–द्वेष शुभ आस्रवों के और अप्रशस्त राग–द्वेष अशुभ आस्रव के कारण हैं। तथापि उपचार से (= व्यवहार से) संयमादि को देवगति आदि का आस्रव कहा गया है।

---

① चार प्रकार के बंध का वर्णन देखें सूत्र 8–4।

अपुनर्बंधक से लेकर 10 वें गुणस्थानक तक प्रत्येक आत्मा मोक्ष के लिए धर्म करता है। उन प्रत्येक जीव में राग–द्वेष की परिणति जितने अंश में कम होगी, उतने अंश में आस्रव अल्प और संवर–निर्जरा अधिक होगी। अपुनर्बंधक से सम्यग्दृष्टि में, सम्यग्दृष्टि से देशविरति में, इस प्रकार उत्तरोत्तर साधक में राग–द्वेष की परिणति न्यून होने से आस्रव न्यून और संवर–निर्जरा अधिक होती है। अपुनर्बंधक की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अधिक संवर–निर्जरा करता है। सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से देशविरति अधिक संवर–निर्जरा करता है। देशविरति की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अपुनर्बंधक को आस्रव अधिक होता है।

इससे तात्पर्य यह निकला कि धर्म तो संवर–निर्जरा का कारण है परंतु उसके साथ रहने वाली प्रशस्त राग–द्वेष की मात्रा उन–उन शुभ–अशुभ कर्मों के आस्रव का कारण होती है। अत: यदि कोई ऐसा कहे कि धार्मिक अनुष्ठान, क्रिया आस्रव के कारण होने से हेय हैं, तो वह बिल्कुल असत्य है। धार्मिक अनुष्ठान संवर–निर्जरा अर्थात् मोक्ष के ही कारण हैं किंतु धर्म की सहभावी राग–द्वेष की परिणति आस्रव का कारण है। इस कारण से ही प्रस्तुत आस्रव के अधिकार में संयम को 'सराग' विशेषण लगाया है। वीतराग संयम मात्र निर्जरा का ही कारण है। जैसे – घी–गुड़ से बनाए हुए लड्डु मीठे होते है किंतु यदि उसमें मैथी डाली जाए तो कड़वे लगते हैं। जितनी मैथी ज्यादा, उतना कड़वा स्वाद ज्यादा। यहाँ कड़वा स्वाद मैथी का है या लड्डु का? यहाँ कड़वा स्वाद मैथी का होने पर भी लड्डु को कड़वा कहाँ जाता है। वैसे धर्म के सभी अनुष्ठान मीठे लड्डु के समान है और उनके साथ रही हुई राग–द्वेष की परिणति मैथी के समान है [1]।

आज जो मोक्ष के उद्देश्य से धर्म का आचरण करते हैं, वे धर्मी आत्मा कुछ आवश्यक व्यवहारिक नियमों का पालन करने में समर्थ न हो, ऐसा भी होता है। जिन्हें धर्म का खप नहीं है, जिन लोगों को धर्म जँचता नहीं है, वे लोग उनके इन दोषों को आगे करके धर्म के बारे में अपप्रचार करते हैं। उन्हें उपर कहा हुआ दृष्टांत याद रखना चाहिए। लड्डु में घी–गुड़ अल्प हो और मेथी अधिक हो तो उसमें घी–गुड़ होने पर भी खबर नहीं पड़ती, उसका स्वाद नहीं आता। ऐसे ही जो अति अल्प धर्म करते हैं, उनमें धर्म की उन्नति होने पर भी संसार की परिणति अभी भी अधिक होने से धर्म की सामान्य उन्नति हमें नहीं दिखती किंतु उनमें अल्प अंश में भी उन्नति तो अवश्य होती है। अत: ऐसे धार्मिकों के कुछ–कुछ दोषों को आगे करके धर्म को दोष देना बिलकुल अज्ञानता है। धर्म तो हरेक की उन्नति ही करता है किंतु उसकी सहभावी कषाय की परिणति अवनति करती है। अत: धर्मी के जीवन में दिखने वाली त्रुटियों का कारण धर्म नहीं है। लेकिन उसकी राग–द्वेष की परिणति है। अत: धर्मी के जीवन में जब–जब त्रुटियाँ दिखे, तब–तब धर्म की ओर तिर्च्छी नजर करने की बजाय राग–द्वेष की ओर तिर्च्छी नजर करना ही हितावह है।

***

[1] श्राद्धवर्य पंडित श्री प्रभुदास बेचरदास के विवेचन का भाव यहाँ लिया है।

सप्तम अध्याय

पूर्व में 'भूतव्रत्यनुकम्पा दानं.... (सूत्र 6-13)' में 'व्रती' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'व्रत' शब्द से 'व्रती' शब्द बना है। अत: व्रत और व्रती का ज्ञान करना अब आवश्यक है। इसलिए इस अध्याय में व्रत की व्याख्या, साधु तथा श्रावक के व्रतों का स्वरूप, व्रती की व्याख्या आदि का वर्णन है। जीवादि सात तत्त्वों की अपेक्षा से इस अध्याय में भी आस्रव तत्त्व का वर्णन है क्योंकि इस अध्याय में व्रत के अतिचारों का वर्णन किया गया है। व्रत के अतिचार आस्रवस्वरूप हैं। व्रत के अतिचारों का ज्ञान करने के लिए पहले व्रतों का ज्ञान आवश्यक है। अत: इस अध्याय में व्रत का स्वरूप आदि समझाकर व्रत के अतिचारों का वर्णन किया जाएगा।

व्रत की व्याख्या-

हिंसा-ऽनृत-स्तेया-ऽब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।।७-१।।

हिंसा, अनृत (= असत्य), स्तेय(= चोरी) अब्रह्म(=मैथुन) और परिग्रह, इन पाँच पापों को जानकर श्रद्धापूर्वक मन-वचन-काया से इनका त्याग करना व्रत है।[1]

हिंसा के पाप से अटकना हिंसाविरमणव्रत है, असत्य के पाप से रुकना मृषावादविरमणव्रत है.... यावत् परिग्रह से रुकना परिग्रह-विरमणव्रत है। मुख्य पाप पाँच होने से मुख्य व्रत भी पाँच है। उनमें भी हिंसाविरमणव्रत (= अहिंसा व्रत) मुख्य है। शेष चार व्रत तो जैसे धान्य की रक्षा के लिए खेत के चारों ओर वाड बनाते हैं। वैसे प्रथम व्रत की रक्षा के लिए वाड स्वरूप है। यद्यपि साधुओं के लिए छट्ठा रात्रिभोजन विरमणव्रत भी है तो भी यहाँ मुख्य = सर्वसामान्य व्रतों की गिनती होने से उसका उल्लेख [2] नहीं किया है। यहाँ व्रत की व्याख्या में व्रत को निवृत्ति रूप बताया है किंतु अर्थापत्ति से व्रत प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों स्वरूप है क्योंकि निवृत्ति-प्रवृत्ति पिता-पुत्र की तरह सापेक्ष है। हिंसा आदि से निवृत्त होने पर जीव शास्त्रविहित क्रिया में प्रवृत्ति करता है। यहाँ निवृत्ति की प्रधानता से व्रत को निवृत्ति रूप बताया गया है।

प्रश्न - सर्व साधना का ध्येय राग-द्वेष को दूर करना है, क्योंकि राग-द्वेष से पापप्रवृत्ति होती है। पापप्रवृत्ति से कर्म का बंध होता है। कर्मबंध से संसार में परिभ्रमण होता है। संसार परिभ्रमण में केवल दु:ख का ही अनुभव होता है। इस प्रकार दु:ख का मूल राग-द्वेष (कषाय) है। इसलिए व्रती को राग-द्वेष दूर करने का नियम लेना चाहिए। राग-द्वेष दूर होने से पापप्रवृत्ति अपने-आप ही बंद हो जाएगी, चाबी खत्म होने पर घड़ी बंद हो जाती है वैसे। अत: राग-द्वेष नहीं करने के नियम का विधान नहीं करके हिंसा आदि पाप से निवृत्ति के नियम का विधान क्यों किया?

उत्तर - बात सत्य है। सकल दु:खों का मूल राग-द्वेष-कषाय हैं। अत: राग-द्वेष को दूर करना साधना का मुख्य ध्येय है तो भी राग-द्वेष मानसिक परिणाम होने से प्रारंभ से सर्वथा दूर नहीं हो सकते। इसलिए पहले तो राग-द्वेष की पुष्टि जिससे होती है, उसे रोकना आवश्यक है। पुष्टि नहीं मिलने पर धीरे-धीरे राग-द्वेष सर्वथा नष्ट हो जाएँगे। रोग का नाश करना हो तो पहले जिन कारणों से रोग बढ़ता है, उन कारणों को नष्ट करना चाहिए। फिर दवाई लेने पर रोग को नष्ट होने में देर नहीं लगती। वैसे यहाँ राग-द्वेष पाप की प्रवृत्ति से वृद्धि पाते हैं। इसलिए पहले उसे रोकना चाहिए। फिर शुभप्रवृत्ति रूप दवाई का सेवन करने से अल्पकाल में राग-द्वेष रूप रोग नष्ट हो जाएगा। जैसे जीवन जीने के लिए आहार चाहिए, आहार नहीं मिले तो मृत्यु होती है, वैसे राग-द्वेष

---

① हिंसा आदि की व्याख्या देखें सूत्र 7-8 इत्यादि।

② 22 जिनेश्वरों के शासन में यह व्रत नहीं है। वैसे ही श्रावक के व्रतों में भी उसे व्रतरूप में नहीं गिना जाता।

को जीने के लिए पापप्रवृत्ति आहार है। अत: यदि पापप्रवृत्ति रूप आहार बंद किया जाए तो राग–द्वेष–कषाय लंबा समय नहीं रह सकते। शुभ अनुष्ठानों का सेवन करना ही हितावह है। पाप अनेक प्रकार के हैं। उनमें यहाँ दिखाए गए हिंसा आदि पाँच पाप मुख्य हैं। अत: सर्व प्रथम इन पाँच पापों का त्याग करने का विधान है। प्रारंभ में राग–द्वेष का सर्वथा त्याग अशक्य है, किंतु राग–द्वेष से होने वाले पापों का सर्वथा त्याग शक्य है। जैसे बारिश रोकना अशक्य है परंतु छत्री आदि साधनों से हमारा शरीर या कपड़े गीले न हो, वह शक्य है।

दूसरी बात – कर्म बंध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार हेतु हैं। इस दृष्टि से भी पहले मिथ्यात्व के त्यागपूर्वक अविरति = पापप्रवृत्ति का त्याग करना चाहिए। अविरति के त्याग के बाद ही कषायों (राग–द्वेष) का त्याग हो सकता है और फिर ही योग का त्याग हो सकता है।

तीसरी बात – पाँच आस्रव राग–द्वेष रूप शत्रु के शस्त्र समान हैं। शत्रु में बल चाहे जितना हो लेकिन यदि शस्त्र रहित हो तो वह कमजोर हो जाता है, रंक बन जाता है। गुस्सा आया किंतु हिंसा आदि का नियम होने से जीव को नहीं मार सकते, असत्य नहीं बोल सकते, इस तरह गुस्सा अकिंचित्कर बन जाता है। ऐसे हिंसादि के नियम से रागादि निर्बल हो जाने से, स्वयं का कार्य नहीं कर पाने से अकिंचित्कर बन जाते हैं। पाँच पापों का सर्वथा त्याग करने के बाद राग–द्वेष संसार के पौषक नहीं किंतु शोषक होते हैं; साधना में बाधक नहीं, साधक होते हैं। जैसे – गटर का गंदा पानी पीया जाए तो रोग होता है किंतु वहीं पानी सूर्य की गर्मी से बाष्प बनकर उपर जाता है, बादल बनते हैं, फिर बारिश से नीचे आता है। अब यह पानी रोग नहीं किंतु आरोग्य करता है। जो पानी पहले रोग करता था, वही अब आरोग्य करने वाला हो गया क्योंकि उसका शुद्धिकरण हो गया। इसी प्रकार मिथ्यात्व–अविरति के साथ रहे हुए कषाय संसारपोषक होते हैं, सम्यग्दर्शन–विरति के सहभावी कषाय संसार–शोषक होते हैं क्योंकि उन कषायों का शुद्धिकरण हो चुका है अर्थात् वे कषाय प्रशस्त बन जाते हैं।

चौथी बात – करेमिभंते सूत्र का पाठ बोलकर सामायिक की प्रतिज्ञा की जाती है। सामायिक यानी समता, समता यानी कषायों का अभाव। किंतु यहाँ कषायों का सर्वथा अभाव अशक्य है। इसलिए उस–उस कक्षा के साधक के आश्रय से अप्रत्याख्यानी या प्रत्याख्यानावरण रूप कषायों (राग–द्वेष) का नियम लिया ही जाता है।

उक्त पाँच व्रत के दो भेद–

देश-सर्वतोऽणु-महती।।७-२।।

हिंसादि पापों से देश (आंशिक या स्थूल) निवृत्ति अणुव्रत है और सर्वथा (सूक्ष्म से) निवृत्ति महाव्रत है।

पाँच महाव्रत–

(1) प्राणातिपातविरमण व्रत – सर्व प्रकार के जीवों [1] की हिंसा [2] का त्याग।

(2) मृषावादविरमण व्रत – सर्व प्रकार के असत्य का त्याग।

(3) अदत्तादानविरमण व्रत – सर्व प्रकार की चोरी का त्याग।

(4) मैथुनविरमणव्रत – सर्व प्रकार के मैथुन (विषयो) का त्याग।

(5) परिग्रहविरमणव्रत – सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग।

---

① जीवों के भेद के लिए देखें सूत्र 2–10 इत्यादि।

② हिंसा आदि पाँच पापों की व्याख्या ग्रंथकार स्वयं सूत्र 7–8 आदि में करेंगे।

पाँच अणुव्रत –

(1) स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत – निरपराधी त्रसजीवों की संकल्प पूर्वक निरपेक्ष हिंसा का त्याग। (1) इस व्रत में त्रस और स्थावर, इन दो प्रकार के जीवों में से त्रस जीवों की हिंसा का ही त्याग किया जाता है। गृहस्थपने में स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग अशक्य है। (2) उसमें भी संकल्प यानी मारने की बुद्धि से हिंसा का त्याग किया जाता है। मारने की बुद्धि न होने पर भी कृषि–रसोई आदि प्रवृत्ति में अनजानपन से या सहसा त्रस जीवों की हिंसा हो जाए तो उस आरंभजन्य हिंसा का त्याग नहीं है। (3) उसमें भी निरपराधी जीवों की हिंसा का ही त्याग किया जाता है। कोई बदमाश स्त्री की लाज लेता हो, घर में चोर घुस गया हो, हिंसक प्राणी हमला करे, कुत्ता काटने लगे, राजा का शत्रु के साथ युद्ध करना पड़े, इत्यादि प्रसंगों में अपराधी को यथायोग्य शिक्षा आदि करने पर स्थूल हिंसा हो जाती है। अपराधी को मारने में होने वाली हिंसा का त्याग उसमें नहीं है। (4) उसमें भी निरपेक्ष हिंसा का त्याग है, सापेक्ष हिंसा का नहीं। निरपराधी होने पर भी प्रमादी पुत्र आदि को, बराबर कार्य न करने वाले नौकर या अपलक्षण वाले बैल आदि को मारना पड़े तो निरपेक्ष अर्थात् गुस्सा होकर उसके प्राण की चिंता किए बिना निर्दयता से नहीं मारना। बाहर से गुस्सा बताना पड़े या मारना पड़े तो भी हृदय में तो क्षमा ही धारण करना।

हिंसा के प्रकार –

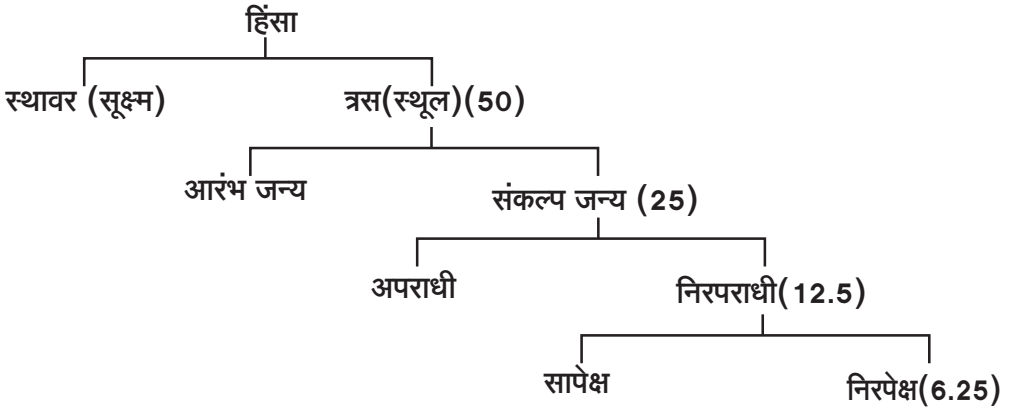

इस प्रकार महाव्रत की अपेक्षा से अणुव्रत में रूपये की अपेक्षा एक आने (सवा छह पैसे) जितनी अहिंसा का पालन होता है।

फल – इस व्रत के पालन से हिंसा संबंधी क्रूर परिणाम के पाप से बच सकते हैं, जीवदया का विशेष पालन होता है।

(2) स्थूलमृषावादविरमाण व्रत – पाँच प्रकार के असत्य का त्याग –

(1) कन्या–अलीक – सगाई वगैरह के प्रसंग पर कन्या संबंधी अलीक = झूठ बोलना। जैसे – कन्या रूपवती न होने पर भी उसे रूपवती कहना। यहाँ कन्या उपलक्षण है, अत: इस उपलक्षण से द्विपद (दो पैर वाले) प्राणी संबंधी सर्व प्रकार के असत्यों का कन्या–अलीक में समावेश होता है। इससे दास–दासी इत्यादि संबंधी असत्य का भी कन्या–अलीक में समावेश हो जाता है।

(2) गौ–अलीक–गाय संबंधी असत्य बोलना। गाय के अंग में कुछ प्रकार का रोग होने पर भी उसे रोग रहित कहकर अन्य को ठगने–बेचने का प्रयत्न करना इत्यादि। यहाँ गाय के उपलक्षण से चतुष्पद (चार पैर वाले) सभी पशु संबंधी असत्य का गो–अलीक में समावेश हो जाता है।

(3) भूमि–अलीक–भूमि संबंधी असत्य। भूमि उपजाऊ नहीं होने पर भी उपजाऊ कहकर अन्य को ठगना इत्यादि। यहाँ भूमि के उपलक्षण से सर्वप्रकार की संपत्ति संबंधी असत्य का भूमि–अलीक में समावेश होता है।

(4) न्यास–अपहार – न्यास यानी अमानत रखना। पहले अमानत रूप में रखे हुए पैसे, लेने आए तब 'अमानत रखी ही नहीं' ऐसा कहकर अमानत का अपहार = अस्वीकार करना न्यासापहार है। यद्यपि यह चोरी का ही एक प्रकार है तो भी यह चोरी असत्य बोलकर की जाने से इसमें असत्य की प्रधानता होने से इसका असत्य में समावेश किया है।

(5) कूटसाक्षी – कोर्ट आदि में किसी की झूठी साक्षी देना। झूठी साक्षी से दूसरे के पाप को भी पुष्टि मिलने से कूटसाक्षी असत्य को उपर्युक्त चार असत्य से भिन्न माना है। असत्य के अनेक प्रकार हैं। उनमें इन पाँच प्रकार के असत्य से आध्यात्मिक और व्यावहारिक, दोनों प्रकार से बहुत नुकसान होता है। अत: गृहस्थ को इन पाँच असत्य का अवश्य त्याग करना चाहिए। इन असत्यों से कितनी ही बार स्वयं या पर के प्राण जाने का भी प्रसंग उपस्थित होता है, परस्पर वैमनस्य होता है, लोक में स्वयं के प्रति अविश्वास हो जाता है इत्यादि अनेक नुकसान होते हैं। फलत: व्यवहार बिगड़ जाता है और उससे धर्म पर भी आघात होता है।

किसी का जीव बचाने के लिए असत्य बोलना पड़े तो उसका इस नियम में समावेश नहीं होता क्योंकि वह वास्तविक असत्य नहीं है।

फल – लोगों (स्वजनों) को स्वयं के प्रति विश्वास होता है। असत्य से होने वाले क्लेश, मार–पीट, शत्रुता आदि अनेक अनर्थ से बच सकते हैं।

(3) स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत – जिसे व्यवहार में चोरी कहा जाता है वह जेब काटना, करचोरी इत्यादि स्थूल चोरी का त्याग। (रास्ते में से पत्थर, घास आदि लेने रूप सूक्ष्म चोरी का त्याग नहीं होता)

फल – चोर बाहर से भले कैसे भी वर्तन करता हो किंतु अंदर से तो घबराता है। पकड़ा जाने के डर से घबराता है। इसलिए यह व्रत लेनेवाला हमेशा निर्भय रहता है तथा लोकापवाद (लोकनिंदा), अपकीर्ति, राजदंड आदि अनेक अनर्थों से बच जाता है।

(4) स्थूलमैथुनविरमणव्रत – स्वपत्नी से अन्य किसी भी स्त्री के साथ अथवा परस्त्री [1] के साथ मैथुन का त्याग।

फल – जीवन सदाचारी बनता है। परस्त्रीगमन के महान पाप से और उससे उत्पन्न होने वाले लोकापवाद, प्राणनाशभय आदि अनेक अनर्थों से बच जाते हैं।

(5) स्थूलपरिग्रहविरमणव्रत – नगदरूपये, आभूषण, घर, दुकान आदि प्रत्येक का 'इतने' प्रमाण से अधिक का त्याग अथवा नगद रूपये इत्यादि सब मिलकर 'इतनी' संपत्ति से अधिक का त्याग।

फल – जीवन में संतोष प्राप्त होता है। जीवन स्वस्थ बनता है। मन अनेक चिंताओं से मुक्त होता है।

महावत अणुव्रत में अन्य विशेषता –

[1] यहाँ परस्त्री यानी 'दूसरे की पत्नी' ऐसा अर्थ होने से कुमारिका विधवा, वेश्या आदि का त्याग नहीं होता क्योंकि कुमारिका आदि वर्तमान में किसी की भी पत्नी नहीं है जबकि स्वपत्नी से अन्य किसी भी स्त्री के त्याग में कुमारिका आदि का भी त्याग हो जाता हैं।

1. पाँचों महाव्रतों का साथ में ही स्वीकार किया जाता है अर्थात् स्वयं की अनुकुलता के अनुसार एक, दो इस तरह महाव्रतों का अलग स्वीकार नहीं किया जाता जबकि अणुव्रतों में श्रावक स्वयं की अनुकूलतानुसार एक, दो इत्यादि अणुव्रत स्वीकार करता है।

2. पाँच महाव्रतों में मन, वचन और काया से करना, कराना और अनुमोदन करना, इन तीनों कोटि से पाप का त्याग किया जाता है। अर्थात् हिंसा आदि मन में करना नहीं, वचन से करना नहीं, काया से भी करना नहीं, इसी प्रकार मन आदि तीन से करवाना नहीं, अन्य करता हो तो उसकी अनुमोदना भी नहीं करना। इस तरह किसी भी प्रकार के अपवाद बिना पाँच महाव्रतों का स्वीकार होता है। अणुव्रतों में पापों का मन, वचन और काया से करने तथा करवाने का त्याग होता है किंतु अनुमोदना का त्याग नहीं होता। इनमें भी संक्षेप करना हो तो कर सकते हैं। पाँच महाव्रतों में किसी भी प्रकार की छूट नहीं ले सकते।

देश से हिंसादि पापों से निवृत्ति को अणुव्रत क्यों कहते हैं? उसके कारण–

(1) महाव्रतों की अपेक्षा से छोटे व्रत होने से अणु = छोटे व्रत, वे अणुव्रत।

(2) गुणों की अपेक्षा से गृहस्थ साधुओं से अणु = छोटे होने से अणु (छोटे) के व्रत वे अणुव्रत।

(3) धर्मोपदेश में महाव्रतों के उपदेश के बाद इन व्रतों का उपदेश दिया जाने से अणु = पश्चात् उपदिष्ट किए जाते व्रत, वे अणुव्रत।

आगे बताए जाने वाले गुणव्रत और शिक्षाव्रत भी उपयुक्त तीन अर्थ की दृष्टि से अणुव्रत होने पर भी अधिकतर [1] प्रथम पाँच व्रतों में अणुव्रत शब्द का प्रयोग रूढ़ हो चुका है। इसलिए अणुव्रत शब्द का जहाँ कथन हो, वहाँ प्राय: प्रथम पाँच व्रत ही जानना चाहिए।

(महाव्रत स्वीकारने के बाद उनका निरतिचार पालन करना चाहिए। इसके लिए शक्य प्रयत्न भी करना चाहिए। अन्यथा महाव्रत में अतिचार लग सकते हैं। अथवा भंग होना भी संभवित है। अत: यहाँ महाव्रतों के शुद्ध पालने के लिए आवश्यक भावनाओं के उपदेश का प्रारंभ करते हैं।)

महाव्रत स्वीकरने के बाद निरतिचार पालन के लिए आवश्यक भावनाएँ–

तत्स्थैर्यार्थं भावना: पञ्च पञ्च ।। ७-३।।

महाव्रतों की स्थिरता = (निरतिचार पालन) के लिए प्रत्येक महाव्रत की पाँच–पाँच भावनाएँ हैं।

(1) प्रथम महाव्रत की भावनाएँ

(क) ईर्यासमिति – लोगों का गमनागमन चालू हो और सूर्य का प्रकाश हो ऐसे मार्ग पर जीवरक्षा के लिए युग [2] जितनी दूर दृष्टि रखकर चलना।

(ख) मनोगुप्ति – आर्तध्यान और रौद्रध्यान [3] का त्यागकर धर्मध्यान में मन का उपयोग रखना।

---

① यहाँ अधिकर कहने का कारण यह है कि आगे **अणुव्रतोऽगारी** (सूत्र 7-15) में जिसे अणुव्रत हैं, उसे अगारी व्रती कहा जायेगा। वहाँ अणुव्रत शब्द से केवल पाँच व्रत नहीं किंतु बारह व्रतों का ग्रहण करना है । अन्यथा जिसे प्रथम पाँच के अलावा एक, दो....व्रत हैं, उनमें उपर्युक्त व्याख्या घटित नहीं होगी ।

② युग = बैलगाड़ी में जोड़े हुए बैलों के स्कंध पर रही उध/धोंसरी । वह लगभग 3.5 या 4 हाथ की होती है। **युगमात्रं = चतुर्हस्तप्रमाणं शकटोर्द्धिसंस्थितम् (आचा. श्रु. 2 अ.1. उ.1 सू. 155)।**

③ आर्त आदि ध्यान के लिए देखें (सूत्र 9-31 इत्यादि)।

(ग) एषणासमिति – गवेषणा, ग्रहणैषणा और ग्रासैषणा, इन तीन प्रकार की एषणा [1] में उपयोग पूर्वक वर्तन करना।

(घ) आदान निक्षेपणा समिति – आदान यानी लेना और निक्षेपणा यानी रखना। वस्तु ग्रहण करना हो तब उस वस्तु का दृष्टि से निरीक्षण करके तथा रजोहरणादि से प्रमार्जन करके ग्रहण करना चाहिए। इसी तरह वस्तु रखना हो तब भूमि का दृष्टि से निरीक्षण करके तथा रजोहरणादि से प्रमार्जन करके रखना।

(ड़) आलोकित पान भोजन – आहार में उत्पन्न हुए अथवा आगंतुक जीवों की रक्षा के लिए प्रत्येक घर पर पात्र में ग्रहण किए हुए आहार को देखना, उपाश्रय में आने के बाद प्रकाश वाले स्थान में उस आहार का पुन: निरीक्षण करना, तत्पश्चात् प्रकाशवाले स्थान में बैठकर भोजन करना।

(2) द्वितीय महाव्रत की भावनाएँ

(क) अनुवीचिभाषण – अनुवीचि यानी विचार। विचारपूर्वक बोलना ही अनुवीचिभाषण है।

(ख) क्रोध प्रत्याख्यान – क्रोध का त्याग करना।

(ग) लोभ प्रत्याख्यान – लोभ का त्याग करना।

(घ) भय प्रत्याख्यान – भय का त्याग करना।[2]

(ड़) हास्य प्रत्याख्यान – हास्य का त्याग करना।

विचार किए बिना बोलना इत्यादि पाँच असत्य के कारण हैं इसलिए उनका त्याग करना चाहिए।

(3) तृतीय महाव्रत की भावनाएँ –

(क) अनुवीचि अवग्रह याचना– अनुवीचि यानी विचार, अवग्रह यानी ठहरने की जगह, याचना यानी माँगना। साधुओं को जिस जगह ठहरना हो, उस जगह के मालिक की (कितनी जगह चाहिए इत्यादि) विचारपूर्वक अनुमति लेकर ही उस स्थान में ठहरना चाहिए, अन्यथा अदत्तादान का दोष लगता है।

स्वामी पाँच प्रकार के हैं – इन्द्र, चक्रवर्ती, मांडलिक राजा, गृहस्वामी और साधर्मिक (स्वयं के पहले यहाँ रहे साधु)।

(ख) वारंवार अवग्रह याचना – सामान्य से अवग्रह याचना करने पर भी रोग आदि की अवस्था में भिन्न–भिन्न जगह का भिन्न–भिन्न प्रकार से उपयोग करना पड़े तो जब–जब जिस–जिस जगह का जैसे–जैसे उपयोग करना हो, तब–तब उस–उस प्रकार से उपयोग करने की अनुमति माँगे।

---

① साधुओं को देह टिकाने के लिए आहार की आवश्यकता पड़े तो गृहस्थ के घर जाकर किसी भी प्रकार का दोष न लगे इस तरह एषणा=तलाश कर आहार ग्रहण करना है। आहार लाने के बाद गृद्धि आदि दोष रहित वापरना है। आहार लाने में कौन–से दोष संभवित हैं, यह वर्णन करने वाले (पिंडनिर्युक्ति आदि) शास्त्रों में मुख्यतया 42 दोषों का वर्णन है। उनमें गवेषणा के 32 और ग्रहणैषणा के 10 दोष हैं। गवेषणा के 32 दोषों में भी दो विभाग हैं – 16 उद्गम दोष और 16 उत्पादन दोष। इन 42 दोषों के अलावा ग्रासैषणा के 5 दोष हैं।

उद्गम दोष = आहार की उत्पत्ति में होने वाले दोष। ये दोष गृहस्थ से उत्पन्न होते हैं।

उत्पादन दोष = उत्पादन यानी उत्पन्न करना। गृहस्थ के घर आहार की उत्पत्ति में कोई दोष न लगा हो, किंतु साधु प्रमादवश उसमें दोष उत्पन्न करे, वह उत्पादन दोष।

ग्रहणैषणा = आहार की उत्पत्ति में कोई दोष न लगा हो और साधु ने भी कोई दोष नहीं लगाया हो, किंतु आहार ग्रहण करते समय जो दोष उत्पन्न होते हैं, वे ग्रहणैषणा दोष।

ग्रासैषणा = गवेषणा और ग्रहणैषणा के दोष से रहित भिक्षा लाने पर भी आहार वापरते वक्त जो दोष लगे, वे ग्रासैषणा दोष।

इन सभी दोषों का विस्तृत वर्णन पिंडनिर्युक्ति आदि ग्रंथों में है ।

② भय के सात प्रकार– इहलोक (मनुष्य को मनुष्य से भय) परलोक (मनुष्य को तिर्यंच से भय) आदान (कोई छीन लेगा ऐसा) भय, अकस्मात (बिजली वगैरह का) भय, आजीविका (जीवन–निर्वाह का) भय, मरण भय, अपकीर्तिभय। इन सातों प्रकार के भय का त्याग करना।

(ग) अवग्रह अवधारण – अवग्रह की याचना करते समय कितनी जगह आवश्यक है उसका निर्णय, जितनी जगह की याचना की हो उतनी ही जगह का उपयोग करना।

(घ) समान धार्मिक अवग्रह याचना – साधुओं के समान धार्मिक=साधर्मिक साधु हैं। जिस स्थल में पूर्व से आए हुए साधु ठहरे हो, उस स्थल में ठहरने के लिए पहले से ठहरे हुए साधुओं की अनुज्ञा लेना चाहिए।

(ड़) अनुज्ञापित पान भोजन – गुरु की आज्ञा लेकर भोजन–पानी लेने जाना चाहिए। शास्त्रोक्त विधि से भोजन–पानी लाकर गुरु को दिखाकर अनुज्ञा लेकर वापरना चाहिए, अन्यथा गुरु–अदत्तादान इत्यादि दोष लगते हैं।

(4) चतुर्थ महाव्रत की भावनाएँ –

(क) स्त्री–पशु–पंडक संस्तववसति वर्जन– जहाँ स्त्रियों का गमनागमन अधिक हो, जहाँ पशु अधिक हो, जहाँ नपुंसक रहते हो, ऐसी वसति (स्थान) का त्याग करना चाहिए।

(ख) राग संयुक्त स्त्रीकथा वर्जन – राग से स्त्रियों की कथा नहीं करना चाहिए। जैसे – इस देश की स्त्रियाँ अतिशय रूपवती होती हैं, उस देश की स्त्रियों का कंठ अधिक मधुर होता है, इस जाति की स्त्रियाँ इस प्रकार के वस्त्र पहनती हैं इत्यादि।

(ग) मनोहर इन्द्रिय अवलोकन वर्जन – राग से स्त्रियों की इन्द्रियों या अन्य अंगोपांग की ओर दृष्टि भी नहीं करना चाहिए। अचानक दृष्टि जाए तो तुरंत वापस खींच लेना चाहिए।

(घ) पूर्वक्रीडास्मरण वर्जन – पहले गृहस्थ अवस्था में की हुई कामक्रीड़ाओं का स्मरण नहीं करना चाहिए।

(ड़) प्रणीतरस भोजन वर्जन – प्रणीतरस वाले आहार का त्याग करना चाहिए। दूध, दही, घी, मक्खन वगैरह स्निग्ध और मधुर रस वाले पदार्थ प्रणीत आहार हैं।

(5) पांचवें महाव्रत की भावनाएँ –

स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये पाँच विषय मनोज्ञ (इष्ट) हो तो उनमें राग नहीं करना चाहिए तथा अमनोज्ञ (अनिष्ट) हो उनमें द्वेष नहीं करना चाहिए। स्पर्श आदि प्रत्येक की एक–एक भावना होने से पाँच विषयों की पाँच भावनाएँ हैं।

यहाँ जिन–जिन महाव्रतों की जो–जो भावनाएँ बताई गई हैं, उनका बराबर पालन करने से महाव्रतों का पालन शुद्ध निरतिचार होता है, अन्यथा अतिचार लगते हैं, अथवा महाव्रतों का भंग होता है।

महाव्रतों को स्थिर करने सभी व्रतों के लिए सर्वसामान्य प्रथम भावना–

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् ।। ७-४।।

हिंसादि पापों से इस लोक में अपाय (= अनर्थ) की परंपरा और परलोक में अवद्य (=पाप) का करुण विपाक भोगना पड़ेगा, ऐसी विचारणा करना।

इस लोक में अपाय–

(1) हिंसा में प्रवृत्त प्राणी सदा स्वयं उद्विग्न रहता है और अन्य को उद्वेग उत्पन्न करता है। अन्य प्राणी के प्रति वैर की परंपरा का आरंभ होता है। वध, बंध वगैरह अनेक प्रकार के क्लेश प्राप्त होते हैं। शीत–धूप वगैरह कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

(2) असत्यवादी लोक में अविश्वसनीय और अप्रिय हो जाता है। जिह्वाछेद वगैरह कष्ट प्राप्त होते हैं। जिसे झूठ बोलता है, उसके साथ वैर–शत्रुता होती है। अत: संकट में उसे कोई सहायता नहीं करता।

(3) चोरी करने वाला जीव अनेक को दु:खी = उद्विग्न करता है। स्वयं को सदा भयभीत रहना पड़ता है। चोरी की हुई वस्तुओं के रक्षण के लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं। सदा मन भयभीत होने से भोग–उपभोग भी शांति से नहीं कर सकते। पुलिस आदि से पकड़ा जाए तो जेल, अपकीर्ति वगैरह दु:ख प्राप्त होते हैं।

(4) अब्रह्म (मैथुन सेवन) में आसक्त प्राणी वीर्यक्षय, अशक्ति, परस्त्री का संग करने से अपकीर्ति, प्राणनाश वगैरह अनेक दु:ख प्राप्त करता है ।

(5) धन प्राप्त करने के लिए शीत,धूप, भूख–प्यास इत्यादि अनेक कष्ट सहन करना पड़ते हैं। धन प्राप्त करने के लिए अनेक शारीरिक कष्ट सहन करने पर भी यदि धन नहीं मिले तो मानसिक चिंता आदि दु:ख उत्पन्न होते हैं। यदि धन मिल जाए तो उसके रक्षण के लिए अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। चोर आदि ले न जाए उसकी चिंता, भय वगैरह मानसिक दु:ख भी सदा रहते हैं। बहुत धन प्राप्त करने पर भी तृप्ति नहीं होती, सदा मन अतृप्त रहता है। अतृप्त व्यक्ति कभी शांति नहीं पाता। पुण्य क्षीण होने पर, धन का नाश होने पर तो कितने ही लोगों का हृदय बंद होता है, कुछ को अतिसार, संग्रहणी वगैरह से दस्त हो जाते हैं अथवा मरण तक मानसिक परिताप रहता है। लोभी व्यक्ति धन प्राप्ति की लालसा में विवेक भी भूल जाता है। 'मैं कहाँ हूँ, मुझे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए' वगैरह भूल जाता है। इसलिए इस लोक में अनेक लोगों के साथ क्लेश–वैमनस्य वगैरह होने से लोक में अप्रिय बन जाता है। आगे बढ़कर विवेक चूककर माता–पिता आदि को मारने तक की प्रवृत्ति करता है। इससे लोक में अपकीर्ति आदि पाता है। इस तरह परिग्रही = लोभी जीव इस लोक में शारीरिक – मानिसिक अनेक प्रकार के कष्ट पाता है।

परलोक में करुण विपाक–पापानुबंधी पुण्य के उदयवाले किसी जीव को हिंसादि पापों से इस लोक में उपर्युक्त दु:ख अल्प हो या न हो तो भी परलोक में तो अवश्य इन पापों का करुण विपाक भोगना पड़ता है। परलोक में उसके लिए अशुभगति तैयार होती है। वहाँ शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं। तिर्यंचगति में शीत, धूप, पराधीनता वगैरह कष्ट सहन करने पड़ते हैं। नरकगति तो केवल दु:ख भोगने के लिए ही है। वहाँ एक क्षण भी सुख नहीं है। वहाँ दु:ख से ऊबकर मरने की इच्छा हो तो भी मर नहीं सकते [1]।

महाव्रतों को स्थिर करने, सभी व्रतों के लिए सर्वसामान्य द्वितीय भावना–

दु:खमेव वा ।। ७-५।।

तथा हिंसादि पाप दु:ख रूप ही है, ऐसा चिंतन करना।

हिंसादि से केवल स्व को ही दु:ख नहीं होता, अन्य प्राणियों को भी दु:ख होता है। इसलिए साधक को सोचना चाहिए कि जैसे मुझे दु:ख प्रिय नहीं है, वैसे अन्य किसी भी जीव को दु:ख प्रिय नहीं है। जैसे मैं हूँ, वैसे ही अन्य जीव भी हैं, इसलिए जैसे कोई मेरा वध करे तो मुझे दु:ख होता है, वैसे अन्य का वध करने से उसे भी दु:ख होता है। कोई असत्य बोलकर मुझे ठगे तो जैसे मुझे दु:ख होता है, वैसे क्या अन्य को असत्य से दु:ख नहीं होता है? अत: इन पापों का त्याग करना ही हितावह है। मैथुन सेवन में अनुभव किया जाता सुख भी खुजली वगैरह व्याधि के क्षणिक प्रतीकार समान होने से दु:ख रूप ही है। परिग्रह भी अप्राप्त धन की इच्छा का संताप,

[1] नरक गति के दु:ख के विस्तृत वर्णन के लिए देखें सूत्र 3-3 इत्यादि। जीव हिंसादि पापों से तिर्यंच वगैरह गति में उत्पन्न होकर कैसे–कैसे दु:खों का अनुभव करता है, इसका विस्तृत वर्णन 'भवभावना' ग्रंथ में पाँचवी भावना में है।

प्राप्त धन के रक्षण की चिंता, उसके उपभोग में अतृप्ति, उसका नाश होने पर शोक आदि दु:ख के कारण होने से तथा भविष्य में दु:खद कर्मबंध के कारण होने से दु:ख रूप ही है।

चौथे सूत्र की भावना में हिंसादि दु:ख के कारण हैं, ऐसी विचारणा की, जबकि इस सूत्र में हिंसादि पाप स्वयं (दु:ख के कारण होने से और दु:ख के कारण रूप कर्म के कारण होने से कारण में कार्य के उपचार से) दु:ख रूप ही है, यह सोचना है। तथा चौथे सूत्र में हिंसादि पाप स्वयं के दु:ख के कारण हैं, इस विचारणा की प्रधानता है जबकि इस सूत्र में हिंसादि से अन्य को भी दु:ख होता है, इस विचारणा की प्रधानता है।

महाव्रतों की स्थिरता के लिए चार भावनाएँ –

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिक-क्लिश्यमाना-ऽविनयेषु ॥ ७-६॥

महाव्रतों को स्थिर रखने के लिए सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव गुणाधिक जीवों के प्रति प्रमोदभाव, दु:खी जीवों के प्रति करुणाभाव और अविनीत जीवों के प्रति माध्यस्थ्य (उपेक्षा) भाव रखना चाहिए।

(1) मैत्री भावना– मैत्री यानी जगत् के सर्वजीवों पर हार्दिक स्नेह का परिणाम [1]। अर्थात् किसी भी प्रकार के स्वार्थ बिना और किसी भी प्रकार के भेदभाव बिना जगत् के सर्वजीवों पर प्रीति धारण करना ही मैत्री है। साधक को छोटा– बड़ा, ऊँच–नीच, स्व–पर, दरिद्र–श्रीमंत वगैरह किसी भी प्रकार के भेदभाव बिना जगत के तमाम जीवों पर प्रेमभाव रखना चाहिए। इसके लिए सकल जीवों के प्रति आत्मवत् दृष्टि का विकास करना चाहिए इससे ही सकल जीवों के प्रति मैत्री भावना प्रगट होती है। मैत्री भावना से भावित हृदय वाला ही हिंसादि पापों से निवृत्त हो सकता है। सच्चे मित्र के हृदय में स्वयं के मित्र के वध करने की, झूठ बोलकर उसे ठगने की, चोरी कर उसका धनादि लेने की भावना नहीं होती। मैत्री भावना से युक्त साधक जगत् के सभी जीवों को स्वयं के मित्र मानता है। अत: उसके हृदय में जगत् के सभी जीवों के हित की ही भावना होती है [2]। इस तरह अहिंसादि पालने के लिए मैत्री भावना अनिवार्य है।

(2) प्रमोद भावना– प्रमोद यानी मानसिक हर्ष। गुण से अधिक [3] जीवों पर प्रमोद धारण करना प्रमोद भावना है। सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, तप आदि से अधिक = महान्, उत्तम महात्माओं को वंदन, स्तुति, प्रशंसा, वेयावच्च आदि करने से प्रमोद=मानसिक हर्ष की अभिव्यक्ति होती है। प्रमोदभावना युक्त जीव ज्ञानादि गुणों से अधिक = उत्तम गुणवान् जीवों को देखकर आनंद पाता है और स्वयं के आनंद को शक्ति या संयोगानुसार यथायोग्य वंदनादि करके व्यक्त करता है। यदि गुण से अधिक=महान् को देखकर या सुनकर आनंद नहीं होता तथा यथायोग्य वंदनादि करने की इच्छा नहीं होती तो समझना चाहिए कि अभी भी प्रमोद भावना विकसित नहीं हुई है।

---

① **मैत्री सर्वसत्त्वविषयस्नेहपरिणाम:** (श्री हरिभद्रसूरि टीका)

② इस दृष्टि से श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने **परहितचिन्ता मैत्री–**पर के हित की चिंता=भावना को मैत्री कहा है। (षोडशक ग्रंथ) **मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दु:खित:। मुच्यतां जगदप्येषा, मतिर्मैत्री निगद्यते।।** (श्री योगशास्त्र) कोई भी जीव पाप न करें, कोई भी जीव दु:खी न हो, संपूर्ण जगत् दु:ख से मुक्त हो ऐसी भावना मैत्री है। **शिवमस्तु सर्वजगत:** वगैरह भी मैत्री भावना है।

③ यहाँ गुणाधिक शब्द का 'स्वयं के गुण से अधिक' ऐसा अर्थ नहीं करके 'गुण से अधिक' इतना ही अर्थ करना अधिक उचित है। आचार्य को उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका इत्यादि गुणी के प्रति प्रमोदभाव रखना चाहिए। उपाध्याय वगैरह आचार्य से गुणाधिक नहीं है। इसलिए यदि गुणाधिक शब्द का 'स्वयं के गुणों से अधिक' ऐसा अर्थ किया जाए तो आचार्य को उपाध्यायादि के प्रति प्रमोदभाव रखना आवश्यक नहीं होगा। किंतु यह बराबर नहीं है। आचार्यादि प्रत्येक साधक को स्वयं से लघु किंतु गुण से अधिक गुणी के प्रति भी प्रमोद भाव रखना चाहिए। अत: गुणाधिक शब्द का 'गुण से अधिक = महान्, उत्तम' ऐसा अर्थ करना ही अधिक उचित है।

प्रमोद भावना के अभाव में अन्य के गुणों के दर्शन से या श्रवण से साधक का हृदय ईर्ष्या, असूया [1] या मात्सर्य रूप अग्नि से जलने लगाता है। परिणामत: हिंसा, असत्य आदि अनेक पाप भी होने की संभावना है। अत: साधक को स्वयं के हृदय को प्रमोद भावना से पूर्ण रखना चाहिए। प्रमोदभावना आत्मा में रहे गुणो को प्रगट करने का श्रेष्ठ उपाय है । साधक में गुण कुछ न्यून हो तो क्षम्य है किंतु प्रमोद भावना नहीं होना अक्षम्य है। प्रमोद भावना बिना स्वयं के गुणों की भी कोई कीमत नहीं है।

(3) करुणा भावना – करुणा यानी दु:खी को देखकर उसके प्रति दया का परिणाम। करुणा, दया, अनुकंपा, कृपा, अनुग्रह वगैरह शब्द एकार्थक हैं। करुणा के योग्य जीव दो प्रकार के होने से करुणा के दो प्रकार हैं– द्रव्य करुणा और भाव करुणा। रोगादि बाह्य दु:खों से घिरे जीवों को देखकर उत्पन्न होती करुणा द्रव्य करुणा है। अज्ञानतादि अभ्यंतर दु:खों से घिरे हुए जीवों को देखकर उत्पन्न होने वाली करुणा भाव करुणा है। भाव करुणा योग्य जीवों को योग्यतानुसार मोक्ष आदि का उपदेश देकर, द्रव्यकरुणा के योग्य जीवों को औषध, अन्नपान वगैरह देकर तथा दोनों प्रकार की करुणा के योग्य जीवों को उपदेश और औषध दोनों (यथाशक्ति) देकर उन पर करुणा करना चाहिए।

अथवा दूसरी रीति से दो प्रकार की करुणा है– द्रव्य और भाव। दु:खी को देखकर हृदय में उत्पन्न होने वाली दया भाव करुणा है और उसका दु:ख दूर करने के लिए योग्य प्रयत्न करना द्रव्य करुणा है। यहाँ साधुओं के लिए मुख्यतया भाव करुणा का विधान है। गृहस्थों को यथायोग्य दोनों प्रकार की करुणा करनी चाहिए। शक्ति और संयोग होने पर भी केवल भाव करुणा करने वाले गृहस्थ की भाव करुणा निष्फल है।

(4) माध्यस्थ भावना – माध्यस्थ, उपेक्षा, समभाव वगैरह शब्द एकार्थक हैं। उपदेश के अयोग्य अविनीत जीव के प्रति समभाव (राग–द्वेष के त्याग) पूर्वक (उसे समझाने या सुधारने के लिए) उपदेश देने का त्याग करना माध्यस्थ्य भावना है। जो जीव अविनीत हाने से हितोपदेश नहीं सुनता, यदि सुने तो भी एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल दे, संभव होने पर भी उपदेश का आंशिक रूप से भी अमल न करे, ऐसे जीव के प्रति उपेक्षा भावना रखना अर्थात् उसके प्रति जरा भी द्वेष लाए बिना उसे उपदेश देना छोड़ देना चाहिए। यदि ऐसे जीव के प्रति माध्यस्थ भावना नहीं रखे तो साधक के हितोपदेश का प्रयत्न निष्फल जाता है, और साधक के मन में उसके प्रति द्वेष जागे, यह भी संभवित है। आगे जाकर एक–दूसरे को क्लेश–कलह और वैमनस्य भी उत्पन्न हो सकता है। इसलिए साधक को दीर्घदृष्टि से विचार कर उपेक्षा भावना के योग्य जीव पर उपेक्षा भावना का प्रयोग अवश्य करना चाहिए, अन्यथा दोनों को आध्यात्मिक और व्यवहारिक दोनों दृष्टि से नुकसान होने की संभावना है। इस भावना से अविनीत आदि के प्रति द्वेषभाव नहीं होने का बड़ा लाभ है। मैत्री आदि चारों भावनाएँ शुभ हैं इसलिए उपेक्षा भावना भी शुभ है। इसलिए योग्य स्थान पर उपेक्षा भावना के प्रयोग से नुकसान जरा भी नहीं है बल्कि (नया कर्मबंध नहीं होना, निर्जरा होना इत्यादि) लाभ होता है। अत: साधक को योग्य स्थान पर उपेक्षा का सेवन करना आवश्यक है, साथ–ही–साथ यह भी आवश्यक है कि यह जीव उपेक्षा भावना के योग्य है या नहीं, यह दीर्घ दृष्टि से विचारना। अन्यथा उपेक्षा भावना के अयोग्य जीव पर उपेक्षा भावना करने से स्वयं को आध्यात्मिक और व्यवहारिक दोनों दृष्टि से बहुत नुकसान होता है।

महाव्रतों की स्थिरता के लिए अन्य विचारणा–

जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् ।। ७-७।।

---

[1] **परसम्पत्तौ चेतसो व्यारोष ईर्ष्या। गुणेषु दोषाऽऽविष्करणमसूया।।** (श्री सि.हे.श. सू. 2-2-27 की बृहद्वृत्ति) दूसरे की (बाह्य–अभ्यंतर) संपत्ति देखकर उत्पन्न होने वाला चित्त का रोष=जलन ईर्ष्या है। दूसरे के गुणों को दोषरूप कहना असूया है।

संवेग और वैराग्य की पुष्टि के लिए संसार और काया का स्वरूप विचारना चाहिए।

संवेग [1] यानी संसार का भय=संसार पर खेद। वैराग्य यानी अनासक्ति। संसार के स्वरूप की विचारणा से संवेग की और काया के स्वरूप की विचारणा से वैराग्य की पुष्टि होती है।

संसार स्वरूप की विचारणा से संवेग की पुष्टि–महाव्रतों का पालन महान् आध्यात्मिक साधना है। यह साधना संसार का नाश करने के लिए है। संसार का नाश उसका फल है। संसार पर खेद हुए बिना उसके नाश का प्रयत्न संभव नहीं है। इसलिए साधना में संवेग पहले आवश्यक है। जितने अंश में संवेग तीव्र, उतने अंश में साधना प्रबल होती है। संवगे को तीव्र बनाने के लिए संसार के स्वरूप को विचारना आवश्यक है। संसार के स्वरूप को सोचने से संसार दु:खरूप, दु:खफल और दु:खानुबंधी लगता है। संसार के भौतिक सुख के साधन अनित्य=क्षणभंगुर से अशरण लगते हैं। संसार का सुख भी दु:खरूप दिखता है। इससे संसार पर खेद आता है और संसार का नाश करने की इच्छा होती है। इससे संसार के कारणों की ओर दृष्टि जाती है संसार के कारणों का नाश किए बिना संसार का नाश असंभव ही है। संसार के कारण हिंसा आदि हैं। अत: उस साधक को हिंसादि में भी अरति उत्पन्न होती है। संसार और संसार के कारणों पर अरति का नाम ही संवेग है इसलिए यहाँ संवेग को पुष्ट करने के लिए संसार के स्वरूप को विचारने का उपदेश दिया है।

संवेग का चिह्न (= मापक यंत्र) – संसार पर अरति होने पर धर्म और धार्मिक पुरुषों के प्रति बहुमान अवश्य जागृत होगा। इसलिए धर्म और धार्मिक पुरुषों के प्रति बहुमान, संवेग को जानने का चिह्न है। धर्म और धार्मिक पुरुषों के प्रति बहुमान होने पर, धर्म की जिज्ञासा होने से अतिप्रेम पूर्वक धर्मश्रवण होता है और धार्मिक पुरुषों के दर्शन से अत्यन्त आंनद होता है। स्वयं जो साधना करता है उससे अधिक साधना करने की इच्छा होती रहती है। इसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न भी करता है। अत: अतिप्रेम से धर्मश्रमण, धार्मिक पुरुषों के दर्शन से होने वाला आनंद और अधिक साधना की इच्छा, ये तीन, धर्म और धार्मिक पुरुषों के प्रति जागृत बहुमान के लक्षण हैं, संवेग के लक्षण हैं।

काया के स्वरूप की विचारणा से वैराग्य की पुष्टि–किसी भी प्रकार की आसक्ति साधना में बाधक है। पाँच महाव्रतों का साधक, संसार के सर्व पदार्थों का त्याग कर चुका होता है। उसके पास महाव्रतों के पालन में आवश्यक उपकरण होते हैं। उसका शरीर भी उपकरण रूप ही है। उपकरण यानी संयम की साधना में सहायक वस्तु। शरीर और वस्त्र वगैरह संयम की साधना में सहायक होने से साधु उसका रक्षण करते हैं। किंतु अनासक्त भाव से। उसमें यदि आसक्तिभाव आ जाए तो वह वस्तु उपकरण की जगह अधिकरण (संसार में सहायक) हो जाती है। इसलिए साधक को अनावश्यक वस्तु नहीं रखना चाहिए और आवश्यक वस्तु का भी आसक्ति बिना उपयोग करना चाहिए। इसमें भी काया की आसक्ति न हो, इसके लिए बहुत सावधान बनने की जरुरत है। प्रत्येक जीव को सामान्य से अन्य पदार्थों से आसक्ति दूर होने पर भी काया की आसक्ति दूर होना बहुत कठिन है। यदि सावधान न रहे तो काया की आसक्ति से अन्य पदार्थों पर भी आसक्ति हो जाती है। अत: काया की आसक्ति न हो और हो तो दूर हो, इसके लिए साधक को संसार के स्वरूप की विचारणा के साथ काया के स्वरूप की विचारणा भी करना चाहिए। काया के स्वरूप की विचारणा से काया अशुचिमय और अनित्य होने का भान होता है। इससे काया के प्रति आसक्ति नहीं रहती। काया के प्रति आसक्ति न होने से काया के पोषण के लिए आवश्यक वस्त्र, पात्र, वसति–आहार–पाणी इत्यादि किसी भी वस्तु का उपयोग होता है, वह अनासक्तभाव पूर्वक होता है। अत:

[1] सामान्य से संवेग यानी मोक्षाभिलाष और निर्वेद यानी संसारभय अर्थ अधिक प्रसिद्ध है। तथापि किसी–किसी ग्रंथ में इससे विपरीत अर्थात् संवेग का संसार भय और निर्वेद का मोक्षाभिलाष अर्थ भी देखा जाता है।

महाव्रतों के पालन के लिए काया के स्वरूप का चिंतन अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा काया और अन्य उपकरण अधिकरण बन जाने से साधना निष्फल हो जाती है।

महाव्रत हिंसादि पाँच पापों से निवृत्तिरूप होने से महाव्रतों के पालन के लिए पहले हिंसादि पाँच पापो का ज्ञान अनिवार्य है। अत: अब क्रमश: पांच पापों की व्याख्या बताते हैं।

हिंसा की व्याख्या –

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।। ७-८।।

प्रमाद [1] के योग से प्राण का वियोग हिंसा है।

पाँच इन्द्रिय, तीन बल (मनोबल–वचनबल–कायाबल), श्वासोच्छ्वास और आयुष्य, ये दस प्रकार के द्रव्य प्राण हैं। इन प्राणों का वियोग करना हिंसा है।

द्रव्य–भाव हिंसा–

प्रश्न– ये प्राण आत्मा से अलग हैं। प्राणों के वियोग से आत्मा का विनाश नहीं होता तो फिर प्राणों के वियोग में अधर्म=पाप क्यों लगता है?

उत्तर – प्राण के वियोग से आत्मा का नाश नहीं होता किंतु आत्मा को दु:ख अवश्य होता है। इस कारण से ही अधर्म=पाप लगता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्राण वियोग ही अधर्म=पाप नहीं है किंतु अन्य को दु:ख देना भी अधर्म=हिंसा है। मुख्य हिंसा भी यही है। प्राण वियोग गौण हिंसा है। शास्त्रीय शब्दों में कहे तो दूसरे को दु:ख देना निश्चय हिंसा है और प्राणवियोग व्यवहार हिंसा है। व्यवहार हिंसा निश्चय हिंसा का कारण है इसलिए उससे भी पाप लगता है। दूसरे शब्दों में कहे तो दु:ख देना भाव हिंसा है और प्राणवियोग द्रव्यहिंसा है।

दूसरी अपेक्षा से द्रव्य–भाव हिंसा –

आत्मा के ज्ञानादि गुण भाव प्राण हैं। विषय–कषायादि प्रमाद से आत्मा के गुणों का घात भी भाव हिंसा है। आत्मा के गुणों के घात रूप भावहिंसा की अपेक्षा से द्रव्यप्राणों का घात द्रव्यहिंसा है। यहाँ भी भावहिंसा मुख्य है। इन दोनों प्रकार की हिंसा के दो भेद हैं– स्व और पर। स्वयं की आत्मा के गुणों का घात स्वभावहिंसा है और पर की आत्मा के गुणघात में निमित्त बनना परभाव हिंसा है। अर्थात् स्वयं राग–द्वेष करना स्वभाव हिंसा है और दूसरे के राग–द्वेष में निमित्त बनना परभाव हिंसा है। जहर आदि से स्वयं के द्रव्य प्राणों का घात स्वद्रव्य हिंसा है और पर के द्रव्यप्राणों का घात करना परद्रव्यहिंसा है।

परद्रव्य हिंसा के तीन भेद–

अन्य के द्रव्यप्राण के घात रूप हिंसा को दूसरी तरह से विचारने पर हिंसा के द्रव्य, भाव और द्रव्यभाव ऐसे तीन भेद होते हैं। केवल प्राण व्यपरोपण=प्राणवध द्रव्य हिंसा है तथा केवल प्रमत्तयोग=असावधानी भाव हिंसा है। प्रमाद और प्राणवियोग, इन दोनों का समायोग द्रव्य भाव हिंसा है। जहाँ प्रमाद के निमित्त से प्राणवियोग होता है, वहाँ द्रव्य और भाव, उभय हिंसा। जहाँ प्रमाद नहीं है किंतु प्राणवियोग है, वहाँ द्रव्य हिंसा है। जहाँ प्राणवियोग नहि है किन्तु प्रमाद है वहाँ केवल भावहिंसा है यहाँ भावहिंसा की मुख्यता है। प्रमाद=असावधानी भावहिंसा है। इसलिए अहिंसा के पालन के लिए साधक को सदा अप्रमत्त=सावधान रहना चाहिए।

---

[1] प्रमाद का अर्थ विशाल है किंतु यहाँ मुख्यतया जीवरक्षा के परिणाम का अभावरूप प्रमाद विवक्षित है। प्रमाद के विस्तृत वर्णन के लिए देखें सूत्र ८–१।

प्रश्न – उपर्युक्त तीन प्रकार की हिंसा में से किस जीव को कौन–सी हिंसा संभव है ?

उत्तर – (1) जब कोई जीव प्राणवध का प्रयत्न करता है किंतु उसमें निष्फल होता है तब मात्र भाव हिंसा होती है। जैसे–शिकारी हिरन को लक्ष्य बनाकर बाण छोड़ता है किंतु उसे बाण नहीं लगा। यहाँ द्रव्य प्राण का वियोग नहीं होने से द्रव्यहिंसा नहीं है। किंतु प्रमाद=जीवरक्षा के परिणाम का अभाव होने से भावहिंसा है। इस प्रकार अंधकार में रस्सी को सर्प मानकर मारने का प्रयत्न करने में मात्र भावहिंसा है। इन दोनों दृष्टांतों में हिंसा के लिए काया से प्रयत्न किया किंतु निष्फलता मिलने से मात्र भावहिंसा हुई। जब कोई क्रोधावेश में आकर अन्य को हिंसात्मक वचन बोलता है, मृत्यु का शाप देता है तब भी भावहिंसा होती है। और आगे जाकर विचारे तो हिंसा के लिए कायिक प्रयत्न और वचन प्रयोग बिना मात्र मन में हिंसा के विचार से भाव हिंसा होती है। जैसे– तंदुल मत्स्य। यह तंदुल मत्स्य चावल के दाने जितना होता है इसलिए उसे तंदुल (तंदुल=चावल) कहा जाता है। यह महामत्स्य की आँख की पलक पर उत्पन्न होता है। महामत्स्य कुछ मछलियाँ निगलता है तब उनके साथ थोड़ा पानी भी मुख में घुस जाता है। इस पानी को वह बाहर निकालता है तब पानी के साथ दाँतों के बीच में से कुछ छोटी मछलियाँ भी बाहर निकल जाती है। यह देखकर तंदुल मत्स्य सोचता है कि मैं महामत्स्य होता तो एक भी मछली को ऐसे बाहर निकलने नहीं देता, सब मछली का भक्षण कर लेता। हिंसा के ऐसे दारुण अध्यवसाय से वह सतत भावहिंसा करते रहता है और मात्र अंतर्मुहूर्त जितने आयुष्य में सातवीं नरक का आयुष्य बांधता है। और भी अधिक सूक्ष्म दृष्टि से भावहिंसा को सोचो। हिंसा के लिए काया से प्रयत्न न करे, वचन से बोले नहीं और मन में विचारणा न करे तो भी यदि आत्मा में जीवरक्षा के परिणाम नहीं हो तो भाव हिंसा होती है। अत: जीवरक्षा के परिणाम रहित जीव सदा भावहिंसा का पाप बांधते हैं।

(2) रक्षा के परिणाम से रहित जीव जब प्राणवध करता है, तब द्रव्य–भाव हिंसा करता है।

(3) गृहस्थवास में रहे हुए जो साधक हिंसा की सूक्ष्म व्याख्या समझते हैं और हिंसा से सर्वथा निवृत्त होने की तीव्र इच्छा रखते हैं किंतु संयोगो की विपरीतता से सर्वथा हिंसा से निवृत्त नहीं हो सकते, उन साधकों से दु:खी हृदय पूर्वक होने वाली जीवन निर्वाह उनके लिए अनिवार्य हिंसा द्रव्य हिंसा है। इस तरह संसार में रहते मनुष्यों में तीन प्रकार से हिंसा संभव है।

(4) संसार–त्यागी अप्रमत्त मुनि से संयोगवशात् होने वाली हिंसा द्रव्य हिंसा है। जैसे – अप्रमत्त भाव से युग प्रमाण दृष्टि रखकर चलते मुनि के पैर के नीचे अकस्मात् कोई जीव आ जाए और मृत्यु पाए तो वह द्रव्य हिंसा है क्योंकि मुनि अप्रमत्त है। उनका मन जीवों को बचाने के ध्यान में ही है। तथापि संयोग ऐसे हैं कि जीव बचा नहीं सकते। तथा प्रकार के रोगादि प्रबल कारण उपस्थित होने पर दु:खते हृदय से शास्त्रोक्त विधि पूर्वक औषध सेवन आदि में होने वाली हिंसा भी द्रव्य हिंसा है। संसार त्यागी मुनि आदि प्रमाद करे=जीवरक्षा की ओर ध्यान न दे तो प्राणावियोग रूप द्रव्यहिंसा न होने पर भी भावहिंसा अवश्य होती है । और जब प्रमाद के साथ प्राणवियोग भी होता है तब द्रव्य–भाव दोनों हिंसा होती है। इस प्रकार से गृहस्थावास के त्यागी मुनियों में भी तीनों प्रकार की हिंसा संभवित है।

यहाँ सूक्ष्म दृष्टि से विचारे तो ज्ञात होगा कि जैसे अधिकतर गृहस्थों में सदा भावहिंसा होती है, वैसे साधुओं में सदा द्रव्यहिंसा होती है क्योंकि श्वासोच्छवास, हाथ–पैर का प्रसारण आदि से सूक्ष्म वायुकाय के जीवों की हिंसा होती रहती है। स्वयं अप्रमत्त होने पर भी इस हिंसा का परिहार असंभव है। ऐसी द्रव्यहिंसा 13वें गुणस्थानक तक होती है। 14वें गुणस्थानक के जीव तथा सिद्धजीव द्रव्य और भाव, दोनों प्रकार की हिंसा से रहित है।

असत्य की व्याख्या

असदभिधानमनृतम् ।। ७-९।।

प्रमाद से असत्=अयथार्थ बोलना असत्य है ।

असत्य के तीन भेद हैं – (1) सद्भावप्रतिषेध (2) अर्थांतर और (3) गर्हा। सद्भावप्रतिषेध के दो भेद हैं –भूतनिह्नव और अभूतोद्भावन।

चार प्रकार के असत्य का स्वरूप –

(1)भूतनिह्नव – सद्भूत वस्तु का निह्नव (निषेध या अपलाप) करना। जैसे– आत्मा नहीं है, पुण्य–पाप नहीं है इत्यादि।

(2) अभूतोद्भावन – जो वस्तु जिस स्वरूप से न हो, उस स्वरूप से प्रतिपादन करना। जैसे– आत्मा सर्वव्यापी है, अंगूठे के पर्व जितनी है, सूर्य जैसी तेजस्वी है, निष्क्रिय है इत्यादि।

(3) अर्थांतर – जो वस्तु न हो, उस वस्तु को वह कहना। जैसे– गाय को घोड़ा बोलना, घोड़े को गाय कहना इत्यादि।

(4) गर्हा – शास्त्रनिषिद्ध वाणी बोलना। गर्हा के तीन प्रकार हैं–

(क) पापप्रवर्तिका गर्हा – खेत जोतना चाहिए इत्यादि।

(ख) अप्रिय गर्हा – काणे को काणा कहना इत्यादि।

(ग) आक्रोशवती गर्हा – तू कुल्टा पुत्र है इत्यादि।

अथवा निम्नलिखित अर्थ भी कर सकते हैं–

(1) भूतनिह्नव – भूत यानी बना हुआ, निह्नव यानी छुपाना, अपलाप करना। बनी हुई वस्तुस्थिति का अपलाप करना भूतनिह्नव रूप असत्य है। जैस– किसी ने स्वयं की रकम कुछ समय के लिए दी हो, समय पूरा होने पर वह लेने आए तब 'नहीं दी' ऐसा कहना अथवा पैसे होने पर भी 'अभी मेरे पास नहीं है' ऐसा कहना।

(2) अभूतोद्भावन – अभूत यानी नहीं बना हुआ। उद्भावन यानी उत्पन्न करना। नहीं बनी हुई घटना को उत्पन्न करना अभूतोद्भावन रूप असत्य है। जैसे– अन्य किसी व्यक्ति ने स्वयं की कोई वस्तु नहीं ली होने पर भी 'उस व्यक्ति ने मेरी यह वस्तु ली है' ऐसा कहना।

(3) अर्थांतर– अर्थांतर यानी फेरफार। वस्तु जिस स्वरूप में हो, उस स्वरूप से भिन्न स्वरूप में कहना अर्थांतर असत्य है। अन्य को 500 रूपए दिए हों तो थोड़े समय बाद 600 रूपए दिए थे ऐसा कहना। नकली वस्तु को असली और असली वस्तु को नकली कहना। पुराने को नया और नए को पुराना माल कहना। रूपये की कीमत वाले माल को ग्राहक को सवा रूपये का कहना। इस तरह थोड़े फेरफार के साथ जो बोला जाए वह अर्थांतर असत्य है।

(4) गर्हा – सत्य बोलने पर भी हिंसा, कठोरता वगैरह से युक्त वचन बोलना गर्हा असत्य है। जैसे– तू कुलटा पुत्र है। ऐसा कहना।

हिंसा का कारण रूप सत्य वचन भी असत्य है–

पांच व्रतों में मुख्य व्रत अहिंसा है। दूसरे व्रत उसके रक्षण के लिए हैं। अत: असत्य आदि व्रतों को बाह्य दृष्टि से पालन होने पर भी यदि उससे अहिंसाव्रत का पालन नहीं होता हो तो वह वास्तविक पालन ही नहीं है। इसलिए बाह्य दृष्टि से वचन सत्य होने पर भी उससे हिंसा होने वाली हो तो वह वचन परमार्थ से असत्य ही है।

साधु ने रास्ते में हिरण को जाते हुए देखा। रास्ते में किसी शिकारी ने पूछा, 'हिरण किधर गया है?' साधु ने हिरण की दिशा बताई। यहाँ बाह्य दृष्टि से साधु का वचन असत्य नहीं है किंतु उस वचन से शिकारी उस दिशा में जाकर हिरण का शिकार करेगा। इससे हिंसा होगी। इसलिए यह वचन असत्य है। इस प्रकार मूर्ख को मूर्ख कहना, काणे को काणा कहना वगैरह भी असत्य ही है क्योंकि इससे प्राणवियोग रूप हिंसा न होने पर भी दु:खानुभव रूप हिंसा अवश्य होती है। हमने पूर्वोक्त सूत्र में देखा है कि वास्तविक हिंसा भी दु:खरूप ही है। कठोरता, पैशुन्य, गाली आदि से युक्त वचन सुनना असत्य है। ऐसे वचन सुनना किसी को अच्छा नहीं लगता अत: सुनकर दु:ख होता है।

चोरी की व्याख्या –

अदत्तादानं स्तेयम् ।। ७-१०।।

प्रमाद से अन्य की नहीं दी हुई वस्तु ग्रहण करना स्तेय = चोरी है।

अदत्त यानी नहीं दी हुई, आदान = ग्रहण करना। मालिक द्वारा नहीं दी हुई वस्तु लेना अदत्तादान कहलाता है। अदत्तादान चोरी है। अदत्तादान के चार भेद हैं– स्वामी अदत्त, जीव अदत्त, तीर्थंकर अदत्त और गुरु अदत्त। साधक यदि स्वामी आदि चारों की अनुज्ञा बिना कोई भी वस्तु ग्रहण करे तो तीसरे महाव्रत की स्खलना होती है।

(1) स्वामी अदत्त – जिस वस्तु का जो मालिक हो, उस वस्तु का वह स्वामी कहलाता है। वस्तु के मालिक की अनुमति बिना वस्तु ले तो स्वामी अदत्त दोष लगता है। अत: महाव्रत के साधक को तृण जैसी भी वस्तु लेने से पूर्व उसके मालिक की अनुमति लेनी चाहिए।

(2) जीव अदत्त – मालिक ने अनुमति दी हो लेकिन यदि वह वस्तु सचित्त युक्त हो तो ग्रहण नहीं कर सकते। उस वस्तु का मालिक उसमें रहा जीव भी है। वह वस्तु उसमें रहे जीव की काया है। किसी भी जीव को काया की पीड़ा इष्ट नहीं होती। सचित्त वस्तु ग्रहण करने से पीड़ा, काया का नाश आदि होता है। इसलिए उस वस्तु में रहे जीव ने उस वस्तु को उपयोग करने का अधिकार किसी को भी नहीं दिया है। अत: महाव्रत के साधक को मालिक द्वारा अनुमति दी गई होने पर भी सचित्त वस्तु का ग्रहण नहीं करना चाहिए, अन्यथा जीव अदत्त दोष लगता है।

(3) तीर्थंकर अदत्त – वस्तु अचित्त हो और मालिक ने अनुमति दी हो तो भी साधक को सोचना चाहिए कि इस वस्तु को लेने के लिए तीर्थंकर (शास्त्र) की आज्ञा है या नहीं? तीर्थंकर की आज्ञा न होने पर भी वस्तु ले तो तीर्थंकर अदत्त दोष लगता है। जैसे– साधु के लिए तैयार किया गया आहार–पानी ग्रहण करना। दाता भक्ति से साधु को आहार–पानी दे रहा है, वह आहार–पानी भी अचित्त है, तथापि यदि वह साधु के लिए ही बनाया गया है तो साधु को (निष्कारण) नहीं लेना चाहिए। यदि ले तो तीर्थंकर अदत्त दोष लगता है क्योंकि तीर्थंकरों ने साधु के लिए तैयार किया हुआ आहार–पानी (निष्कारण) लेने का निषेध किया है।

(4) गुरु अदत्त – स्वामी की अनुज्ञा हो, वस्तु अचित्त हो, तीर्थंकर की अनुज्ञा हो तो भी यदि गुरु की अनुज्ञा लिए बिना वस्तु ग्रहण करने पर गुरु अदत्त दोष लगता है। जैसे– गुरु की अनुज्ञा बिना निर्दोष आहार–पानी का ग्रहण। निर्दोष आहार–पानी लेने से पहले गुरु की आज्ञा अवश्य लेनी चाहिए। दाता भक्ति से देता है इसलिए स्वामी

अदत्त नहीं है, अचित्त होने से जीव अदत्त नहीं। शास्त्राज्ञा होने से तीर्थंकर अदत्त भी नहीं है तथापि यदि गुरु की अनुज्ञा बिना आहार–पानी लाए हो तो वह गुरु अदत्त है। अत: साधक को जो वस्तु लेने की तीर्थंकरों ने अनुज्ञा दी हो, वह वस्तु लेने के लिए भी गुरु की सम्मति अवश्य लेनी चाहिए।

इस प्रकार अस्तेय महाव्रत के पालन के लिए इन चारों प्रकार की अदत्त वस्तु का त्याग करना चाहिए।

अब्रह्म की व्याख्या –

मैथुनमब्रह्म ।। ७–११।।

मैथुन अब्रह्म है।

मिथुन शब्द से मैथुन शब्द बना है। मिथुन यानी युगल जोड़ी। मिथुन=युगल की जो क्रिया होती है, वह मैथुन कहलाती है। किंतु यहाँ हमें मैथुन शब्द का शब्दार्थ नहीं मात्र भावार्थ लेना है। वेदोदय से पुरुष–स्त्री के संयोग से होने वाली कामचेष्टा रूप मैथुन अब्रह्म [1] है।

जैसे पुरुष और स्त्री के संयोग से होने वाली कामचेष्टा से स्पर्श सुख का अनुभव होता है, वैसे पुरुष को अन्य पुरुष या स्वहस्तादि के संयोग से होने वाली कामचेष्टा से भी स्पर्शसुख का अनुभव होता है। इसी प्रकार स्त्री को भी हस्तादि के संयोग से होने वाली कामचेष्टा से स्पर्शसुख का अनुभव होता है। अत: मैथुन शब्द का फलितार्थ कामचेष्टा है। किसी भी प्रकार की कामचेष्टा मैथुन है।

जिसके पालन से अहिंसादि आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि होती है, वह ब्रह्म। जिसके सेवन से अहिंसादि आध्यात्मिक गुणों का ह्रास या नाश होता है, वह अब्रह्म। मैथुन की निवृत्ति से आध्यात्मिक अहिंसादि गुणों की वृद्धि होती है इसलिए मैथुन की निवृत्ति ब्रह्म है। ब्रह्म का पालन ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से तो लाभ है ही ऐहिक, लौकिक दृष्टि से भी अनेक लाभ है। ब्रह्मचर्य से वीर्यरक्षा, शरीरबल, रोग का अभाव, कांति, प्रताप, उत्साह अनेक लाभ होते हैं।

परिग्रह की व्याख्या

मूर्च्छा परिग्रहः ।।७–१२।।

जड़ या चेतन वस्तु पर मूर्च्छा =आसक्ति परिग्रह है।

सामान्य से परिग्रह का अर्थ 'स्वीकार करना' होता है लेकिन यहाँ केवल स्वीकारना अर्थ नहीं है। जिससे आत्मा संसार में फंस जाए, वह परिग्रह है। आत्मा आसक्ति = मूर्च्छा से संसार में फंसती है अत: आसक्ति = मूर्च्छा परिग्रह है। अत: वस्तु का स्वीकार करने पर भी उसमें यदि आसक्ति न हो तो वस्तु का स्वीकार परिग्रह रूप नहीं है। वस्तु न स्वीकारने पर भी उसमें यदि आसक्ति हो तो वह परिग्रह है। यदि ऐसा अर्थ नहीं माने तो भिखारी को भी निष्परिग्रह =परिग्रह रहित कहना चाहिए। इस तरह आसक्ति बिना = इच्छा बिना वस्तु का स्वीकार या उपभोग परिग्रह नहीं है तथापि आसक्ति हो तो वस्तु न मिलने पर भी, उपभोग न करने पर भी परिग्रह है।

---

[1] यहाँ वेद के उदय से होने वाली किसी भी कामचेष्टा को मैथुन कहा है, वह स्थूलदृष्टि से कहा है। सूक्ष्मदृष्टि से तो शब्दादि किसी भी विषय के सुख की क्रिया मैथुन है क्योंकि ब्रह्म=आत्मा, **ब्रह्माणि चरणं ब्रह्मचर्यम्** अर्थात् ब्रह्म =आत्मा में रमणता करना ही ब्रह्मचर्य है। इस दृष्टि से राग–द्वेष पूर्वक शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श इन पांच विषयों का सेवन भी अब्रह्म=मैथुन है। इसलिए साधुओं के पाक्षिक सूत्र में कहा गया है कि –

सद्दा रुवा रसा गंधा फासाणं पवियारणा।
मेहुणस्स वेरमणे एस वुत्ते अइक्कम्मे ।।

अर्थ–राग–द्वेष पूर्वक शब्द–रूप–रस–गंध–स्पर्श का सेवन मैथुन विरमण व्रत में दोष रूप है।

प्रश्न – इष्ट वस्तु में आसक्ति होने पर भी पुण्य के अभाव से वह वस्तु न मिले, यह ठीक है। किंतु अनिष्ट वस्तु में आसक्ति न होने पर भी = इच्छा न होने पर भी उस वस्तु को स्वीकारे = उपभोग करे, ऐसा कैसे होगा? वस्तु का स्वीकार=उपभोग ही कह देता है कि वह वस्तु उसे इष्ट है। यदि अनिष्ट हो तो उसका स्वीकार =उपभोग कैसे हो? कांटा अनिष्ट है, तो वह उससे दूर ही रहता है।

उत्तर – रोगी कड़वी औषधि पीता है तो क्या उसे वह अच्छे लगने के कारण पीता है? रोगी को कड़वी औषधि अनिष्ट होने पर भी वह पीता है क्योंकि उसके बिना वह निरोगी नहीं हो सकता। कभी इष्ट को प्राप्त करने के लिए अनिष्ट का सेवन करना पड़ता है। रोगी को आरोग्य इष्ट है किंतु वह अनिष्ट कड़वी औषधि के सेवन बिना प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए रोगी अनिच्छा से भी उसका सेवन करता है। जैसे वस्तु इष्ट होने पर भी पुण्य के अभाव

से नहीं मिलती, वैसे वस्तु अनिष्ट होने पर भी पुण्य के अभाव से उसका स्वीकार अवश्य करना पड़ता है। अत: आसक्ति न होने पर भी = इच्छा न होने पर भी वस्तु का स्वीकार और उपभोग करना पड़ता है। कांटे से दूर भागने वाला व्यक्ति भी जब कांटा लगता है तब उसे निकालने के लिए क्या दूसरा कांटा नहीं ढूंढता?

प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर हमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखना है। जैसे रोगी रुचि न होने पर भी कड़वी औषधियों का सेवन करता है, वैसे महाव्रतों के साधक आत्मा को दुनिया के किसी भी पदार्थ पर आसक्ति = ममत्वभाव न होने पर भी महाव्रतों के पालन के लिए कुछ वस्तुओं का स्वीकार और उपभोग अनिवार्य हो जाता है। महाव्रतों का पालन देह के अधीन है। देह का पोषण आहार, वस्त्र वसति आदि बिना नहीं हो सकता। आहार–पानी पात्र बिना नहीं ले सकते। अत: साधक आहार, वस्त्र, पात्र, वसति आदि इष्ट न होने पर भी केवल शरीर के निर्वाह के लिए ग्रहण करता है। उसमें आसक्ति न होने से यह स्वीकार परिग्रह की कोटि में नहीं आता। इसीलिए तीर्थंकरों ने साधुओं को शरीर निर्वाह के लिए आवश्यक वस्त्रादि का स्वीकार करने की अनुज्ञा दी है। इनमें आसक्ति न हो इसलिए साधक को हमेशा सावधान रहना चाहिए, अन्यथा संयम के उपकरण अधिकरण रूप हो जाते हैं और परिग्रह की कोटि में आ जाते हैं।

इस तरह महाव्रतों के पालन के लिए स्वयं की कक्षा–अनुसार वस्त्रादि स्वीकारने में कोई दोष नहीं है, बल्कि नहीं स्वीकारने में अनेक दोष हैं –

(1) पात्र नहीं होने पर हाथ में भोजन करते हुए नीचे गिरे तो चींटी वगैरह जीव इकट्ठे होते हैं और पैर आदि से मर जाते हैं।

(2) बाल, वृद्ध, ग्लान और लाभांतरायकर्म के उदय वाले मुनि आदि की भक्ति नहीं कर सकते। इससे वे संयम में पीड़ित होते हैं।

(3) कामली नहीं रखने से काल या बारिश के समय में अप्काय के जीवों की रक्षा नहीं हो सकती।

(4) शीतकाल में ठंड सहन नहीं होने से घास या अग्नि की अपेक्षा रहती है। वे नहीं मिले तो प्राय: असमाधि भी हो सकती है, फलत: व्रतभंग भी हो सकता है।

(5) चोलपट्टा आदि नहीं रखने से लोक में जैनशासन की हीलना (निंदा) होती है। इससे अज्ञानी जीव बोधिदुर्लभ बन जाते हैं। इसमें साधु निमित्त बनने से साधु को भी अशुभ कर्मों का बंध होता है।

इस तरह स्वयं की कक्षानुसार पात्र आदि नहीं रखने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

व्रत की व्याख्या –

निःशल्यो व्रती ।।७-१३।।

शल्यरहित तथा अहिंसादि व्रत सहित जो हो, वह व्रती कहलाता है।

यद्यपि व्रती शब्द से व्रत जिसे हो वह व्रती समझा जाता है तो भी यहाँ व्रती की व्याख्या के लिए विशिष्ट सूत्र की रचना इसलिए की कि केवल व्रत होने मात्र से व्रती नहीं कहा जाता किंतु शल्य रहित भी होना चाहिए। यहाँ व्रती की व्याख्या में अंग–अंगी भाव का समावेश है। व्रती अंगी है, नि:शल्यता अंग है। जैसे अंग=अवयव के बिना अंगी=अवयवी नहीं हो सकता वैसे नि:शल्यता के बिना व्रती नही हो सकता । अत: यहाँ नि:शल्यता (शल्य के अभाव) की प्रधानता है। व्रत सहित होने पर भी नि:शल्यता न हो तो व्रती नहीं कहलाता। जैसे– किसी के पास गाय होने पर भी दूध बिना की गाय हो तो वह वास्तविक रीति से गाय वाला नहीं कहलाता क्योंकि दूध रहित गाय का कोई मूल्य नहीं होता।

शल्य तीन हैं – माया, निदान और मिथ्यात्व। शरीर में रहा हुआ का काँटे शल्य जैसे शरीर और मन को अस्वस्थ कर देता है वैसे माया आदि आत्मा में रहने पर आत्मा को अस्वस्थ बना देते हैं, इससे आत्मा की प्रगति रुक जाती है। अत: माया आदि को शल्य कहा जाता है।

माया [1] यानी कपट। निदान [2] यानी महाव्रत आदि की साधना के फलरूप में इहलोक और परलोक के सांसारिक सुखों की इच्छा रखना। मिथ्यात्व [3] यानी तात्विक पदार्थों पर अश्रद्धा।

प्रश्न –क्रोधादि चारों कषाय आत्मा को अस्वस्थ कर देते हैं, आत्मा की प्रगति को रोक देते हैं वे शल्य रूप ही है तो यहाँ माया को ही शल्य रूप क्यों कहा?

उत्तर – शल्य की व्याख्या माया में पूर्णतया घटित होती है जबकि क्रोधादि में संपूर्णतया घटित नहीं होती। जो दोष गुप्त रहकर विकारों को उत्पन्न करे, वह शल्य। काँटा गुप्त रहकर अस्वस्थता आदि विकार करता है। माया भी गुप्त रहकर आत्मा में विकार करती है। क्रोधादि प्रगट होकर आत्मा में विकार करते हैं। जब आत्मा में क्रोध उत्पन्न होता है, तब शरीर की आकृति आदि से दिखता है। माया दिखाई नहीं देती। यद्यपि कभी क्रोधादि भी गुप्त रहते हैं किंतु उसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है। माया तो जब–जब होती है, तब–तब प्रयत्न बिना ही गुप्त रहती है। क्रोधादि में 'गुप्त रहे और विकार पैदा करे', इन दो बातों में से एक 'विकार करे' बात ही घटित होने से उन्हें शल्य रूप न कहकर माया को ही शल्य कहा है।

व्रती के दो भेद –

अगार्यनगारश्च ।।७-१४।।

व्रती के मुख्य दो भेद हैं – अगारी और अनगार।

अगार यानी घर–संसार। जो घर–संसार में रहकर (अणु) व्रतों का पालन करे वह अगारी व्रती। जो घर=संसार का त्याग करने पूर्वक (महा) व्रतों का पालन करे, वह अनगारी व्रती। अगारी व्रती को श्रावक, श्रमणोपासक, देशविरति श्रावक इत्यादि शब्दों से संबोधित किया जाता है। अनगार व्रती को श्रमण, मुनि, साधु इत्यादि शब्दों से संबोधित किया जाता है।

① माया के विशेष विवेचन के लिए देखें सूत्र 8–10 ।
② निदान के लिए देखें सूत्र 9–34 ।
③ मिथ्यात्व के लिए देखें सूत्र 8–1 ।

अगारी व्रती की व्याख्या –

अणुव्रतोऽगारी ।।७-१५।।

जिस व्रती को एक, दो इत्यादि अणुव्रत हो, वह अगारी अर्थात् अगारी व्रती को अणुव्रत होते हैं।

अगारी की इस व्याख्या से अर्थापत्ति द्वारा सिद्ध होता है कि जिसे महाव्रत होते हैं, वह अनगार व्रती। व्रत दो प्रकार के हैं– अणु और महान्, ऐसा सूत्र 7–2 में कहा गया है। व्रतों के इन दो प्रकार को लेकर ही व्रती के दो भेद हैं। अणुव्रतधारी साधक अगारी और महाव्रतधारी साधक अनगारी व्रती है।

गृहस्थावास में रहे व्यक्ति को महाव्रतों का पालन संभव नहीं होने से वह अणुव्रतों का पालन करता है। पांच अणुव्रतों का स्वरूप 7–2 में आ चुका है।

गुणव्रत–शिक्षाव्रतों का निर्देश –

दिग्-देशा-ऽनर्थदंडविरति-सामायिक-पौषधोपवासोपभोग-

परिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।।७-१६।।

अगारी व्रती को (पांच अणुव्रतों के साथ) दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोग–परिभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग ये सात व्रत भी होते हैं।

इन व्रतों का स्वरूप तथा फल निम्नलिखित है–

(6) दिग्विरति व्रत – पूर्व आदि दस दिशा [1] में इस सीमा तक जाना, उससे बाहर नहीं जाना ऐसा हरेक दिशा में गमन परिमाण का नियम करना दिग्विरति है। जैसे– किसी भी दिशा में 1000 माईल से दूर न जाना अथवा इस–इस दिशा में इस–इस देश से बाहर नहीं जाना। इस तरह इच्छानुसार दिशा संबंधी विरति करना दिग्विरति है। इस व्रत में दिशा का परिमाण निश्चित होने से इसे दिक्परिमाण व्रत भी कहा जाता है।

फल – दिग्विरति व्रत के अनेक फल हैं। इनमें से मुख्य दो हैं–

(i) हिंसा कम होती है। गृहस्थ को लोहे के जलते हुए लाल गोले जैसे कहा गया है। जैसे यह गोला जहां जाता है वहां जीवों को जलाता है, वैसे श्रावक जितना ज्यादा घूमता है उतनी हिंसा अधिक करता है। अत: गृहस्थ को जितनी हो सके उतनी कम यात्रा करनी चाहिए। उसमें भी चौमासे में तो अत्यंत अल्प करना चाहिए जिससे हिंसा का नियमन हो।

(ii) लोभ मर्यादित होता है। सीमा का नियमन होने के बाद उस सीमा के बाहर चाहे कितना ही आर्थिक लाभ होने वाला हो तो भी वहाँ नहीं जा सकते। अत: लोभ को मर्यादित किए बिना यह नियम नहीं लिया जा सकता। लेने के बाद नियम का बराबर पालन करने से लोभ अधिक–अधिक हीन होता है। अनेक प्रकार के प्रलोभनों से सामना करने का सात्विक बल मिलता है।

(7) देशविरति (देशावकाशिक) व्रत – दिग्विरति व्रत में गमन की जो सीमा निश्चित की हो, उसमें भी प्रतिदिन यथायोग्य किसी देश (भाग) का संक्षेप करना देशविरति है। देश (कुछ भाग) संबंधी विरति, वह देशविरति। जैसे– प्रत्येक दिशा में 1000 कि.मी. नहीं जाने का दिग्विरति में नियम है, तो इस व्रत में प्रतिदिन जहां जाने की आवश्यकता हो या संभावना हो उतने देश की छूट रखकर शेष देश का नियम लेना। संपूर्ण पराधीन

[1] पूर्वादि चार दिशा, चार विदिशा, ऊपर–नीचे इस तरह कुल दस दिशा है।

हो जाए या अन्य रोग हो तो आज घर या अस्पताल के बाहर नहीं हाना, ऐसा नियम लेना। मुंबई, अहमदाबाद जैसे शहर या छोटे गाँव में निवास हो और उस शहर या गाँव के बाहर जाने की कोई संभावना या आवश्यकता न हो तो आज शहर या गाँव से बाहर नहीं जाना, ऐसा नियम ले सकते हैं।

फल – इस नियम से दिग्विरति में जो मर्यादा रखी हो, उसका भी संक्षेप होता है। अत: दिग्विरति व्रत के जो लाभ हैं, वही लाभ इस व्रत के हैं किंतु दिग्विरति की अपेक्षा इस व्रत में अधिक लाभ होता है।

यहाँ दिग्वरति व्रत का संक्षेप उपलक्षण होने से शेष व्रतों (पांच अणुव्रत, भोगोपभोगपरिमाण, अनर्थदंडविरति)

का भी संकोच करने का विधान है। अत: भोगोपभोग परिमाण व्रत में धारण किए गए चौदह नियम का भी प्रतिदिन यथासंभव संक्षेप करना चाहिए। उपभोग –परिभोग परिमाणव्रत में चौदह नियम की धारणा का विधान है और इसमें चौदह नियम के प्रतिदिन संक्षेप का विधान है। चौदह नियम में दिशा का नियम भी आ जाने से चौदह नियम के संक्षेप में दिशा का संक्षेप भी आ जाता है ।

प्रश्न – संबोधप्रकरण वगैरह ग्रंथों में देशावगासिक व्रत में सर्वव्रत का संक्षेप बताया है जबकि यहाँ आपने पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत, कुल 8 व्रतों के संक्षेप का विधान किया। इसका क्या कारण है?

उत्तर – चार शिक्षाव्रतों का संक्षेप नहीं होता क्योंकि वे आत्मा के उपकारक हैं। चार शिक्षाव्रत शुभ प्रवृत्ति रूप है (यद्यपि परमार्थ से सामायिकादि पाप से निवृत्ति रूप है। किंतु बाह्य दृष्टि से शुभ प्रवृत्ति रूप भी है।) अत: उनका संकोच नहीं होता। तथा धर्मसंग्रह में श्राद्धदिनकृत्य की दो गाथा (गा.300–1) की साक्षीपूर्वक आठ व्रतों का संक्षेप ही कहा गया है। संबोध प्रकरण वगैरह ग्रंथों में देशावगासिक में सर्वव्रतों के संक्षेप की बात स्पष्ट होने पर भी अर्थापत्ति से आठ व्रतों का ही संक्षेप होता है।

इस व्रत (देशविरति) को देशावगासिक व्रत भी कहा जाता है। वर्तमान में देशावगासिक व्रत में कम से कम एकासने, तप के साथ दस सामायिक करने की परंपरा है। सुबह–शाम प्रतिक्रमण में दो सामायिक और अन्य 8 सामायिक मिलकर कुल 10 सामायिक होती हैं। इस व्रत को ग्रहण करते समय 'मैं वर्ष में इतने देशावगासिक करुँगा' ऐसा नियम किया जाता है। पूर्व में कहे अनुसार एक दिन में 10 सामायिक करने से एक देशावगासिक व्रत होता है। अत: नियम में जितने देशावगासिक धारे हो, उतने दिन दस–दस सामायिक करने से इस व्रत का पालन होता है।

(8) अनर्थदंड विरतिव्रत – अर्थ यानी प्रयोजन। जिससे आत्मा को दंड हो, दुख मिले, वह दंड। पाप सेवन से आत्मा को दंड होता है, दुख मिलता है इसलिए दंड यानी पाप सेवन, प्रयोजन के वश से (सकारण) पाप का सेवन अर्थदंड कहलाता है। प्रयोजन बिना निष्कारण पाप का सेवन अनर्थदंड है।

गृहस्थ को स्वयं तथा स्वजनों का निर्वाह करना पड़ता है। अत: गृहस्थ स्वयं तथा स्वजनादि के निर्वाह के लिए जो पाप सेवन करे वह अर्थदंड है। जबकि जिसमें स्वयं तथा स्वजनों के निर्वाह का प्रश्न ही न हो वैसा पाप अनर्थदंड है। अर्थात् जिसके बिना गृहस्थावास नहीं चल सकता वह पाप सेवन अर्थदंड है और जिसके बिना गृहस्थावास का निर्वाह हो जाता है, वह पाप सेवन अनर्थदंड है।

अनर्थदंड के मुख्य चार भेद हैं – (i) अपध्यान (ii) पापकर्मोपदेश (iii) हिंसकार्पण (iv) प्रमादाचरण। ये चार पाप नहीं करने पर भी गृहस्थावास के निर्वाह में किसी भी प्रकार की दिक्कत नहीं होती।

(i) अपध्यान – अपध्यान यानी दुर्ध्यान, अशुभ विचार। शत्रु मर जाए तो अच्छा, शहर के लोग मर जाएँ तो अच्छा, यह राजा उस राजा को जीते तो अच्छा, इस देश के लोग मारने योग्य ही हैं, मैं राजा बनूं तो अच्छा

इत्यादि अशुभ विचार अपध्यान है। ऐसे विचारों से स्वयं के कोई कार्य की सिद्धि नहीं होती। ऐसे विचारों से निरर्थक पाप–बंध होता है।

(ii) पापकर्मोपदेश – लड़ना चाहिए, मत्स्योद्योग को फैलाना चाहिए, वर्तमान में कपड़े की मिल बिना नहीं चलता इसलिए कपड़ों की मिल बनानी चाहिए। बिजली उत्पन्न करनी चाहिए, जहाज तैयार करो, आपकी कन्या विवाह योग्य हो गई है इसलिए जल्दी विवाह करो, बारिश अच्छी हुई है इसलिए जल्दी बीज बो देना चाहिए,

इत्यादि सर्व प्रकार के पाप कर्म का उपदेश[①] पापकर्मोपदेश हैं।

(iii) हिंसकार्पण –जो देने से हिंसा हो, ऐसी वस्तु अन्य को देना। जैसे – शस्त्र, जहर, अग्नि आदि।[②]

(iv) प्रमादाचरण – कौतूहल से गीत सुनना, नृत्य–नाटक–सिनेमा देखना, बार–बार कामशास्त्र का वांचन करना, तालाब आदि में स्नान करना, वृक्ष की शाखा या झूले पर झूलना, मुर्गा आदि प्राणियों को परस्पर लड़ाना, वनस्पति पर चलना, निष्कारण पेड़ के पत्ते–पुष्प–डाल वगैरह तोड़ना, स्त्रीकथा–भक्तकथा– देशकथा–राजकथा ये चार विकथा करना, तेल वगैरह के बर्तन खुले रखना, अन्य मार्ग होने पर भी वनस्पति या निगोद पर चलना, मेंढक आदि जीवों को मारना, निष्ठुर और मर्म वचन बोलना, जोर–जोर से हंसना, निंदा करना, कार्य समाप्त होने पर भी चूला–लाइट, नल, पंखा वगैरह चालू रखना, देखे बिना गोबर के कंडे, लकड़ी, कोयला वगैरह जलाना, बिना छाने पानी का उपयोग करना, धान्य नहीं बीनना, व्यसन [③] का सेवन करना, बॉक्सिंग, मल्लयुद्ध वगैरह खेल–कूद देखना, कॉमेंट्री सुनना इत्यादि प्रमादाचरण हैं।

इन चार प्रकार के अनर्थदंड के सेवन से स्वयं को कोई लाभ नहीं होता बल्कि निरर्थक पाप कर्म का बंध होता है। इस व्रत में सूक्ष्मता से त्याग न हो सके तो भी स्थूलता से सात व्यसन, नाटक, सिनेमा, खेल, नृत्य वगैरह का अवश्य त्याग करना।

फल – इस व्रत से अनेक प्रकार के निरर्थक पापों से बच जाते हैं। जीवन संस्कारित बनता है, तामसिक, राजसिक वृत्ति दूर होती है, सात्विकवृत्ति प्रगट होती है।

(9) सामायिक व्रत – सम यानी समता–शांति, आय यानी लाभ। जिससे शांति प्राप्त हो वह सामायिक। सर्वसावद्य योगों का त्याग किए बिना शांति नहीं मिलती अत: इस व्रत में सर्वसावद्य योगों (पाप व्यापारों) का त्याग किया जाता है। कुछ काल तक (धारणानुसार, जैसे– जब तक साधु के पास रहूँ तब तक इत्यादि) द्विविध–त्रिविध (मन–वचन–काया त्रिविध से, नहीं करूं– नहीं कराऊं द्विविध) से सर्वसावद्य योगों का त्याग सामायिक है। वर्तमान में इस व्रत में दो घड़ी (48 मिनट) तक सर्व सावद्य योगों का त्याग किया जाता है। अत: दो घड़ी तक द्विविध–त्रिविध से सर्व सावद्ययोगों का त्याग सामायिक है।

यह व्रत स्वीकारने वाले को प्रतिदिन कम से कम एक सामायिक का नियम लेना चाहिए। रोज न हो सके तो 'वर्ष में इतनी सामायिक करूंगा' ऐसा नियम लेना चाहिए।

---

① विवेक बिना समाचार पत्र पढने वाले कितना अपध्यान निरर्थक करते हैं और पढकर अन्य लोगों के पास उसकी बातें करने वाले कितना पापकर्मोपदेश करते हैं, यह यहाँ समझ सकते हैं।

② दाक्षिण्यता से पापकर्मोपदेश करने का अवसर आए और हिंसक वस्तु देने का प्रसंग आए तो नियम में उतनी छूट रखने पर भी जहाँ तक हो सके, उस छूट का उपयोग नहीं करना पड़े, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए।

③ **द्यूतं च मासं च सुरा च वेश्या, पापर्द्धिश्चोरी परदारसेवा।**
एतानि सप्तव्यसनानि लोके, घोरातिघोरं नरकं नयन्ति।।
जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्रीसेवन– ये सात व्यसन दारुण नरक में ले जाते हैं।
इन सात व्यसनों की तरह आज के रेडिया, समाचारपत्र, नोवेल, टी.वी., सिनेमा, होटल, क्लब, मोबाइल, कम्प्यूटर,इंटरनेट इत्यादि व्यसन भी आत्मा को दुर्गति के मार्ग पर ले जाते हैं।

फल – इस व्रत से मोक्षसुख के अंश रूप शांति, समता का अनुभव होता है। अनेक प्रकार के पूर्व संचित पापों का नाश होता है। मोक्ष मार्ग ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना होती है।

(10) पौषधोपवास व्रत – पौषध यानी पर्वतिथि। अष्टमी आदि पर्वतिथि को उपवास करना पौषधोपवास है। यह पौषधोपवास शब्द का मात्र शब्दार्थ है। भावार्थ इस प्रकार है – आहार, शरीर सत्कार [①], अब्रह्म और सावद्यकर्म, इन चार का त्याग पौषधोपवास या पौषध व्रत है। यह व्रत केवल दिन में, केवल रात्रि में या दिन–रात में लिया जाता है। आहार के अलावा अन्य तीन का सर्वथा त्याग किया जाता है। आहार का सर्वथा त्याग शक्ति न होने पर देश त्याग किया जाता है। यदि चोविहार उपवास करे तो आहार का सर्वथा त्याग और तिविहार उपवास, आयंबिल आदि करे तो देश त्याग होता है। यह व्रत ग्रहण करने वाले को अष्टमी आदि पर्वतिथि को पौषध लेने का नियम ग्रहण करना चाहिए। हर पर्वतिथि को न हो सके तो 'वर्ष में इतने पौषध' करने का नियम लेना चाहिए।

फल – इस व्रत से साधुधर्म का अभ्यास होता है। कष्ट सहन करने की शक्ति आती है, शरीर का ममत्व कम होता है। जैसे आग से जले हुए को शीतल द्रव्यों के संयोग से शांति होती है, वैसे संसार में प्रतिदिन राग–द्वेष की आग में जलते जीव को पौषध से शांति का अनुभव होता है।

(11) उपभोग–परिभाग परिमाण व्रत – एक ही बार जिसका उपयोग कर सके वैसी वस्तु उपभोग कही जाती है। जैसे– आहार, पुष्प इत्यादि अथवा जिस वस्तु का शरीर के अंदर उपयोग होता है, वह उपभोग जैसे– आहार। बार–बार जिसका उपभोग कर सके, ऐसी वस्तु को परिभोग कहते हैं, जैसे वस्त्रादि अथवा शरीर के बाहर जिसका परिभोग होता है, उसे भी परिभोग कहते हैं। जिसमें उपभोग और परिभोग का परिमाण किया जाता है, वह उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत। यह शब्दार्थ हुआ। भावार्थ इस प्रकार है– अतिसावद्य वस्तु का सर्वथा त्याग और अल्प सावद्य वाली वस्तु का उपभोग भी परिमाण से करना, वह उपभोग–परिभाग परिमाण व्रत।

इस व्रत का नियम दो प्रकार से किया जाता है– एक भोजन संबंधी और दूसरा कर्म (व्यापार–धंधा) संबंधी। आहार में 22 अभक्ष्य, 32 अनंतकाय, रात्रिभोजन, चलितरस तथा सचित्त वस्तुओं का सर्वथा त्याग करना चाहिए क्योंकि इन वस्तुओं के उपयोग से बहुत पाप लगता है। इन सबका सर्वथा त्याग न हो सके तो जिस वस्तु का उपयोग करना पड़ता है, उसकी छूट रखकर बाकी त्याग करना चाहिए। इनके अलावा अन्य अल्प पाप वाली वस्तुओं में भी जिनका उपयोग न करना हो उनका त्याग करना चाहिए, जिससे निरर्थक पापों से बच सकते हैं। 'सचित्त–दव्व–विगइ...' ये चौदह नियम प्रतिदिन लेने से अनावश्यक वस्तुओं का त्याग और आवश्यक वस्तुओं का परिमाण सरलता से हो सकता है। इन चौदह नियमों के पालन से निरर्थक पापों से बचने के अलावा बाह्य–अभ्यंतर दृष्टि से जीवन कैसा सुंदर होता है तथा उससे आध्यात्मिक– शारीरिक लाभ कैसे होते हैं, यह तो नियम का पालन करने वाला ही समझ सकता है, अनुभव कर सकता है। व्यापार में पंद्रह कर्मादान का त्याग करना चाहिए। सबका त्याग न हो सके तो जितने अनावश्यक हो, उनका तो अवश्य त्याग करना चाहिए।

फल – इस व्रत से जीवन में सादाई और त्याग बढता है। आध्यात्मिक दृष्टि से लाभ होने के साथ–साथ शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामजिक दृष्टियों से भी अनेक लाभ होते हैं।

(12) अतिथिसंविभाग व्रत – तिथि, पर्व इत्यादि लौकिक व्यवहार का जिन्होंने त्याग किया है,वे भिक्षु/साधु अतिथि है। प्रस्तुत में श्रावकधर्म का अधिकार होने से अतिथि रूप में वीतराग प्रणीत चारित्र धर्म की आराधना करने वाले सुसाधुओं को समझना चाहिए। अतिथि=साधुओं का संविभाग करना यानी उन्हें संयम में आवश्यक आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि भक्ति से प्रदान करना अतिथि संविभाग है। साधुओं को न्यायागत (न्याय से कमाई

① स्नान करना, तेल की मालिश करना, सुगंधी पदार्थों का विलेपन करना, बाल ओछना(जमाना) वगैरह शरीर की विभूषा शरीरसत्कार है ।

हुई) वस्तु का दान करना चाहिए और वह भी विधिपूर्वक अर्थात् देश–काल–श्रद्धा–सत्कार–क्रम और कल्पनीय के उपयोगपूर्वक करना चाहिए।

(1) देश – इस देश में यह वस्तु सुलभ है या दुर्लभ, ऐसा विचारकर दुर्लभ वस्तु अधिक देना इत्यादि।

(2) काल – सुकाल है या दुष्काल इत्यादि विचार करना। दुष्काल हो और स्वयं को सुलभ हो तो साधुओं को अधिक व्होराना। किस समय कैसी वस्तु की अधिक आवश्यकता होती है, वर्तमान में कौन–सी वस्तु सुलभ है या दुर्लभ इत्यादि विचारकर व्होराना।

(3)श्रद्धा – विशुद्ध अध्यवसाय से देना। देना पड़ता है इसलिए देता हूँ ऐसी बुद्धि से नहीं किंतु देना हमारा फर्ज है, उनका हम पर महान उपकार है, हमें भी उस रास्ते पर जाना है, उन्हें देने से हम भी उस मार्ग पर चलने में समर्थ बनेंगे, उन्हें देने से हमारे अनेक पाप मिट जाते हैं इत्यादि विशुद्ध भावना से देना।

(4) सत्कार – आदर से देना, निमंत्रण करने जाना, अचानक घर पर पधारे तो खबर मिलते ही सामने लेने के लिए जाना, व्होराने के बाद थोड़ी दूर तक छोड़ने जाना इत्यादि सत्कारपूर्वक दान देना।

(5) क्रम – श्रेष्ठ वस्तु प्रथम देना फिर सामान्य वस्तु देना अथवा दुर्लभ वस्तु या उस समय आवश्यक वस्तु का निमंत्रण पहले देना, फिर अन्य वस्तुओं के लिए निमंत्रित करना अथवा जिस देश में जो क्रम हो, उस क्रम से व्होराना।

(6) कल्पनीय – आधाकर्म आदि दोषों से रहित, संयम में उपकारक इत्यादि गुणों से युक्त वस्तु कल्पनीय है।

वर्तमान काल में चोविहार या तिविहार उपवास से रात–दिन का एक पौषध कर दूसरे दिन एकासना करना और साधु जो वस्तु व्होरे, वही वापरना इस प्रकार अतिथिसंविभाग व्रत किया जाता है। यह नियम लेने वाले को वर्ष में कितने दिन अतिथिसंविभाग करना हो, उतने दिन की संख्या निश्चित करनी चाहिए।

फल – इस व्रत के सेवन से दान धर्म की आराधना होती है। साधु प्रति प्रेम–बहुमान और भक्ति बढती है। साधु को दान देकर संयम की अनुमोदना द्वारा संयम धर्म का फल मिलता है।

सात व्रतों के दो विभाग – यहाँ दर्शित सात व्रतों के दो विभाग हैं– गुणव्रत और शिक्षा व्रत। दिग्विरति, उपभोग–परिभोग परिमाण और अनर्थदंड विरमण ये तीन गुणव्रत हैं क्योंकि ये व्रत पांच अणुव्रतों में लाभ=गुण करते हैं। इन तीन व्रतों से पांच अणुव्रतों का पालन सरल हो जाता है। शेष चार शिक्षाव्रत हैं– देशविरति, सामायिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग क्योंकि इनके पालन से संयमधर्म की शिक्षा=अभ्यास होता है।

सात व्रतों के क्रम और नाम में अंतर – यहाँ सात व्रतों का जो क्रम है, आगम में उससे अलग क्रम है। आगम में दिग्विरति, उपभोग–परिभोग परिमाण, अनर्थदंड विरति, सामायिक देशविरति (देशावगासिक), पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग, इस क्रम [①] से सात व्रत बताए हैं। देशविरति, उपभोग–परिभोग परिमाण और पौषधोपवास, इन तीन व्रतों के आगम ग्रंथों में क्रमश: देशावगासिक[②], भोगोपभोग परिमाण और पौषध नाम है।

---

① प्रथम तीन गुणव्रत, बाद में चार शिक्षाव्रत आते हैं, इस दृष्टि से आगम में यह क्रम रखा गया हो, ऐसा लगता है । प्रस्तुत ग्रंथ में दिग्विरति के बाद देशविरति (देशावगासिक) का गहण क्यों किया, यह विचारते हुए ऐसा लगता है– आगमग्रंथों में दिगविरति व्रत के उपलक्षण से सभी व्रतों के संक्षेप का विधान है जबकि प्रस्तुत ग्रंथ में मात्र दिग्विरति के संक्षेप का विधान है। अत: यह व्रत दिग्विरती के संक्षेप रूप होने के कारण दिग्विरति के बाद ही इसका क्रम ठीक है । इस दृष्टि से दिग्विरति के बाद देशविरति व्रत का क्रम रखा हो सकता है ।

② दिग्विरती में लिए हुए दिशा के परिमाण से कम देश अवकाश में रहना देशावकाश है । जिसमें दिग्विरति में गृहीत परिमाण का संक्षेप किया जाए, वह देशावगासिक । जिसका बार बार उपयोग कर सके, वह उपभोग । जिसमें भोग और उपभोग का परिमाण किया जाए वह भोगापभोग परिमाण । जो धर्म की पुष्टि करे, वह पौषध । इस प्रकार देशावगासिक आदि तीन का शब्दार्थ है । भावार्थ तो पूर्व में कहे अनुसार ही है ।

संलेखना का विधान

मारणन्तिकीं संलेखनां जोषिता ॥७-१७॥

व्रती (गृहस्थ या साधु) मरण के अंत में संलेखना करता है।

संलेखना यानी शरीर और कषायों को पतले (कम) करने वाला तप विशेष। दुष्काल, शरीर निर्बलता, रोग, उपसर्ग आदि से धर्म का पालन न हो तब अथवा मरण समीप में हो तब व्रती को ऊणोदरी, उपवास, छठ (बेला), अट्ठम (तेला) आदि तप द्वारा काया और कषायों को अत्यंत क्षीण कर (श्रावक हो तो महाव्रतों के स्वीकार पूर्वक) जीवन पर्यंत चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। जीवन के अंतिम समय तक मन में मैत्री आदि और अनित्यादि भावनाओं का चिंतन करना चाहिए। स्वीकारी हुई प्रतिज्ञा का स्मरण करना चाहिए। आर्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग कर मन को स्वस्थ-समाधियुक्त रखना चाहिए। ऐसा करने से व्रती अंतिम समय में अति सुंदर मोक्षमार्ग की आराधना कर लेता है।

(व्रत स्वीकारने के बाद उसमें दूषण - अतिचार न लगे, इसकी सावधानी रखनी चाहिए। इसलिए किस-किस प्रकार से कौन-कौन से अतिचार होने की संभावना है, वह साधक को जानना चाहिए। अत: अब ग्रंथकार सम्यग्दर्शन, बारह व्रत एवं संलेखना के संभवित मुख्य अतिचारों के वर्णन का प्रारंभ करते हैं।)

सम्यग्दर्शन के अतिचार -

शङ्का-काङ्क्षा-विचिकित्सा-ऽन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥७-१८॥

सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार हैं - शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव।

अतिचार, स्खलना, दूषण इत्यादि शब्द एकार्थक हैं। जिससे व्रतों में दूषण लगे, वह अतिचार कहा जाता है।

(1) शंका - स्वयं की मतिमंदता से आगमोक्त पदार्थ नहीं समझ पाने से 'यह वस्तु ऐसी होगी या नहीं ?' इत्यादि संशय करना।

शंका के दो प्रकार हैं -

(क) सर्वशंका - मूलवस्तु की ही शंका। जैसे-धर्म होगा या नहीं। आत्मा है या नहीं? सर्वज्ञ है या नहीं? जिन धर्म सत्य है या नहीं ?

(ख) देशशंका - मूल वस्तु की शंका न हो, किंतु वस्तु के किसी एक अंश की शंका। जैसे- आत्मा तो है किंतु वह शरीर प्रमाण है या नहीं? शरीर प्रमाण है या लोकव्यापी है? पृथ्वीकायादि जीव है या नहीं? निगोद में अनंत जीव है या नहीं? आत्मा के असंख्य प्रदेश है या नहीं? इत्यादि।

(2) कांक्षा - कांक्षा यानी इच्छा। धर्म के फल स्वरूप इहलोक या परलोक के सुख की इच्छा रखना। संसार का सभी प्रकार का सुख दु:खरूप होने से जिनेश्वरों ने हेय कहा है। इसलिए धर्म केवल मोक्ष के उद्देश्य से करने की आज्ञा है। अत: धर्म के फल स्वरूप इहलोक या परलोक के सुख की इच्छा रखने वाला व्यक्ति जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा का उल्लंघन करता है। आज्ञा का उल्लंघन सम्यकत्व को मलिन-दूषित करता है। इसलिए इहलोक या परलोक के सुखों के लिए धर्म करना अतिचार है। अथवा वीतरागप्रणीत दर्शन के अलावा अन्य दर्शन की इच्छा कांक्षा है। इसके दो प्रकार हैं -

(क) सर्वकांक्षा – सभी दर्शन समान है, सभी दर्शन मोक्ष का मार्ग बताते हैं, सभी दर्शन अच्छे हैं, इस तरह सभी दर्शनों की इच्छा सर्वकांक्षा है।

(ख) देशकांक्षा – किन्हीं एक–दो दर्शन की इच्छा रखना। जैसे–बौद्धदर्शन श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें कष्ट सहन किए बिना धर्म करने का उपेदश दिया है, स्नानादि की छूट दी गई है..।

कांक्षा से वीतरागप्रणीत दर्शन में अविश्वास–अश्रद्धा होने की संभावना है।

(3) विचिकित्सा – विचिकित्सा यानी संशय, संदेह, धर्म के फल में संदेह करना। जैसे – मैंने किए हुए तप वगैरह का फल मुझे मिलेगा या नहीं ? लोक में कृषि वगैरह क्रियाएँ बहुत बार सफल होती है और कभी सफल नहीं भी होती है, वैसे इस जैन धर्म के पालन का फल मुझे मिलेगा या नहीं? ऐसा संशय करना।

शंका और विचिकित्सा में फर्क – शंका और विचिकित्सा, दोनों में शंका (संशय) तो है ही किंतु शंका का विषय भिन्न है। शंका अतिचार में संशय का विषय पदार्थ या धर्म है जबकि विचिकित्सा अतिचार में संदेह का विषय धर्म का फल है। अर्थात् शंका रूप अतिचार में पदार्थ या धर्म का संदेह होता है और विचिकित्सा में धर्म के फल का संदेह होता है। अथवा विचिकित्सा यानी जुगुप्सा, साधु–साध्वी के मलिन शरीर–वस्त्रादि को देखकर दुर्गंछा करना तथा 'ये लोग पानी से स्नान भी नहीं करते, सचित्त पानी में भले दोष हो किंतु अचित्त पानी से स्नान और वस्त्रप्रक्षालन करने में क्या दोष है?' इस प्रकार उनकी निंदा करना।

(4) अन्यदृष्टि प्रशंसा – सर्वज्ञप्रणीत दर्शन सिवाय अन्य बौद्धादि दर्शन की प्रशंसा करना। जैसे– वे पुण्यवान हैं, उनका जन्म सफल है, उनका धर्म श्रेष्ठ है, उनमें दाक्षिण्यता वगैरह गुण हैं, इत्यादि रूप से प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रशंसा करना। ऐसी प्रशंसा से अपरिपक्व बुद्धिवाले जीव उनके गुणों से आकृष्ट होकर सम्यग्दर्शन गुण खो दे, ऐसा सुसंभवित है। अत: अन्यदृष्टि की प्रशंसा अतिचार है।

(5) अन्यदृष्टिसंस्तव – संस्तव यानी परिचय। अन्यदर्शन वाले लोगों के साथ रहना, परिचय रखना। उनके साथ अतिपरिचय रखने से उनके दर्शन की क्रिया और सिद्धांतों को देखने से, सुनने से सम्यकत्व से पतित होना संभव है।[1]

सम्यकत्व व्रत के ये अतिचार साधु और श्रावक दोनों के लिए है। इनमें प्रथम तीन अतिचार गुप्त हैं, जिसे दूसरे नहीं देख सकते। शेष दो अतिचार प्रगट हैं।

12 व्रतों में प्रत्येक व्रत के अतिचारों की संख्या –

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ।।७–१९।।

पांच अणुव्रत और सात शीलव्रतों (3 गुणव्रत + 4 शिक्षा व्रत) में क्रमश: प्रत्येक के पांच–पांच अतिचार निम्नलिखित है।

प्रथम व्रत के अतिचार –

बंध–वध–छविच्छेदा–ऽतिभारारोपणा–ऽन्नपाननिरोधा: ।।७–२०।।

अहिंसा (स्थूल प्राणातिपात विरमण) व्रत के ये पांच अतिचार हैं – बंध, वध, छविच्छेद, अतिभार आरोपण, अन्नपान निरोध।

① जिनकी बुद्धि अपरिपक्व है, वे अन्य के परिचय से ठगा जाए यह संभव है । अत: जैनदर्शन में रहे पासत्था आदि कुसाधुओं के साथ मुनि को एक रात भी एक उपाश्रय में रहने का निषेध है।

(1) बंध – क्रोध से बैलादि पशुओं या अविनीत स्वपुत्रादि को अत्यंत मजबूत बांधना। श्रावक को निष्कारण किसी को भी नहीं बांधना चाहिए। कारणवशात् पशुओं या अविनीत पुत्रादि को बांधने की आवश्यकता हो तो भी निर्दयता से मजबूत नहीं बांधना

(2) वध – वधन यानी मार, ताड़न। श्रावक को निष्कारण किसी को भी नहीं मारना चाहिए। श्रावक को भीतपर्षद् [1] बनना चाहिए, जिससे स्वयं का दबाव (दब–दबा) रहने से कोई अविनयादि अपराध न करे। तथापि यदि कोई करे या पशु आदि योग्य वर्तन न करे, इससे मारने की आवश्यकता पड़े तो भी गुस्से में निर्दयतापूर्वक नहीं मारना चाहिए। बाहर से गुस्सा दिखाना पड़े तो भी हृदय में तो क्षमा ही धारण करना चाहिए।

(3) छविच्छेद – छवि यानी चमड़ी, छेद यानी छेदन करना, छीलना। चमड़ी, त्वचा का छेदन करना छविच्छेद। निष्कारण किसी भी प्राणी की त्वचा का छेदन नहीं करना चाहिए। चोर आदि की त्वचा का छेदन आवश्यक हो तो भय दिखाने जितना ही करना चाहिए। यदि निर्दयता पूर्वक छविच्छेद किया जाए तो अतिचार है।

(4) अतिभारारोपण – बैल या मजदूर आदि पर शक्ति से अधिक भार–वजन रखना। यद्यपि श्रावक को बैलगाड़ी चलाने आदि का व्यापार नहीं करना चाहिए। तथापि अन्य उपाय न होने पर वैसा व्यापार करना पड़े तो भी बैल आदि जितना वजन आराम से उठा सके, वहन कर सके, उससे कुछ कम वजन रखना चाहिए। मजदूर के पास वजन उठवाने का प्रसंग आए तो मजदूर स्वयं ही जितना वजन उठाकर नीचे रख सके, उतना ही उसे देना चाहिए।

(5) अन्नपाननिरोध – अन्नपान निरोध यानी भोजन–पानी समयसर नहीं देना। बैल, घोड़े एवं घर के नौकरों को समयसर भोजन मिले, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए। अविनीतपुत्रादि को शिक्षा देने के लिए अन्नपान का निरोध करना पड़े तो भी मर्यादा में करना।

प्रश्न – श्रावक को मात्र प्राणवियोग रूप हिंसा का नियम है, बंध आदि का नियम तो उसने लिया नहीं तो बंधादि से दोष क्यों लगता है? यदि ऐसा कहें कि प्राणवियोग रूप हिंसा के नियम में बंधादि का नियम आ ही जाता है तो बंधादि से नियम का सर्वथा भंग होगा। तो वे अतिचार कैसे होंगे? अतिचार में तो नियम का आंशिक भंग होता है, सर्वथा नहीं।

उत्तर – यद्यपि प्राणवियोग रूप हिंसा का ही प्रत्याख्यान किया है, बंध आदि का नहीं, तथापि परमार्थ से हिंसा के प्रत्याख्यान में बंध आदि का प्रत्याख्यान भी आ ही जाता है क्योंकि बंधादि हिंसा के कारण है। कार्य के नियम के साथ कारण का नियम भी हो जाता है। जैसे– कोई आवाज मत करना ऐसा किसी से कहा तो जिन कारणों से आवाज होती है, उन कारणों का भी निषेध हो जाता है। अत: उनकी आज्ञा का पालन करने वाला आवाज करने या आवाज होने की संभावना वाले कारणों से दूर रहता है। इसी तरह यहाँ हिंसा के प्रत्याख्यान से बंध आदि का प्रत्याख्यान भी हो जाता है। अब प्रश्न यह रहा कि बंधादि के सेवन से नियम का सर्वथा भंग हो जाता है तो बंधादि अतिचार कैसे? इसका समाधान यह है कि व्रत दो रूप से हैं–

(i) अंतर्वृत्ति से – हृदय में व्रत के परिणाम अंतर्वृत्ति से व्रत है।

(ii) बाह्यवृत्ति से – बाह्य प्राणवियोग आदि का अभाव बाह्यवृत्ति से व्रत है।

जब गुस्से में निर्दयतापूर्वक बंधादि किए जाते हैं तब बाह्य से प्राणवियोग का अभाव होने से बाह्यवृत्ति से अहिंसा का भंग नहीं होता परंतु हृदय में अहिंसा–दया के परिणाम न होने से अंतर्वृत्ति से व्रत का भंग हुआ है। इस

[1] भीतपर्षद् यानी नौकर–सेवक–पुत्र आदि पर्षदा श्रावक से सहज ही डरती हो ऐसा उसे वर्तन करना चाहिए।

तरह आंशिक व्रतपालन है और आंशिक व्रत भंग है। इसलिए गुस्से में निर्दयतापूर्वक किए गए बंधादि अतिचार हैं। इस तरह अन्य व्रतों के अतिचार में भी यथायोग्य समझ लेना।

द्वितीय व्रत के अतिचार –

मिथ्योपदेश-रहस्याभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमंत्रभेदाः ॥७-२१॥

सत्य (स्थूलमृषावाद विरमण) व्रत के ये पांच अतिचार है–

मिथ्या उपदेश, रहस्य अभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यास अपहार और साकारमंत्र भेद।

(1) मिथ्या उपदेश – परपीड़ाकारी वचन, असत्य उपदेश, अतिसंधान उपदेश वगैरह मिथ्या उपदेश हैं। चोर को मार डालो, बंदरों को पिंजरे में बंद करो इत्यादि परपीड़ाकारी वचन है। गलत सलाह देकर विपरीत मार्ग पर चढाना असत्य उपदेश है। विवाद में अन्य को ठगने का उपाय बताना अतिसंधान उपदेश है।

यहाँ परपीड़ाकारी वचन में 'अन्य को दुख न देना' इस अहिंसा का पालन नहीं होता। अन्य सभी व्रत अहिंसा के पालन के लिए हैं। अत: परपीड़ाकारी वचन से बाह्य दृष्टि से व्रतभंग न होने पर भी अंतरदृष्टि से व्रत भंग है। जिस विषय में स्वयं को बराबर अनुभव न हो, उस विषय में स्वयं सलाह दे और अन्य व्यक्ति विपरीत मार्ग पर जाए, इसमें स्वयं की दृष्टि से असत्य न होने पर भी अनुभवी की दृष्टि से असत्य है अर्थात् बाह्य सत्य है किंतु तात्विक दृष्टि से असत्य है। इस प्रकार अतिसंधान में भी यथायोग्य समझ लेना।

(2) रहस्य अभ्याख्यान – रहस्य यानी एकांत में हुई घटना आदि, अभ्याख्यान यानी कहना। विरुद्ध राज्य, मित्र–मित्र, पति–पत्नी आदि की एकांत में हुई क्रिया या बात आदि को हास्यादि पूर्वक बाहर कहना [①]। गुप्त बात बाहर आने से पति–पत्नी वगैरह को दुख हो, क्लेश–कलह हो, या मारपीट का प्रसंग बन जाए। यहाँ हकीकत सच होने से बाह्य दृष्टि से व्रतभंग नहीं है तो भी तात्विक दृष्टि से व्रत भंग होने से रहस्याभ्याख्यान अतिचार है।[②]

(3) कूटलेख क्रिया – सच्चे लेख को बदल देना, झूठी साक्षी देना, झूठे दस्तखत करना, झूठे जमा–खर्च करना, मुहर–हस्ताक्षर आदि से झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठ लेख लिखना, झूठे समाचार छापना इत्यादि। यहाँ असत्य बोलने का नियम है, लिखने का नहीं। इसलिए बाह्य दृष्टि से व्रत भंग न होने पर भी तात्विक दृष्टि से (जो दोष असत्य बोलने से लगते है, वे ही दोष असत्य लिखने से भी होने के कारण) व्रत भंग है। अत: कूटलेखक्रिया अतिचार है।

(4) न्यासापहार – किसी ने कुछ रकम स्वयं को संभालने अमानत रूप में दी हो। समय पसार होने पर 'कितने रूपये दिए' वह भूल जाए, लेने आए तब कम मांगे। उसने जितने मांगे हो, उतने दे, बाकी के पैसे स्वयं दबा ले। जैसे– 500 रु. अमानत में रखे हो, पुन: आकर भूल से 400 रूपए मांगे, तब आपने 500 रूपए दिए थे, ऐसा न कहकर 400 रूपए उसे देकर 100 रूपए स्वयं रख ले अथवा कोई साक्षी न होने से 'आपने मुझे एक भी रूपया नहीं दिया' ऐसा सर्वथा निषेध कर दे।

यद्यपि न्यासापहार चोरी है तथापि चोरी छुपाने असत्यमिश्रित वाक्य बोलने पड़ते हैं, इस दृष्टि से इसे सत्यव्रत के अतिचार में रखा गया है।

---

① एकांत में बातचीत आदि करने वाले को धमकी दे कि मैंने तुम्हारी बात सुन ली है अथवा अन्य को कहे कि इसने यह बात या कार्य किया है ।
② योगशास्त्र आदि ग्रंथो में इस अतिचार का 'गुह्यभाषण' नाम है ।

अन्य ग्रंथों में न्यासापहार की जगह सहसा अभ्याख्यान अतिचार मिलता है। सहसा यानी विचार किए बिना, अचानक अभ्याख्यान यानी आरोप। बिना विचारे ही 'तू चोर है, तू लंपट है' इत्यादि आरोप लगाना। यहाँ पर आरोप लगाने का उद्देश्य नहीं है किंतु जल्दबाजी से वास्तविकता बराबर जाने बिना असत्य को सत्य मानकर अनाभोग से कह देता है। अत: यहाँ भीतर में व्रत भंग के परिणाम नहीं हैं किंतु परदुख आदि संभव होने से आंशिक भंग है। अत: सहसाभ्याख्यान अतिचार है। यदि जानबूझकर झूठा आरोप लगाए तो व्रत भंग है।

(5) साकारमंत्र भेद – आकार यानी शरीर की आकृति, विशिष्ट चेष्टा। आकार सहित हो, वह साकार। मंत्र यानी अभिप्राय। शरीर की चेष्टा से जाना गया अन्य का अभिप्राय साकार मंत्र है। उसका भेद यानी बाहर प्रकाशन करना। यह साकार मंत्र भेद का शब्दार्थ हुआ, भावार्थ इस प्रकार है–

विश्वासपात्र बनकर शरीर की चेष्टा से अथवा घटना से अथवा आस–पास के वातावरण से अन्य का गुप्त अभिप्राय जानकार अन्य को कहना, अन्य का गुप्त अभिप्राय जानर उसे कहना। इस तरह एक–दूसरे की गुप्त बातें जानकार एक–दूसरे को कहकर परस्पर उनकी प्रीति को विच्छेद करना अथवा विश्वासु बनकर राज्य या अन्य किसी की गुप्त वास्तविकता को पूर्वोक्त अनुसार जानकर बाहर प्रकाशित करना।[①]

धर्मरत्न प्रकरण आदि अन्य ग्रंथों में 'साकारमंत्रभेद' की जगह 'स्वदारामंत्रभेद'[②] अतिचार आता है। स्व=स्वयं की, दारा =पत्नी का, मंत्र = गुप्त अभिप्राय वह स्वदारामंत्र। उसका भेद यानी बाहर प्रकाशन करना। यह स्वदारामंत्रभेद का शब्दार्थ है, भावार्थ इस प्रकार है – स्वयं पर विश्वास रखकर पत्नी, मित्र, पड़ोसी आदि किसी भी व्यक्ति ने जो गुप्त बात की, उसका बाहर प्रकाशन करना स्वदारामंत्रभेद है।[③]

साकारमंत्रभेद (स्वदारामंत्रभेद) में हकीकत सत्य होने पर भी उस बात के प्रकाशन से स्व–पर को द्वेष, आत्म हत्या, कलह, क्लेश आदि महान अनर्थ होने की संभावना है। इसलिए आंशिक व्रत भंग होने से वह अतिचार है।

साकारमंत्रभेद और स्वदारामंत्रभेद (या विश्वस्तमंत्रभेद) में फर्क – साकारमंत्रभेद और स्वदारामंत्रभेद दोनों विश्वासु की गुप्त बात का प्रकाशन इतना अर्थ समान है। किंतु गुप्त बात कैसे जानते है, उसमें भेद है। साकारमंत्रभेद में शरीर चेष्टा–प्रसंग–घटना, वातावरण आदि से गुप्त बात होती है जबकि स्वदारामंत्रभेद में विश्वासु व्यक्ति ही स्वयं गुप्त बात कहता है।

साकारमंत्रभेद और रहस्याभ्याख्यान में भेद – साकारमंत्रभेद और रहस्याभ्याख्यान दोनों में 'गुप्त बात का प्रकाशन' समान है किंतु गुप्त बात के प्रकाशन में भेद है। साकारामंत्रभेद में विश्वासु बनकर गुप्त बात का प्रकाशन होता है जबकि रहस्याभ्याख्यान में सामान्य से (विश्वासु–अविश्वासु के भेद बिना) गुप्त बात का प्रकाशन होता है।

दोनों में दूसरा भेद यह है कि साकारमंत्रभेद में गुप्त बात जिससे जानी गई हो, उससे अन्य संबंधी होती है जबकि रहस्याभ्याख्यान में (पति–पत्नी, मित्रादि) जिससे बात ज्ञात हुई हो, वह बात उसी से संबंधित होती है। जैसे– पति–पत्नी ने एकांत में स्वसंबंधी कोई बात की, किसी ने सुनकर बाहर प्रकाशन किया तो रहस्याभ्याख्यान है। यदि पति–पत्नी ने अन्य संबंधी कोई बात की हो, वह सुनकर बाहर प्रकाशन करे तो साकारमंत्रभेद है।

दोनों में तीसरा भेद यह है कि साकारमंत्रभेद में गुप्त बात जिससे संबंधित हो उसे कही जाती है जबकि रहस्याभ्याख्यान में जिससे संबंधित गुप्त हो, उसे या अन्य को भी कही जाती है।

---

① ऐसा करने का कारण ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि है ।

② संस्कृत में अकारांत 'दार' शब्द होने से 'स्वदारमंत्रभेद' ऐसा प्रयोग होता है। हिन्दी में आकारांत 'दारा' शब्द होने से 'स्वदारामंत्रभेद' प्रयोग किया जाता है।

③ योगशास्त्रादि ग्रंथो में इस अतिचार का नाम भावार्थ अनुसार 'विश्वस्तमंत्र भेद' (विश्वासु के अभिप्राय का प्रकाशन करना) है ।

साकारमंत्रभेद और रहस्याभ्याख्यान में इन तीन दृष्टि से भेद है, ऐसा मुझे लगता है, तथापि इस विषय में अनुभवी के पास से अधिक ज्ञान लेने की आवश्यकता है।

तृतीय व्रत के अतिचार –

स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहारा : ।।७-२२।।

अस्तेय (स्थूल अदत्तादान विरमण) व्रत के पांच अतिचार – स्तेन प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक, मानोन्मान, प्रतिरूपकव्यवहार।

(1) स्तेन प्रयोग– स्तेन यानी चोर। प्रयोग यानी प्रेरणा, उत्तेजन। चोर को चोरी करने में उत्तेजन देना स्तेन प्रयोग है। चोर के साथ लेने–देने का व्यवहार रखना, चोरी करने के बाद उसकी प्रशंसा करना, चोरी के लिए आवश्यक उपकरण देना, रहने के लिए आश्रय देना, अन्न–पानी देना इत्यादि रीति से चोर को चोरी का उत्तेजन देना अतिचार है।

(2) तदाहृतादान – चोर द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तु मुफ्त में या खरीदकर लेना।

स्तेनप्रयोग और तदाहृतादान में स्वयं चोरी नहीं करता है किंतु चोरी का प्रोत्साहन देने से परमार्थ दृष्टि से आंशिक व्रतभंग होने के कारण अतिचार है।[①]

(3) विरुद्धराज्यातिक्रम – राज्य का निषेध होने पर भी गुप्तरूप से अन्य राज्य में प्रवेश करना, कर चोरी करना इत्यादि राज्य विरुद्ध कार्यों का इसमें समावेश होता है। यहाँ राज्यविरुद्ध कर्म करने वाले को चोरी का दंड होने से अदत्तादान व्रत का भंग है परंतु 'मैं तो व्यापार करता हूं' इत्यादि बुद्धि से व्रतसापेक्ष होने से तथा लोक में 'चोर है' ऐसा नहीं कहलाने से (आंशिक व्रतभंग होने से) विरुद्धराज्यातिक्रम अतिचार है।

(4) हीनाधिकमानोन्मान – गुप्तता से झूठे कम–ज्यादा माप–तोल करना। जब वस्तु खरीदना हो तब ज्यादा माप करे और बेचना हो तब कम माप करे।

(5) प्रतिरूपक व्यवहार – अच्छे माल में खराब या नकली माल की मिलावट करना। नकली वस्तु बनाकर असली रूप में बेचना ।

यद्यपि हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार दोनों में ठगने द्वारा परधन लेने से व्रतभंग है, तथापि सेंध लगाना ही चोरी है, ये तो वणिक्कला है, ऐसी कल्पना से आंशिक व्रतभंग होने से (उसकी दृष्टि से चोरी नहीं है, शास्त्रदृष्टि से चोरी है) दोनों अतिचार हैं।

चतुर्थ व्रत के अतिचार –

परविवाह-करणेत्वर-परिंगृहीतापरिंगृहीतागमना-ऽनङ्गक्रीडा-तीव्रकामाभिनिवेशाः ।। ७-२३।।

---

① **चौरश्चौरापको मन्त्री भेदज्ञः काणकक्रयी ।**
अन्नदः स्थानदश्चेति चौरः सप्तविधः स्मृतः ।।
चोर के सात प्रकार है : चोरी करने वाला, चोरी कराने वाला, चोरी का रस्ता/मार्ग बताने वाला, चोरी के रहस्य को जानने वाला, चोरी के माल को खरीदने वाला, चोर को अन्नपानी देनेवाला और चोर को आश्रय देने वाला ।

ब्रह्मचर्य (स्थूलमैथुनविरमण) व्रत के पांच अतिचार– परविवाहकरण, इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीडा और तीव्रकामाभिनिवेश।

(1) परविवाहकरण – कन्यादान के फल की इच्छा से या स्नेह आदि से अन्य के संतानों का विवाह करना। यहाँ परदारा के साथ मैथुन नहीं करूं और नहीं कराऊं, ऐसा नियम है। विवाह कराने में परमार्थ से मैथुन कराया इसलिए व्रतभंग है किंतु 'मैं विवाह कराता हूं, मैथुन नहीं' ऐसी मानसिक परिणाम की दृष्टि से स्वयं व्रत सापेक्ष है। इस प्रकार आंशिक व्रतभंग और आंशिक व्रतपालन होने से यह अतिचार है।

जैसे पर के संतानों के विवाह से अतिचार लगता है, वैसे स्वयं के संतानों के विवाह से भी अतिचार लगता है लेकिन यदि स्वयं के संतानों का विवाह न करे तो संतान स्वेच्छाचारी हो जाएँगे। ऐसा होने पर शासन की हीलना होगी। इसलिए स्वयं के संतानों के विवाह का निर्देश यहाँ नहीं किया है। यदि स्वयं के संतानों का विवाह स्वयं का बड़ा पुत्र या भाई आदि कोई संभाल ले तो उसमें स्वयं को मौन रखना चाहिए।

(2) इत्वरपरिगृहीतागमन– इत्वर यानी थोड़ा समय, परिगृहीता यानी स्वीकारी हुई। अन्य किसी ने कुछ समय के लिए वेश्या का स्वीकार किया हो, उस समय वेश्यागमन करना। जितने समय के लिए अन्य व्यक्ति ने (पैसे देने आदि से) वेश्या का स्वीकार किया हो, उस समय में वेश्यागमन करना अतिचार है। उतने समय तक दूसरे ने पैसे देकर वेश्या को स्वयं की स्त्री रूप में रखने से वह परदारा है, इसलिए व्रतभंग है। तथापि 'मैं परस्त्री सेवन नहीं करता, वेश्यागमन करता हूं' ऐसे मानसिक परिणाम की दृष्टि से व्रतभंग न होने से इत्वरपरिगृहीतागमन अतिचार है।

अथवा स्वयं पैसे देकर कुछ समय स्वयं की स्त्री बनाकर वेश्यागमन करना इत्वरपरिगृहीतागमन है। यहाँ पैसे देकर थोड़े समय के लिए स्वयं की स्त्री बनाकर रखने से 'मेरी स्त्री है' इस दृष्टि से अतिचार है।

(3) अपरिगृहीतागमन – जिसका किसी ने स्त्री रूप में स्वीकार नहीं किया हो, वह अपरिगृहीता। वेश्या, प्रोषितभर्तृका (जिसका पति परदेश गया हो), अनाथ स्त्री, विधवा, कुमारिका वगैरह अपरिगृहीता स्त्री का उपभोग करना अपरिगृहीतागमन है। लोक में किसी की पत्नी परस्त्री मानी जाती है। जिसका कोई पति न हो वह परस्त्री नहीं कहलाती, ऐसा मानकर वेश्यादि का सेवन करने वाले व्यक्ति की दृष्टि से व्रतभंग नहीं होने से अतिचार है।

ये दो अतिचार (इत्वरपरिगृहीता और अपरिगृहीतागमन) परस्त्री का त्याग करने वाले की अपेक्षा से हैं। स्वदारासंतोष व्रत ग्रहण करने वाले की अपेक्षा तो ये दो सर्वथा व्रतभंग ही है क्योंकि उसने स्वस्त्री के अलावा सभी स्त्रियों का त्याग किया है। स्त्री को 'स्वपति संतोष' रूप एक ही व्रत होने से उसे दो अतिचार सामान्य से नहीं होते। अपेक्षा से उसे भी ये दो अतिचार हो सकते हैं। जब स्वयं के पति को सौतेली पत्नी ने बारी से परिगृहीत किया हो तब उसकी बारी का उल्लंघन कर पति के साथ संभोग करने से उसे इत्वरपरिगृहीतागमन अतिचार लगता है तथा परपुरुष की ओर विकारदृष्टि से देखे, उसकी ओर आकृष्ट हो तो अपरिगृहीतागमन अतिचार लगता है।

(4) अनंगक्रीडा – मैथुन सेवन करने के अंग (योनि और प्रजनन) के अलावा शरीर के हस्तादि अवयवों से क्रीड़ा करना, काम सेवन करना अर्थात् अस्वाभाविक =सृष्टिविरुद्ध काम सेवन करना अथवा अनंग यानी कामराग, अतिशय कामराग उत्पन्न करने वाली अधर चुंबन आदि क्रीड़ा करना।

(5) तीव्रकामाभिनिवेश – तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से (मैथुन सेवन की) तीव्र इच्छा से मैथुन सेवन करना।

परस्त्रीविरमण अथवा स्वदारासंतोष, इन दोनों प्रकार में से किसी भी प्रकार से ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकारने वाले को मैथुन सेवन का त्याग है किंतु ऐसी अनंगक्रीड़ा का त्याग नहीं है तथा तीव्र काम से मैथुन सेवन का त्याग नहीं है। इस दृष्टि से अनंगक्रीड़ा और तीव्रक्रामाभिनिवेश में व्रतभंग नहीं होता किंतु ब्रह्मचर्य का ध्येय काम की इच्छा कम करना है। इन दोनों में इस ध्येय का पालन नहीं होता क्योंकि दोनों से कामभोग की इच्छा बढती है। अत: परमार्थ दृष्टि से दोनों प्रकार के कामसेवन का भी त्याग हो जाने से व्रतभंग होता है। इस तरह दोनों में अपेक्षा से व्रतभंग और अपेक्षा से भंग न होने से अतिचार रूप है।

पांचवें व्रत के अतिचार –

क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।।७-२४।।

संतोष (स्थूलपरिग्रह विरमण) व्रत के पांच अतिचार –क्षेत्रवास्तु, हिरण्य–सुवर्ण, धन–धान्य, दासी–दास, कुप्य इन पांचों के प्रमाण का अतिक्रम।

(1) क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम – खेती करने योग्य भूमि क्षेत्र। रहने योग्य भूमि –वास्तु। परिग्रह परिमाण में धारण किए हुए प्रमाण से अधिक क्षेत्र–वास्तु (सर्व प्रकार की जमीन) का स्वीकार करना क्षेत्र–वास्तु प्रमाणातिक्रम है।

(2) हिरण्य–सुवर्णप्रमाणातिक्रम – हिरण्य [1] यानी चांदी। सुवर्ण यानी सोना। यहाँ सोने–चांदी के उपलक्षण से रत्न आदि उच्च प्रकार की धातु, इन्द्रमणि आदि कीमती पत्थर और रकम (कैश) आदि समझ लेना। लाभ के वश होकर परिग्रह प्रमाण में धारण किए हुए प्रमाण से अधिक चांदी–सुवर्ण आदि तथा रकम रखना हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम है।

(3) धन–धान्य प्रमाणातिक्रम – गाय आदि चतुष्पद प्राणी धन [2] है। चावल, गेहूँ आदि धान्य हैं। परिग्रह परिमाण में धारण किए हुए प्रमाण से अधिक धन–धान्य का स्वीकार करना धन–धान्य प्रमाणातिक्रम है।

(4) दासी–दास प्रमाणातिक्रम – यहाँ दासी–दास पद [3] से द्विपद (नौकर आदि मनुष्य और मोर आदि पक्षी) समझना। धारण किए हुए प्रमाण से अधिक नौकर आदि का या मोर–तोते वगैरह पक्षियों का संग्रह करना दास–दासीप्रमाणातिक्रम है।

(5) कुप्यप्रमाणातिक्रम – अल्पकीमती लोहा आदि धातु, घर के उपयोग में आने वाली वस्तु, लकड़ी, घास आदि का समावेश कुप्य में किया है। धारण किए हुए प्रमाण से अधिक कुप्य का संग्रह करना कुप्यप्रमाणातिक्रम अतिचार है।

यहाँ क्षेत्र–वास्तु आदि पांचों में परिग्रह परिमाण में धारे हुए प्रमाण से अधिक क्षेत्र–वास्तु आदि का स्वीकार करने से साक्षात् व्रतभंग होता है किंतु इन पांच में क्रमश: योजन, प्रदान, बंधन, कारण और भाव से हृदय में व्रतरक्षा के परिणाम होने से व्रतभंग न होने से ये पांचों अतिचार रूप हैं। वह इस प्रकार –

---

① कुछ ग्रंथो में हिरण्य यानी 'घडा हुआ सोना' और स्वर्ण यानी 'नही घडा हुआ सोना' ऐसा अर्थ मिलता है । कुछ ग्रंथो मे इससे विपरित हिरण्य यानी 'नहीं घडा हुआ सोना' और सुवर्ण यानी 'घडा हुआ सोना' अर्थ भी मिलता है ।

② कुछ ग्रंथो में धन शब्द के चार प्रकार बताए हैं –

1. गणिम–जिन्हें गिना जा सके । जैसे सुपारी आदि ।
2. धरिम– जिनका वजन मापकर लिया जाता है । जैसे गुड आदि ।
3. मेय– जिसका माप लिया जाता है । जैसे गेहूं आदि ।
4. परिछेद–जिसकी परीक्षा कर लिया जाता है । जैसे रत्न वगैरह। तथा गाय वगैरह चतुष्पद प्राणियों का दास–दासी प्रमाणातिक्रम में संग्रह किया गया है ।

③ धर्मरत्न प्रकरण आदि ग्रंथो में यहाँ द्विपद–चतुष्पद प्रमाणातिक्रम अतिचार है। उसमें सभी तिर्यंच मनुष्यो का संग्रह किया है तथा तीसरे अतिचार में धन शब्द से गणिम आदि चार प्रकार के धन का संग्रह किया है ।

(1) योजन – योजन यानी जोड़ना। एक घर से अधिक के अभिग्रह वाले को अधिक की आवश्यकता होने पर व्रतभंग होने के भय से प्रथम घर के पास में ही घर खरीदकर बीच की दीवार तोड़कर दोनों घर को योजन कर अर्थात् जोड़कर एक घर बनाए। यहाँ परमार्थ से दो घर होने की अपेक्षा से भंग है किंतु हृदय में व्रतरक्षा के परिणाम होने की अपेक्षा से भंग नहीं है।

(2) प्रदान – प्रदान यानी देना। सुवर्ण आदि प्रमाण करने के बाद किसी से अन्य धन मिले तो व्रतभंग के भय से 'अभी आपके पास रखो' ऐसा कहकर दूसरे को दे, व्रत की अवधि पूर्ण होने पर ले। अथवा नियम से अधिक आई रकम बाह्य दिखावे के लिए पुत्र–पुत्री, स्त्री आदि स्वजन के नाम कर अंदर से स्वयं की मालिकी रखे। इस तरह दूसरे के नाम पर होने पर भी मालिकी स्वयं की होने से नियम का भंग होता है। लेकिन 'मैंने नियम से अधिक नहीं रखा' ऐसी बुद्धि होने के कारण व्रतसापेक्ष होने से भंग–अभंग रूप अतिचार है।

(3) बंधन – बंधन यानी बांधना। परिमाण करने के बाद अधिक धन मिले तो व्रतभंग के डर से 'चार मास बाद में लूंगा, अभी आप रखो' ऐसे उसे वचन में बांधकर धन वहीं रहने दे। फिर चार मास (नियम की अवधि) पूर्ण होने पर धन ग्रहण करे।

(4) कारण – गाय, बैल वगैरह का प्रमाण निश्चित करने के बाद गाय आदि को गर्भ रहे अथवा बछड़े का जन्म हो तो व्रतभंग के भय से गिनती नहीं करे। 'मुझे तो गाय–बैल का परिमाण है, गर्भ या बछड़ा गाय–बैल नहीं, बड़े होंगे तब गाय–बैल होंगे।'

(5) भाव – भाव यानी परिवर्तन। दस से अधिक पीतल की कटोरी का नियम करने के बाद भेंट आदि में मिलने पर व्रतभंग के भय से कटोरी को गलाकर बड़ा बर्तन बनाकर व्रत की संख्या बराबर रखे।

अथवा परिग्रह परिमाण से बढी हुई वस्तु को परिग्रह परिमाण से कम रही वस्तु में बदल दे। जैस– पीतल के 10 बड़े बर्तन और 10 कटोरी से अधिक नहीं रखने का नियम करने के बाद भेंट आदि में मिलने पर पीतल की कटोरी की संख्या बढ जाने पर व्रतभंग के भय से कटोरी को गलाकर बड़े बर्तन की संख्या कम होने पर बड़े बर्तन बनवा दे।

यहाँ सर्वत्र व्रतभंग साक्षात् हुआ है किंतु हृदय में व्रतभंग का भय होने से व्रतसापेक्ष होने की अपेक्षा से व्रतभंग नहीं है। अत: प्रमाण का अतिक्रम=उल्लंघन अतिचार है।

छठे व्रत के अतिचार –

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि ।।७-२५।।

ऊर्ध्व, अधो, तिर्यग् इन तीन दिशा के प्रमाण में व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि तथा स्मृत्यन्तर्धान ये पांच दिग्विरति व्रत के अतिचार हैं।

(1) ऊर्ध्वव्यतिक्रम – उपर की दिशा में धारण किए हुए प्रमाण से अधिक पर्वतादि के उपर भूल से जाना।

(2) अधोव्यतिक्रम – नीचे की दिशा में धारण किए हुए प्रमाण से अधिक नीचे कुएँ वगैरह में भूल से जाना।

(3) तिर्यग्व्यतिक्रम – पूर्वादि आठ तिरछी दिशा में धारे हुए प्रमाण से अधिक दूर भूल से जाना।

ये तीनों गलती से हो तो अतिचार हैं, जानबूझकर करे तो व्रतभंग हैं।

(4) क्षेत्रवृद्धि – एक दिशा के प्रमाण को दूसरी दिशा में डालकर दूसरी दिशा के प्रमाण को बढाना। जैसे– पूर्व और पश्चिम दिशा में 50–50 माईल का प्रमाण धारने के बाद पूर्व दिशा में 60 माईल जाने की आवश्यकता होने पर पश्चिम दिशा में से 10 माईल कम करके पूर्व दिशा में जोड़ दे। यहाँ नियम भंग होने पर भी कुल संख्या वही रहने की अपेक्षा से अतिचार है।

(5) स्मृत्यन्तर्धान – ग्रहण किए हुए नियम (दिशा के प्रमाण) को भूल जाना, बराबर याद न रखना। दिशा के प्रमाण को भूल जाने के बाद धारे हुए परिमाण से अधिक न जाने पर भी अतिचार लगता है। जैसे– 50 माईल का नियम था या 100 माईल का ऐसी शंका होने से यदि 50 माईली धारे होंगे तो आगे जाने पर नियम का भंग होगा, ऐसा सोचकर 50 माईल से आगे नहीं जाने पर भी अतिचार लगता है क्योंकि किसी भी नियम का पालन नियम याद रखने से होता है।[①] इसलिए नियम को भूल जाना अतिचार है।[②]

प्रश्न – यदि नियम को भूल जाना अतिचार है तो स्मृत्यन्तर्धान अतिचार सभी व्रतों में आना चाहिए। फिर इसकी गिनती सभी व्रत में नहीं करके यहीं क्यों की?

उत्तर – प्रत्येक व्रत के पांच अतिचार बताए गए होने से यहाँ पांच की संख्या पूर्ण करने के लिए उसे गिना है। लेकिन यह अतिचार तो सभी व्रतों के लिए है।[③]

सातवें व्रत के अतिचार –

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ।।७-२६।।

देशविरति (देशावगाासिक) व्रत के पांच अतिचार – आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप।

(1) आनयन – धारण किए हुए प्रमाण से अधिक दूर देश में रही वस्तु को (पत्र, तार, फोन, फैक्स, ई–मेल आदि द्वारा) मंगाना। इस अतिचार को आनयन प्रयोग भी कहते हैं।

(2) प्रेष्यप्रयोग – धारे हुए प्रमाण से अधिक दूर देश में कोई वस्तु भेजना हो या कोई कार्य करना हो तो नौकर आदि को भेजना।

आनयन और प्रेष्यप्रयोग में फर्क –

(i) आनयन में धारे हुए प्रमाण से अधिक दूर देश से वस्तु मंगाता है जबकि प्रेष्यप्रयोग में वस्तु भेजनी होती है।

(ii) आनयन में वस्तु मंगाने के लिए नौकर आदि को नहीं भेजता, वहाँ से आने वाले के पास मंगवा लेता है जबकि प्रेष्यप्रयोग में नौकर आदि को भेजता है।

(3) शब्दानुपात – समीप में खांसी आदि से और दूर फोन आदि (शब्दों के अनुपात =फेंकने से) धारे हुए देश से दूर रहे व्यक्ति को पास में बुलाना।

(4) रूपानुपात – धारे हुए देश से अधिक दूर रहे हुए व्यक्ति को बुलाने के लिए मर्यादा में ही खड़ा रहकर स्वयं का शरीर या शरीर के अवयव दिखाए अथवा इशारा या अन्य कोई चेष्टा करे।

① **अविस्मृतिमूलं धर्मानुष्ठानम्–** नियम की स्मृति नियमपालन का मूल है । (प्रस्तुत सूत्र की श्री सिद्धसेनगणि कृत टीका)

② धर्मरत्न प्रकरण आदि ग्रंथों में स्मृत्यन्तर्धान अतिचार का अर्थ इस प्रकार है– 50 योजन का नियम है या 100 योजन ? ऐसे संशय में 50 योजन से दूर नही जाना चाहिए । यदि 50 योजन से आगे जाए तो अतिचार लगता है ।

③ **अयं चातिचार: सर्वव्रतसाधारणोऽपि पंचसङ्ख्यापूरणार्थमत्रोपात्त: ।** (श्री श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र की अर्थ दीपिका टीका)

(5) पुद्गलक्षेप– धारे हुए देश से अधिक दूर रहे व्यक्ति को बुलाने के लिए मर्यादा में खड़े रहकर कोई पत्थर या मिट्टी के ढेफे जैसे पुद्गल फेंकना।

यहाँ स्वयं नियमित देश से बाहर नहीं जाता, इस दृष्टि से व्रतभंग नहीं है लेकिन दूसरी वस्तु मंगाना, भेजना, शब्द आदि से दूसरे को बुलाना इत्यादि में नियम के ध्येय का पालन नहीं होता है। नियमित देश से बाहर हिंसा रोकने के लिए देश का नियम किया है। स्वयं न जाने पर भी दूसरे से मंगाने आदि में हिंसा तो होती है। दूसरे से मंगवाने में स्वयं के जाने से भी अधिक हिंसा हो, ऐसा भी संभव है क्योंकि स्वयं जैसी जयणा का पालन करता है, वैसी जयणा दूसरा नहीं करेगा। इसलिए स्वयं जाए तो हिंसा कम होने की संभावना है। इस प्रकार आनयन आदि में नियम के ध्येय का पालन न होने से परमार्थ से व्रतभंग है। इस तरह आनयन आदि में अपेक्षा से व्रतभंग और अपेक्षा से भंग न होने से अतिचार है।

यहाँ प्रथम दो अतिचार समझ न होने के कारण या सहसाकार से होते हैं। बाद वाले तीन अतिचार माया से होते हैं। प्रथम दो अतिचारों में 'मैं' मेरा काम दूसरे से कराऊंगा तो मेरा व्रत नहीं टूटेगा, ऐसी अज्ञानता है। दूसरे से काम कराने में अधिक हिंसा संभव है।

आठवें व्रत के अतिचार –

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्या-ऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि ।। ७-२७।।

अनर्थदंड विरति व्रत के पाँच अतिचार – कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगाधिकत्व।

(1) कंदर्प – राग सहित, हास्यपूर्वक, कामोत्तेजक असभ्य वाक्य बोलना। जिससे मोह (उस–उस इन्द्रिय के विषयोगपभोग की इच्छा) प्रगट हो, वैसे वचन नहीं बोलना चाहिए। श्रावक को जोर–जोर से हंसना भी उचित नहीं है।

(2) कौत्कुच्य [1] **–** रागसहित, हास्यपूर्वक कामोत्तेजक असभ्य वाक्य बोलने के साथ असभ्य कायिक चेष्टा करना। कंदर्प में हास्य और वचन का प्रयोग होता है जबकि कौत्कुच्य में हास्य और वचन प्रयोग के साथ कायिक प्रयोग भी होता है। इसलिए कंदर्प में कायिक चेष्टा हो तब कौत्कुच्य कहलाता है।

(3) मौखर्य – असंबद्ध बहुत बोल–बोल करना।

(4) असमीक्ष्याधिकरण [2] **–** असमीक्ष्य यानी सोचे बिना। अधिकरण यानी पाप का साधन। 'मुझे आवश्यक है या नहीं' इत्यादि सोचे बिना अनावश्यक शस्त्र आदि अधिकरण (पाप के साधन) तैयार रखना। (जिससे कोई मांगने आए तो देना पड़े और निरर्थक पापबंध हो)

(5) उपभोगाधिकत्व – स्वयं की आवश्यकता से अधिक वस्तु रखना। जैसे – तालाब वगैरह में स्नान करने जाए तब साबुन वगैरह वस्तु स्वयं की आवश्यकतानुसार ही ले जाना चाहिए अन्यथा अधिक देखकर अन्य स्वार्थी लोग स्वयं को आवश्यक न होने पर भी उसका उपयोग करेंगे तो निरर्थक पाप बंध होगा।

यहाँ कंदर्प आदि सहसा या अनाभोग से हो तो अतिचार है लेकिन यदि उद्देश्यपूर्वक करे तो व्रतभंग होता है। प्रथम तीन अतिचार प्रमादाचरण रूप अनर्थदंड के हैं। चौथा और पांचवां अतिचार क्रमश: पापकर्मोपदेश और

---

① धर्मरत्न प्रकरण वगैरह ग्रंथो में 'कोकुच्य' नाम है ।
② धर्मरत्न प्रकरण वगैरह ग्रंथो में 'संयुक्ताधिकरण' नाम है ।

हिंसकप्रदान रूप अनर्थदंड का है। उपयोग के अभाव से या सहसाकार आदि कारण से दुर्ध्यान करना अपध्यान रूप अनर्थदंड का अतिचार है। यह अतिचार यहाँ नहीं कहा है, स्वयं समझने योग्य है।

नौवें व्रत के अतिचार –

योगदुष्प्रणिधाना-ऽनादर-स्मृत्यनुपस्थापनानि ।।७-२८।।

सामायिक व्रत के पांच अतिचार – मन, वचन, काया इन तीन योगों का दुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान।

(1) मनोयोग दुष्प्रणिधान – निरर्थक या पापमय विचार करना।①

(2) वचनायोग दुष्प्रणिधान – निरर्थक या पापमय वचन बोलना।②

(3) काययोग दुष्प्रणिधान – निरर्थक या पापमय प्रवृत्ति करना।③

(4) अनादर– सामायिक में उत्साह का अभाव, निश्चित समय पर सामायिक नहीं लेना इत्यादि।

(5) स्मृत्यनुपस्थान – एकाग्रता न होने से सामायिक हुई या नहीं, वह भूल जाना इत्यादि।

मनोयोग दुष्प्रणिधान आदि सहसा, अनाभोग (अनुपयोग) से हो तो अतिचार हैं। यदि उद्देश्यपूर्वक किए जाए तो व्रतभंग हैं।

दसवें व्रत के अतिचार –

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गा-ऽऽदाननिक्षेप-संस्तारोपक्रमाणाऽनादर-स्मृत्यनुपस्थापनानि ।। ७-२९।।

पौषधोपवास (पौषध) व्रत के पाँच अतिचार – अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित–अपमार्जित आदाननिक्षेप, अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित संस्तारोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन।

(1) अप्रत्यवेक्षित– अप्रमार्जित उत्सर्ग – अप्रत्यवेक्षित यानी दृष्टि से बिल्कुल देखे बिना या बराबर देखे बिना। अप्रमार्जित यानी चरवले से बिल्कुल या बराबर प्रमार्जना किए बिना। उत्सर्ग यानी त्याग करना। भूमि को दृष्टि से देखे बिना या बराबर देखे बिना और चरवले से प्रमार्जना किए बिना या बराबर प्रमार्जना किए बिना मल–मूत्रादि का त्याग करना।

---

① इस अतिचार से बचने के लिए सामायिक में मन के दस दोषो का त्याग करना । मन के दस दोष इस प्रकार हैं **1. अविवेक**–सामायिक के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानने से इस क्रिया का क्या फल होगा इत्यादि फल संबंधी कुविकल्प करना । **2.यशोवांछा–** लोग मेरी प्रशंसा करेंगे ऐसी इच्छा से सामायिक करना ।**3. धनवांछा –** धन(प्रभावना की इच्छा से सामायिक करना । **4. गर्व–** सामायिक करके धर्मी होने का अहंकार करना । **5. भय–** यदि में सामायिक नही करुं तो वह मुझे डाँटेगा या निंदा करेगा, मैं निम्नकोटि का हो जाऊँगा इत्यादि भय से सामायिक करना । **6.निदान–** सामायिक के फल में इहलोक–परलोक के सुखों की इच्छा रखना। **7. संशय –** सामायिक का फल मिलेगा या नहीं । ऐसा संशय करना । **8. कषाय–** क्रोध से आवेश में आकर सामायिक करना या सामायिक में क्रोध करना । **9. अविनय–** विनय रहित सामायिक करना । **10. अबहुमान–** बहुमान या उत्साह बिना सामायिक करना ।

② इस अतिचार से बचने के लिए सामायिक में वचन के दस दोषो का त्याग करना । वचन के दस दोष इस प्रकार हैं । **1. कुवचन–**किसी का अपमान करने के लिए कुवचन बोलना **2. सहसाकार–** सहसा अयोग्य वचन बोलना **3. असदारोपण–** विचार किए बिना किसी पर झुठे आरोप लगाना **4. निरपेक्ष–** शास्त्रनिरपेक्ष वचन बोलना । **5. संक्षेप –** सूत्रों का संक्षेपकर बोलना । **6. क्लेश–** अन्य के साथ क्लेश कलह करना । **7. विकथा–** स्त्रीकथा आदि विकथा करना **8. हास्य–** हंसी मजाक करना । **9. अशुद्ध–** सूत्र अशुद्ध बोलना ।**10. गुणगुण–** स्वयं और अन्य समझ न सके ऐसे अस्पष्ट उच्चारपूर्वक सूत्र बोलना ।

③ इस अतिचार से बचने के लिए सामायिक में काया के 12 दोषों का त्याग करना । 12 दोष इस प्रकार हैं । **1.आसन–** पैर पर पैर चढाकर बैठना । **2.चलासन–** स्थिर नहीं बैठना, बार बार निष्प्रयोजन आसन से उठना **3. चलदृष्टि–** कार्योत्सर्ग में आंखे इधर उधर घुमाना । **4. सावद्यक्रिया–** स्वयं सावद्य (पाप) क्रिया करना या अन्य को पापक्रिया की आज्ञा करना । **5. आलंबन–** दीवाल, खंभे आदि का सहारा लेकर बैठना **6. आकुंचन प्रसारण–** हाथ पैर आदि अवयवों को फैलाना और संकोचना **7. आलस–** जंभाई लेना, उबासी लेना वगैरह आलस करना **8. मोटन–** उंगली की हड्डिया चटकाना । **9. मल–** शरीर का मैल निकालना । **10. विमासण–** कोई चिंता हो इस तरह गाल पर हाथ रखकर बैठना । **11. निद्रा–** झोंके खाना, सो जाना **12. वस्त्रसंकोचना–** ठंड के कारण वस्त्र से शरीर ढांकना ।

(2) अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान निक्षेप- आदान यानी लेना, निक्षेप यानी रखना। दृष्टि से देखे बिना या बराबर देखे बिना और चरवले से प्रमार्जना किए बिना या बराबर प्रमार्जना किए बिना वस्तु लेना और रखना।

(3) अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तारोपक्रमण - संस्तार यानी संथारा, आसन आदि सोने और बिछाने के उपकरण। उपक्रमण यानी बिछाना। दृष्टि से देखे बिना या बराबर देखे बिना तथा चरवले से प्रमार्जना किए बिना या बराबर प्रमार्जना किए बिना संथारा, आसन आदि बिछाना।

(4) अनादर - पौषध में उत्साह न रखना, अनादर से जैसे-तैसे पौषध पूर्ण करना।

(5) स्मृत्यनुपस्थापन - स्वयं पौषध में है, ऐसा भूल जाना, पौषध की विधि याद न रखना आदि।

ग्यारहवें व्रत के अतिचार

सचित्तसंबद्ध-संमिश्रा-ऽभिषव-दुष्पक्वाहाराः ।। ७-३०।।

उपभोग - परिभोग परिमाण व्रत के पांच अतिचार - सचित्त आहार, सचित्तसंबद्ध आहार, सचित्तसंमिश्र आहार, अभिषव आहार, दुष्पक्वाहार।

ये अतिचार जिसे सचित्त आहार का त्याग है, उसके लिए हैं-

(1) सचित्त आहार - सचित्त (अनार वगैरह) फल आदि का उपयोग करना। यहाँ सचित्त का त्याग होने से अनाभोग [①] से सचित्त आहार वापरे तो अतिचार। यदि जानबूझकर वापरे तो व्रतभंग होता है।

(2) सचित्तसंबद्ध आहार - सचित्त बीज युक्त बोर, आम वगैरह आहार वापरना। यहाँ बीज छोड़ देता है, मुंह में से बाहर निकालता है, इस दृष्टि से व्रतभंग नहीं है। किंतु व्रत के ध्येय जीवरक्षा का पालन नहीं होने से परमार्थ से व्रतभंग है। इस तरह आंशिक व्रतभंग और आंशिक व्रतपालन होने से अतिचार है।

(3) सचित्त संमिश्र आहार - थोड़ा भाग सचित्त हो और थोड़ा अचित हो ऐसा आहार करना। जैसे - तिल, खसखस आदि से युक्त लड्डू का आहार करना।

(4) अभिषव आहार - मद्य आदि मादक आहार करना तथा कीड़ी, कुंथवा आदि सूक्ष्म जीवों से युक्त आहार करना।

(5) दुष्पक्व आहार - बराबर नहीं पका हुआ होने से कुछ कच्चा और कुछ पक्का, ऐसी दुष्पक्व ककड़ी वगैरह का आहार करना।

धर्मरत्न प्रकरण आदि ग्रंथों में अंतिम तीन अतिचारो की जगह अपक्वौषधिभक्षणता, दुष्पक्वौषधिभक्षणता और तुच्छौषधिभक्षणता अतिचार है। वह इस प्रकार है-

(3) अपक्वौषधिभक्षणता - पकाए बिना आहार लेना। जैसे- सचित्त कण वाले आटे को सचित्त मानकर वापरे।

(4) दुष्पक्वौषधिभक्षणता - इसका अर्थ उपर्युक्त दुष्पक्व आहार जैसा है।

(5) तुच्छौषधिभक्षणता - जिससे तृप्ति न हो ऐसी पापड़, बोर आदि वस्तु वापरना।

प्रश्न - तुच्छ औषधि (जिससे तृप्ति न हो ऐसी वस्तु) यदि सचित्त वापरे तो उसका समावेश 'सचित्त आहार' में हो जाता है। यदि अचित्त वापरे तो अतिचार ही नहीं है।

① सचित्त का त्याग है, ऐसा भूल जाना अथवा यह वस्तु सचित्त है, ऐसा भूल जाना।

उत्तर – सत्य है, लेकिन अचित्त वापरने में व्रत के ध्येय का पालन न होने के कारण परमार्थ से व्रत की विराधना है। जो आराधक पाप से बहुत डरता हो और जिसने लोलुपता को कम की हो, वह श्रावक सचित्त का प्रत्याख्यान करता है। जिससे तृप्ति न हो, ऐसी वस्तु वापरने का कारण लोलुपता है क्योंकि उससे शरीर को पुष्टि नहीं मिलती। इसलिए श्रावक ऐसी वस्तु वापरता है तो उसमें लोलुपता अधिक है, ऐसा सिद्ध होता है। इससे शरीर को लाभ नहीं होता और पाप अधिक होता है। इस अपेक्षा से तुच्छ औषधि का भक्षण अतिचार है।

बारहवें व्रत के अतिचार –

सचित्तनिक्षेप-पिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालातिक्रमाः ।। ७-३१।।

अतिथि संविभाग व्रत के पांच अतिचार – सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य, कालातिक्रम।

(1) सचित्तनिक्षेप –नहीं देने की बुद्धि से देने योग्य वस्तु को गेहूं आदि सचित्त वस्तु के उपर रख देना।

(2) सचित्तपिधान –नहीं देने की बुद्धि से देने योग्य वस्तु के उपर सचित्त वस्तु ढंक देना।

(3) परव्यपदेश – नहीं देने की बुद्धि से देने योग्य वस्तु स्वयं की होने पर भी 'दूसरे की है' ऐसा कहना अथवा देने की बुद्धि से दूसरे की होने पर भी स्वयं की कहना।

(4) मात्सर्य – हृदय में गुस्सा कर के देना। 'सामान्य व्यक्ति भी देता है तो क्या मैं उससे कम हूँ?' ऐसी ईर्ष्या से देना।

(5) कालातिक्रम – भिक्षाकाल व्यतीत होने के बाद या भिक्षाकाल होने के पहले साधुओं को निमंत्रण करना।

संलेखना व्रत के अतिचार –

जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबंध-निदानकरणानि ।। ७-३२।।

संलेखना व्रत के पांच अतिचार – जीवित–आशंसा, मरण–आशंसा, मित्र–अनुराग, सुख–अनुबंध और निदानकरण।

(1) जीवित –आशंसा – आशंसा यानी इच्छा। जीवित यानी जीना। जीने की इच्छा जीवित–आशंसा। 'पूजा– सत्कार, सन्मान, प्रशंसा आदि बहुत मिलने से मैं खूब जीऊँ तो अच्छा' ऐसे जीने की इच्छा रखना।

(2) मरण–आशंसा – पूजा, सत्कार, सन्मान, कीर्ति, वैयावच्च आदि न होने से 'मैं जल्दी मर जाऊँ तो अच्छा' ऐसे मरने की इच्छा करना।

(3) मित्रानुराग – मित्र, पुत्र आदि स्वजनों पर ममत्व रखना।

(4) सुखानुबंध – पूर्व में अनुभव किए हुए सुखों का स्मरण करना।

(5) निदानकरण – तप–संयम के प्रभाव से मैं परलोक में चक्रवर्ती, वासुदेव, मांडलिक राजा, बलवान या रूपवान बनूँ इत्यादि परलोक के सुख की इच्छा रखना।

दान की व्याख्या –

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।।७-३३।।

स्व और पर [1] के उपकार के लिए स्वयं की वस्तु पात्र को देना दान है।

स्व–उपकार दो प्रकार का है – प्रधान और आनुषंगिक। प्रधान यानी मुख्य। कर्म निर्जरा द्वारा आत्मा की संसार से मुक्ति होना प्रधान स्व–उपकार है। आनुषंगिक स्व–उपकार यानी मुख्य उपकार के साथ–साथ प्रयास बिना होने वाला उपकार। आनुषंगिक स्व उपकार के दो भेद हैं– (1) इहलोक संबंधी (2) परलोकसंबंधी। संतोष, वैभव आदि की प्राप्ति इहलोक संबंधी अनुषांगिक स्व–उपकार है अर्थात् दान देने से दाता की आत्मा में संतोष गुण प्रगट होता है, उसके साथ उदारता आदि अनेक गुण प्रगट होते हैं तथा रागादि दोष कम होते हैं। तथाविध विशिष्ट पुण्योदय से बाह्य वैभव की भी प्राप्ति होती है। परलोक में विशिष्ट प्रकार के स्वर्गादि सुख की प्राप्ति परलोक संबंधी आनुषंगिक स्व–उपकार है।

इस प्रकार पर उपकार के भी दो भेद हैं– प्रधान और आनुषंगिक। कर्म निर्जरा द्वारा आत्मा की संसार से मुक्ति प्रधान पर–उपकार है। आनुषंगिक पर–उपकार दो प्रकार से हैं – (1) इहलोक संबंधी (2) परलोक संबंधी। संयम का पालन या मोक्षमार्ग की आराधना इहलोक संबंधी आनुषंगिक पर–उपकार है। विशिष्ट प्रकार के स्वर्गादि सुख की प्राप्ति परलोक संबंधी आनुषंगिक पर–उपकार है।

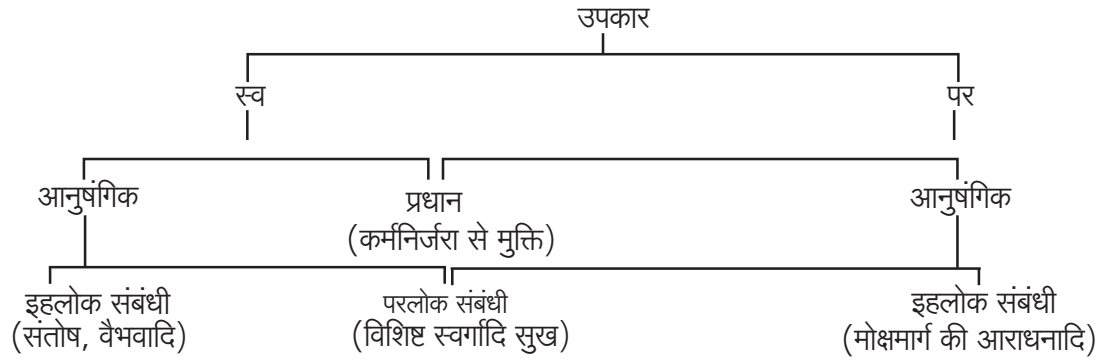

दान की क्रिया समान होने पर भी फल में भेद –

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्रविशेषाच्च तद्विशेषः ।।७-३४।।

विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दानधर्म में (अर्थात् फल में) भेद होता है। (दानधर्म की विशेषता से उसके फल में भी विशेषता होती है।)

(1) विधि – देश [2], काल श्रद्धा, सत्कार और क्रमपूर्वक कल्पनीय वस्तु देना इत्यादि [3] विधि है।

(2) द्रव्य – अन्न, पान, वस्त्र, पात्र आदि श्रेष्ठ द्रव्यों का दान करना चाहिए।

---

① **आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य...** (प्रस्तुत सूत्र का भाष्य)।
② देश–कालादि के वर्णन के लिए देखें सूत्र 7–16 में अतिथि संविभाग व्रत का वर्णन।
③ स्वयं सहर्ष दान करना, यह भी विधि है। इत्यादि शब्द से इस विधि का निर्देश किया है।

(3) दाता – दाता चार गुणों से युक्त होना चाहिए –

(i) प्रसन्नचित्त – साधु स्वयं के घर आए तब 'मैं पुण्यशाली हूँ, जिससे तपस्वी मेरे घर पधारते हैं' ऐसा सोचकर प्रसन्न हो। किंतु 'ये तो रोज मेरे घर आते हैं, बार–बार आते हैं' ऐसा सोचकर ऊब न जाए।

(ii) आदर – बढते हुए आनन्द से 'पधारो! पधारो! इसका जोग है, इसका लाभ दीजिए' ऐसे आदरपूर्वक दान दे।

(iii) हर्ष – साधु को देखकर अथवा साधु किसी वस्तु की याचना करते तब हर्षित हो। वस्तु के दान से पहले हर्षित हो तथा दान के बाद अनुमोदना करे। इस तरह दान के पहले, दान देते समय और दान के बाद, तीनों बार हर्षित हो।

(iv) शुभाशय – स्वयं की आत्मा का संसार से निस्तार करने के लिए दान दे।

तथा दाता चार दोषों से रहित होना चाहिए–

(i) विषाद का अभाव – दान देने के बाद 'अरे! मैंने कहाँ दान दे दिया, अधिक दे दिया! ऐसा पश्चाताप न करे। परंतु 'व्रती (तपस्वी) के उपयोग में आए वही वस्तु सफल है, मेरी वस्तु तपस्वी के पात्र में गई मेरा अहोभाग्य है!' ऐसी अनुमोदना करे।[①]

(ii) संसार सुख की इच्छा का अभाव – दान देकर उसके फल में किसी भी प्रकार के संसार सुख की इच्छा न रखे।[②]

(iii) माया का अभाव – दान देने में किसी भी प्रकार की माया न करे, सरलता से दान करे।

(iv) निदान का अभाव – दान के फल रूप में परलोक में स्वर्गादि सुखों की याचना न करे।

सुख की इच्छा का अभाव और निदान का अभाव, दोनों में 'संसार सुख की इच्छा का अभाव' अर्थ होने से सामान्य अर्थ समान है। तथापि विशेष दोनों के अर्थ में थोड़ा फर्क है। संसार–सुख की इच्छा के अभाव में 'वर्तमान जीवन (इहलोक) में संसार सुख की इच्छा न रखे' ऐसा अर्थ है और निदान के अभाव में 'परलोक में संसार सुख की इच्छा न रखे' ऐसा अर्थ है।

(4) पात्र – सम्यग्दर्शन आदि गुणों से युक्त सर्वविरत्तिधर साधु और देशविरतिधर श्रावक सुपात्र हैं।

जितने अंश में विधि आदि बराबर होते हैं, उतने अंश में दान से लाभ अधिक होता है। जितने अंश में विधि आदि में न्यनूता होती है, उतने अंश में लाभ न्यून होता है।

***

① उपर्युक्त चार गुणों में से हर्ष गुण आता है तब विषाद दोष जाता है।
② उपर्युक्त चार गुणों में से शुभाशय गुण आए तो संसार सुख की इच्छा और निदान दोष जाते हैं।

अष्टम अध्याय

यहाँ तक सात तत्त्वों में जीव–अजीव और आस्रव, इन तीन तत्त्वों का वर्णन किया। अब आठवें अध्याय में बंध तत्व का वर्णन करते हैं।

कर्मबंध के हेतु –

मिथ्यादर्शना-ऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ।। ८-१।।

कर्मबंध के पांच हेतु (कारण) हैं– मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग।

बंध यानी कार्मणवर्गणा के पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ क्षीर–नीर की तरह गाढ़ संबंध।

(1) मिथ्यादर्शन – मिथ्या दर्शन यानी तत्व के प्रति अश्रद्धा। मिथ्यादर्शन, मिथ्यात्व, अश्रद्धा आदि शब्द एकार्थक हैं। मिथ्यादर्शन के पांच भेद हैं –

(i) आभिग्रहिक मिथ्यात्व – अभिग्रह यानी आग्रह, कदाग्रह। विपरीत बोध से अतात्त्विक बौद्धादि किसी एक दर्शन पर 'यही सत्य है' ऐसे कदाग्रह युक्त जीव की तत्व के प्रति जो अश्रद्धा है, वह आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। इसमें विपरीत बोध और कदाग्रह ही मुख्य भूमिका में है।

(ii) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व – अनाभिग्रहिक यानी कदाग्रह रहित। 'यही दर्शन सत्य है' ऐसे कदाग्रह से रहित होकर 'सभी दर्शन सत्य है' ऐसे सभी दर्शनों पर श्रद्धा रखने वाले जीव की तत्त्व के प्रति जो अश्रद्धा है, वह अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। इसमें यथार्थ बोध का अभाव तथा सरलता मुख्य कारण है।

(iii) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व – अभिनिवेश यानी कदाग्रह। यथावस्थित तत्वों को जानने पर भी अहंकार आदि कारण से असत्य सिद्धांत पर कदाग्रह रखने वाले जीव की तत्त्व के प्रति जो अश्रद्धा है, वह आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। इसमें अहंकार की प्रधानता है। असत्य सिद्धांत में कदाग्रह (अभिनिवेश) अहंकार के कारण है।

यद्यपि अभिग्रह और अभिनिवेश, दोनों का अर्थ कदाग्रह है तथापि दोनों कदाग्रह के हेतु में भेद होने से अर्थ का भेद है। आभिग्रहिक मिथ्यात्व में विपरीत बोध से कदाग्रह है जबकि आभिनिवेशिक मिथ्यात्व में हृदय में सत्य वास्तविकता जानने पर भी 'मैंने स्वीकारा हुआ या मैंने कहा हुआ कैसे बदलूँ?' इत्यादि अहंकार के कारण स्वयं की असत्य मान्यता को छोड़ता नहीं है। दूसरा, आभिग्रहिक में सभी तत्त्वों के प्रति विपरीत मान्यता होती है, जबकि आभिनिवेशिक में किसी एकाध तत्त्वविषयक अथवा किसी एक विषय में विपरीत मान्यता होती है। आभिग्रहिक मिथ्यात्व जैन दर्शन के अलावा किसी एक दर्शन (बौद्ध आदि) के कदाग्रह वाले को होता है जबकि आभिनिवेशिक मिथ्यात्व जैन दर्शन को प्राप्त करने वाले को ही होता है। जैसे–जमालि।

(iv) सांशयिक मिथ्यात्व – 'सर्वज्ञ भगवंत द्वारा कहे गए जीवादि तत्त्व सत्य होंगे या नहीं?' ऐसी शंका सांशयिक मिथ्यात्व है। यहाँ सर्वज्ञ भगवंत पर अविश्वास मुख्य कारण है। सर्वज्ञ भगवंत पर पूर्ण विश्वास न होने से ही उनके द्वारा कहे गए वचनों की प्रामाणिकता में संशय होता है और उससे उनके द्वारा प्ररूपित जीवादि तत्त्व सत्य होंगे या नहीं ऐसी शंका होती है।

सांशयिक मिथ्यात्व और शंका अतिचार में भेद –

प्रश्न – सांशयिक मिथ्यात्व और शंका अतिचार में क्या भेद है?

उत्तर – 'सर्वज्ञ भगवंत द्वारा प्रणीत जीवादि तत्त्व सत्य होंगे या नहीं?' ऐसी शंका सांशयिक मिथ्यात्व है। स्वयं की मतिमंदता से आगमोक्त पदार्थ नहीं समझ पाने के कारण 'यह वस्तु इस स्वरूप में होगी या नहीं' इत्यादि शंका अतिचार है।

इन व्याख्याओं से स्पष्ट है कि सांशयिक मिथ्यात्व में जिन वचन की प्रामाणिकता में शंका है और शंका अतिचार में शास्त्रोक्त पदार्थ विषयक शंका है।

यदि आत्मा सावधान न रहे तो शंका अतिचार होने के बाद सांशयिक मिथ्यात्व उत्पन्न हो जाता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन वाले जीव को (श्रावक या साधु को) मिथ्यात्व मोहनीय का प्रदेशोदय होने से कभी सूक्ष्म पदार्थ विषयक शंका हो और शंका अतिचार लग जाए, यह संभवित है। लेकिन बाद में तुरंत 'तमेव सच्चं नि:शंकं जं जिणेहिं पवेइअं = जिन कथित तत्त्व नि:शंक सत्य ही है' इस आगम वचन को यादकर शंका दूर करना चाहिए। यदि यह शंका दूर नहीं की जाए तो उससे सांशयिक मिथ्यात्व आने की पूरी संभावना है।

पहले शंका अतिचार होता है, फिर सावधानी न रखें तो जिनवचन की प्रामाणिकता में संशय होता है और उससे सांशयिक मिथ्यात्व उत्पन्न होता है। शंका अतिचार चौथे गुणस्थानक में होता है और सांशयिक मिथ्यात्व पहले गुणस्थानक में होता है। इस तरह शंका अतिचार और सांशयिक मिथ्यात्व में भेद है।

(V) अनाभोगिक मिथ्यात्व – अनाभोग यानी अज्ञानता। अज्ञानता के कारण तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा या विपरीत श्रद्धा अनाभोगक मिथ्यात्व है। यहाँ समझ शक्ति (बोध) का अभाव मुख्य कारण है। यह मिथ्यात्व एकेंद्रिय आदि तथा किसी एक विषय में अनाभोग के कारण विपरीत श्रद्धा रखने वाले साधु या श्रावक को होता है। अनाभोग के कारण विपरीत श्रद्धा वाले को कोई यदि समझाए तो वह स्वयं की भूल सुधार लेता है क्योंकि वह आग्रह रहित होता है। अन्य द्वारा समझाने पर भी समझाने वाले के तर्क उसे सत्य नहीं लगने पर वह विपरीत श्रद्धा रखे, ऐसा हो सकता है लेकिन समझाने वाले के तर्क सत्य ज्ञात होने पर वह स्वयं की गलती अवश्य सुधार लता है।

यहाँ अश्रद्धा के दो अर्थ हैं – (1) विपरीत श्रद्धा और (2) श्रद्धा का अभाव। इनमें प्रथम तीन मिथ्यात्व में विपरीत श्रद्धा रूप अश्रद्धा है। चौथे मिथ्यात्व में मिश्रभाव है अर्थात् श्रद्धा का बिल्कुल अभाव नहीं है लेकिन पूर्ण श्रद्धा भी नहीं है। इसमें विपरीत श्रद्धा का संपूर्ण अभाव है। पांचवें मिथ्यात्व में एकेन्द्रियादि (जिन्हें कोई धर्म या दर्शन प्राप्त नहीं हुआ ऐसे) जीवों को श्रद्धा का अभाव रूप मिथ्यात्व है। कदाग्रह रहित साधु तथा श्रावक को (यदि मिथ्यात्व हो तो) विपरीत श्रद्धा रूप मिथ्यात्व होता है।[①]

(2) अविरति – विरति का अभाव अविरति है। हिंसा आदि पापों से निवृत्ति विरति है। अत: हिंसादि पापों से अनिवृत्ति अविरति है।

(3) प्रमाद – भूल जाना, धार्मिक अनुष्ठानों में उत्साह का अभाव, आर्तध्यान, रौद्रध्यान (अशुभ विचार) तथा इससे होने वाली प्रवृत्ति वगैरह प्रमाद है। शास्त्रों में मद्य (मद अथवा मादक आहार), (इन्द्रिय के स्पर्शादि पांच) विषय, (क्रोधादि चार) कषाय, निद्रा और (स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा ये चार) विकथा;

① तत्वार्थ सूत्र के भाष्य में मिथ्यात्व के संक्षेप में दो ही भेद बताए हैं– अभिगृहीत और अनभिगृहीत। अभिगृहीत यानी स्वीकृत, स्वीकारा हुआ। मति अज्ञान आदि के कारण किसी एक असत्य दर्शन का 'यही सत्य है' ऐसा स्वीकार अभिगृहीत मिथ्यात्व है। इसके अलावा अन्य मिथ्यात्व अनभिगृहीत मिथ्यात्व है। जिन्होंने किसी भी दर्शन का स्वीकार नहीं किया है, वैसे एकेन्द्रिय आदि जीवों को अनभिगृहीत मिथ्यात्व होता है।

इन पांच प्रकार का प्रमाद बताया गया है।[①] अन्य प्रकार से प्रमाद आठ प्रकार [②] का भी है– अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, मतिभ्रंश (भूलना), धर्म विषयक अनादर और योगों का दुष्प्रणिधान।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रमाद में कषायों का समावेश होता है। कषाय करना प्रमाद ही है। अत: इस सूत्र में कषाय का अलग निर्देश न करे और प्रमाद का ही निर्देश करे अथवा कषाय का निर्देश करे और प्रमाद का निर्देश न करे तो भी चल सकता था।[③] तो भी यहाँ दोनों का अलग निर्देश करने का कारण यह है कि प्रमाद में कषाय रूप प्रमाद मुख्य है। अन्य सभी प्रमाद कषाय के आधार ही होते हैं। इस तरह कषाय की प्रधानता बनाने के लिए कषाय का अलग निर्देश किया है।

यहाँ सूक्ष्मदृष्टि से विचारें तो मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद इन तीनों का कषाय में समावेश हो जाता है इसलिए कषाय और योग दो का ही निर्देश करने पर भी चल सकता है।[4] तथापि मिथ्यात्वादि तीन कषाय के कार्य हैं। कषाय मिथ्यात्वादि तीन का कारण है। यह बताने के लिए यहाँ मिथ्यात्वादि का पृथक निर्देश किया है। मिथ्यात्व अनंतानुबंधी कषाय का कार्य है। इसलिए अनंतानुबंधी कषाय के क्षयोपशमादि से मिथ्यात्व दूर होता है। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानीय और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम आदि से अविरति दूर होती है। तत्पश्चात् संज्वलन कषाय दूर होने पर प्रमाद दूर होता है। इस तरह कषाय के कारण जीव कौन–कौन से पाप करता है, कैसी–कैसी प्रवृत्ति करता है, कैसे आत्मपरिणाम होते हैं– यह स्पष्ट करने के लिए मिथ्यात्वादि का अलग निर्देश किया है।

(4) कषाय – चार कषाय हैं – क्रोध, मान, माया और लोभ। कषायों के स्वरूप का विशेष वर्णन सूत्र 8–10 में किया जाएगा।

(5) योग – तीन प्रकार के योग हैं– मन, वचन, काया। योग का विशेष वर्णन सूत्र 6–1 में आ चुका है।

प्रश्न – बंध के जो कारण हैं, वही आस्रव के कारण हैं क्योंकि अध्याय–6 में सामान्य से योगों को आस्रव का कारण कहा है। यहाँ भी सामान्य से बंध में योगों को ही कारण कहा है। यद्यपि मिथ्यात्वादि पांच कारण कहे हैं, तो भी मिथ्यात्वादि चार कारण मानसिक परिणाम रूप होने से उनका मनोयोग में समावेश हो जाता है। इसलिए अर्थापत्ति से योग ही कर्मबंध का कारण है, यह सिद्ध होता है। तथा विशेष से आस्रव के कारण चार हैं – अव्रत, कषाय, इन्द्रिय, क्रिया। आस्रव के चार कारण मिथ्यात्वादि बंध के पांच कारणों से भिन्न नहीं है। मिथ्यात्व, प्रमाद और योग का क्रिया में समावेश हो जाता है। अविरति का अव्रत में समावेश हो जाता है। कषाय का दोनों में निर्देश है। इस तरह आस्रव और बंध के कारण एक ही होने पर भी 'आस्रव के कारण ही बंध के कारण हैं' ऐसा न कहकर बंध के कारण अलग क्यों कहे?

उत्तर – बात सत्य है। परमार्थ से जो आस्रव के कारण हैं, वे ही बंध के कारण हैं। इसलिए ही जब पांच तत्त्वों की विवक्षा की जाती है, तब आस्रव तत्त्व का बंध तत्त्व में समावेश किया जाता है। तो भी दोनों के हेतु अलग कहने का कारण यह है कि सामान्य व्यक्ति (जिसकी बुद्धि अभी परिपक्व नहीं है) शीघ्रता से समझ सके। यहाँ

---

① मज्जं विषयकषाया निद्दा विकहा य पंचमी भणिया।
एए पंच पमाया जीवं पाडंति संसारे।।

② अन्नाणं संसओ चेव मिच्छानाणं तहेव य।
रागो दोसो मइब्भंसो धम्मंमि य अणायरो।।
जोगाणं दुप्पणिहाणं पमाओ अट्ठहा भवे।
संसारुत्तारकामेणं सव्वहा वज्जिअव्वओ।।

③ इस कारण से ही कर्मग्रंथ और पंचसंग्रह वगैरह ग्रंथों में बंध के हेतु में प्रमाद के अलावा अन्य चार का निर्देश है।

④ इस कारण से ही कर्मप्रकृति (कम्मपयडी) वगैरह ग्रंथों में कषाय और योग, दो को ही कर्मबंध का कारण कहा है।

आस्रव और बंध, दोनों को अलग बताया है तथा दोनों कार्यरूप हैं। इस प्रश्न के समाधान के लिए दोनों के कारण अलग बताए हैं।

आस्रव के कारण अव्रत वगैरह के क्रम में कोई खास हेतु नहीं है जबकि बंध के कारण मिथ्यात्वादि के क्रम में खास हेतु है। मिथ्यात्वादि हेतु का क्रम आध्यात्मिक विकास के दृष्टिकोण से कहा गया है। मिथ्यात्वादि हेतु बताने के द्वारा आध्यात्मिक विकास कैसे होता है, वह बताया है। जैसे–जैसे हेतुओं का अभाव होता है वैसे–वैसे साधक क्रमशः अधिक–अधिक विकास करता है। साधक को सर्वप्रथम मिथ्यात्व का नाश करना चाहिए। तत्पश्चात् क्रमशः अवरति वगैरह का नाश होता है। अतः बादवाले हेतु विद्यमान होते हैं। तब पहले वाले बंधहेतु हो भी सकते हैं या नहीं भी हो लेकिन पहले वाले बंधहेतु विद्यमान हो तब बाद वाले हेतु अवश्य होते हैं।

सारांश – सूक्ष्मदृष्टि से बंध के दो ही कारण हैं– कषाय और योग। तथा आस्रव और बंध के कारण समान हैं तथापि सामान्य अभ्यासी की सुगमता के लिए यहाँ बंध के कारण पाँच बताए हैं तथा आस्रव बंध के हेतु अलग बताए हैं। आस्रव के कारणों के क्रम में कोई खास कारण नहीं है। बंध के कारणों का क्रम नाश की अपेक्षा से है।

बंध की व्याख्या–

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ॥८-२॥

स बन्धः ॥८-३॥

कषाय के कारण जीव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है । ग्रहण किए हुए पुद्गलो को आत्मा में दूध–पानी की तरह एकमेक करता है । यही कर्म का बंध है । अर्थात् कार्मणवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ क्षीरनीरवत् या लोहाग्निवत् एकमेक संबंध ही बंध है ।

यद्यपि कषाय बंध के हेतु हैं, ऐसा प्रथम सूत्र में बता दिया है तो भी बंध में कषाय की प्रधानता बनाने के लिए यहाँ कषाय का उल्लेख किया है । सूत्र 8–4 में निर्दिष्ट चार प्रकार के बंध में संबंध और स्थितिबंध मुख्य है । उनमें भी संबंध अधिक मुख्य है । संबंध और स्थितिबंध कषाय की सहायता से होते हैं । इसलिए बंध के हेतु में कषाय की प्रधानता है ।

बंध के भेद–

प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशास्तद्विधयः ॥८-४॥

जब कर्म के अणुओं का आत्मा के साथ संबंध होता है, तब स्वभाव, स्थिति, फल देने की शक्ति और कर्म के अणुओं का विभाजन, ये चार बातें निश्चित होती हैं। इन चार को क्रमशः प्रकृति, स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध कहा जाता है।

(1) प्रकृतिबंध – प्रकृति यानी स्वभाव। कर्म के जिन अणुओं का आत्मा के साथ संबंध हुआ, उन अणुओं में कौन–कौन से अणु आत्मा के किस गुण को नाश करेंगे? आत्मा पर कैसी असर करेंगे? ऐसे उनके स्वभाव का निर्णय होता है। कर्म–परमाणुओं के स्वभाव निर्णय को प्रकृतिबंध कहा जाता है। आत्मा के अनंत गुण हैं। उनमें मुख्य गुण अनंतज्ञान वगैरह आठ हैं। कर्माणुओं का आत्मा के साथ संबंध होता है अर्थात् प्रदेश बंध होता है, तब बांधे हुए कर्माणुओं में से कुछ अणुओं में ज्ञानगुण का अभिभव करने का स्वभाव नियत होता है। कुछ अणुओं में आत्मा के अव्याबाध सुख को रोकर बाह्य सुख या दुःख देने का स्वभाव निश्चित होता है। कुछ कर्माणुओं

में चारित्रगुण का घात करने का स्वभाव नियत होता है। इस प्रकार अन्य गुणों में भी समझना। कर्माणुओं के इस स्वभाव के आश्रय से आत्मा के साथ बंधे हुए कर्माणुओं के मूल प्रकार आठ होते हैं और उत्तर प्रकार 120 होते हैं। अत: मूलप्रकृतिबंध आठ प्रकार का और उत्तर प्रकृतिबंध 120 प्रकार का है।①

(2) स्थितिबंध – जब कर्माणुओं का आत्मा के साथ संबंध होता है, तब जैसे उन–उन कर्माणुओं में आत्मा के उस–उस गुणों का आवरण करना वगैरह स्वभाव नियत होता है, वैसे उन–उन कर्माणुओं में वह स्वभाव कब तक रहेगा अर्थात् वे कर्म आत्मा को कितने समय तक असर करेंगे, यह भी उसी समय निश्चित होता है। कर्माणुओं में आत्मा को असर पहुंचाने के काल का निर्णय ही स्थितिबंध है।

कर्मों की स्थिति के मुख्य दो भेद हैं – जघन्य और उत्कृष्ट। अधिकतम स्थिति (जिससे अधिक स्थिति न हो) वह उत्कृष्ट स्थिति तथा न्यूनतम स्थिति (जिससे कम स्थिति न हो वह जघन्य स्थिति कहलाती है।)②

(3) रसबंध – उस–उस कर्म में आत्मा के उस– उस गुण की हानि करने का स्वभाव होता है लेकिन वह स्वभाव हरेक समय समान नहीं होता, न्यनू–अधिक भी होता है। जैस– मद्य में नशा करने का स्वभाव है लेकिन हर प्रकार का मद्य एक जैसा नशा नहीं करता। एक प्रकार का मद्य अतिशय नशा करता है तो दूसरे प्रकार का मद्य उससे कम नशा करता है, कुछ प्रकार का मद्य उससे भी कम नशा करता है। इस तरह कर्मों के आत्मगुण को ढाँकने के स्वभाव में भी अंतर होता है। अर्थात् कर्मों के (आत्मगुण को ढाँकने रूप) विपाक में (फल में) भेद होता है। वह–वह कर्म कितने अंश में स्वयं का विपाक (फल) देगा, यह भी प्रदेशबंध के समय ही निश्चित हो जाता है। वह–वह कर्म कितने अंश में स्वयं का फल देगा, इस निर्णय को रसबंध कहा जाता है। जैस– ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण का घात करता है लेकिन हम देखते हैं कि हरेक जीव में ज्ञानगुण का अभिभव समानता से नहीं है। कोई व्यक्ति किसी विषय को समझने के लिए अतिप्रयत्न करने पर भी स्थूल रूप से समझता है जबकि अन्य व्यक्ति उसी विषय को अल्पप्रयत्न द्वारा सूक्ष्मदृष्टि से समझ जाता है। तीसरा व्यक्ति उसी विषय का प्रयत्न बिना ही अत्यंत सूक्ष्मदृष्टि से बोध कर लेता है। इस प्रकार बोध में दिखने वाला भेद रसबंध के कारण है। प्रदेशबंध के समय कर्मों में रस उत्पन्न होता है। उस रस के भेद के अनुसार कर्म के स्वभाव में भेद होता है।

रस के चार भेद – कर्माणुओं में उत्पन्न होने वाले रस के असंख्य भेद हैं। तो भी स्थूलदृष्टि से उसके चार भेद हैं। वह इस प्रकार– एकस्थानिक रस, द्विस्थानिक रस, त्रिस्थानिक रस, चतु:स्थानिक रस। इनमें सामान्य मंदरस को एकस्थानिक रस कहा जाता है। इस रस से आत्मा के गुणों का अभिभव अल्प अंश में होता है। एकस्थानिक रस से अधिक तीव्र रस को द्विस्थानिक रस कहा जाता है। उससे भी अधिक तीव्र रस को त्रिस्थानिक रस कहा जाता है। त्रिस्थानिक रस से अधिक तीव्र रस को चतु:स्थानिक रस कहा जाता है। रस का यह भेद नीम और गन्ने के रस के भेद से समझा जा सकता है। नीम या गन्ने का रस स्वाभाविक हो तब एकस्थानिक रस होता है। स्वाभाविक रस को इतना उकाला जाए कि उसका आधा ही बाकी रहे, तब वह रस द्विस्थानिक बनता है। स्वाभाविक रस को इतना उकाला जाए कि उसका $^1/_3$ भाग ही शेष बचे, $^2/_3$ भाग जल जाए तब वह बचा हुआ $^1/_3$ भाग का रस त्रिस्थानिक रस होता है। स्वाभाविक रस को इतना उकाला जाए कि उसका ¼ भाग ही शेष रहे, ¾ भाग जल जाए तब वह रस चतु:स्थानिक होता है। इस प्रकार कर्म के रस में भी जानना।③

① मूल और उत्तर प्रकृति का स्वरूप आगे वाले सूत्र से प्रारंभ होगा।

② मूल आठ कर्मों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति सूत्र 8–15 से 8–21 तक ग्रंथकार स्वयं कहेंगे।

③ जैसे गन्ने का रस सुख देता है वैसे शुभकर्म भी सुख देता है तथा जैसे नीम का रस दु:ख देता है वैसे अशुभ कर्म भी दु:ख देता है। अत: शास्त्र में शुभकर्म के रस को गन्ने के रस और अशुभकर्म के रस को नीम के रस की उपमा दी है। गन्ने के रस को जैसे–जैसे अधिक उकालो, वैसे–वैसे अधिक मधुर होता है। नीम के रस को जैसे–जैसे अधिक उकालो वैसे–वैसे वह अधिक कडवा होता है। इसी प्रकार शुभ प्रकृति में जितना अधिक तीव्र रस, उसका शुभ फल उतना अधिक मिलता है और अशुभ प्रकृति में जितना अधिक तीव्र रस, उसका अशुभ फल उतना अधिक प्राप्त होता है। उदा. दो व्यक्तियों को असातावेदनीय से दु:ख होता है लेकिन एक को अधिक

(4) प्रदेशबंध – कर्माणुओं का आत्मा के साथ संबंध होता है, तब उन कर्माणुओं का आठों प्रकृति में न्यूनाधिक विभाजन होता है। वह इस प्रकार – सबसे कम कर्माणु आयुष्य कर्म के भाग में आते हैं। उससे विशेषाधिक (किंतु परस्पर समान) कर्माणु ज्ञानावरणीय–दर्शनावरणीय–अंतराय के भाग में जाते हैं। उससे भी विशेषाधिक परमाणु मोहनीय कर्म के भाग में जाते हैं। उससे भी अधिक विशेषाधिक (किंतु परस्पर समान) कर्माणु नाम–गोत्र कर्म के स्वभाव को ग्रहण करते हैं तथा सबसे अधिक कर्माणु वेदनीय कर्म के स्वभाव का धारण करते हैं । आठ प्रकृतियों में कर्मपरमाणुओं का विभाजन ही प्रदेशबंध है।

मोदक का दृष्टांत – कर्मबंध के प्रकृतिबंध आदि चार भेदों को शास्त्र में मोदक के दृष्टांत से समझाया गया है। भिन्न–भिन्न प्रकार के मोदक में भिन्न–भिन्न स्वभाव होता है। जो लड्डू वायु–विनाशक द्रव्य डालकर बनाए हो, उनका वायु शांत करने का स्वभाव होता है। जो मोदक पित्तनाशक द्रव्यों से बनाए गए हो, उनका पित्तशामक स्वभाव होता है। कफनाशक द्रव्यों से बनाए लड्डू में कफनाशक स्वभाव होता है। इसी प्रकार भिन्न प्रकार के मोदकों में किसी भी प्रकार के विकार बिना (खराब हुए बिना) रहने की स्थिति भी अलग–अलग होती है। किसी प्रकार के मोदक एक ही दिन खाद्य (खाने योग्य) रहते हैं, दूसरे दिन उसमें विकार होने से अखाद्य हो जाते हैं। जबकि कुछ लड्डू 8 दिन, 15 दिन या महीने तक भी खाद्य रहते हैं। भिन्न–भिन्न मोदकों में मधुरता या स्निग्धता का रस भी न्यूनाधिक होता है। जिन लड्डू में मिठास अधिक डाली होती है, वे अधिक मधुर होते हैं। अल्प मिठास से बने हुए लड्डू कम मीठे होते हैं। इसी प्रकार अधिक घी डालकर बनाए हुए लड्डू में स्निग्धता अधिक होती है। अल्प घृत से बनाए हुए लड्डू में स्निग्धता अल्प होती है। तथा अधिक मेथी डालकर बनाए हुए मोदक अधिक कड़वे और अल्प मेथी से बनाए हुए मोदक अल्प कड़वे होते हैं। भिन्न–भिन्न मोदक में प्रदेशों का प्रमाण भी न्यूनाधिक होता है। कोई मोदक 50 ग्राम, कोई 100 ग्राम तो कोई मोदक 200 ग्राम का होता है।

इसी प्रकार प्रस्तुत में किसी कर्म में ज्ञान के आवरण का स्वभाव, किसी कर्म में दर्शन के अभिभव का स्वभाव.... इस तरह भिन्न–भिन्न कर्मों का भिन्न–भिन्न स्वभाव है। किसी कर्म की तीस कोड़ा–कोड़ी सागरोपम स्थिति, किसी की बीस कोड़ा–कोड़ी सागरोपम स्थिति.... इस तरह कर्म में अलग–अलग स्थिति होती है। किसी में एकस्थानिक रस होता है तो कोई कर्म द्विस्थानिक रस वाला होता है.... इस तरह विभिन्न कर्मों में विभिन्न रस होते हैं। किसी कर्म में अल्पकर्माणु, किसी में उससे अधिक तो कोई कर्म उससे भी अधिक कर्माणु वाला होता है। इस तरह भिन्न–भिन्न कर्मों में न्यूनाधिक कर्माणु होते हैं।

प्रकृतिबंध के मूल भेद–

आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीया-ऽऽयुष्क-नाम-गोत्रा-ऽन्तराया: ॥८-५॥

आद्य =प्रकृतिबंध के आठ भेद हैं – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अंतराय कर्म।

जो कर्माणु आत्मा के ज्ञानगुण का घात करते हैं, वे कर्माणु ज्ञानावरणीय कर्म हैं। जो कर्माणु आत्मा के दर्शन गुण का अभिभव करते हैं, वे दर्शनावरणीय कर्म हैं। जो कर्माणु आत्मा के अव्याबाध सुख का निरोध कर बाह्य सुख–दु:ख देते हैं, वे कर्माणु वेदनीय कर्म हैं। आत्मा के स्वभाव में रमणता (या स्थिरता) रूप चारित्र गुण का घात करने वाले कर्माणु मोहनीय कर्म हैं। अक्षयस्थिति गुण को रोकर जन्म–मरण का अनुभव देने वाले कर्माणु आयुष्य

दु:ख का अनुभव होता है जबकि अन्य को अल्प होता है। इसका कारण रसबंध में भिन्नता है।

कर्म हैं। अरूपिपन का नाश कर मनुष्यादि पर्यायों का अनुभव कराने वाले कर्माणु नाम कर्म हैं। अगुरुलघुपन को दबाकर उच्च–नीच कुल का व्यवहार कराने वाला कर्म गोत्र कर्म है। जिन कर्माणुओं से अनंतवीर्य गुण का घात होता है, वे कर्माणु अंतराय कर्म हैं।

आठ कर्मों की आत्मा पर असर – इन आठ प्रकृतियों की आत्मा के गुणों पर असर होने से आत्मा की कैसी स्थिति होती है, वह देखते हैं। आत्मा के ज्ञान–दर्शन गुण को समझने के लिए हमें यह समझने की आवश्यकता है कि प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष स्वरूप में है। वस्तु का विशेष रूप से बोध ज्ञान है और सामान्य रूप से बोध दर्शन है। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान–दर्शन, दोनों ज्ञानस्वरूप=बोध रूप ही है तो भी वस्तु के विशेष बोध को ज्ञान और सामान्य बोध को दर्शन कहा जाता है। इन ज्ञान–दर्शन गुण से आत्मा में तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) की समस्त वस्तुओं का सामान्य–विशेष रूप से बोध करने की शक्ति है। हमें अभी भूत–भविष्य काल की बात तो दूर, वर्तमान काल की वस्तुओं में भी मर्यादित वस्तुओं का ही बोध होता है, वह भी इन्द्रिय की सहायता से। इसका क्या कारण? इसका कारण ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय प्रकृति है। इन दोनों प्रकृतियों ने आत्मा की ज्ञान–दर्शन शक्ति का घात कर दिया है। तथापि ये प्रकृतियाँ आत्मा के ज्ञान–दर्शन गुण को सर्वथा नष्ट नहीं कर सकती। जैसे सूर्य को बादल का अवरण होने पर भी बादल के छिद्रों में से थोड़ा प्रकाश तो आता ही है, वैसे आत्मा रूपी सूर्य पर कर्म प्रकृति रूपी बादल का आवरण होने पर भी क्षयोपशम रूपी छिद्रों में से कुछ ज्ञान–दर्शन गुण रूपी प्रकाश व्यक्त होता है।

अब आत्मा के तीसरे गुण के बारे में विचारणा करते हैं। आत्मा का तीसरा गुण अव्याबाध सुख है। इस गुण के प्रताप से आत्मा में किसी भौतिक वस्तु की अपेक्षा बिना स्वाभाविक =सहज सुख होता है। तो भी अभी हम दु:खी हो रहे हैं। जो कुछ सुख प्राप्त होता है, वह भी भौतिक वस्तुओं के कारण होता है। इसमें वेदनीय कर्म कारण है।

आत्मा में चौथा गुण आत्मस्वभाव में रमणता है, अनंत चारित्र है। आत्मा में केवल स्वभाव=स्वयं के ही भाव में रमणता करने का गुण है। तो भी मोहनीय कर्म से इस गुण का अभिभव होने से आत्मा भौतिक वस्तु प्राप्त करना, उसे संभालना, राग–द्वेष करना वगैरह परभाव में रमणता कर रही है।

आत्मा का पाँचवाँ गुण अक्षयस्थिति है। इस गुण के प्रभाव से आत्मा को जन्म नहीं है, जरा भी नहीं और मरण भी नहीं। लेकिन आयुष्य कर्म के कारण आत्मा को जन्म–मरण करना पड़ रहे हैं।

आत्मा का छठा गुण अरूपिपन (रूप का अभाव) है। इस गुण के कारण आत्मा में रस नहीं है, रूप नहीं है, गंध नहीं है, स्पर्श भी नहीं है। तो भी हम वर्तमान में शरीर धारी हैं। इससे कृष्ण, श्वेत वगैरह रूप तथा मनुष्यादि गति, यश, अपयश, सुस्वर, दु:स्वर वगैरह जो विकृति दिख रही है, वह नामकर्म के कारण है।

आत्मा का सातवाँ गुण अगुरुलघुता है। इस गुण से कोई आत्मा उच्च या नीच नहीं है। तो भी कोई व्यक्ति नीच कुल में उत्पन्न हुए हैं, कुछ उच्च कुल में। इस तरह उच्च–नीच कुल का व्यवहार सातवें गोत्र कर्म के कारण है।

आत्मा का आठवाँ गुण अनंतवीर्य है। इस गुण से आत्मा में अनंत अतुल्य शक्ति है। तो भी इस अतुल्य सामर्थ्य का अनुभव हमें क्यों नहीं हो रहा है? अंतराय प्रकृति से इस शक्ति का घात हो गया है। इस प्रकार आठ कर्मों का क्रमश: आत्मा के आठ गुण को ढाँककर आत्मा को विकृत करने का स्वभाव है।[①]

① इन आठ कर्मों के नाम सार्थक हैं, उनके फल के अनुसार हैं। यह ग्रंथकार स्वयं सूत्र 8–23 में कहेंगे।

प्रकृतिबंध के उत्तरभेदों की संख्या –

पञ्च-नव-द्व्यष्टाविंशति-चतु-र्द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥८-६॥

ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृति के क्रमश: 5, 9, 2, 28, 4, 42, 2, 5, भेद हैं। कुल 97 भेद हैं।

ज्ञानावरण प्रकृति के पाँच भेद –

मत्यादीनाम् ॥८-७॥

मति आदि पाँच ज्ञान [1] के पांच आवरण ज्ञानावरण के पाँच भेद हैं, अर्थात् ज्ञानावरण के पाँच भेद हैं – मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्यवज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

(1) मतिज्ञान को रोके वह मतिज्ञानावरण प्रकृति।

(2) श्रुतज्ञान का निरोध करे वह श्रुतज्ञानावरण प्रकृति।

(3) अवधिज्ञान को प्रकट न होने दे वह अवधिज्ञानावरण प्रकृति।

(4) जिससे मन:पर्यवज्ञान का अच्छादन हो वह मन:पर्यवज्ञानावरण प्रकृति।

(5) केवलज्ञान गुण का घात करने वाली केवलज्ञानावरण प्रकृति है।

दर्शनावरण प्रकृति के भेद –

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिवेदनीयानि च ॥८-८॥

दर्शनावरण प्रकृति के नौ भेद हैं – चार दर्शन (चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल) के चार आवरण तथा निद्रावेदनीय, निद्रानिद्रावेदनीय, प्रचलावेदनीय, प्रचलाप्रचलावेदनीय और स्त्यानर्द्धिवेदनीय, ये पाँच वेदनीय।

(1) जिससे चक्षु द्वारा रूप का सामान्य ज्ञान जीव न कर सके, वह **चक्षुदर्शनावरण**।

(2) अचक्षु शब्द से चक्षु के अलावा चार इन्द्रिय तथा मन का ग्रहण किया जाता है। जिससे स्पर्शेन्द्रिय आदि चार इन्द्रिय तथा मन स्वयं के विषय का सामान्य ज्ञान न कर सके, वह **अचक्षुदर्शनावरण**।

(3) जिस कर्म के उदय से अवधिदर्शन रूप सामान्य ज्ञान न हो सके, वह **अवधिदर्शनावरण**।

(4) जिससे केवलदर्शनावरण रूप सामान्य ज्ञान न हो सके, वह **केवलदर्शनावरण**।

सूत्र 8–5 के विवेचन में हमने देखा कि बोध दो प्रकार से होता है – सामान्य और विशेष। उसमें सामान्य बोध दर्शन है तथा विशेष ज्ञान है। ज्ञान के विषय में प्रथम अध्याय में हमने देखा कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है। पांच इन्द्रिय और मन द्वारा होने वाला मतिज्ञान सामान्य–विशेष, दोनों रूप है। पहले सामान्य मतिज्ञान होता है, फिर विशेष मतिज्ञान होता है। उसमें चक्षु इन्द्रिय से रूप का सामान्य मतिज्ञान ही चक्षुदर्शन है तथा शेष चार इन्द्रिय और मन द्वारा उस–उस विषय का सामान्य मतिज्ञान ही अचक्षुदर्शन है।

[1] मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानों का स्वरूप सूत्र 1–9 से विस्तार पूर्वक दर्शाया गया है।

इस प्रकार अवधिज्ञान और केवलज्ञान भी सामान्य–विशेष उभय रूप है। अविधलब्धि से सामान्य बोध अवधिदर्शन है और विशेष बोध अवधिज्ञान है। केवललब्धि से सामान्य बोध केवलदर्शन और विशेष बोध केवलज्ञान है।

प्रश्न – मतिज्ञान आदि की तरह मन:पर्यवज्ञान सामान्य–विशेष उभय रूप क्यों नहीं है?

उत्तर – जिससे मन की पर्याय जान सके, वह मन:पर्यवज्ञान। मन की पर्याय विशेष रूप है। इसलिए यह ज्ञान पहले से ही विशेष रूप है। इस तरह मन:पर्यवज्ञान का पटु क्षयोपशम होने से चक्षुदर्शनादि की तरह मन:पर्यवदर्शन नहीं है।[①]

प्रश्न – मन:पर्यवज्ञान के भेद रूप ऋजुमति को सामान्य नहीं कह सकते? क्योंकि मन की पर्यायों का सामान्य रूप से बोध ही ऋतुमति ज्ञान है।

उत्तर – यहाँ सामान्य बोध विपुलमति से होने वाले विशेष बोध की अपेक्षा से है। जैसे लखपति विशेष श्रीमंत होने पर भी करोड़पति की अपेक्षा वह सामान्य ही कहलाता है। वैसे ऋजुमति विशेषबोध रूप है किंतु विपुलमति की अपेक्षा से सामान्यबोधरूप है। विशेषबोध में भी भिन्नता बताने के लिए मन:पर्यावज्ञान के दो भेद किए हैं।

श्रुतज्ञान भी शब्द–अर्थ के पर्यालोचन–पूर्वक होने से विशेषरूप ही है। इस तरह पांच ज्ञान में मति,अवधि और केवल, ये तीन ज्ञान ही सामान्य (दर्शन) और विशेष (ज्ञान) रूप है।

(5) सुखपूर्वक (विशेष प्रयत्न बिना) जाग सके, वैसी नींद **निद्रा** है। जिस कर्म के उदय से निद्रा आती है, वह निद्रावेदनीय दर्शनावरण कर्म है।

(6) कष्टपूर्वक (बहुत प्रयत्न पूर्वक) जाग सके वैसी नींद **निद्रानिद्रा** है। जिस कर्म के उदय से निद्रानिद्रा आए, वह निद्रानिद्रा वेदनीय दर्शनावरण कर्म है।

(7) बैठे–बैठे नींद आए वह **प्रचला**। जिस कर्म के उदय से प्रचला नींद आए, वह प्रचलावेदनीय दर्शनावरण कर्म है।

(8) चलते–चलते नींद आए वह **प्रचलाप्रचला**। जिस कर्म के उदय से प्रचलाप्रचला नींद आए वह प्रचलाप्रचला दर्शनावरण कर्म है।

(9) दिन में सोचा हुआ कार्य रात को नींद में कर सके वैसी नींद, **स्त्यानर्द्धि** है। जिस कर्म के उदय से **स्त** स्त्यानर्द्धि निद्रा आए वह स्त्यानर्द्धिवेदनीय दर्शनावरण कर्म है।

प्रश्न – वेदनीय कर्म तो तीसरा है। यहाँ दर्शनावरण प्रकृति में निद्रावेदनीय आदि पांच का उल्लेख क्यों किया?

उत्तर – निद्रावेदनीय वगैरह कर्म भी चक्षुदर्शनावरण आदि की तरह दर्शनावरण रूप ही है। फर्क इतना है कि चक्षुदर्शनावरण आदि चार कर्म मूल से ही दर्शनलब्धि को रोकते हैं, दर्शनलब्धि प्राप्त ही नहीं होने देते, जबकि निद्रावेदनीय आदि पांच कर्म चक्षुदर्शनावरण आदि के क्षयोपशम से प्राप्त हुई दर्शन लब्धि को रोकते हैं। जीव जब सो जाता है तब चक्षुदर्शन आदि दर्शन की प्राप्त की हुई लब्धि=शक्ति का उपयोग नहीं होता है अर्थात् प्रथम चार कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त हुई दर्शनशक्ति का उपयोग निद्रा के कारण नहीं होता। इस प्रकार निद्रावेदनीयादि पांच कर्म भी दर्शनावरण रूप होने से दर्शनावरण कर्म के भेद, तीसरे वेदनीय कर्म के नहीं। वेदनीय शब्द का प्रयोग तो 'जिसका वेदन=अनुभव है, वह वेदनीय' ऐसे सामान्य अर्थ में किया गया है। इस अर्थ की दृष्टि से सभी कर्म

① विशेष चर्चा के लिए देखें कर्मग्रंथ इत्यादि।

वेदनीय ही है। तो भी वेदनीय शब्द तीसरे प्रकार के कर्म में शास्त्र में रूढ हो गया है। यहाँ निद्रावेदनीय वगैरह में वेदनीयशब्द रूढ नहीं है किंतु 'जिसका वेदन हो' ऐसा यौगिक अर्थ है। इसलिए उसमें वेदनीय शब्द का प्रयोग दोषरूप नहीं है।

वेदनीय कर्म के दो भेद –

सदसद्वेद्ये ।।८-९।।

वेदनीय प्रकृति के दो भेद हैं – सद्वेद्य=सातावेदनीय और असद्वेद्य=असातावेदनीय।

जिस कर्म के उदय से शारीरिक और मानसिक सुख का अनुभव हो, वह सातावेदनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से शारीरिक और मानसिक दु:ख का अनुभव हो, वह असातवेदनीय कर्म है।

मोहनीय प्रकृति के भेद –

दर्शन-चारित्रमोहनीय-कषाय-नोकषायवेदनीयाख्यास्त्रि-द्वि-षोडश-नवभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयानि, कषाय-नोकषायौ, अनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन-विकल्पाश्चैकशःक्रोध-मान-माया-लोभाः हास्यरत्यरति-शोक-भय-जुगुप्साः स्त्री-पुं-नपुंसकवेदाः ।।८-१०।।

मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं – दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं। सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय। चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं – कषाय मोहनीय और नोकषायमोहनीय। कषाय मोहनीय के चार भेद हैं – क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोध आदि प्रत्येक कषाय के अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन, ऐसे चार भेद होने से कषाय के कुल 16 भेद हैं – अनंतानुबंधी क्रोध–मान–माया–लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध–मान–माया–लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध–मान–माया–लोभ, संज्वलन क्रोध–मान–माया–लोभ। नोकषाय मोहनीय के नौ भेद हैं – हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद (हास्य आदि छह कर्मों की हास्यषट्क संज्ञा है और तीन वेद की वेदत्रिक संज्ञा है।) इस तरह मोहनीय प्रकृति के कुल 28 भेद [1] हैं।

मोहनीय शब्द की व्याख्या – मोहनीय यानी भ्रमित करने वाला, भ्रांति उत्पन्न करने वाला। जो कर्म विचार (श्रद्धा, मान्यता) में या प्रवृत्ति (चारित्र) में भ्रमित करे अर्थात् तत्त्वानुसारी विचार नहीं करने दे, अथवा तत्त्वानुसारी विचार करने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति न करने दे, वह मोहनीय कर्म है।

दर्शनमोहनीय की व्याख्या – दर्शन यानी जीवादि तत्त्वों के प्रति श्रद्धा। श्रद्धा में भ्रम कराने वाला, अर्थात् प्रगटी हुई श्रद्धा (सम्यकत्व) में दूषण लगाए अथवा मूल से ही श्रद्धा प्रगट न होने दे वह दर्शनमोहनीय कर्म। इसके सम्यक्त्व मोहनीयादि तीन भेद इस प्रकार हैं –

(1) जो उत्पन्न हुई श्रद्धा (सम्यक्त्व) में दूषण लगाए, उसे दूषित करे, वह सम्यक्त्व मोहनीय।

(2) जिससे जीवादि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा न हो, इससे जीव देव–गुरु–धर्म को माने ही नहीं या कुदेव–कुगुरु–कुधर्म को क्रमश: सुदेव–सुगुरु–सुधर्म माने, वह मिथ्यात्व मोहनीय।

---

[1] 28 भेद उदय, उदीरणा और सत्ता की अपेक्षा से हैं। बंध की अपेक्षा से 26 भेद हैं क्योंकि सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय इन दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता। मिथ्यात्वमोहनीय के शुद्ध दलिक और अर्द्धशुद्ध दलिक ही क्रमश: सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्रमोहनीय कहलाते हैं। इसका विशेष वर्णन देखें, सूत्र 1–3 के विवेचन में।

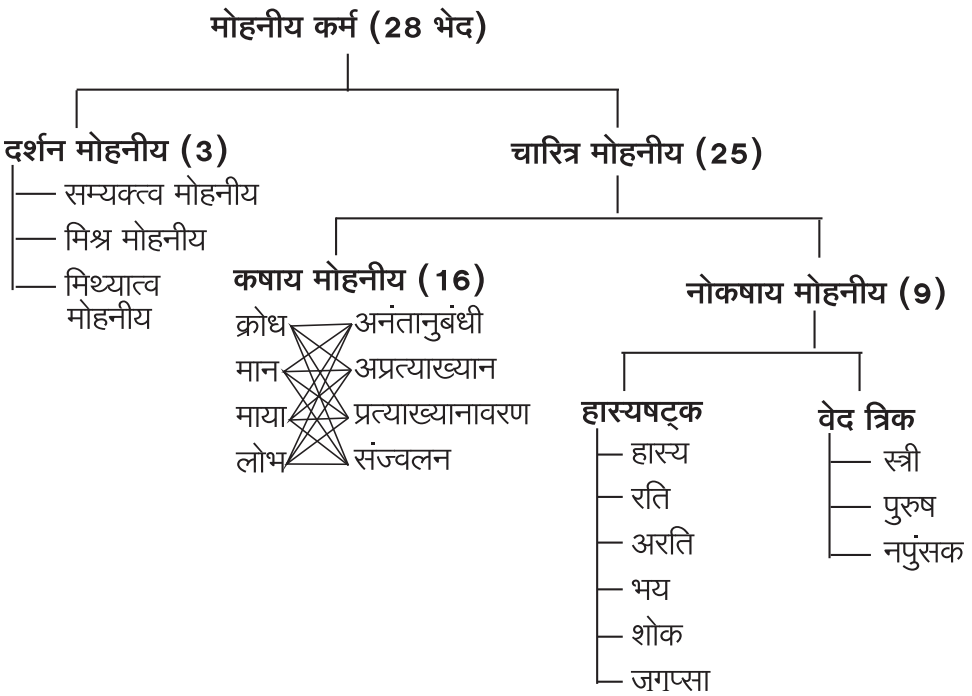

(3) जिस कर्म के उदय से सुदेव–सुगुरु और सुधर्म विषयक (अथवा जीवादि नौ तत्त्व विषयक) 'यही सत्य है' ऐसी श्रद्धा न हो तथा 'यह असत्य है' ऐसी अश्रद्धा भी न हो किंतु मिश्रभाव रहे, वह मिश्र मोहनीय कर्म।

चारित्र मोहनीय की व्याख्या – जो चारित्र = हिंसादि पापों से निवृत्ति में भ्रांति उत्पन्न करे अर्थात् हिंसादि पापों से निवृत्त न होने दे अथवा चारित्र को अतिचारों से दूषित करे, वह चारित्र मोहनीय कर्म है।

कषाय मोहनीय की व्याख्या – कष यानी संसार, आय यानी लाभ। जिससे संसार का लाभ हो, संसार में परिभ्रमण करना पड़े वह कषाय मोहनीय कर्म। इसके चार भेद हैं – क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध यानी गुस्सा, अक्षमा। मान यानी अहंकार, गर्व। माया यानी दंभ, कपट। लोभ यानी असंतोष, आसक्ति। क्रोध, रोष, द्वेष, कलह, वैमनस्य, ईर्ष्या, असूया इत्यादि क्रोध के ही प्रकार हैं। गर्व, अहंकार, दर्प, मद, अभिमान इत्यादि मान के ही प्रकार हैं। वंचना (ठगना), छल करना, दंभ, कपट, कुटिलता, वक्रता इत्यादि माया के प्रकार हैं। इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धि, ममत्व, अभिलाष, आकांक्षा, अभिष्वंग, आसक्ति, कामना, राग इत्यादि लोभ के प्रकार हैं। ये चार कषाय ममता और अहंकार स्वरूप अथवा राग–द्वेष स्वरूप हैं। माया और लोभ ममता स्वरूप या राग स्वरूप हैं तथा क्रोध और मान अहंकार स्वरूप या द्वेष स्वरूप हैं।[1]

तथा राग–द्वेष मोह रूप है। इसलिए मोह का सामान्य अर्थ राग–द्वेष या कषाय है। मोह का अर्थ अज्ञानता भी किया जाता है। यहाँ अज्ञानता यानी ज्ञान का अभाव अर्थ नहीं है किंतु विरुद्ध ज्ञान या अयथार्थ ज्ञान है। विरुद्ध ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान मोहनीय कर्म से होता है। इसलिए मोह का अज्ञानता अर्थ भी ठीक है।

कषाय के अनंतानुबंधी आदि भेदों की व्याख्या –

① प्रशमरति गा. 31–32।

(1) अनंतानुबंधी – जिन कषाय के उदय से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय हो वे अनंतानुबंधी कषाय हैं। ये कषाय अनंत संसार का अनुबंध =परंपरा उत्पन्न करने वाले होने से अनंतानुबंधी कहलाते हैं। इस कषाय के उदय से जीव को हेय–उपादेय का विवेक नहीं होता।

(2) अप्रत्याख्यान – जो कषाय देशविरति को रोके अर्थात् किसी भी प्रकार के पाप से विरति न होने से वह अप्रत्याख्यान कषाय कहलाता है। जिसके उदय से प्रत्याख्यान का अभाव होता है, वह अप्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का महत्व समझने पर भी तथा प्रत्याख्यान करने की इच्छा होने पर भी जीव इस कषाय के उदय से किसी भी प्रकार का विशिष्ट प्रत्याख्यान नहीं कर सकता।

(3) प्रत्याख्यानावरण – जो कषाय सर्वविरति के प्रत्याख्यान पर आवरण करे, सर्वविरति की प्राप्ति न होने दे, वह प्रत्याख्यानवरण कषाय। चारित्र बिना आत्मकल्याण नहीं होने वाला है, ऐसी समझ से चारित्र को स्वीकारने की इच्छा होने पर भी इस कषाय के उदय से जीव चारित्र ग्रहण नहीं कर सकता।

(4) संज्वलन – जिस कषाय के उदय से चारित्र में अतिचार लगे वह संज्वलन कषाय। संज्वलन यानी जलाने वाला, मलिन करने वाला। जो कषाय चारित्र को जलाए, मलिन करे, वे संज्वलन कषाय। इस कषाय के उदय से जीव को यथाख्यात चारित्र (जिनेश्वर भगवंतों ने जैसा कहा है, वैसा [1]) चारित्र प्राप्त नहीं होता किंतु अतिचारों से मलिन चारित्र प्राप्त होता है।

भावार्थ – अनंतानुबंधी आदि चार प्रकार के कषाय क्रमश: श्रद्धा (सम्यगदर्शन), देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यात (निरतिचार) चारित्र का निरोध करते हैं।

विशेष जानकारी – पूर्व कषाय के उदय के समय बाद वाले कषाय का उदय अवश्य होता है। बाद वाले कषाय के उदय के समय पूर्व कषाय का उदय हो या न भी हो। जैसे– अनंतानुबंधी कषाय का उदय होने पर तीनों प्रकार के कषाय का उदय होता है। अप्रत्याख्यान कषाय का उदय होने पर अनंतानुबंधी कषाय का उदय हो या न भी हो लेकिन प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय का उदय होगा ही। कषाय के ये चार भेद कषाय की तीव्रता के आधार पर हैं। अनंतानुबंधी कषाय अत्यंत तीव्र होता है, अप्रत्याख्यान कषाय मंद होता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय उससे भी अधिक मंद होता है, संज्वलन कषाय सबसे अधिक मंद होता है।

किस प्रकार के कषाय की कितनी स्थिति ?

कषायों की स्थिति (लगातार कितने समय तक रहता है) कषाय की तीव्रता और मंदता के आधार पर है। अनंतानुबंधी आदि कषाय की स्थिति क्रमश: संपूर्ण जीवन, 12 मास, चार मास और एक पक्ष है। अर्थात् अनंतानुबंधी कषायों का उदय जीवन पर्यंत 12 मास तक ही रहता है। प्रत्याख्यान कषाय का उदय (निरंतर) अधिक से अधिक चार मास तक ही रहता है। संज्वलन कषाय का उदय (निरंतर) अधिकतम एक पक्ष (15 दिन) तक ही रहता है।

तात्पर्य – जो कषाय जिस विषय पर उत्पन्न होता है, वह कषाय उस विषय पर सतत जितने समय तक रहता है, वह उसकी स्थिति है। जैसे– एक व्यक्ति को किसी व्यक्ति पर क्रोध हुआ। यह क्रोध उसी व्यक्ति पर सतत जितने समय तक रहता है, वह उस क्रोध की स्थिति है। यह क्रोध यदि अनंतानुबंधी है तो उसी व्यक्ति पर सतत जीवन पर्यंत रह सकता है। यदि यह क्रोध अप्रत्याख्यान है तो उस व्यक्ति पर सतत अधिकतम बारह मास तक ही रहता है, फिर अवश्य (कुछ समय के लिए भी) दूर होता है। यदि यह क्रोध प्रत्याख्यानावरण है तो उस व्यक्ति पर

[1] जिनेश्वरों ने निरतिचार चास्त्रि कहा है अर्थात् अतिचार रहित चास्त्रि पालन करने का उपदेश दिया है। संज्वलन कषाय का उदय न हो तभी यथाख्यात चारित्र प्राप्त होता है।

अधिकतम चार मास तक ही रहता है, फिर अवश्य दूर होता है। यदि संज्वलन क्रोध हो तो अधिकतम 15 दिन ही रहता है। इसी प्रकार मान आदि के लिए भी जानना। जिस कषाय की जो स्थिति बताई है, वह कषाय उतने समय रहे ही, ऐसा नियम नहीं है, उससे पहले भी दूर हो सकता है। लेकिन यदि जल्दी दूर न हो तो अधिकतम उपर्युक्त काल तक ही रहता है फिर अवश्य दूर होता है।

प्रश्न – संज्वलन कषाय की स्थिति अधिकतम 15 दिन ही है तो बाहुबलि को मान कषाय 12 मास तक कैसे रहा?

उत्तर – उपर्युक्त कषायों की स्थिति व्यवहार (स्थूल दृष्टि) से है। निश्चय (सूक्ष्म दृष्टि) से तो अधिक काल भी कषाय रह सकते हैं। इसलिए ही 16 कषाय के 64 भेद [①] भी होते हैं।

किस कषाय के उदय से कौन–सी गति होती है?

जीव अनंतानुबंधी कषाय का उदय होने पर मृत्यु पाए तो नरक में जाता है। अप्रत्याख्यान कषाय का उदय होने पर मृत्यु हो तो तिर्यंच गति में जाता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने पर मरे तो मनुष्यगति में जाता है। यदि जीव संज्वलन कषाय के उदय होने में मृत्यु को प्राप्त हो तो देवगति में जाता है। यह प्ररूपणा भी व्यवहार (स्थूल दृष्टि) से है क्योंकि अनंतानुबंधी कषाय के उदय वाले तापस, अकामनिर्जरा वाले जीव, अभव्यसंयमी वगैरह देवलोक या मनुष्यलोक में उत्पन्न होते हैं। तथा अप्रत्याख्यान कषाय के उदय वाले सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच देवगति में एवं देव मनुष्यगति में उत्पन्न होते हैं। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय वाले देशविरति मनुष्य और तिर्यंच देवगति में उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न – इस दृष्टि से कौन से कषाय के उदय में जीव किस गति में जाते हैं, इसका निश्चित नियम तो नहीं हुआ।

उत्तर – गति की प्राप्ति आयुष्यबंध के आधार पर है। जीव ने जिस गति का आयुष्य बांधा हो, उस गति में उत्पन्न होता है। आयुष्यबंध का आधार अनंतानुबंधी आदि कषायों पर है। अनंतानुबंधी कषाय का उदय होने पर यदि आयुष्यबंध हो तो अध्यवसाय अनुसार (कषायपरिणति की तीव्रतानुसार) चार गति में से किसी भी गति के आयुष्य का बंध हो सकता है। इसलिए अनंतानुबंधी कषाय के उदय में किस गति के आयुष्य का बंध होगा, इसका निश्चित नियम नहीं है। यदि उन कषायों की परिणति अतिमंद हो तो देवगति के आयुष्य का भी बंध हो सकता है, अतितीव्र हो तो नरकगति के आयुष्य का बंध हो सकता है और मध्यम हो तो तिर्यंच या मनुष्य गति के आयुष्य का बंध हो सकता है।

अप्रत्याख्यान कषाय में आयुष्य का बंध हो तो देव–नारक को मनुष्य गति के आयुष्य का ही तथा मनुष्य–तिर्यंच को देवगति के आयुष्य का ही बंध होता है। प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय के उदय के समय आयुष्य का बंध हो तो नियत रूप से देवगति के आयुष्य का ही बंध होता है। इस तरह गति का आधार मृत्यु के समय कौन–सा कषाय है, उस पर नहीं परंतु आयुष्य बंध के समय कौन–सा कषाय है, उस पर है। आयुष्य का बंध कब होता है, यह हमें पता नहीं चलता। इसलिए सद्गति में जाना हो तो सदा शुभ परिणाम रखने चाहिए।

दृष्टांतों से क्रोधादि कषाय का स्वरूप –

क्रोध– संज्वलन क्रोध जलरेखा समान है। जैसे लकड़ी के प्रहार आदि से जल में हुई रेखा तुरंत ही प्रयत्न बिना ही नष्ट होती है वैसे उदय में आया हुआ संज्वलन क्रोध खास पुरुषार्थ किए बिना शीघ्र नष्ट हो जाता है।

① देखें प्रथम कर्मग्रंथ गा. 18 की टीका।

जैसे–विष्णुकुमार मुनि का क्रोध। प्रत्याख्यानावरण क्रोध रेणुरेखा समान है। जैसे रेती में हुई रेखा का (हवा वगैरह से) थोड़ा विलंब से नाश होता है वैसे उदय को प्राप्त प्रत्याख्यानावरण क्रोध थोड़ी देर से नष्ट होता है। अप्रत्याख्यान क्रोध पृथ्वीरेखा समान। जैसे पृथ्वी पर हुई रेखा कष्ट से बहुत देर से नष्ट होती है वैसे उदय प्राप्त अप्रत्याख्यान क्रोध थोड़ कष्ट से और अधिक विलंब से दूर होता है। अनंतानुबंधी क्रोध पर्वत रेखा समान है। जैसे पर्वत पर हुई रेखा का नाश करना दु:शक्य है। यहाँ क्रोध को रेखा की उपमा देने में बहुत बड़ा रहस्य है। रेखा होने से वस्तु का भेद होता है, एकता नष्ट होती है, वैसे क्रोध के उदय से भी जीवों में परस्पर भेद हो जाता है, एकता नष्ट होती है।

मान– संज्वलन मान नेतर के समान है। जैसे नेतर को सरलता से मोड़ सकते हैं, वैसे संज्वलन मान के उदय वाला जीव स्वआग्रह का त्यागकर झुकने के लिए शीघ्र तैयार हो जाता है। जैसे–ब्राह्मी सुंदरी के वाक्यों से बाहुबलि मुनि। प्रत्याख्यानावरण मान काष्ठ समान है। जैसे– काष्ठ को मोड़ने में थोड़ा कष्ट होता है वैसे प्रत्याख्यानावरण मान के उदय वाला जीव थोड़ा प्रयत्न करने से नम्र बनता है। अप्रत्याख्यान मान अस्थि समान है। जैसे हड्डी को मोड़ने में बहुत कष्ट होता है वैसे अप्रत्याख्यान मान के उदय वाला जीव बहुत कष्ट से झुकने के लिए तैयार होता है। अनंतानुबंधी मान पत्थर के स्तंभ समान है। जैसे पत्थर का खंभा मुड़ नहीं सकता वैसे अनंतानुबंधी मान वाला जीव झुके, यह दु:शक्य है। जैसे नेतर वगैरह पदार्थ अक्कड़ होते हैं, वैसे मान कषाय वाला जीव अक्कड़ रहता है। अत: यहाँ मान की नेतर आदि अक्कड़ वस्तु के साथ तुलना की है।

माया – संज्वलन माया इन्द्रधनुष की रेखा समान है। जैसे आकाश में होने वाली इन्द्रधनुष की रेखा शीघ्र नष्ट होती है वैसे संज्वलन माया जल्दी दूर होती है। प्रत्याख्यानावरण माया बैल के मूत्र की धारा समान है। जैसे मूत्र की धारा थोड़े विलंब से नष्ट होती है, वैसे यह माया थोड़े विलंब से नष्ट होती है। अप्रत्याख्यान माया भेड़ के सींग (शृंग) समान है। भेड़ के शृंग की वक्रता कष्ट से दूर होती है वैसे यह माया बहुत कष्ट से दूर होती है। अनंतानुबंधी माया घनबांस के मूल (जड़) समान है। जैसे घनबांस के मूल (जड़) की वक्रता दूर नहीं हो सकती वैसे अनंतानुबंधी माया प्राय: दूर नहीं होती है। जैसे इन्द्रधनुष की रेखा वगैरह वक्र होती है, वैसे मायावी जीव वक्र होते है। इसलिए यहाँ माया को इन्द्रधनुष की रेखा आदि की उपमा दी है।

लोभ – संज्वलन लोभ हल्दी के रंग समान है। वस्त्र पर लगा हुआ हल्दी का रंग धूप में रखने से ही निकल जाता है वैसे संज्वलन लोभ कष्ट बिना शीघ्र दूर होता है। प्रत्याख्यानावरण लोभ काजल समान है। जैसे वस्त्र पर लगा काजल थोड़े कष्ट से दूर होता है वैसे यह लोभ भी थोड़े कष्ट और थोड़े विलंब से दूर होता है। अप्रत्याख्यान लोभ बैलगाड़ी की धुरी रही मषि के समान है। वस्त्र पर लगी हुई बैलगाड़ी की धुरी की मषि जैसे बहुत कष्ट से दूर होती है वैसे यह लोभ भी बहुत कष्ट से दूर होता है। अनंतानुबुधी लोभ कृमिरंग [1] समान है। जैसे वस्त्र पर लगा हुआ कृमिरंग वस्त्र नष्ट न हो तब तक रहता है वैसे यह लोभ भी प्राय: जीव के मरने तक रहता है। लोभ राग स्वरूप है इसलिए यहाँ लोभ को हल्दी आदि के राग=रंग की उपमा दी है।

कषाय कोष्टक

कषाय	गुणघातक	स्थिति	कौन सी गति
अनंतानुबंधी	सम्यक्त्व	यावज्जीव	नरक गति
अप्रत्याख्यान	देशविरति	एक वर्ष	तिर्यंच गति

① कृमिरंग = लाख के कीड़ो से बनाया जाने वाला लाल रंग । यह रंग बहुत पक्का होता है, धो–धोकर कपड़ा फट जाने पर भी यह रंग निकलता नहीं है ।

प्रत्याख्यानावरण	सर्वविरति	चार मास	मनुष्य गति
संज्वलन	यथाख्यात चारित्र	15 दिन	देवगति

कषाय की उपमा

कषाय	क्रोध	मान	माया	लोभ
अनंतानुबंधी	पर्वतरेखा	पत्थर स्तंभ	घन बांस का मूल्य	कृमिरंग
अप्रत्याख्यान	पृथ्वीरेखा	अस्थिस्तंभ	भेड़ के सींग	बैलगाड़ी की धुरी की मषि
प्रत्याख्यानावरण	रेतीमें रेखा	काष्ठस्तंभ	गोमूत्रधारा	काजल
संज्वलन	जलरेखा	नेतर	बाँस की छाल, इन्द्रधनुष	हल्दी रंग

नोकषाय की व्याख्या – यहाँ 'नो' शब्द का अर्थ साहचर्य (साथ में रहना) है। जो कषायों के साथ रहकर स्वयं का फल बताते हैं, वे नोकषाय। नोकषायों का विपाक (फल) कषाय पर आधारित है। यदि कषायों का विपाक मंद होता है तो नोकषायों का विपाक भी मंद होता है और कषायों का विपाक तीव्र होने पर नोकषायों का विपाक भी तीव्र होता है। इस तरह कषायों के आधार पर फल देने वाले होने से केवल नोकषायों की प्रधानता नहीं है। अथवा नो यानी प्रेरणा। जो कषायों को प्रेरणा करे=कषायों के उदय में निमित्त बने, वह नोकषाय है। हास्यादि क्रोध वगैरह कषाय के उदय में निमित्त बनते हैं इसलिए नोकषाय हैं।

हास्य षट्क –

जिस कर्म के उदय से हंसना आए, वह हास्यमोहनीय।

जिस कर्म के उदय से रति उत्पन्न हो, वह रतिमोहनीय।

जिस कर्म के उदय से अरति उत्पन्न हो, वह अरतिमोहनीय।

जिस कर्म के उदय से भय उत्पन्न हो, वह भयमोहनीय।

जिस कर्म के उदय से शोक उत्पन्न हो, वह शोकमोहनीय।

जिस कर्म के उदय से जुगुप्सा उत्पन्न हो, वह जुगुप्सामोहनीय।

वेदत्रिक – जिस कर्म के उदय से स्त्री के साथ मैथुन सेवन की इच्छा हो, वह पुरुषवेद मोहनीय। जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ मैथुन सेवन की इच्छा हो, वह स्त्रीवेद मोहनीय। जिस कर्म के उदय से स्त्री–पुरुष दोनों के साथ मैथुन सेवन की इच्छा हो, वह नपुंसकवेदमोहनीय।

दृष्टांत से वेदत्रिक का स्वरूप –

पुरुष वेद तृण की अग्नि समान है। तृण की अग्नि शीघ्र प्रदीप्त होती है और शांत भी शीघ्र होती है। ऐसे पुरुष वेद का उदय शीघ्र होता है और शांत भी शीघ्र होता है। स्त्रीवेद काष्ठ की अग्नि समान है। काष्ठ की अग्नि जल्दी

नहीं लगती वैसे स्त्रीवेद का उदय जल्दी नहीं होता। काष्ठ की अग्नि जलने के बाद जल्दी शांत नहीं होती वैसे स्त्रीवेद भी उदय में आने के बाद जल्दी शांत नहीं होता। नपुंसकवेद नगर के दाह (आग) समान है। नगर के दाह की तरह नपुंसक वेद का उदय शीघ्र नहीं होता तथा उदय होने के बाद शांत भी शीघ्र नहीं होता।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के 28 भेद का वर्णन पूर्ण हुआ।

आयुष्य कर्म के चार भेद –

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ।।८-११।।

आयुष्य कर्म के चार प्रकार हैं – नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

जिस कर्म के उदय से जीव नरकगति का जीवन प्राप्त करता है, वह नरक आयुष्य।

जिस कर्म के उदय से जीव तिर्यंचगति में उत्पन्न होता है, वह तिर्यंच आयुष्य।

जिस कर्म के उदय में आने पर जीव मनुष्य भव प्राप्त करता है, वह मनुष्य आयुष्य।

जिस कर्म का उदय होने पर जीव को देवगति मिलती है, वह देव आयुष्य।

नामकर्म के भेद –

गति-जाति-शरीरा-ऽङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बंधन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गंध-वर्णा-ऽऽनुपूर्व्य-ऽगुरुलघूपघात-पराघाता-ऽऽतपोद्योतोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्त-स्थिरा-ऽऽदेय-यशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च ।।८-१२।।

नाम कर्म के कुल 42 भेद हैं – गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्त, स्थिर, आदेय, यश, साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्त, अस्थिर, अनादेय, अपयश और तीर्थकर नामकर्म।[1]

गतिनामकर्म से लेकर विहायोगति नामकर्म तक की 14 प्रकृतियों के पेटाभेद होने से उन्हें 'पिंड प्रकृति' कहा जाता है। उसके बाद वाली पराघात से लेकर उपघात तक की आठ प्रकृतियों के पेटाभेद न होने से उन्हें 'प्रत्येक प्रकृति' कहा जाता है। उसके बाद वाली दस प्रकृतियों को 'त्रस दशक' और उसके बाद वाली स्थावरादि दस प्रकृतियों को 'स्थावर दशक' कहा जाता है।

नामकर्म के भेदों की 42, 93, 103 और 67, ऐसी चार संख्या देखी जाती है। नामकर्म के केवल मूल भेदों को गिना जाए तो 42 संख्या होती है, जो प्रस्तुत सूत्र में दर्शाई गई है। नामकर्म के अवांतर भेदों का विचार किया जाए तो 93 वगैरह संख्या होती है। उनमें 93 संख्या निम्नलिखित है –

---

① इस सूत्र में दर्शाया गया क्रम कर्मग्रंथ में बताए गए क्रम से भिन्न है। इसलिए कर्मग्रंथ के अभ्यासी को प्रकृति समझने में अनुकूलता रहे, इस दृष्टि से यहाँ वह क्रम दे रहे हैं तथा विवेचन में भी इस कर्मग्रंथ के क्रमानुसार प्रकृति लिखी है– गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघात, संहनन, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी, विहायोगति, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण, उपघात, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश।

चौदह पिंडप्रकृति के पेटाभेद –

(1) गति– गति के चार भेद हैं – नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव। जिस कर्म के उदय से नारक भव प्राप्त हो, नरकगति की प्राप्ति हो, वह नरकगति नामकर्म। इस प्रकार तिर्यंचगति आदि में भी जानना।

(2) जाति– जाति के पाँच भेद हैं– एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय कहलाता है (एक इन्द्रिय की प्राप्ति होती है) वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म। इस प्रकार बेइन्द्रिय आदि में भी जानना।

(3) शरीर – शरीर के पांच भेद [①] हैं– औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण। जिस कर्म के उदय से जीव औदारिक शरीर योग्य पुद्गल ग्रहण कर शरीर रूप में परिणमित करता है, वह औदारिक शरीर नामकर्म। इस प्रकार वैक्रियादि शरीर विषयक भी जानना।

(4) अंगोपांग – अंगोपांग शब्द से अंग, उपांग और अंगोपांग तीनों का ग्रहण करना है। हाथ–पैर वगैरह शरीर के अंग हैं। उंगली वगैरह उपांग (अंग के भी अंग) हैं। नख, केश वगैरह अंगोपांग (उपांग के अंग) हैं। अंगोपांग तीन प्रकार के हैं– औदारिक, वैक्रिय और आहारक। जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप में ग्रहण किए हुए पुद्गल औदारिक शरीर के अंग, उपांग और अंगोपांग रूप में परिणत होते हैं, वह औदारिक अंगोपांग नामकर्म। इस प्रकार अन्य दो अंगोपांग में भी समझना। शरीर पांच होने पर भी अंगोपांग तीन ही हैं क्योंकि तैजस और कार्मण शरीर के अंगोपांग नहीं होते।

(5) बंधन – बंधन यानी लाख और लकड़ी (जतु–काष्ठ)[②] की तरह एकमेक संयोग। बंधन के पांच भेद हैं– औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। जिस कर्म के उदय से पूर्व में ग्रहण किए हुए औदारिक शरीर के पुद्गलों के साथ नए ग्रहण किए जाते हुए औदारिक शरीर योग्य पुद्गलों का जतु–काष्ठवत् एकमेक संयोग होता है, वह औदारिक बंधन नामकर्म। इस प्रकार अन्य में भी जानना।

(6) संघात – संघात यानी पिंडरूप में एकत्रित करना, संघटित करना। संघात के पाँच भेद हैं – औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। जैसे दातरड़े से घास एकत्रित होता है (फैली हुई घास को इकट्ठा कर एक छोटा ढेर बनाया जाता है) वैसे जिस कर्म के उदय से ग्रहण किए जाते औदारिक शरीर के पुद्गल पिंडरूप में एकत्रित हो, वह औदारिक संघात नाम कर्म। इस तरह अन्य भी समझना।

(7) संहनन – संहनन यानी शरीर में हड्डी की विशिष्ट रचना। संहनन को सामान्य भाषा में संघयण कहा जाता है। संघयण के छह भेद हैं – वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त। वज्रऋषभनाराच शब्द वज्र, ऋषभ और नाराच शब्द से मिलकर बना है। वज्र यानी कील, ऋषभ यानी पट्टा, नाराच यानी विशिष्ट प्रकार का बंधन (जोड़) जिसे शास्त्र में मर्कटबंध कहा जाता है। दो हड्डियों पर तीसरी हड्डी पट्टे की तरह लपेटी हुई हो, चौथी हड्डी कील की तरह तीनों को भेदकर रही हो; इस प्रकार का अतिशय मजबूत संहनन =हड्डियों की रचनाविशेष वज्रऋषभनाराच संघयण है। अर्थात् जिसमें नाराच (मर्कटबंध), ऋषभ (पट्टा) और वज्र (कील) तीनों हो, वह वज्रऋषभनाराच संहनन। जिसमें दो हड्डी परस्पर मर्कट बंध से बंधी हुई हो, इन दो हड्डी पर तीसरी हड्डी पट्टे की तरह लपेटी हुई हो (तीन के उपर चौथी हड्डी कील की तरह न हो), ऐसे संघयण को ऋषभनाराच कहते हैं। अर्थात् जिसमें ऋषभ और नाराच हो, वज्र न हो, वह ऋषभनाराच संघयण। जिसमें हड्डी मात्र मर्कटबंध से बंधी हुई हो, वह नाराच संघयण अर्थात् जिसमें वज्र और ऋषभ दोनों

① पांच शरीर का विस्तृत वर्णन देखें सूत्र 2–37 आदि।

③ जैसे लाख दो काष्ठों को चिपकाता है, वैसे बंधन नामकर्म भी पूर्व ग्रहण किए हुए औदारिकपुद्गलों को नए ग्रहण किए जाते पुद्गलों से जोड़ता है। (देखें प्रथमकर्मग्रंथ टीका)

न हो, मात्र नाराच ही हो वह नाराच संघयण। जिसमें एक तरफ मर्कटबंध और दूसरी तरफ कीलिका हो, वह अर्धनाराच संघयण। जिसमें एक भी तरफ मर्कटबंध न हो, हड्डियाँ मात्र कीलिका से बंधी हो, वह कीलिका संघयण। जिसमें मर्कटबंध न हो, कीलिका भी न हो मात्र हड्डियाँ परस्पर स्पर्श की हुई हो, वह सेवार्त संघयण। जिस कर्म के उदय से वज्रऋषभनाराच संहनन प्राप्त हो वह वज्रऋषभनाराच संहनन नामकर्म। इस तरह अन्य संहनन की व्याख्या भी समझ लेना। (संघयण का चित्र देखें परिशिष्ट – 2 में)

(8) संस्थान – संस्थान यानी शरीर की बाह्य आकृति। संस्थान के छह प्रकार हैं– समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, कुब्ज, वामन और हुंडक। शरीर के प्रत्येक अवयव की शास्त्रोक्त लक्षणानुसार समान रचना समचतुरस्र संस्थान है। सुखासन में सीधे बैठे हुए मनुष्य के सीधे घुटने से उल्टे कंधे तक, उल्टे घुटने से सीधे कंधे तक, दो घुटने के बीच की और स्वयं के आसन से नासिका तक की दूरी, ये चारों दूरी समान हो, वैसी अंगरचना समचतुरस्र संस्थान। न्यग्रोध यानी वटवृक्ष, परिमंडल यानी आकार। जिसमें शरीर का आकार वटवृक्ष जैसा हो। अर्थात् जैसे वटवृक्ष उपर के भाग में संपूर्ण होता है जबकि नीचे से कृश होता है, वैसे नाभि से उपर के अवयवों की रचना समान (भरावदार) हो लेकिन नाभि से नीचे के अवयवों की रचना असमान (कृश) हो, वह न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान। न्यग्रोधपरिमंडल की रचना से विपरीत रचना सादि संस्थान अर्थात् नाभि से उपर के अवयवों की रचना असमान हो और नाभि से नीचे के अवयवों की रचना समान हो, वह सादि संस्थान। जिसमें छाती, पेट वगैरह अंग कुबड़े हो, वह कुब्ज संस्थान। जिसमें हाथ–पैर वगैरह अवयव छोटो हो, वह वामन संस्थान। जिसमें सभी अवयव असमान (शास्त्रोक्त लक्षण रहित) हो, वह हुंडक संस्थान। जिस कर्म के उदय से शरीर की समचतुरस्र रचना (संस्थान) प्राप्त हो, वह समचतुरस्र संस्थान नामकर्म। इस तरह अन्य भी जानना।

(9) वर्ण – वर्ण यानी रूप, रंग। वर्ण पांच हैं– कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल। जिस कर्म के उदय से शरीर का वर्ण कृष्ण हो, वह कृष्ण वर्ण नामकर्म। इस तरह अन्य वर्ण भी जानना।

(10) गंध – गंध दो प्रकार की है – सुगंध और दुर्गंध। जिस कर्म के उदय से शरीर सुगंधी हो, वह सुगंध नामकर्म। और दुर्गंधी हो, वह दुर्गंध नामकर्म।

(11) रस – रस (स्वाद) के पांच प्रकार हैं – तिक्त (तीखा), कटु (कड़वा), कषाय (तूरा), अम्ल (खट्टा) और मधुर [1]। जिस कर्म के उदय से शरीर तिक्त हो =शरीर का रस तीखा हो, वह तिक्तरस नामकर्म। इस प्रकार अन्य रस के लिए भी समझना

(12) स्पर्श – स्पर्श के 8 भेद हैं – कर्कश–मृदु, गुरु–लघु, स्निग्ध–रूक्ष और शीत–उष्ण। जिस कर्म के उदय से शरीर का स्पर्श कर्कश हो, वह कर्कश नामकर्म। इस तरह अन्य स्पर्श भी जानना।

(13) आनुपूर्वी – जीव मृत्यु पाकर अन्य गति में दो प्रकार की गति से जाता है – वक्र और ऋजु (सरल)। उसमें जब ऋजुगति से परभव में जाता है, तब एक ही समय में स्वयं के उत्पत्ति स्थान पर पहुंच जाता है। तब उसे किसी प्रकार की मदद की आवश्यकता नहीं रहती। लेकिन जब वक्रगति से परभव में जाता है, तब स्वयं की उत्पत्ति के स्थान पर पहुंचने के लिए दो, तीन या चार समय लगते हैं। इस समय उसे गति करने में मदद की आवश्यकता होती है। जैसे – बैल की रस्सी खींचने पर वह मुड़ता है। दायीं रस्सी खींचने पर दायें मुड़ता है और बायीं रस्सी खींचने पर बाएँ मुड़ता है। रस्सी ढीली रखने पर वह सीधा चलता रहता है। इसी तरह ऋजुगति में जीव को सीधा जाने के लिए किसी कर्म की सहायता नहीं चाहिए लेकिन वक्रगति में मुड़ने के लिए बैल की रस्सी खींचने की तरह किसी कर्म की सहायता आवश्यक है। यहाँ ऋजुगति से एक समय में उत्पत्ति–स्थान

[1] अन्य ग्रंथों में लवण (खारे) रस के साथ 6 भेद बताए हैं।

पर पहुंचने वाले जीव को विशिष्ट मदद की जरूरत नहीं रहती। स्वयं के पूर्वभव के आयुष्य के व्यापार से वह स्वयं के इष्ट स्थान पर पहुंच जाता है। स्वयं के पूर्वभव के आयुष्य का व्यापार एक ही समय रहता है। इसलिए दूसरे वगैरह समय में गति करने के लिए मदद की आवश्यकता रहती है। यहाँ द्वितीयादि समय में (आकाश प्रदेश की श्रेणि अनुसार गमन करने में) जो कर्म सहायता करता है, उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं। जीव चार गति में उत्पन्न होता है इसलिए चार गति के नाम से चार आनुपूर्वी हैं– देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी। जो कर्म वक्रगति से देवगति में जाते हुए इस जीव को मदद करे वह देवानुपूर्वी नामकर्म। इस प्रकार अन्य भी जानना।

(14) विहायोगति – विहायोगति [①] शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है– विहायस् और गति। विहायस् यानी आकाश। आकाश में गति करना विहायोगति है। विहायोगति शब्द का यह शब्दार्थ हुआ, भावार्थ मात्र 'गति करना' इतना ही है। जीवों की गति (चाल) दो प्रकार की है – शुभ और अशुभ। अत: विहायोगति नामकर्म के दो भेद हैं – शुभ विहायोगति और अशुभ विहायोगति। जिस कर्म के उदय से जीव प्रशस्त (शुभ) गति करता है, वह शुभ विहायोगति नामकर्म। जैसे– हंस, हाथी आदि की गति शुभ होती है। जिस कर्म के उदय से जीव अशुभ (अप्रशस्त) गति करता है, वह अशुभ विहयोगति नामकर्म। जैसे ऊंट, सियार आदि की गति अशुभ होती है।

प्रश्न – यहाँ विहायोगति का भावार्थ तो 'गति करना' है। इसलिए विहायस् शब्द नहीं लिखे और जिस कर्म के उदय से शुभगति हो, वह शुभगति नामकर्म तथा अशुभगति हो वह अशुभगति नामकर्म, ऐसा अर्थ करते तो भी दिक्कत नहीं थी। यहाँ आवश्यक न होने पर भी विहायस् शब्द क्यों लिखा?

उत्तर – चौदह पिंड प्रकृतियों में गति नामकर्म भी है इसलिए यदि 'विहायस्' शब्द यहाँ नहीं लिखते तो गति नामकर्म दो हो जाते। अत: पिंडप्रकृति में पहले कहे गए गति नामकर्म को अलग बताने के लिए गति के साथ विहायस् शब्द का उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ तो 'जिस कर्म के उदय से जीव शुभगति =चाल कर सकते वह शुभविहायोगति नामकर्म और अशुभगति=चाल कर सके वह अशुभविहायोगति नामकर्म' ही है।

प्रश्न – यदि पूर्वोक्त गति नामकर्म से इस चलने रूप गति नामकर्म को अलग करने के लिए विहायस् शब्द लिखा है तो यही शब्द क्यों जोड़ा?

उत्तर – गति आकाश में होने से 'विहायसि गति:[②]=आकाश में गति वह विहायोगति' ऐसा अर्थ भी घटित होने से यह शब्द जोड़ दिया।

आठ प्रत्येक प्रकृति –

(1) पराघात – जिसके उदय से जीव अन्य से पराभूत न हो अर्थात् स्वयं से अधिक बलवान का भी पराभव कर सके, वह पराघात नामकर्म।

(2) उच्छ्वास – जिसके उदय से जीव श्वासोच्छ्वास की क्रिया कर सके, वह उच्छ्वास नामकर्म।

(3) आतप – जिसके उदय से शरीर शीत स्पर्श वाला होने पर भी उष्ण प्रकाश वाला हो, वह आतप नामकर्म। सूर्य विमान के एकेन्द्रिय जीवों को आतप नामकर्म का उदय होता है। उनका शरीर शीतस्पर्श वाला होता है लेकिन शरीर में से निकलता प्रकाश उष्ण होता है।[③]

---

① विहायोगति शब्द का अर्थ यहाँ प्रथम कर्मग्रंथ की टीका के अनुसार किया है।

② यह विग्रह तत्वार्थ भाष्य की टीका में है। कर्मग्रंथ में **'विहायसा गति:=विहायोगति:'** ऐसा विग्रह है।

③ हमें दिखते सूर्य-चंद्र देवों के विमान हैं। वे विमान पृथ्वीकाय के असंख्य जीवों के शरीर के समूह रूप हैं। सूर्य विमान के पृथ्वीकाय जीवों को 'आतप' नामकर्म और चंद्र विमान के पृथ्वीकाय जीवों को 'उघोत' नामकर्म का उदय होता है।

(4) उघोत – जिसके उदय से जीव का शरीर अनुष्ण प्रकाश रूप उद्योत को करता है, वह उद्योत नामकर्म। खद्योत (खजुआ) वगैरह जीवों को इस कर्म का उदय होता है।

(5) अगुरुलघु – जिसके उदय से शरीर गुरु (भारी) नहीं और लघु (हल्का) भी नहीं होता लेकिन अगुरुलघु होता है, वह अगुरुलघु नामकर्म।

(6) तीर्थंकर – जिसके उदय से जीव त्रिभुवनपूज्य बने और धर्मरूप तीर्थ का प्रवर्तन करे, वह तीर्थंकर नामकर्म।

(7) निर्माण – जिसके उदय से शरीर के प्रत्येक अंग और उपांग की रचना खुद के नियत स्थान पर ही होती है, वह निर्माण नामकर्म।

(8) उपघात – जिसके उदय से शरीर के अंगों का और उपांगों का उपघात (खंडन) हो, वह उपघात नामकर्म।

त्रस दशक –

(1) त्रस – जिसके उदय से जीव इच्छा होने पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सके, वह त्रस नामकर्म। बेइन्द्रियादि जीवों को त्रस नामकर्म का उदय होता है। यद्यपि वायुकाय और तेउकाय के जीव अन्य स्थान पर जा सकते हैं लेकिन उसमें उनकी इच्छा कारण नहीं है, स्वाभाविक रीति से गति होती है। अत: उन्हें इस कर्म का उदय नहीं है।

(2) बादर – जिसके उदय से बादर (स्थूल) शरीर प्राप्त हो, वह बादर नामकर्म।

(3) पर्याप्त – जिसके उदय से स्वप्रायोग्य सर्व पर्याप्ति पूर्ण हो, वह पर्याप्त नामकर्म है। पर्याप्ति यानी पुद्गल के उपचय से उत्पन्न हुई उन–उन पुद्गलों का ग्रहण और परिणमन करने की शक्ति विशेष। पर्याप्ति छह हैं– आहार पर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मन:पर्याप्ति।

(1) जिस शक्ति से जीव बाह्य पुद्गलों का आहार ग्रहण कर उन पुद्गलों को खल (मल) और रस रूप में परिणमित करता है वह शक्ति आहारपर्याप्ति।

(2) रस रूप में परिणत आहार को खून वगैरह धातु रूप में परिणमित करने की शक्ति शरीर पर्याप्ति है।

(3) धातु रूप में परिणत आहार को इन्द्रिय रूप में परिणमित करने की शक्ति इन्द्रियपर्याप्ति है।

(4) जिस शक्ति से श्वासोच्छ्वास प्रायोग्य वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत कर उन्हीं पुद्गलों के आलंबन से उन्हीं पुद्गलों को छोड़ दे, वह श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति है।

(5) भाषा प्रायोग्य वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर भाषा रूप में परिणत कर उन्हीं पुद्गलों के आलंबन से उन्हीं पुद्गलों को छोड़ दे, वह भाषा पर्याप्ति है।

(6) मन प्रायोग्य वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर मन रूप में परिणत उन्हीं पुद्गलों के आलंबन से उन्हीं पुद्गलों को छोड़ देने की शक्ति मन:पर्याप्तियाँ हैं।

एकेन्द्रिय जीवों को प्रथम चार, संज्ञी पंचेन्द्रिय को छह तथा शेष सभी जीवों (बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय) को मन के अलावा पांच पर्याप्तियाँ होती हैं।

प्रत्येक जीव उत्पत्ति स्थान पर आते ही स्वप्रायोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण करने का प्रयत्न शुरू कर देता है। उनमें जिन जीवों को पर्याप्त नामकर्म का उदय होता है, वे ही जीव स्वप्रायोग्य पर्याप्ति पूर्ण कर सकते हैं। जिसे अपर्याप्त नामकर्म का उदय होता है, वे जीव स्वप्रायोग्य पर्याप्ति को पूर्ण किए बिना ही मृत्य पा जाते हैं। अपर्याप्त नामकर्म स्थावर दशक में आएगा।

(4) प्रत्येक शरीर – जिसके उदय से जीव को स्वतंत्र एक शरीर प्राप्त हो, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है।

(5) स्थिर – जिसके उदय से शरीर के दांत, हड्डी आदि अवयव निश्चल–स्थिर रहते हैं, वह स्थिर नामकर्म है।

(6) शुभ – जिसके उदय से नाभि के उपर वाले शुभ अवयव प्राप्त हो, वह शुभ नामकर्म है।

(7) सुभग – जिसके उदय से जीव उपकार न करने पर भी सर्व को प्रिय हो, वह सुभग नामकर्म है।

(8) सुस्वर – जिसके उदय से मधुर स्वर प्राप्त हो, वह सुस्वर नामकर्म है।

(9) आदेय – जिसके उदय से जीव का वचन उपादेय हो, दर्शनमात्र से सत्कार–सन्मान हो, वह आदेय नामकर्म है।

(10) यश – जिसके उदय से यश–कीर्ति–ख्याति मिले, वह यश नामकर्म है।

स्थावर दशक –

त्रस दशक में त्रस आदि का जो अर्थ है, उससे विपरीत अर्थ क्रमश: स्थावरादि का है। जैसे– त्रस के अर्थ से स्थावर का अर्थ विपरीत है, बादर के अर्थ से सूक्ष्म का अर्थ विपरीत है।

(1) स्थावर – जिसके उदय से जीव इच्छा होने पर भी अन्यत्र न जा सके।

(2) सूक्ष्म– जिसके उदय से जीव को सूक्ष्म (आँख से न देख सके ऐसा) शरीर प्राप्त हो।

(3) अपर्याप्त – जिसके उदय स्वप्रायोग्य पर्याप्ति पूर्ण न हो।

(4) साधारण शरीर – जिसके उदय से अनंत जीवों का एक ही शरीर प्राप्त हो।

(5) अस्थिर – जिसके उदय से कान, जीभ वगैरह अस्थिर अंग मिले।

(6) अशुभ – जिसके उदय से नाभि से नीचे वाले अशुभ अवयव मिले। नाभि से नीचे वाले अवयव लोक में अशुभ माने जाते हैं। इसलिए कोई पैर लगाता है तो उस पर गुस्सा आता है।

(7) दुर्भग – जिसके उदय से जीव उपकार करने पर भी अप्रिय हो।

(8) दु:स्वर – जिसके उदय से स्वर कठोर (कान को अप्रिय लगे वैसे) मिले।

(9) अनादेय – जिसके उदय से युक्ति युक्त और सुंदर शैली से कहने पर भी वचन उपादेय न हो।

(10) अयश – जिसके उदय से परोपकार आदि अच्छे कार्य करने पर भी यश–कीर्ति न मिले।

इस प्रकार नामकर्म के 93 भेद का वर्णन पूर्ण हुआ।

इन 93 भेद में 10 बंधन जोड़ने पर 103 संख्या होती है। बंधन के अपेक्षा से 5 और अपेक्षा से 15 भेद हैं। इसलिए जब बंधन के 5 भेद गिने जाए तब नामकर्म के 93 भेद होते हैं तथा बंधन के 15 भेद गिनने पर नामकर्म के 103 भेद होते हैं।

बंधन के 15 भेद और शरीर के 5 भेदों का शरीर नामकर्म में समावेश किया जाए तथा वर्ण–गंध–रस–स्पर्श, इन चार के अवांतर भेद नहीं गिनने पर 103 में से (बंधन के 15, संघात के 5, वर्णादि चार के 16) 36 भेद कम होने से कुल 67 भेद होते हैं। बंध, उदय और उदीरणा के आश्रय से 67 एवं सत्ता के आश्रय से 93 या 103 भेद गिने जाते हैं।

गोत्रकर्म के भेद –

उच्चैर्नीचैश्च ।।८-१३।।

गोत्र के दो भेद हैं – उच्च और नीच।

जिसके उदय से जीव उच्च कुल में जन्म लेता है, वह उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र में जन्म लेता है, वह नीच गोत्रकर्म। धर्म और नीति का रक्षण करने से बहुत काल से प्रख्याति को प्राप्त करते हुए इक्ष्वाकु वंश आदि उच्चकुल हैं। अधर्म और अनीति का सेवन करने से निंद्य बने हुए कसाई, मच्छीमार वगैरह नीच कुल हैं।

अंतराय कर्म के भेद –

दानादीनाम् ।।८-१४।।

अंतराय कर्म के पांच भेद हैं – दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यांतराय।

(1) दानांतराय – द्रव्य उपस्थित हो, पात्र का योग हो, 'पात्र को देने से लाभ होगा' ऐसा ज्ञान भी हो, तो भी जिसके उदय से दान देने का उत्साह न हो, अथवा उत्साह होने पर भी अन्य किसी कारण से दान न दे सके, वह दानांतराय कर्म है।

(2) लाभांतराय – दाता विद्यमान हो, देने योग्य वस्तु भी हो, याचना भी कुशलता से की हो तो भी जिस कर्म के उदय से याचक इच्छित वस्तु प्राप्त न कर सके, वह लाभांतराय कर्म है। इस कर्म के उदय से प्रयत्न करने पर भी इष्ट वस्तु का लाभ नहीं होता।

(3) भोगांतराय – वैभव आदि हो, भोग्य वस्तु भी हो, भोग करने की इच्छा भी हो तो भी जिसके उदय से इष्टवस्तु का भोग न कर सके, वह भोगांतराय कर्म।

(4) उपभोगांतराय – वैभव आदि हो, उपभोग के योग्य वस्तु भी हो, उपभोग करने की इच्छा भी हो तो भी जिसके उदय से उपभोग न कर सके, वह उपभोगांतराय कर्म।

(5) वीर्यांतराय – जिस कर्म के उदय से निर्बलता प्राप्त हो, वह वीर्यांतराय कर्म।

इस तरह कर्म की मूल आठ प्रकृति के कुल 148 भेद हुए – 5+9+2+28+4+93+2+5=148 । सूत्र 8–6 में मूल प्रकृति के कुल 97 भेद बताए थे क्योंकि वहाँ चौदह पिंडप्रकृति के पेटाभेद की गणना नहीं की है। चौदह पिंडप्रकृति के भेद गिनने से 51 भेद अधिक होते हैं इसलिए 97+51 = 148 । ये 148 भेद तथा बंधन के 10 भेद जोड़ने से 158 भेद सत्ता की अपेक्षा से हैं। उदय और उदीरणा की अपेक्षा से नामकर्म की 67 ही प्रकृतियों की गणना की जाती होने से 122 भेद होते हैं। बंध की अपेक्षा से सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, ये दो प्रकृतियाँ निकल जाने से 120 भेद होते हैं। इस विषयक अधिक स्पष्टता के लिए प्रथम कर्मग्रंथ देखना चाहिए।

(चार प्रकार के बंध में यहाँ तक प्रकृतिबंध का वर्णन किया। अब स्थितिबंध का वर्णन करते हैं। इसमें पहले उत्कृष्ट स्थितिबंध बताकर फिर जघन्य स्थितिबंध बताएँगे।)

स्थितिबंध –

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥८-१५॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥८-१६॥

नामगोत्रयोर्विंशतिः ॥८-१७॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ॥८-१८॥

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥८-१९॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥८-२०॥

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् ॥८-२१॥

प्रथम तीन प्रकृति यानी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और वदेनीय कर्म तथा अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 20 कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागरोपम है।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति 12 मुहूर्त है।

नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति 8 मुहूर्त है।

शेष पाँच कर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयुष्य, अंतराय) की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है।

स्थितिबंध का कोष्ठक

प्रकृति	उत्कृष्ट स्थिति
ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयुष्य, अंतराय	30 कोड़ाकोड़ी सा.
मोहनीय	70 कोड़ाकोड़ी सा.

प्रकृति	जघन्य स्थिति
वेदनीय	12 मुहूर्त
नाम–गोत्र	8 मुहूर्त

नाम–गोत्र	20 कोड़ाकोड़ी सा.
आयुष्य	33 सा.

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय,मोहनीय, आयुष्य, अंतराय	अंतर्मुहूर्त ①

रसबंध की व्याख्या –

विपाकोऽनुभावः ।।८-२२।।

कर्म का विपाक (फल देने की शक्ति) अनुभाव (रस) है।

परिपाक, विपाक, अनुभाव, अनुभाग, रस, फल आदि शब्द एकार्थक हैं। कर्मबंध के समय कौन–सा कर्म तीव्र, मध्यम या जघन्य इत्यादि फल देगा, इसका कर्माणुओं के रस के आधार पर निर्णय होता हैं।

कर्म में फल देने की शक्ति रसबंध है। इसलिए कौन–से कर्म में कैसा फल देने की शक्ति है, वह बताते हैं –

स यथानाम ।।८-२३।।

सभी कर्मों का विपाक=फल स्वयं के नाम के अनुसार है।

जिस कर्म का जो नाम है, उस नाम अनुसार उसका फल मिलता है। वह इस प्रकार – ज्ञानावरण कर्म का फल ज्ञान का अभाव है। दर्शनावरण कर्म का फल दर्शन (सामान्य उपयोग) का अभाव है। वेदनीय का फल सुख–दुःख है। मोहनीय कर्म का फल तत्त्व पर श्रद्धा और विरति का अभाव है। आयुष्य का फल नरकगति आदि की प्राप्ति है। नामकर्म का फल शरीर आदि की प्राप्ति है। गोत्रकर्म का फल उच्च या नीच गोत्र में जन्म है। अंतराय कर्म का फल दानादि का अभाव है।

उपमा द्वारा प्रत्येक कर्म के विपाक का वर्णन –

ज्ञानावरण कर्म आँख पर बँधी हुई पट्टी समान है। आँख पर पट्टी बांधने से जैसे कोई चीज दिखती नहीं है, ज्ञात नहीं होती वैसे आत्मा के ज्ञानरूप नेत्र को ज्ञानावरण कर्म रूप पट्टी आ जाने से आत्मा ज्ञात नहीं होता। तथा जैसे–जैसे पट्टी मोटी वैसे–वैसे कम दिखता है और जैसे–जैसे पट्टी पतली वैसे–वैसे अधिक दिखता है; इसी तरह ज्ञानावरण का आवरण जितना अधिक, ज्ञान उतना कम होता है और आवरण जितना न्यून, ज्ञान उतना अधिक होता है। आत्मा सर्वथा ज्ञानरहित नहीं होता। चाहे जितने बादल हो तो भी सूर्य का थोड़ा प्रकाश तो दिखता है, वैसे जीव को अल्प ज्ञान अवश्य होता ही है।

दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल (प्रतिहार) समान है। प्रतिहार राज्यसभा में आने वाले व्यक्ति को रोककर रखे तो उसे राजा के दर्शन नहीं होते, वैसे दर्शनावरण कर्म के उदय से जीव वस्तु को देख नहीं सकता, सामान्य बोध रूप ज्ञान नहीं कर सकता।

वेदनीय कर्म शहद से लिपटी हुई तलवार की तीक्ष्ण धार जैसा है क्योंकि उसके चाटने पर पहले स्वाद आता है लेकिन फलतः जीभ कट जाने से पीड़ा होती है, वैसे यह वेदनीय कर्म सुख–दुःख का अनुभव कराता है लेकिन उससे होने वाला सुख का अनुभव भी फलतः दुःखदायी होता है।

① यहाँ आयुष्य का अंतर्मुहूर्त क्षुल्लक भव जितना जानना । असंख्य समय =आवालिका, 256 आवलिका = 1 क्षुल्लक भव ।

मोहनीय कर्म मदिरापान समान है। जैसे मदिरा का पान करने से व्यक्ति विवेकरहित हो जाता है, हिताहित का विचार भी नहीं करता, अयोग्य चेष्टाएँ करता है, वैसे मोहनीय कर्म के योग से जीव विवेकरहित बनता है और 'आत्मा के लिए हेय क्या है? उपादेय क्या है?' इत्यादि विचार नहीं कर सकता। फलत: अयोग्य (आत्मा का अहित करने वाली) प्रवृत्ति करता है।

आयुष्य कर्म बेड़ी (जंजीर) समान है। बेड़ी में बंधा हुआ जीव अन्यत्र नहीं जा सकता, वैसे ही आयुष्य रूप बेड़ी से बंधा हुआ जीव वर्तमानगति का आयुष्य पूर्ण न हो तब तक अन्य गति में नहीं जा सकता।

नामकर्म चित्रकार समान है। जैसे चित्रकार मनुष्य, हाथी, घोड़ा वगैरह अलग-अलग चित्र =आकार बनाता है, वैसे नामकर्म अरूपी आत्मा के गति, जाति, शरीर वगैरह अनेक रूप तैयार करता है।

गौत्रकर्म कुलाल (कुम्हार) जैसा है। कुम्हार अच्छे और खराब, दोनों तरह के घड़े बनाता है। उसमें अच्छे घड़े की कलशरूप में स्थापना होती है और चंदन, अक्षत, माला वगैरह से पूजा होती है। खराब घड़ों में मद्य आदि भरा जाता है। इसलिए वे घड़े लोक में निंद्य माने जाते हैं। वैसे गोत्रकर्म के योग से उच्च और नीच कुल में जन्म पाकर जीव की उच्च रूप या नीच रूप में गणना होती है।

अंतराय कर्म भंडारी (कोषाध्यक्ष, राज्य का कोष संभालने वाला) समान है। जैसे दान करने की इच्छा वाले राजा आदि को उसका लोभी भंडारी दान करने में विघ्न करता है, वैसे अंतराय कर्म दानादि में विघ्न करता है।

कर्म	उपमा	फल
ज्ञानावरण	आँख पर पट्टी	विशेष बोध रूप ज्ञान नहीं होता
दर्शनावरण	प्रतिहार	सामान्य बोध रूप ज्ञान नहीं होता
वेदनीय	शहद से लिपटी हुई तलवार की धार	सुख-दु:ख का अनुभव
मोहनीय	मदिरापान	विवेक और हितप्रवृत्ति का निरोध
आयुष्य	बेड़ी	मनुष्य गति आदि में रहना
नाम	चित्रकार	गति, जाति आदि विकृति
गोत्र	कुम्हार	उच्च-नीच का व्यवहार
अंतराय	भंडारी	दानादि में अंतराय

फल देने के बाद कर्मों का क्या होता है? उसका प्रतिपादन –

ततश्च निर्जरा ।।८-२४।।

कर्मों का फल मिलने के बाद कर्मों की निर्जरा होती है।

निर्जरा यानी कर्मों का आत्मप्रदेशों से अलग होना। निर्जरा दो प्रकार से होती है –

(1) जैसे वृक्ष पर रहा आम स्वाभाविक रीति से पककर नीचे गिर जाता है, वैसे कर्म की स्थिति का परिपाक होने से स्वाभाविक रीति से कर्म उदय में आकर स्वयं का फल देकर अलग हो जाता है। इस निर्जरा को विपाकजन्य निर्जरा कहा जाता है।

(2) जैसे आम को घास में रखकर जल्दी पकाया जाता है, वैसे कर्म की स्थिति का परिपाक न होने पर भी तप आदि से उसकी स्थिति कमकर जल्दी उदय में लाकर फल देने के सन्मुख करने से जो निर्जरा होती है, वह अविपाकजन्य निर्जरा।

प्रदेशबंध का वर्णन –

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेषु अनन्तानन्तप्रदेशाः ।।८-२५।।

नाम निमित्तक = प्रकृति निमित्तक, सभी ओर से, योग विशेष से, सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाढ, स्थित, सर्व आत्मप्रदेशों में, अनंतानंत प्रदेशवाले अनंत कर्मस्कंधों का बंध होता है।

इस सूत्र को समझने के लिए निम्नलिखित आठ प्रश्न और उनके उत्तर समझने की आवश्यकता है –

(1) प्रदेश (कर्मदलिक) किसके कारण हैं ? अर्थात् प्रदेशों से क्या कार्य होता है?

(2) जीव प्रदेशों (कर्मपुद्गलों) को सर्वदिशाओं से ग्रहण करता है या एक दिशा से करता है?

(3) प्रत्येक समय समान कर्मपुद्गल ग्रहण करता है या न्यून–अधिक भी ग्रहण करता है? अथवा सभी जीव समान पुद्गल ग्रहण करते हैं या न्यून–अधिक भी ग्रहण करते हैं?

(4) स्थूल कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है या सूक्ष्म पुद्गलों को?

(5) कहाँ रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करता है?

(6) गतिमान पुद्गलों को ग्रहण करता है या स्थित पुद्गलों को?

(7) ग्रहण किए हुए कर्मप्रदेशों का आत्मा के कुछ प्रदेशों में ही संबंध होता है या सभी प्रदेशों में?

(8) एक बार में कितने प्रदेश वाले स्कंधों का ग्रहण होता है?

इन आठ प्रश्नों के उत्तर इस सूत्र में क्रमशः **'नामप्रत्ययाः, सर्वतः, योगविशेषात्, सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाढ, स्थिताः, सर्वात्मप्रदेशेषु, अनन्तानन्तप्रदेशाः'** इन आठ शब्दों से दिए हैं। वह इस प्रकार है–

(1) प्रदेश नाम के कारण हैं, अर्थात् कर्मों के ज्ञानावरणीयादि जो सार्थक नाम हैं, उनके कारण हैं। कर्मों के नाम उनके (फल देने के) स्वभाव अनुसार है। बंध के समय ही कर्मप्रदेशों का स्वभाव निश्चित होता है। इस स्वभाव के अनुसार ही उनका नाम होता है। जिन प्रदेशों में ज्ञान गुण के आवरण का स्वभाव निश्चित होता है, उन कर्मप्रदेशों का ज्ञानावरण नाम निश्चित होता है। जिन कर्मप्रदेशों में दर्शनगुण के आवरण का स्वभाव निश्चित होता है, उनका दर्शनावरण नामकरण होता है। इस प्रकार प्रदेशों में स्वभाव और स्वभावानुसार नाम निश्चित होता है। प्रदेश के बिना स्वभाव या नाम निश्चित नहीं हो सकते। इसलिए प्रदेश नाम अथवा स्वभाव (प्रकृति) के कारण हैं। यह उत्तर हमें सूत्र के पहले **'नामप्रत्ययाः'** शब्द से मिलता है। नाम यानी उस–उस कर्म का सार्थक नाम अथवा स्वभाव ।[1] उसके प्रत्यय यानी कारण।

① स्वभाव अनुसार ही कर्म के नाम हैं, अथवा नाम अनुसार कर्म के स्वभाव हैं, इसलिए नाम का अर्थ स्वभाव भी हो सकता है।

(2) जीव दसों दिशा (चार दिशा, चार विदिशा, ऊर्ध्व दिशा और अधोदिशा) से कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है। यह उत्तर सूत्र में रहे **'सर्वत:'** शब्द से मिलता है।

(3) कोई एक जीव प्रत्येक समय समान पुद्गल ग्रहण नहीं करता, अधिक या न्यून पुद्गलों का ग्रहण करता है क्योंकि प्रदेशबंध योग=व्यापार से होता है। जीव का योग = वीर्यव्यापार प्रत्येक समय बदलता रहता है। जैसे–जैसे योग अधिक, वैसे–वैसे अधिक पुद्गलों का ग्रहण करता है। जैसे–जैसे योग न्यून, वैसे–वैसे कम पुद्गलों का ग्रहण करता है। यद्यपि कभी एक जैसा योग भी होता है लेकिन वह अधिकतम आठ समय तक ही रहता है। इसलिए जीव प्रत्येक समय समान पुद्गलों का ग्रहण नहीं करता, स्वयं के योग अनुसार न्यून–अधिक भी करता है।

विवक्षित समय में सभी जीवों को समान ही प्रदेशों का बंध हो, ऐसा नियम नहीं है। जिन जीवों का योग समान होता है, उन जीवों को समान प्रदेशबंध होता है। जिन जीवों के योग में जितना फर्क, उन जीवों में उतने फर्क वाला प्रदेशबंध होता है। इससे तात्पर्य यह निकला कि किसी भी जीव को किसी भी समय स्वयं के योग अनुसार प्रदेशबंध होता है। यह उत्तर **'योगविशेषात्'** शब्द से मिलता है।

(4) इस विश्व में आँख से न देख सके ऐसे अनेक प्रकार के सूक्ष्म पुद्गल सर्वत्र व्याप्त हैं। लेकिन वे सभी पुद्गल कर्म रूप नहीं बन सकते। जो पुद्गल अत्यंत सूक्ष्म होते हैं (कर्मरूप बन सके उतने सूक्ष्म), वे ही पुद्गल कर्मरूप बन सकते हैं। जैसे थूली के लिए पीसाया हुआ गेहूँ रोटी बनाने के लिए अयोग्य है, वैसे बादर पुद्गल कर्म बनने के लिए अयोग्य हैं। कर्मरूप बन सके ऐसे पुद्गल के समूह को कार्मण वर्गणा कहा जाता है। जीव कार्मण वर्गणा के सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण कर कर्म रूप बनाता है। यह उत्तर सूत्र में रहे **'सूक्ष्म'** शब्द से मिलता है।

(5) अन्य पुद्गलों की तरह कार्मण वर्गणा के पुद्गल भी सर्वत्र फैले हुए हैं। जीव सर्वत्र रहे हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल का ग्रहण नहीं करता लेकिन जितने स्थान में स्वयं के (आत्म) प्रदेश हैं, उतने ही स्थान में रहे पुद्गल ग्रहण करता है। यहाँ अग्नि का दृष्टांत है। जैसे अग्नि स्वयं जितने स्थान में है, उतने ही स्थान में रहे जलने योग्य वस्तु को जलाती है लेकिन स्वयं के स्थान से दूर रही वस्तु को जलाती नहीं है; वैसे जीव स्वयं के क्षेत्र में ही रहे कर्मपुद्गलों का ग्रहण करता है, स्वयं के क्षेत्र से दूर रहे कर्मपुद्गलों का ग्रहण नहीं करता। यह उत्तर सूत्र में रहे **'एकक्षेत्रावगाढ'** शब्द से मिलता है।

(6) कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल स्थित (=स्थिर), गति रहित होते हैं, उन्हीं पुद्गलों का ग्रहण होता है। गतिमान, कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता। यह उत्तर **'स्थिता:'** शब्द से मिलता है।

(7) जीव सभी आत्मप्रदेशों से कर्म पुद्गलों का ग्रहण करता है। इस विषय को समझने के लिए श्रृंखला का दृष्टांत है। जैसे श्रृंखला (चेन, सांकल) की हरेक कड़ी परस्पर जुड़ी हुई होने से एक कड़ी का चलन होने पर सभी कड़ियों का चलन होता है, वैसे जीव के सर्वप्रदेश परस्पर जुड़े हुए होने से कर्मपुद्गलों का ग्रहण करने का व्यापार जब कोई एक प्रदेश करता है, तब अन्य सर्वप्रदेश व्यापार करते हैं। कुछ प्रदेशों का व्यापार न्यून होता है, कुछ प्रदेशों का व्यापार न्यूनतर होता है, इस तरह व्यापार में अंतर अवश्य होता है। जैसे – हम घड़ा उठाते है, तब हाथ के समग्र भाग में व्यपार होने पर भी हथेली में व्यापार अधिक होता है, कलाई के भाग में उससे कम व्यापार होता है। इसी प्रकार प्रस्तुत में कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने का व्यापार सभी आत्मप्रदेशों में होता है लेकिन व्यापार में भेद अवश्य होता है। प्रत्येक आत्मप्रदेशों में कर्मग्रहण का व्यापार होने से हरेक आत्मप्रदेश में आठों कर्म संबद्ध होते हैं। यह उत्तर हमें सूत्र में **'सर्वात्मप्रदेशेषु'** शब्द से मिला।

(8) प्रदेशबंध में एक, दो, तीन... ऐसे अलग-अलग पुद्गल का बंध नहीं होता किंतु बड़े समूह [1] रूप में बंध होता है। उसमें भी एक साथ एक, दो... यावत् संख्य या असंख्य समूहों का बंध नहीं होता, अनंत समूहों का ही बंध होता है। तथा एक-एक समूह में अनंत कर्माणु होते हैं। अत: एक बार में प्रत्येक आत्मप्रदेश में अनंतानंत कर्माणु का बंध होता है। यह उत्तर सूत्र में **'अनन्तानन्तप्रदेशा:'** शब्द से मिला।

पुण्य प्रकृतियों का निर्देश -

सद्वेद्य-सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम् ॥८-२६॥

सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभ आयुष्य, शुभ नाम और शुभ गोत्र पुण्य हैं।

वेदनीय में सातावेदनीय शुभ है । मोहनीय में सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति और पुरुषवेद ये चार प्रकृत्तियाँ शुभ हैं। आयुष्य में दो आयु शुभ हैं - देव और मनुष्य। नाम की 37 प्रकृतियाँ शुभ हैं- मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, प्रशस्तवर्ण [2], प्रशस्त रस, प्रशस्त स्पर्श, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, शुभविहायोगति, उपघात के अलावा सात प्रत्येक प्रकृतियाँ (पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर और निर्माण) तथा त्रसदशक। गोत्र में उच्चगोत्र शुभ है।

वेदनीय की 2, मोहनीय की 5, आयुष्य की 2, नाम की 37 और गोत्र की 1, इस तरह कुल 45 पुण्य प्रकृति है ।

कर्मप्रकृति वगैरह ग्रंथों में सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद इन चार प्रकृति रहित और तिर्यंचायु सहित 42 प्रकृतियों को पुण्य कहा है । इस मतांतर का कारण पुण्य पाप की व्याख्या का भेद है । तत्त्वार्थकार के मत में जो प्रीति उत्पन्न करे, जो इष्ट हो वह पुण्य और उससे विपरित है, वह पाप है । कर्मप्रकृति आदि ग्रंथकारों के मत में आत्मविकास का साधक कर्म पुण्य और आत्मविकास का बाधक कर्म पाप है । सम्यक्त्वमोह का उदय अरिहंत आदि के प्रति प्रीति-भक्तिराग उत्पन्न करता है इसलिए प्रशस्त होने से तत्त्वार्थकार के मत में पुण्यरूप है । लेकिन उससे दर्शन गुण में अतिचार लगने से अन्य ग्रंथकारों के मत से वह पुण्य रूप नही हैं । हास्य, रति और पुरुषवेद का उदय प्रीति आनंद उत्पन्न करता है इसलिए तत्त्वार्थकार के मत से वह पुण्य है लेकिन आत्मविकास में बाधक होने से अन्य ग्रंथकारों के मत में पाप है । तिर्यंचों को नारकों की तरह मरना अच्छा नहीं लगता इसलिए कर्मप्रकृति वगैरह ग्रंथो में तिर्यंच आयुष्य को पुण्य कहा है ।

पुण्य प्रकृति के अलावा अन्य सभी प्रकृतियाँ पाप रूप हैं । उदय की अपेक्षा से 122 प्रकृतियों में से 45 पुण्य प्रकृति न्यून करने से और वर्णचतुष्क की वृद्धि करने से 81 प्रकृतियाँ पाप रूप हैं। वह इस प्रकार-5 ज्ञानावरण, 9 दर्शनावरण, 1 वेदनीय, 24 मोहनीय, 2 आयुष्य, 34 नाम ,1 गोत्र, 5 अंतराय ।

प्रश्न - नवतत्त्व वगैरह ग्रंथों में 82 पाप प्रकृतियाँ कही हैं, वह कैसे ?

उत्तर - वहाँ नामकर्म के 67 भेदो [3] की गणना की गई है । अत: नामकर्म की 34, चार घाती कर्म की

---

① इस समूह को शास्त्रीय भाषा में स्कंध कहते हैं।

② वर्ण-गंध-रस स्पर्श के कुछ भेद पुण्य और कुछ भेद पाप रूप होने से सामान्य से वर्णचतुष्क उभय रूप हैं । विशेष से रक्त, पीत और श्वेत ये तीन वर्ण, सुरभिगंध, कषाय-अम्ल-मधुर ये तीन रस, लघु-मृदु-स्निग्ध-उष्ण ये चार स्पर्श इस तरह कुल 11 प्रकति पुण्य स्वरूप एवं शेष 9 प्रकृति पाप स्वरूप हैं ।

③ नाम कर्म के 67 भेदों के लिए देखें सूत्र 8-12।

45 और शेष तीन अघाती की (वेदनीय, 1 गोत्र, 1 आयुष्य)3, इस तरह कुल 82 प्रकृतियाँ पाप स्वरूप हैं। नवतत्त्व वगैरह ग्रंथों में बंध की अपेक्षा से 120 प्रकृतियों के आश्रय से 42 पुण्य प्रकृति और 82 पाप प्रकृति दशाई हैं।

* * *

नवम अध्याय

संवर की व्याख्या

आस्रवनिरोधः संवरः ।।९-१।

आस्रव [1] का निरोध संवर है।

संवर के दो प्रकार हैं – देशसवंर और सर्वसंवर। सर्वसंवर यानी सभी प्रकार के आस्रवों का अभाव। देशसंवर यानी कुछ आस्रवों का अभाव। सर्वसंवर चौदहवें गुणस्थानक में होता है। उससे नीचे के गुणस्थानों में देशसंवर होता है। देशसंवर बिना सर्वसंवर नहीं होता, इसलिए पहले देशसंवर के लिए प्रयत्न करना चाहिए [2]। देशसंवर के उपाय निम्नलिखित सूत्र में बताते हैं।

संवर के उपाय –

स गुप्ति-समिति-धर्माऽनुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः ।।९-२।।

गुप्ति [3], समिति, धर्मानुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवर होता है।

निर्जरा का उपाय –

तपसा निर्जरा च ।।९-३।।

तप से निर्जरा और संवर दोनों होते हैं।

यद्यपि गुप्ति आदि से भी संवर की तरह निर्जरा होती है लेकिन तप से निर्जरा अधिक होती है। इसलिए तप में निर्जरा की प्रधानता है और गुप्ति आदि में संवर की प्रधानता है।

गुप्ति की व्याख्या –

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ।।९-४।।

मन–वचन–काया, इन तीन योगों का सम्यग् निग्रह गुप्ति है।

सम्यग् यानी कैसे योगों से कर्मबंध होता है और कैसे योगों से संवर या निर्जरा होती है, यह जानकर उसकी श्रद्धा करना। ज्ञान–श्रद्धा युक्त योग निग्रह सम्यक् है अर्थात् सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनपूर्वक होने वाला योगनिग्रह सम्यक् है। अतः सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन बिना होने वाला योगनिग्रह गुप्ति नहीं है, क्लेशरूप है। यहाँ निग्रह का अर्थ केवल निवृत्ति नहीं किंतु प्रवृत्ति–निवृत्ति उभय रूप है। शास्त्रनिषिद्ध कृत्यों से योगों की निवृत्ति और शास्त्रविहित कृत्यों में योगों की प्रवृत्ति योगनिग्रह है। योग तीन होने से गुप्ति के भी तीन भेद हैं– कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति।

(1) कायगुप्ति – कायोत्सर्ग आदि द्वारा कायव्यापार की निवृत्ति अथवा शास्त्रविहित अनुष्ठानों में शास्त्रोक्त विधिपूर्वक प्रवृत्ति कायगुप्ति है।

---

① आस्रव तत्व का वर्णन देखें अध्याय–6 में।
② संवर के विशेष वर्णन के लिए देखें सूत्र 1–3।
③ गुप्ति आदि का वर्णन स्वयं ग्रंथकार सूत्र 9–4 आदि में करेंगे।

(2) वचनगुप्ति – मौन द्वारा वचनव्यापार की निवृत्ति अथवा शास्त्रोक्त विधिपूर्वक स्वाध्याय, उपदेश आदि में वचन की प्रवृत्ति वचनगुप्ति है।

(3) मनोगुप्ति – आर्तध्यान और रौद्रध्यान रूप अशुभ विचारों से निवृत्ति अथवा धर्मध्यान या शुक्लध्यान रूप शुभ ध्यान में मन की प्रवृत्ति अथवा शुभ–अशुभ दोनों प्रकार के विचारों का त्याग [1] मनोगुप्ति है।

समिति का वर्णन –

ईर्या-भाषैषणा-ऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।।९-५।।

समिति पाँच हैं – ईर्या, भाषा, एषणा, आदान–निक्षेप और उत्सर्ग।

समिति शब्द में 'सम्' और 'इति', ये दो शब्द हैं। सम् यानी सम्यग् , इति यानी प्रवृत्ति। सम्यग् प्रवृत्ति समिति है। सम्यग् यानी शास्त्रोक्त विधिपूर्वक। समिति (सम्यग् प्रवृत्ति) अनेक प्रकार की है। उन सभी का यहाँ ईर्या आदि पांच में समावेश हो जाता है। समिति केवल प्रवृत्ति स्वरूप है और गुप्ति प्रवृत्ति–निवृत्ति उभय स्वरूप है। अतः गुप्ति में समिति का समावेश हो जाता है तो भी बाल जीवों को शीघ्र और स्पष्ट बोध हो, इस हेतु से समिति का अलग वर्णन किया है।

(1) ईर्यासमिति – ईर्या यानी जाना। संयम की रक्षा के उद्देश्यपूर्वक आवश्यक कार्य के लिए युगप्रमाण [2] भूमि का निरीक्षण करने पूर्वक जहाँ लोगों का गमनागमन होता हो और सूर्य का प्रकाश आता हो, ऐसे मार्ग पर धीमी गति से जाना ईर्यासमिति है।

(2) भाषा समिति – भाषा यानी बोलना। आवश्यक हो तभी स्व–पर को हितकारी प्रमाणोपेत, निरवद्य और स्पष्ट आदि गुणों से युक्त वचन बोलना भाषा समिति है।[3]

(3) एषणा समिति – एषणा यानी गवेषणा करना, तलाश करना। संयम के निर्वाह के लिए आवश्यक वसति, वस्त्र, पात्र, आहार, औषध आदि वस्तुओं की शास्त्रोक्त विधि पर्वक तलाश करना एषणा समिति है अर्थात् शास्त्रोक्त विधि पूर्वक तलाशकर दोष रहित आहार आदि का ग्रहण करना एषणा समिति है।

(4) आदान–निक्षेप समिति – आदान यानी ग्रहण करना, निक्षेप यानी रखना। संयम के उपकरणों को चक्षु से देखकर तथा रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर ग्रहण करना तथा भूमि का निरीक्षण–प्रमार्जन कर रखना आदान–निक्षेप समिति है।

(5) उत्सर्ग समिति – उत्सर्ग यानी त्याग। शास्त्रोक्त विधि पूर्वक भूमि का निरीक्षण–प्रमार्जन कर मल आदि का त्याग करना उत्सर्ग समिति है।

पाँच समिति और तीन गुप्ति को अष्टप्रवचन माता रूप से संबोधित किया जाता है, माना जाता है। जैसे माता बालक को जन्म देती है, फिर उसका रक्षण और पोषण करती है, वैसे पाँच समिति और तीन गुप्ति प्रवचन = संयम को जन्म देती है, उसका रक्षण–पोषण करती है, उसे शुद्ध बनाती है। गुप्ति–समिति बिना संयम नहीं हो

---

① यह मनोगुप्ति योगनिरोध अवस्था में होती है।

② युग यानी बैलों को बैलगाड़ी में जोड़ने की उध, धोंसरी । वह 4 हाथ जितनी होती है। **युगमात्रं चतुर्हस्तप्रमाणं शकटोर्द्धिसंस्थितं** (आचा. श्रु. 2 अ. 3 उ.1 सू. 115)।

③ भाषा समिति के पालन के लिए कैसी वाणी बोलनी चाहिए, इस विषय की उपदेशमाला ग्रंथ में निम्नलिखित गाथा है –

महुरं निउणं थोवं कज्जावडियं अगव्वियमतुच्छं। पुव्विं मइसंकलियं भणंति जं धम्मसंजुत्तं ।।

विचक्षण पुरुष मधुर, निपुण, अल्प, कार्यपर्यंत, अभिमान रहित, उदार, विचारपूर्वक और धर्मयुक्त वचन बोलते हैं।

सकता तथा स्वीकृत संयम का रक्षण–पोषण नहीं हो सकता। इस प्रकार समिति और गुप्ति संयम की प्राप्ति में तथा स्वीकृत संयम के रक्षण–पोषण में प्रधान कारण होने से संयम=प्रवचन की माता है।

धर्म का वर्णन –

उत्तमः क्षमा-मार्दवा-ऽऽर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्यागा-ऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ।।९-६।।

(यति) धर्म दस प्रकार के हैं – उत्कृष्ट क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य।

दो प्रकार के धर्म (साधु धर्म और गृहस्थ धर्म) में से यहाँ साधुधर्म का वर्णन है। इसलिए ही सूत्र में उत्तम शब्द का उल्लेख किया गया है। उत्कृष्ट प्रकार के क्षमा आदि धर्म साधु को ही होते हैं। गृहस्थों को क्षमा आदि सामान्य होती है।

(1) क्षमा – क्षमा यानी सहिष्णुता। बाह्य या आंतरिक (शारीरिक या मानसिक) प्रतिकूलता में निमित्त बनने वाले पर क्रोध नहीं करना, गलती से क्रोध का उदय हो जाए तो उसे निष्फल करना (अंतर में क्रोध लेकिन उसे बाहर प्रगट नहीं करना, तुरंत शांत करना जिससे उसके वैमनस्य आदि अशुभ फल न हो) क्षमा है।

क्षमा के पाँच प्रकार –

क्षमा पांच प्रकार की है – उपकार क्षमा, अपकार क्षमा, विपाक क्षमा, वचन क्षमा और धर्मक्षमा।

(1) 'यह मेरा उपकारी है, यदि मैं इसके दुर्वचनादि सहन नहीं करूँ तो उपकार का संबंध नहीं रहेगा' ऐसा सोचकर उपकारी के दुर्वचनादि को सहन करे, वह उपकार क्षमा है। जिस व्यक्ति से स्वयं का सांसारिक उपकार होता हो अथवा भविष्य में होने वाला हो, उसके कठोर वचन वगैरह शांति से सहन करना **उपकार क्षमा** है। जैसे– नौकर सेठ के कड़वे वचन सहन करे। 'मैं क्षमा रखूंगा तो पिता की संपत्ति में से मुझे अधिक मिलेगा' ऐसे आशय से पिता के कड़वे वचन सहन करना इत्यादि। यह क्षमा लोभ से होती है।

(2) 'यदि मैं इसके दुर्वचनादि सहन नहीं करूँ तो वह मेरा अपकार करेगा, अधिक नुकसान करेगा' ऐसा सोचकर दुर्वचनादि को सहन करना अपकार क्षमा है। अथवा दो–चार आदमी बैठे हो तब कोई व्यक्ति के अयोग्य वचन कहने पर 'इन सबके सामने मैं गुस्सा होऊंगा तो हल्का दिखूंगा' ऐसे भाव से क्षमा रखना **अपकार क्षमा** है। यह क्षमा मान से होती है। इस प्रकार उपकार और अपकार क्षमा लोभ और मान के घर की है, आत्मा के घर की नहीं।

(3) 'क्रोध वगैरह से नरक में गए हुए जीव कर्म के कटु फल प्राप्त करते हैं अथवा क्रोध से मानव भव में ही अनर्थ होते हैं' ऐसे क्रोध के विपाक को देखता–सोचता हुआ जीव क्षमा धारण करे, वह **विपाक क्षमा** है।

(4) भगवान ने क्षमा धारण करने के लिए कहा है इसलिए जिनवचन को याद कर क्षमा धारण करे, वह **वचन क्षमा**।

(5) जैसे चंदन में स्वाभाविक सुवास होती है, वैसे स्वाभाविक रूप से होने वाली क्षमा **धर्मक्षमा** है। जैसे चंदन स्वयं को काटने वाले या जलाने पर भी सुवास देकर उपकार करता है, वैसे धर्मक्षमायुक्त महात्मा भी स्वयं पर अपकार करने वाले पर गुस्सा नहीं करते, बल्कि भावदया चिंतन आदि से उस पर उपकार करते हैं।

जब आत्मा में उत्कृष्ट प्रकार की दया प्रगट होती है, तब जीव किसी भी प्रकार के प्रयत्न बिना क्षमा धारण करता है। चाहे जैसे अनिष्ट प्रसंगों में भी स्वाभाविक रीति से ही उसे जरा भी गुस्सा नहीं आता। क्षमा उसका स्वभाव ही हो जाता है।

(2) मार्दव – मार्दव यानी मृदुता=नम्रता अर्थात् मद और मान का निग्रह मार्दव है। बाह्य या अभ्यंतर संपत्ति का मद नहीं करना, 'मैं कुछ हूँ' ऐसा मन में नहीं लाना, वडील (बड़ों) का विनय करना, उनके प्रति भक्ति–बहुमान और छोटों के प्रति वात्सल्य भाव रखना इत्यादि से मार्दव की अभिव्यक्ति होती है। 'मैं कुछ हूँ' ऐसी वृत्ति, बड़ों के प्रति उद्धत वर्तन–उपेक्षा भाव, स्वप्रशंसा, परनिंदा आदि से मद–मान की अभिव्यक्ति होती है। साधारण चावल और बासमती, दोनों चावल के प्रकार होने पर भी उनके अर्थ में जैसे थोड़ा फर्क है, वैसे मद और मान, दोनों अहंकार स्वरूप होने पर भी दोनों में कुछ फर्क है। किसी भी प्रकार से 'मैं कुछ हूँ' ऐसी वृत्ति मान है और उत्तम जाति आदि के कारण 'मैं कुछ हूँ' ऐसी वृत्ति मद है।

जाति आदि आठ कारण के आश्रय से मद के आठ भेद हैं। मद आठ प्रकार का है – जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य [1], विज्ञान [2], श्रुत, लाभ और वीर्य। माता का वंश जाति है। पिता का वंश कुल है। शारीरिक सौंदर्य रूप है। ऐश्वर्य यानी धन–धान्य आदि बाह्य संपत्ति। औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि विज्ञान [3] है। जिनोक्त शास्त्र के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान श्रुत है। अथवा मतिज्ञान विज्ञान है और श्रुतज्ञान श्रुत है। इष्ट वस्तु की प्राप्ति लाभ है। शारीरिक शक्ति आदि वीर्य है। इन आठ प्रकार के मद और मान का त्याग करने से मार्दव धर्म प्रगट होता है।

जीव मान–मद के कारण स्वप्रशंसा और परनिंदा में रत रहता है। इससे वह इहलोक में अनेक अनर्थ पाने के साथ परलोक में भी अनर्थकारी अशुभ कर्म बांधता है। अहंकारी जीव अन्य की हितकर बात भी सुनता या मानता नहीं है। अत: मुमुक्षुओं को मान–मद का त्याग करना चाहिए।

(जातिमद आदि के त्याग के लिए कैसा चिंतन करना चाहिए, इसका तत्वार्थभाष्यटीका में तथा प्रशमरति वगैरह ग्रंथो में सुंदर वर्णन है।)

(3) आर्जव – आर्जव यानी ऋजुता, सरलता। मन–वचन–काया की प्रवृत्ति में सरलता (माया का अभाव) आर्जव है अर्थात् वृत्ति (मानसिक परिणाम), वचन और वर्तन, इन तीनों का ऐक्य आर्जव है। माया, कूड–कपट, शठता आदि दोषों के त्याग से आर्जव धर्म की प्राप्ति होती है।

(4) शौच – शौच यानी लोभ का अभाव =अनासक्ति। धर्म के उपकरणों पर भी ममत्वभाव नहीं रखना चाहिए। लोभ या आसक्ति से आत्मा कर्मरूप मल से मलिन होती है। इसलिए लोभ या आसक्ति अशौच=अशुचि है। अलोभ या अनासक्ति से आत्मा शुद्ध होती है इसलिए वह शौच=शुचि है।

(5) सत्य – आवश्यक हो तभी, स्व–पर को हितकारी, प्रमाणोपेत आदि गुणों से युक्त वचन बोलना सत्य है।

(6) संयम – मन–वचन–काया का निग्रह (अशुभ से निवृत्ति या शुभ में प्रवृत्ति) संयम है। सामान्य से संयम के 17 भेद हैं। वह इस प्रकार – पाँच अव्रत [4] रूप आश्रवों का त्याग, पांच इन्द्रियों का जय, चार कषायों का त्याग, मनदंड–वचनदंड–कायदंड से निवृत्ति अथवा 17 प्रकार का संयम–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय,

---

① प्रशमरति ग्रंथ में ऐश्वर्य की जगह 'वालभ्यक' है।
② विज्ञान की जगह कहीं तप भी आता है।
③ चार प्रकार की बुद्धि का वर्णन सूत्र 1–17 में।
④ **पञ्चास्रवाद् विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रह: कषायजय:।**
दंडत्रयविरतिश्चेति संयम: सप्तदशभेद: ॥172॥ प्रशमरति प्रकरण, गाथा– 172

वायुकाय, वनस्पतिकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, प्रेक्ष्य, उपेक्ष्य, अपहृत्य, प्रमृज्य, काय, वचन, मन और उपकरण विषयक संयम।

(1–9) पृथ्वीकाय के जीवों को दु:ख हो ऐसी प्रवृत्ति मन–वचन–काया से करने–कराने और अनुमोदना करने का त्याग पृथ्वीकाय संयम है। इसी प्रकार पंचेन्द्रिय संयम तक समझना।

(10) प्रेक्ष्य संयम – आंखों से निरीक्षण करने पूर्वक बैठना वगैरह किया करना प्रेक्ष्य संयम है।

(11) उपेक्ष्य संयम – साधुओं को शास्त्रोक्त अनुष्ठान में जोड़ना और स्वक्रिया के व्यापार से रहित गृहस्थों की उपेक्षा करना उपेक्ष्य संयम है।

(12) अनावश्यक वस्तुओं का त्याग अथवा जीवों से युक्त भिक्षा आदि वस्तु परठना अपहृत्य संयम है।

(13) रजोहरण से प्रमार्जना करके बैठना आदि क्रिया करना प्रमृज्य संयम है।

(14–16) अशुभ योगों से निवृत्ति और शुभ योगों में प्रवृत्ति कायसंयम, वचन संयम और मन संयम है।

(17) पुस्तकादि उपकरण आवश्यकतानुसार ही रखना, उनका संरक्षण करना आदि उपकरण संयम है।

(7) तप–शरीर और इन्द्रियों को तपाने से आत्मविशुद्धि करे वह तप है[1]।

(8) त्याग – बाह्य और अभ्यंतर उपधि में भावदोष का = मूर्च्छा का त्याग त्यागधर्म है। अन्नपान बाह्य उपधि है। शरीर अभ्यंतर उपधि है। अथवा रजोहरणादि बाह्य उपधि है और क्रोधादि कषाय अभ्यंतर उपधि है। अथवा अनावश्यक उपकरणों का अस्वीकार त्याग है।

(9) आकिंचन्य – शरीर तथा साधना के उपकरणों पर ममत्व का अभाव आकिंचन्य धर्म है। आकिंचन्य यानी सभी वस्तु का अभाव। मुनि ममत्व बिना मात्र संयम की रक्षा के लिए संयम के उपकरण रखते हैं और देह का पालन–पोषण करते हैं। इसलिए उपकरण होने पर भी उनके पास कुछ नहीं है। जहाँ ममत्व नहीं है, वहाँ वस्तु होने पर भी नहीं है। जहाँ वस्तु न होने पर भी ममत्व है, वहाँ वस्तु है। अत: शरीर आदि पर ममत्व का अभाव ही वास्तविक आकिंचन्य है।

(10) ब्रह्मचर्य – ब्रह्मचर्य यानी मैथुन प्रवृत्ति का त्याग। यद्यपि ब्रह्म यानी आत्मा, चर्य यानी रमणता करना, यह ब्रह्मचर्य है अर्थात् इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट वस्तु में द्वेष का त्याग कर आत्मा में रमणता करना ब्रह्मचर्य है। तथापि यहाँ मैथुनवृत्ति का त्याग रूप ब्रह्मचर्य विवक्षित है। मैथुनवृत्ति के त्याग रूप ब्रह्मचर्य के पालन के लिए वसति, कथा, निषद्या, इन्द्रिय, कुड्यांतर, पूर्वक्रीड़ित, प्रणीत आहार, अतिमात्र भोजन, विभूषा इन नौ के त्याग रूप नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति तथा ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाओं का पालन अनिवार्य है [2]।

अथवा ब्रह्म यानी गुरु, उनके आधीन जो चर्या वह ब्रह्मचर्य। अर्थात् मैथुनवृत्ति के त्याग रूप ब्रह्मचर्य पालन, ज्ञान की अभिवृद्धि और कषायों की शांति के लिए गुरुकुलवास का सेवन करना, गुरु के आधीन रहना ब्रह्मचर्य है। गुरुकुलवास बिना ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ति खंडित होने की संभावना से शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन कठिन है। शास्त्रों का अध्ययन गुरु के पास करने का विधान है। अत: गुरुकुलवास बिना ज्ञान की वृद्धि भी नहीं होती। सुगुरु की आज्ञा

---

① तप का विशेष वर्णन सूत्र 9–19 आदि में देखें ।

② पाँच भावनाओं का वर्णन सूत्र 7–3 में आ चुका है। नौ गुप्ति का अर्थ इस प्रकार है – (1) जहां स्त्री, पशु, नपुंसक रहते हो, ऐसी वसति में नहीं रहना। (2) कामवर्धक स्त्रीकथा न करना। (3) जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो, उस स्थान पर उसके खड़े होने के बाद पुरुष को दो घड़ी तक नहीं बैठना तथा पुरुष के उठने के बाद स्त्री को उस स्थान पर तीन प्रहर तक नहीं बैठना। (4) स्त्री की इन्द्रियाँ तथा अंगोपांग का निरीक्षण न करना। (5) जहाँ दीवाल के पीछे पति–पत्नी संबंधी संभोग की आवाज सुनाई देती हो, उस स्थान का त्याग करना। (6) पहले गृहस्थावास में की हुई कामक्रीड़ा का स्मरण न करना। (7) प्रणीत= अत्यंत स्निग्ध और मधुर दूध–दही आदि आहार का त्याग करना। (8) अप्रणीत आहार भी अधिक नहीं लेना (ऊणोदरी रखना)। (9) शरीर और उपकरणों की विभूषा (साज–सज्जा) का त्याग करना।

बिना स्वतंत्र रहने में कषायों की भी वृद्धि हो, यह सुसंभवित है। गुरु की निश्रा बिना विकथा, अयोग्य व्यक्ति का परिचय वगैरह दोषों से मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होना भी संभवित है। अत: मुमुक्षु को जीवन पर्यंत गुरुकुलवास का सेवना करना चाहिए और वही प्रकृष्ट ब्रह्मचर्य धर्म है।

अनुप्रेक्षा का वर्णन–

अनित्या-ऽशरण-संसारै-कत्वा-ऽन्यत्वा-ऽशुचित्वा-ऽऽस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यात-तत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ।।९-७।।

अनुपेक्षा=भावना 12 प्रकार की है– अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मस्वाख्यात। इन 12 प्रकार से तत्वचिंतन करना।

(1) अनित्यता– कुटुंब, कंचन, कामिनी, कीर्ति, काया वगैरह की अनित्यता का चिंतन करना अनित्य भावना है। संयम के साधन स्वरूप शरीर, शय्या, आसन वगैरह भी अनित्य हैं। संसार में जहाँ संयोग है, वहाँ अवश्य वियोग है। अत: सभी प्रकार का संयोग अनित्य है। संसार के सभी सुख कृत्रिम होने से विनाशशील हैं। केवल आत्मा और आत्मा का सुख ही नित्य है।

फल – इस विचारणा से बाह्य पदार्थों पर ममत्व–अभिष्वंग नहीं होता। अत: उन पदार्थों का वियोग होने पर दु:ख नहीं होता।

(2) अशरणता – संसार में स्वयं का रक्षण करने वाला कोई नहीं है, इसका चिंतन अशरण भावना है। रोगादि का दु:ख या अन्य कोई आपत्ति आने पर कोई भौतिक साधन या स्नेही–स्वजन वगैरह इस जीव को दु:ख से या आपत्ति से बचाने के लिए समर्थ नहीं है, बल्कि कभी तो अधिक दु:ख उत्पन्न करते हैं। इस अवसर पर देव–गुरु–धर्म ही रक्षण करते हैं, सांत्वना देते हैं। अत: संसार में देव–गुरु–धर्म सिवाय कोई भी भौतिक वस्तु या स्वजन हमारे लिए शरण रूप नहीं है।

फल – 'संसार में मैं अशरण हूँ' ऐसा सोचने से संसार का भय उत्पन्न होता है, उससे संसार और संसार के सुखों पर प्रेम नहीं होता तथा 'जिनशासन ही शरणभूत है' ऐसा ख्याल आने से उसकी आराधना के लिए प्रवृत्ति होती है, उल्लास प्रगट होता है।

(3) संसार – संसार भावना यानी संसार के स्वरूप का चिंतन करना। जीव नरक–तिर्यंच–मनुष्य–देव इन चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करता हुआ अनंत दु:ख सहन करता है। संसार के किसी कोने में, किसी भी भौतिक वस्तु में आंशिक भी सुख नहीं है, केवल दु:ख ही है। संसार विविध दु:खों का महाजंगल है। कर्म के संयोग से जीव को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। कर्म का संयोग राग–द्वेष से होता है। अत: दु:ख का मूल राग–द्वेष है। संसार से बचना हो तो राग–द्वेष आदि दोषों का नाश करना चाहिए।

अथवा निम्नलिखित रूप से चिंतन करना। नरक आदि चार गति में चक्र की तरह परिभ्रमण करते इस जीव के लिए सभी जीव स्वजन हैं अथवा सभी जीव परजन हैं। संसार में स्वजन–परजन की कोई व्यवस्था ही नहीं है क्योंकि जीव एकभव में स्वजन होकर दूसरे भव में कर्म के सामर्थ्य से परजन होता है। एक भव में परजन होकर दूसरे भव में स्वजन होता है तथा एक ही जीव माता होकर बहन होता है, बहन होकर भाई होता है। इस तरह एक जीव के साथ सभी संबंध होते हैं। संसार में परिभ्रमण करते जीव को अन्य सभी जीवों के साथ भाई–बहन, माता–पिता आदि हरेक प्रकार का संबंध हो चुका है। इसलिए सभी जीव स्वजन है। सभी जीवों को स्वजन न

मानना हो तो सभी जीव (वर्तमान के स्वजन भी) परजन हैं। तथा संसार में एक ही जीव भिन्न–भिन्न रूप धारण करता है। एक भव में मालिक होकर दूसरे भव में दास होता है। एकभव में स्त्री होकर दूसरे भव में पुरुष होता है। राग–द्वेष–मोह के वश होकर जीव इस तरह चौरासी लाख योनि में भटककर परस्पर भक्षण, वध, बंध, असत्य आरोप, अप्रियवचन वगैरह से तीव्र दु:ख सहन करते हैं। अत: संसार दु:ख रूप ही है।

फल – संसार भावना से संसारभय उत्पन्न होता है। इससे अध्यात्म की नींव रूप निर्वेद गुण (संसार के सुख के नाश की इच्छा [1]) उत्पन्न होता है। निर्वेद प्राप्त करने वाला जीव संसार के नाश का प्रयत्न करता है।

(4) एकत्व – 'जीव स्वयं अकेला ही है' इत्यादि चिंतन करना एकत्व भावना है। जीव अकेला ही होने से स्वयं के शुभाशुभ कर्मों का फल अकेला ही अनुभव करता है। अन्य स्वजन–संबंधी उसके कर्मों के फल में बँटवारा नहीं कर सकते। परलोक से यहाँ आया तब अकेला ही आया था और यहाँ से परलोक जाता है तब भी अकेला ही जाता है। अन्य कोई उसके साथ परलोक से आते नहीं हैं और परलोक में जाते नहीं हैं। स्वजनादि के लिए पाप किए हो तो भी पाप का फल तो स्वयं को ही चखना पड़ेगा। संबंधी उसमें भाग नहीं कर सकते।

फल – हृदय को एकत्व भावना से वासित करने से स्वजन पर स्नेहराग = आसक्ति नहीं होती और परजन पर द्वेष नहीं होता। अत: नि:संगभाव आने से मोक्ष के लिए प्रवृत्ति करने की भावना होती है।

(5) अन्यत्व – स्वयं के आत्मा के अलावा जड़–चेतन पदार्थ अन्य है, स्वयं से भिन्न है, ऐसा चिंतन अन्यत्व भावना है। आत्मा के अलावा कोई पदार्थ स्वयं का न होने से जीव अज्ञानता से इस शरीर को और अन्य संबंधियों को स्वयं का मानता है। अत: उन पर ममत्व करके उनके लिए अनेक पाप करता है। अत: शरीर और स्वजनों का ममत्व भाव कम करने के लिए अन्यत्व भावना का चिंतन आवश्यक है। सभी प्राणी एक–दूसरे से भिन्न हैं। कर्म के योग से मिले हैं और पुन: अलग होंगे। अलग–अलग देश से आए हुए यात्री कुछ समय होटल में साथ रहकर अलग हो जाते हैं, वैसे समय पसार होने पर संबंधी भी अलग हो जाएँगे। शरीर भी आत्मा से भिन्न है। शरीर विनाशी है, जबकि आत्मा अविनाशी, अजर, अमर है। शरीर जड़ है जबकि आत्मा चेतन है। शरीर बदलते रहते हैं, आत्मा एक ही रहती है। संसार में परिभ्रमण करते हुए अभी तक अनंत शरीर हो गए, तो भी आत्मा वही है। शरीर को इन्द्रियों से जान सकते हैं, आत्मा अतीन्द्रिय है, उसे इन्द्रियों से नहीं जान सकते। इस प्रकार आत्मा और शरीर भिन्न हैं।

फल – अन्यत्व भावना से शरीर आदि जड़ पदार्थों पर तथा स्वजन आदि चेतन पदार्थों पर राग नहीं होता, राग हुआ हो तो दूर होता है तथा मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होती है।

(6) अशुचित्वभावना – शरीर में अशुचिपन = अपवित्रता का चिंतन करना अशुचित्व भावना है। शरीर अशुद्ध है, अपिवत्र है। इसके मुख्य सात कारण हैं–

(क) बीज अशुचि – शरीर माता के खून और पिता के शुक्र के संयोग से बनता है। ये दोनों पदार्थ अशुचिमय हैं। शरीर का बीज (उत्पत्ति का कारण) अशुचि होने से शरीर अशुचि है।

(ख) उपष्टंभ अशुचि – शरीर आहार आदि से पुष्ट होता है। आहार गले से पसार होकर पैट के श्लेष्माशय में पहुँचता है। वहाँ श्लेष्म (कफ) आहार को प्रवाही (द्रव) रूप बना देता है। वह द्रव पदार्थ अत्यंत अशुचि होता है। फिर वह तरल पदार्थ पित्ताशय में आता है। वहाँ उसका पाचन होता है। बाद में वह पक्वाशय में जाता है। वहाँ वायु से उसके दो भेद होते हैं। जितने तरल पदार्थ का पाचन हो गया हो, उतने का रस बनता है और जिसका

---

① सांसारिकसुखजिहासालक्षणो निर्वेद: (भाष्यटीका)

पाचन नहीं हुआ हो, वह खल (कचरा) बनता है। इस खल में से मूत्र वगैरह अशुचि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। तरल पदार्थ के पाचन से बना हुआ रस शरीर के सात धातु में से प्रथम धातु है। रस से खून, खून से मांस, मांस से मेद (चर्बी), मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से शुक्र बनता है (स्त्री में रजस् बनता है)। ये रसादि सभी पदार्थ अशुचि है। इन रसादि से शरीर पुष्ट होता है इसलिए रसादि सात धातु शरीर के लिए उपष्टंभ = सहारा है। उपष्टंभ अशुचि होने से शरीर भी अशुचि है।

(ग) स्वयं अशुचि का भाजन – शरीर स्वयं अशुचि का भाजन = स्थान है क्योंकि मल, मूत्र, मैल वगैरह अनेक अशुचि पदार्थ उसमें ठसोठस भरे हैं। शरीर अशुचि पदार्थों से भरी हुई थैली अथवा गटर है।

(घ) उत्पत्ति स्थान अशुचि – शरीर माता के उदर में उत्पन्न होता है। माता का उदर अत्यंत अशुचि पदार्थों से निर्मित होता है। अत: शरीर का उत्पत्ति स्थान भी अशुचिमय है।

(ङ) अशुचिपदार्थों का नल – जैसे नल खोलने पर पानी आता है, वैसे शरीर में से मल–मूत्र–मैल–पस आदि अनेक अशुचि पदार्थ प्रतिदिन लगातार बहते रहते हैं। इसलिए शरीर अशुचि पदार्थों का नल है।

(च) अशक्य प्रतीकार – शरीर की अशुचि को दूर करने के चाहे जितने प्रयत्न करने पर भी उसकी अशुचि दूर ही नहीं होती। प्रतिदिन उसे साफ करने की मेहनत करने पर भी थोड़ी ही देर में वह अपने स्वरूप में आ जाता है। क्या कोयला कभी सफेद होता है? यदि कोयला सफेद हो तो काया पवित्र बन जाए !

(छ) अशुचिकारक – काया शुचि पदार्थों को भी अशुचि बना देती है। जो वस्तु पहले सुंदर, स्वादिष्ट और सुगंधी लगती है, उसे ही पेट में जाने के बाद बाहर निकाला जाए तो देखना भी अच्छा नहीं लगता। उसे फिर से मुँह में डालने की बात तो दूर! उसे हाथ लगाने की भी इच्छा नहीं होती। अत: काया स्वयं अशुचि होने के साथ–साथ अशुचिकारक भी है।[①]

फल – विविध दृष्टि से शरीर की अशुचिता का चिंतन करने से शरीर पर उद्वेग–अप्रीति होती है। इससे सदाकाल के लिए शरीर का नाश करने की, जन्म का अंत लाने की इच्छा होती है। जन्म का अंत करने के लिए शरीर का ममत्व छोड़कर यथाशक्ति संयम में प्रवृत्ति होती है।

(7) आस्रव – आस्रव यानी कर्मों का आत्मा में आगमन। आस्रव का स्वरूप आस्रव के कारण और आस्रव से होने वाले दु:ख वगैरह का चिंतन करना आस्रव भावना है। इस ग्रंथ के अध्याय –6 में विविध प्रकार से आस्रव का विचार किया गया है। सामान्य से मन–वचन–काया के योग आस्रव हैं (आस्रव के कारण हैं)। विशेष से आस्रव चार हैं – अव्रत, इन्द्रिय, कषाय और क्रिया। कर्मों का आस्रव होने पर कर्मबंध होता है। बंधे हुए कर्मों के उदय से जीव नरकादि चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करता है। उसमें अनेक प्रकार के दु:ख सहन करता है। नरकगति में क्षेत्रकृत, परमाधामीकृत और परस्परोदीरित इन तीन प्रकार की वेदना [②] सतत जीवन पर्यंत सहन करनी पड़ती है। तिर्यंच गति में पराधीनता, ठंडी, गर्मी, रोग आदि अनेक दु:ख सहन करने पड़ते हैं। मनुष्यगति भी धन का उपार्जन, रक्षण, वियोग वगैरह की चिंता, पराधीनता, रोग, पर‌राज्यादि का भय आदि अनेक कष्टों से भरपूर है। देवगति में भी बाह्य सुख होने पर भी ईर्ष्या, रोष, द्वेष, असूया वगैरह अनेक मानसिक दु:ख होते हैं।[③]

---

① **स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्नि:स्यन्दान्निधनादपि ।**
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदु: ।। (पातंजल योग दर्शन अ. 2 सू. 5 टीका)
अर्थ– पंडित लोग छह कारणों से काया को अशुचि कहते हैं – उत्पत्ति स्थान, उत्पत्ति का कारण, उपष्टम्भ, नि:स्यन्द = मल का झरना, निधन (जीव निकलने के बाद स्पर्श करने पर स्नान करना पड़ता है) और आधेय शौच (रोज साफ करना पड़ता है)।

② नरक के दु:खों का विशेष वर्णन सूत्र 3–3 और सूत्र 3–4 में।

③ चार गति के दु:खों के विस्तृत वर्णन के लिए देखें भवभावना ग्रंथ।

फल – आस्रव का यथार्थ बोध होता है और आस्रवनिरोध के लिए यथाशक्ति प्रयत्न होता है।

(8) संवर– संवर का स्वरूप, संवर के हेतु तथा संवर से होने वाला सुख इत्यादि का चिंतन करना संवर भावना है। इस अध्याय में संवर का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रारंभ में ही कहा है कि आस्रव का निरोध संवर है। गुप्ति–समिति–धर्म–अनुप्रेक्षा–परीषहजय और तप से संवर होता है। आत्मा जैसे–जैसे संवर का सेवन करती है, वैसे–वैसे आस्रव से होने वाले दु:खों से मुक्त होती है।

फल – संवर का सुंदर बोध होता है तथा संवर के सेवन के लिए यथाशक्ति प्रयत्न होता है।

(9) निर्जरा – निर्जरा का स्वरूप, निर्जरा के कारण तथा निर्जरा से होने वाले लाभ वगैरह का चिंतन करना निर्जरा भावना है। निर्जरा यानी कर्मों का क्षय। निर्जरा के दो प्रकार हैं–

(क) अबुद्धिपूर्वक – 'मैं कर्मों का क्षय करूँ' ऐसा भावना, बुद्धि बिना कर्म के उदय से होने वाला कर्मों का क्षय अबुद्धिपूर्वक निर्जरा है। इसमें कर्म को नष्ट करने का अध्यवसाय नहीं होने से अनिच्छा से कर्मों का क्षय होता है। अत: कर्म क्षय के साथ–साथ अनेक प्रकार के संकल्प–विकल्प तथा आर्त–रौद्र ध्यान कर जीव नए अनेक अशुभ कर्म का बंध करता है। यह निर्जरा अकुशल–अशुभ कर्मों का बंध कराने वाली होने से अकुशलानुबंधी है। इसलिए यह निर्जरा वास्तविक तो पापरूप [①] ही है क्योंकि इसमें लाभ की अपेक्षा नुकसान अधिक है। इस निर्जरा को अकाम निर्जरा भी कहा जाता है। ऐसी निर्जरा तो आत्मा ने अब तक बहुत बार की लेकिन उससे कुछ मिला नहीं।

(ख) बुद्धिपूर्वक [②]– मेरे कर्मों का क्षय हो, ऐसी बुद्धि से तप, परीषहजय आदि से होने वाला कर्मक्षय बुद्धिपूर्वक निर्जरा है। यहाँ सहन करने की वृत्ति होने से कर्म के उदय के समय होने वाले दु:ख से किसी भी प्रकार का अशुभ ध्यान नहीं होता, बल्कि शुभ ध्यान अधिक होता है। इसलिए इस निर्जरा में नए कर्मों का बंध नहीं होता अथवा किसी विशिष्ट अध्यवसाय के अभाव से नए कर्म का बंध होगा तो शुभ ही होगा। वे शुभ कर्म मुक्ति के मार्ग में बाधक नहीं बनते, साधक बनते हैं। अत: इस निर्जरा को निरनुबंधी या शुभानुबंधी कहा जाता है। यह निर्जरा 'सकाम निर्जरा' भी कहलाती है। यह निर्जरा मोक्ष का कारण है।

जैसे–जैसे सकाम निर्जरा होती है, वैसे–वैसे आत्मा कर्म से मुक्त होती जाती है। जैसे–जैसे कर्म से मुक्त होती है, वैसे–वैसे दु:ख से मुक्त होती है। जब संपूर्ण कर्म का क्षय होता है, तब संपूर्ण दु:खों से मुक्त होकर आत्मा सिद्ध होती है।

फल – निर्जराभावना से निर्जरा का बोध होता है और निर्जरा करने का यथाशक्ति प्रयत्न होता है।

(10) लोक – लोक (जगत्) के स्वरूप की विचारणा लोकभावना है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, इन पाँच अस्तिकाय रूप लोक है अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि का समुदाय ही लोक है। धर्मास्तिकायादि चार जड़ हैं और जीवास्तिकाय चेतन है। इस दृष्टि से जड़ और चेतन का समुदाय जगत है। लोक उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से युक्त है। उत्पाद यानी उत्पत्ति, व्यय यानी नाश, ध्रौव्य यानी स्थिरता। अत: प्रत्येक वस्तु (जड़ या चेतन) उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर भी रहती है।प्रत्येक वस्तु पर्याय रूप में उत्पन्न होती है और नष्ट होती है, तथा द्रव्य रूप से स्थिर रहती है।[③] जैसे– मनुष्य मृत्यु पाकर देवलोक में उत्पन्न होता है, तब जीव का मनुष्यपर्याय रूप से नाश हुआ, देवपर्याय रूप से उत्पत्ति हुई और

---

① **तमेवंविधं विपाकमवद्यत: पापं संसारानुबंधिनमेव चिंतयेत् नहि तादृशा निर्जरया मोक्ष : शक्योऽधिगन्तुमिति...** (प्रस्तुत सूत्र के भाष्य की श्रीसिद्धसेनगणि–कृत टीका)

② तत्वार्थभाष्यादि में यहाँ कुशलमूल शब्द भी लिखा है।

③ इस विषय की स्पष्टता के लिए देखें सूत्र 5-29/30 का विवेचन।

जीव रूप से स्थिरता हुई। अर्थात् जीव जीवरूप में अचल रहा लेकिन मनुष्य रूप से नष्ट हुआ और देवरूप से उत्पन्न हुआ। उत्पत्ति और विनाश के दो प्रकार हैं – (1) प्रतिक्षणवर्ती और (2) कालांतरवर्ती। घट में प्रतिक्षण नए पर्यायों की उत्पत्ति प्रतिक्षणवर्ती उत्पत्ति है। घट के सर्वथा नाश से होने वाली पर्याय की उत्पत्ति कालांतरवर्ती है। घट में प्रतिक्षण होने वाली पर्यायों का नाश प्रतिक्षणवर्ती नाश है। घट के सर्वथा नाश से होने वाले पर्यायों का नाश कालांतरवर्ती नाश है।

फल – लोक का शंकादि दोषों से रहित ज्ञान होता है। उसके सत्य स्वरूप का ख्याल आता है। इससे निश्चित होता है कि इस लोक में कर्मयुक्त जीव के लिए कोई शाश्वत स्थान नहीं है। उत्पाद–व्यय (जन्म–मरण) से वह अभी तक सर्वत्र भटककर आया है। सर्वत्र उसका परिवर्तन हुआ। कहीं भी शांति से नहीं रह सका। इस परिभ्रमण से छूटकर शाश्वत स्थान प्राप्त करना हो तो कर्मक्षय के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार लोक भावना से आत्मकल्याण की भावना जागृत होती है।

(11) बोधिदुर्लभ – बोधि यानी मुक्तिमार्ग। मुक्तिमार्ग की दुर्लभता का चिंतन करना बोधिदुर्लभ भावना है। अनादिकाल से संसार में भटकते जीव को मुक्ति का मार्ग बहुत दुर्लभ है। अनंतकाल तक जीव अव्यवहार निगोद में दु:ख सहन करता है। वैसी भविष्यता [1] से अकामनिर्जरा कर अव्यवहार निगोद में से निकलकर व्यवहार निगोद आदि में अनंतकाल तक भटककर त्रसपने को पाता है। वहाँ प्रारंभ में तो बहुतकाल तक बेइन्द्रियादि रूप में उत्पन्न होता है। इसलिए त्रसपन प्राप्त करने पर भी पंचेन्द्रिय बनना बहुत कठिन है। पंचेन्द्रिय में आने के बाद भी तिर्यंच–नरक गति में भटकता है। इसलिए मनुष्यभव तो अत्यंत दुर्लभ है। मनुष्यभव प्राप्त होने पर भी जिनवाणी का श्रवण अति दुर्लभ है क्योंकि अनेक मिथ्यादर्शनों के प्रचार में जीव फँस जाता है। जिनवाणी का श्रवण मिलने पर भी श्रद्धा और चारित्र दुर्लभ है। मोक्षमार्ग जिनवाणी (ज्ञान), श्रद्धा (दर्शन) और चारित्र रूप है। इस तरह यह मोक्षमार्ग परमदुर्लभ है, यह हमने समझा।

फल : इस भावना के चिंतन से बोधि की दुर्लभता का वास्तविक ख्याल आता है। इससे बोधि=मोक्षमार्ग को प्राप्त करने का प्रयत्न होता है। प्राप्त मोक्षमार्ग की आराधना की सावधानी रहती है। मोक्षमार्ग से भ्रष्ट न हो जाए, इसकी भी सावधानी रहती है।

(12) धर्मस्वाख्यात – 'सम्यग्दर्शनादि धर्म जिनेश्वरदेव ने सुंदर कहा है' इस विषय की विविध विचारणा=चिंतन धर्मस्वाख्यात भावना है। अहो! जिनेश्वर भगवान ने संसार का नाश करने वाला और मोक्ष प्राप्त कराने वाला सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमय धर्म कितना सुंदर और स्पष्ट कहा है। ऐसा धर्म वीतराग के अलावा और कौन बता सके! जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित यह धर्म युक्तियुक्त है इसमें कोई स्खलना नहीं है क्योंकि उन्होंने सर्वदोषों से रहित और सर्वज्ञ बनने के बाद ही इस धर्म का उपदेश दिया है। जहाँ रागादि दोष होते हैं, वहीं स्खलना संभवित है। जो रागादि से रहित और सर्वज्ञ हैं, उनकी कहीं भी भूल नहीं होती।

फल – इस भावना के चिंतन से श्रद्धा दृढ होती है। फलत: मोक्षमार्ग से पतित होने का भय नहीं रहता। मोक्षमार्ग की आराधना में उल्लास बढ़ता है।

परीषह का अर्थ और हेतु –

मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या: परीषहा: ।।९-८।।

---

[1] जीव का जो कार्य जिस समय और जैसे संयोगों में होने वाला हो, उस कार्य के लिए वह काल और वैसे संयोग जब आ जाए तब उस कार्य के लिए जीव की वैसी भविष्यता का परिपाक हो चुका है, ऐसा कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग में स्थिरता के लिए तथा निर्जरा के लिए जो सहन करना चाहिए, वे परीषह हैं।

'परिषोढव्याः' पद से परीषह शब्द का अर्थ बताया है। **परिषोढव्य** = जो सहन करने योग्य है, वह परीषह है। **'मार्गाच्यवननिर्जरार्थं'** पद से परीषह सहन करने का कारण बताया है। दर्शन परीषह और प्रज्ञापरीषह, ये दो परीषह मोक्षमोर्ग में स्थिरता के लिए तथा शेष 20 परीषह निर्जरा के लिए सहन करने योग्य हैं। (प्रवचन सारोद्धार द्वार 86)

यद्यपि सूत्र में परीषह सहन करने में (मोक्षमार्ग में स्थिरता और निर्जरा) दो हेतु बताए हैं तो भी प्रकरण के वश से संवर भी समझ लेना चाहिए क्योंकि **'स गुप्ति-समिति...** (सूत्र 9-2)' में परीषहजय को भी संवर का उपाय बताया है।

परीषह सहन करने के अभ्यास से आत्मा में विशिष्ट सामर्थ्य प्रगट होता है। इस सामर्थ्य के बल से आत्मा मेरु की तरह स्थिर रहकर समाधि पूर्वक परीषह सहन कर विपुल कर्मनिर्जरा करती है। यदि परीषह सहन करने का अभ्यास न किया जाए तो परीषह आने पर मन आकुल-व्याकुल हो जाता है। निर्जरा तो दूर रही, बल्कि सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग से भी पतित होने की संभावना रहती है। अत: संवर भी नहीं होता।

परीषह -

क्षुत्-पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्याऽरति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्या-ऽऽक्रोश-वध-याचना-ऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार-प्रज्ञा-ऽज्ञाना-ऽदर्शनानि ।।९-९।।

परीषह 22 हैं - क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन।

परीषहों को बराबर समझने के लिए परीषहों का स्वरूप, परीषहजय (क्या करने से परीषह जीत सकते हैं) और परीषह-अजय (क्या करने से परीषह से हार जाते हैं), ये तीन बातें समझना चाहिए।

उक्त तीनों बात की सामान्य व्याख्या - (1) विशिष्ट प्रकार के प्रतिकूल या अनुकूल प्रसंगों की उपस्थिति परीषह है। (2) परीषह आने पर राग-द्वेष के वश नहीं होना और संयम बाधक कोई प्रवृत्ति न करना ही परीषहजय है। (3) परीषह आने पर राग-द्वेष के वश हो जाना और संयम बाधक प्रवृत्ति करना ही परीषह-अजय है।

अब विशेष से प्रत्येक परीषह के आश्रय से इन तीनों बातों की विचारणा -

(1) क्षुधा - अतिशय क्षुधा की वेदना क्षुधा परीषह है। क्षुधा को समभाव पूर्वक सहना करना, सहन न हो तो शास्त्रोक्त विधिपूर्वक गोचरी लाकर क्षुधा को शांत करना। यहाँ क्षुधा को शांत करना महत्वपूर्ण नहीं है किंतु शास्त्रोक्त विधिपर्वक निर्दोष भिक्षा प्राप्त करना महत्वपूर्ण है। शास्त्रोक्त विधिपूर्वक निर्दोष आहार न मिले तो भी दोषित आहार ग्रहण न करना और मन को मजबूत बनाकर क्षुधा को सहन करना क्षुधापरीषहजय है। क्षुधा सहन हो सकती हो तो भी सहन नहीं करना, अथवा दोषित आहार से क्षुधा शांत करना परीषह-अजय है।

(2) पिपासा - अतिशय तृषा की वेदना पिपासा परीषह है। परीषह के जय और अजय का स्वरूप क्षुधा परीषह की तरह समझ लेना, मात्र आहार की जगह पानी समझना।

(3) शीत – अतिशय ठंड की वेदना शीत परीषह है। परीषह जय का स्वरूप क्षुधा परीषह की तरह समझना। आहार के स्थान पर वस्त्र समझना। शास्त्रोक्त विधि का उल्लंघन कर वस्त्रादि ग्रहण करना, अग्नि की इच्छा करना परीषह–अजय है।

(4) उष्ण – अतिशय ताप की वेदना उष्ण परीषह है। ताप की वेदना सहन करना, यदि सहन न हो तो संयम को बाधा न पहुँचे, ऐसी शास्त्रोक्त विधिपूर्वक उसके प्रतिकार का उपाय करना। उपाय करने पर भी वेदना दूर न हो तो शांति से सहन करना उष्णपरीषहजय है। ताप की वेदना सहन हो सकती है तो भी सहन न करना अथवा ताप की वेदना दूर करने के लिए पानी से स्नान, पंखे का उपयोग वगैरह संयमबाधक सावद्य प्रवृत्ति की इच्छा रखना या प्रवृत्ति करना परीषह–अजय है।

(5) दंशमशक – मच्छर, मकड़ी आदि के उपद्रव से होने वाली वेदना दंशमशक परीषह है। दंशमशक परीषह आने पर उस स्थान को छोड़कर अन्य स्थान पर न जाना, मच्छर आदि को पीड़ा हो ऐसी प्रवृत्ति न करना, रजोहरणादि से जीवों को दूर भी नहीं करना किंतु समभाव से वेदना को सहन करना परीषहजय है। उस स्थान का त्याग करना या रजोहरणादि से जीवों को दूर करना परीषह–अजय है।

(6) नग्नता– शास्त्रोक्त विधि पूर्वक जीर्ण–अल्पमूल्य वाले वस्त्र धारण करना नग्नता परीषह है। शास्त्रोक्त विधि पूर्वक वस्त्र न मिलने पर भी द्वेषादि के वश न होना, शास्त्रोक्तविधि पूर्वक मिले वस्त्रों का उपभोग करना परीषहजय है। शास्त्रोक्त विधि का उल्लंघन कर वस्त्रादि का उपभोग करना परीषह–अजय है। अथवा जिनकल्प आदि अवस्था में नग्न रहना नग्नता परीषह है। उसमें लज्जा न रखना वगैरह परीषहजय है। लज्जा रखना इत्यादि परीषह–अजय है।

(7) अरति – संयम का पालन करते हुए अरति उत्पन्न हो, वह अरति परीषह है। शुभ भावनादि से अरति का त्याग परीषहजय है और अत्याग परीषह–अजय है।

(8) स्त्री – स्त्री स्वसमक्ष हास्यादि चेष्टा करे या भोगप्रार्थनादि करे, वह स्त्री परीषह है। अशुचि भावना आदि से स्त्री की चेष्टा की ओर ध्यान न देना, उसकी प्रार्थना का स्वीकार न करना वगैरह परीषहजय है और स्त्री की चेष्टा को निहारना या प्रार्थनादि का स्वीकार करना परीषह–अजय है।

(9) चर्या– चर्या यानी विहार। विहार में पत्थर, काँटे आदि की प्रतिकूलता चर्या परीषह है। प्रतिकूलता में उद्वेग आदि के वश हुए बिना शास्त्रोक्त विधिपूर्वक विहार करना परीषहजय है। प्रतिकूलता दूर हो या न आए, इसके लिए शास्त्रोक्त विधि का उल्लंघन कर विहार करना या विहार ही न करना परीषह–अजय है।

(10) निषद्या – निषद्या यानी उपाश्रय आदि स्थान। उपाश्रय आदि में शास्त्रोक्त विधिपूर्वक साधना करते हुए प्रतिकूल या अनुकूल प्रसंग उपस्थित हो, वह निषद्या परीषह है। इन प्रसंगों के आधीन न होना = रागद्वेष न करना परीषहजय है और प्रसंगों के आधीन होकर राग–द्वेष करना परीषह–अजय है।

(11) शय्या – शय्या यानी संथारा अथवा वसति। अनुकूल या प्रतिकूल शय्या की प्राप्ति ही शय्या परीषह है। अनुकूल या प्रतिकूल शय्या में क्रमशः हर्ष–उद्वेग न करना परीषहजय है और हर्ष–उद्वेग करना परीषह–अजय है।

(12) आक्रोश – कोई अज्ञानी या द्वेषी आक्रोश करे, तिरस्कार करे, यह आक्रोश परीषह है। आक्रोश होने पर समता रखना परीषहजय है और उद्विग्न होना या आक्रोश करने वाले पर द्वेष–क्रोध करना परीषह–अजय है।

(13) वध – कोई अज्ञानी या द्वेषी ताड़नादि करे, यह वध परीषह है। वहाँ समता रखना परीषहजय और दीन बन जाना या उस पर क्रोध करना परीषह–अजय है।

(14) याचना – संयमसाधना के लिए आवश्यक आहारादि की गृहस्थों के पास याचना करना परीषह है। याचना में लघुता = शर्म का त्याग परीषहजय है और शर्म लाना, अहंकार रखना परीषह–अजय है।

(15) अलाभ – निर्दोष भिक्षा न मिलना अलाभ परीषह है। अलाभ परीषह आने पर दीनता न करना या उसमें निमित्त बनने वाले पर क्रोध न करना परीषहजय है और दीन बनना या क्रोध करना परीषह–अजय है।

(16) रोग – शरीर में रोग हो, यह रोग परीषह है। रोग को सहन करना या शास्त्रोक्त विधिपूर्वक रोग का प्रतिकार करना परीषहजय है। रोग में चिंता करना, शास्त्रोक्त विधि का उल्लंघन कर रोग का प्रतिकार करना परीषह –अजय है।

(17) तृणस्पर्श – गच्छ में रहने वाले और गच्छ से अलग विचरने वाले, दोनों प्रकार के साधुओं को कुछ निश्चित संयोगों में घास का उपयोग करने की अनुज्ञा है। अत: आवश्यक हो तब साधु घास पर संथारा और उत्तरपट्टा बिछाकर सोए। अथवा संथारा–उत्तरपट्टा चोरी हो जाए इत्यादि कारण से मात्र घास पर सोए। तब तृण की धार चुभना वगैरह तृणस्पर्श परीषह है। उस वेदना को समभाव से सहन करना, वस्त्र की इच्छा न करना परीषहजय है और उद्विग्न होकर वस्त्र की इच्छा करना परीषह–अजय है।

(18) मल– शरीर पर मैल जमना मलपरीषह है। मैल को दूर न करना, मैल को दूर करने की इच्छा भी न करना, स्नान की इच्छा न करना परीषहजय है और मैल को दूर करने की इच्छा करना, मैल निकालना, स्नान की इच्छा करना या स्नान करना, हाथ–पैर धोना वगैरह परीषह–अजय है।

(19) सत्कार – सत्कार–सन्मान की प्राप्ति सत्कार परीषह है। उसमें हर्ष न करना परीषहजय है और हर्ष करना परीषह–अजय है।

(20) प्रज्ञा – विशिष्ट बुद्धि की प्राप्ति प्रज्ञा परीषह है। उसमें गर्व न करना परीषहजय है और गर्व करना परीषह–अजय है।

(21) अज्ञान – विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति न होना अज्ञान परीषह है। अज्ञान के कारण होने वाले 'यह अज्ञानी है, पंगु समान है, इसे कुछ सूझ–बूझ नहीं है' इत्यादि आक्षेप–तिरस्कार में समता रखना परीषहजय है और उद्विग्न हो जाना, द्वेष करना परीषह–अजय है।

(22) अदर्शन – शास्त्रों के रहस्य समझ में न आना, अन्य दर्शनों के प्रत्यक्ष चमत्कार दिखना, वगैरह सम्यग्दर्शन से चलित होने के प्रसंगों की उपस्थिति अदर्शन परीषह है। उन प्रसंगों में सम्यग्दर्शन से चलित न होना परीषह जय है और चलित होना परीषह–अजय है।

गुणस्थानकों में परीषहों की विचारणा –

सूक्ष्मसंपराय-छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।।९-१०।।

सूक्ष्म संपराय–उपशांतमोह और क्षीणमोह (10–11–12) इन तीन गुणस्थानकों में 14 परीषह होते हैं – क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। अर्थात् ये 14 परीषह 12वें गणुस्थानक तक संभव है।

शेष आठ परीषह मोहनीय कर्मजन्य होने से 9वें गुणस्थानक तक ही होते हैं क्योंकि इन तीन गणुस्थानकों (10–11–12) में मोह का उदय नहीं होता। यद्यपि 10वें गुणस्थानक में सूक्ष्म लोभ होता है लेकिन वह अत्यंत सूक्ष्म होने से स्वकार्य करने में असमर्थ है।

सयोगी केवली में परीषहों की विचारणा –

एकादश जिने ।।९-११।।

जिन में 11 परीषह संभव हैं।

जिन को (सयोगी केवली, 13वें गुणस्थानक में) घाती कर्मों का उदय न होने से घातीकर्म के उदय जन्य परीषह उन्हें नहीं होते। जिन को वेदनीय कर्म का उदय होने से वेदनीय कर्मजन्य 11 परीषह होते हैं – क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल।

नौवें गुणस्थानक में परीषह –

बादरसम्पराये सर्वे ।।९-१२।।

नौवें गुणस्थानक में सभी परीषह होते हैं।

जिन कर्मों के उदय से परीषह आते हैं, उन सभी कर्मों का नौवें गुणस्थानक तक उदय होने से उन्हें सभी परीषह संभवित हैं।

किस कर्म के उदय से कौन से परीषह –

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ।।९-१३।।

ज्ञानावरण कर्म के उदय में दो परीषह होते हैं– प्रज्ञा और अज्ञान।

प्रश्न – प्रज्ञा ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप है। अत: प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय में कैसे हो सकता है?

उत्तर – यहाँ 'ज्ञानावरण कर्म के उदय में' यानी 'ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से' ऐसा अर्थ नहीं है किंतु 'ज्ञानावरणीय कर्म का उदय वर्तमान हो तब' ऐसा अर्थ [①] है। प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण कर्म का उदय वर्तमान होने पर आता है क्योंकि प्रज्ञा ज्ञान के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। जब ज्ञान का क्षयोपशम वर्तमान हो तब ज्ञानावरण कर्म का उदय भी वर्तमान होता ही है। अत: प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर आता है, ऐसा अर्थ सुसंगत है। आगे के सूत्रों में भी ऐसे स्थल पर 'उदय में' का अर्थ 'उदय वर्तमान होने पर' ऐसा करना ठीक है। जो परीषह किसी कर्म के उदय से ही होता है, उस परीषह में 'उदय में' का अर्थ 'उदय से' करना चाहिए। जैसे– अज्ञान परीषह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होता है।

प्रश्न – 11वें और 12वें गुणस्थानक में मोहनीयकर्म का उदय न होने से गर्व और दीनता नहीं होती। गर्व न होने से प्रज्ञा परीषह और दीनता न होने से अज्ञान परीषह कैसे होता है?

उत्तर – प्रज्ञा परीषह और अज्ञान परीषह का कारण क्रमश: गर्व और दीनता नहीं है किंतु ज्ञान और अज्ञान है। अर्थात् विशिष्ट बुद्धि मिलने से गर्व करना प्रज्ञा परीषह नहीं है लेकिन विशिष्ट बुद्धि की प्राप्ति ही प्रज्ञा परीषह है। विशिष्ट बुद्धि मिलने से गर्व करना तो प्रज्ञा परीषह अजय है। इसी प्रकार विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति न होने से दीनता करना अज्ञान परीषह नहीं है किंतु विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति नहीं होना ही अज्ञान परीषह है। विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति नहीं होने से दीनता करना तो अज्ञान परीषह का अजय है। 11वें ओर 12वें गुणस्थानक में प्रज्ञा और अज्ञान दोनों संभव हैं।

① तत्त्वार्थ राजवार्तिक के आधार पर यह समाधान दिया है ।

अलबत्त, 11वें–12वें गुणस्थानक में गर्व और दीनता न होने से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह का अजय नहीं होता, जय ही होता है। लेकिन परीषह तो होता है क्योंकि 11वें–12वें गुणस्थानक में प्रज्ञा और अज्ञान दोनों संभवित हैं। 13वें गणुस्थानक में केवलज्ञान होने से प्रज्ञा और अज्ञान नहीं होता, इसलिए ये दो परीषह भी नहीं होते।

दर्शनमोहान्तरायय्योरदर्शनालाभौ ।।९-१४।।

दर्शनमोह के उदय से अदर्शन और अन्तराय (लाभांतराय) के उदय में अलाभ परीषह होते हैं।

चारित्रमोहे नाग्न्या-ऽरति-स्त्री-निषद्या-ऽऽक्रोश-याचना-सत्कारपुरस्काराः ।।९-१५।।

नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार–पुरस्कार ये सात परीषह क्रमशः जुगुप्सा, अरति, पुरुषवेद, भय, क्रोध, मान और लोभ रूप चारित्रमोहनीय के उदय में होते हैं।

वेदनीये शेषाः ।।९-१६।।

शेष परीषह (क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल कुल 11 परीषह) वेदनीय कर्म के उदय में होते हैं।

एक जीव को एक साथ संभवित परीषह –

एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः ।।९-१७।।

22 परीषहों में से एक जीव को एक साथ एक, दो... वगैरह उन्नीस (19) परीषह हो सकते हैं।

शीत और उष्ण परस्पर विरोधी हैं। चर्या, निषद्या और शय्या, ये तीन परस्पर विरोधी हैं। विरोधी परीषहों में से किसी जीव को एक साथ में एक ही परीषह हो सकता है। शीत–उष्ण में से एक और चर्यादि तीन में से एक, इस तरह तीन परीषह को न्यून करने पर शेष 19 परीषह बचते हैं। ये 19 परीषह परस्पर अविरोधी होने से एक ही व्यक्ति को एक साथ संभव हैं।

चारित्र का वर्णन –

सामायिक-छेदोपस्थाप्य-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातानि चारित्रम् ।।९-१८।।

चारित्र के पाँच प्रकार हैं– सामायिक, छेदोपस्थाप्य, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात।

(1) सामायिक – सम यानी राग–द्वेष का अभाव अर्थात् समता, आय यानी लाभ। जिससे समता का लाभ हो, वह सामायिक। यद्यपि 'सामायिक' शब्द के अर्थ से पाँचों प्रकार का चारित्र सामायिक स्वरूप है क्योंकि उनसे समता का लाभ होता है। लेकिन प्रस्तुत में सामायिक शब्द पाँच प्रकार के चारित्र में से कुछ चारित्र में रूढ़ हो चुका है। सामायिक चारित्र के दो भेद हैं–इत्वरकालिक और यावज्जीव। थोड़े समय के लिए रहने वाली सामायिक इत्वरकालिक है। इसे अभी छोटी दीक्षा या दीक्षा कहा जाता है। यावज्जीव सामायिक यानी जीवन पर्यंत सामायिक। पहले और अंतिम तीर्थंकर के तीर्थ में साधु विशिष्ट निपुणता आदि गुणों से रहित होने से चारित्र

स्वीकारते ही निरतिचार चारित्र का पालन नहीं कर सकते। इसलिए चारित्र लेने के बाद निरतिचार चारित्र पालन के लिए विशिष्ट अभ्यास क्रिया आदि करना पड़ती है। चारित्र लेने के बाद साधु शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन आदि का अभ्यास तथा योगोद्वहन आदि कर निरतिचार चारित्र के पालन में निपुण हो जाए तब उसे पूर्व में पाले हुए चारित्र का छेदकर नया चारित्र दिया जाता है। यहाँ दीक्षा दिन से लेकर जब तक नया चारित्र (बड़ी दीक्षा) न दी जाए तब तक का जो चारित्र, वह सामायिक चारित्र। यह सामायिक थोड़े समय रहने से इत्वरकालिक सामायिक कही जाती है। इत्वरकालिक सामायिक भरत–ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधुओं को ही होती है। महाविदेह में सभी तीर्थंकर के साधुओं को तथा भरत–ऐरावत क्षेत्र में 22 तीर्थंकरों के साधुओं को यावज्जीव सामायिक ही होती है। वे साधु निपुण और सरल होने से दीक्षा के प्रारंभ से जीवनपर्यंत निरतिचार चारित्र का पालन कर सकते हैं, इसलिए उन्हें पूर्वचारित्र का छेदकर नया चारित्र नहीं दिया जाता। अत: दीक्षा के प्रारंभ से जीवनपर्यंत सामायिक होती है।

(2) छेदोपस्थाप्य – जिसमें पूर्वपर्याय का छेदकर उत्तर पर्याय में उपस्थापन किया जाता है, वह छेदोपस्थापन या छेदोपस्थाप्य चारित्र [①] है। यह चारित्र उपर्युक्त वर्णनानुसार भरत–ऐरावत क्षेत्र में प्रथम–अंतिम तीर्थंकर के साधुओं को ही दिया जाता है। शेष 22 तीर्थंकर के साधु तथा महाविदेह के सभी तीर्थंकर के साधु दीक्षा के प्रारंभ से ही निरतिचार चारित्र का पालन करने में निपुण होने से उन्हें पूर्वपर्याय का छेद कर उत्तरपर्याय में उपस्थापन करने की आवश्यकता नहीं रहती। उन्हें छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं होता।

सार – भरत–ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधुओं को इत्वरकालिक सामायिक और छेदोपस्थाप्य चारित्र, ये दो चारित्र होते हैं। दीक्षा के प्रारंभ से बड़ी दीक्षा तक इत्वरकालिक सामायिक होती है और बड़ी दीक्षा के बाद जीवनपर्यंत छेदोपस्थाप्य चारित्र होता है। शेष 22 तीर्थंकर के साधुओं को तथा महाविदेह के सभी साधुओं को यावज्जीव सामायिक चारित्र ही होता है। उन्हें छेदोपस्थाप्य चारित्र नहीं होता।

छेदोपस्थाप्य चारित्र के दो भेद हैं (1) निरतिचार और (2) सातिचार। निरतिचार यानी अतिचार रहित, सातिचार यानी अतिचार सहित। यहाँ अतिचार यानी मूलगुण का सर्वथा भंग। मूलगुण के सर्वथा भंग रहित चारित्र वाले साधु को निरतिचार और मूलगुण के सर्वथा भंग सहित चारित्र वाले साधु को सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है। इत्वर सामायिक वाले साधु को निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है। एक तीर्थंकर के तीर्थ में से दूसरे तीर्थंकर के तीर्थ में जाते साधु को भी निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है। जैसे– श्री महावीर स्वामी के साधुओं के पास उपसंपदा स्वीकारने वाले श्री पार्श्वनाथ भगवान के साधुओं का छेदोपस्थापनीय चारित्र निरतिचार होता है। मूलगुण के भंग से जिसे पुन: छेदोपस्थापनीय चारित्र उच्चराया जाए, उसे सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है।

(3) परिहारविशुद्धि – निश्चित प्रकार के तप को परिहार कहा जाता है। परिहार तप से विशुद्ध जो चारित्र,

वह परिहारविशुद्धि चारित्र। इस चारित्र के पालन में नौ साधु का समुदाय होता है। नौ से अधिक नहीं होते और न्यून भी नहीं। उनमें चार साधु परिहार तप की विधि अनुसार परिहार तप करते हैं, चार साधु परिहार तप वाले साधुओं की सेवा करते हैं, एक साधु वाचनाचार्य रहता है। वाचनाचार्य आठों साधु को वाचना देते हैं। इस चारित्र को स्वीकारने वाले सभी साधु श्रुतातिशयसंपन्न (अतिशय श्रुतज्ञान से संपन्न होते हैं। तो भी उनका आचार होने से एक साधु की वाचनाचार्य के रूप में स्थापना करते हैं। ये वाचनाचार्य इस कल्प में पारिहारिक (तपस्वी) और अनुपारिहारिक (वैयावच्ची) की कहीं भी स्खलना होने पर प्रायश्चित देते हैं।

① वर्तमान में इस चारित्र को लोकभाषा में बड़ी दीक्षा कहा जाता है।

परिहार तप की विधि – गर्मी में जघन्य उपवास, मध्यम छट्ठ, उत्कृष्ट अट्ठम; ठंड में जघन्य छट्ठ, मध्यम अट्ठम, उत्कृष्ट चार उपवास; चौमासे में जघन्य अट्ठम, मध्यम चार उपवास, उत्कृष्ट पाँच उपवास तप का विधान है। जिस ऋतु में परिहार तप का सेवन करे, उस ऋतु अनुसार तप करे। पारणे में आयंबिल ही करे, आयंबिल में भी विशिष्ट अभिग्रह [1] पूर्वक गोचरी लाना होती है। जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट में से स्वयं की शक्ति अनुसार तप करे। यह तप छह मास तक करे। छह मास के बाद जो साधु सेवा करते थे, वे तप करें और जो जप करते थे वे सेवा करें, अर्थात् जो तपस्वी हो, वे सेवक बनें और जो सेवक थे, वे तपस्वी हो जाए। छह मास बाद वाचनाचार्य तप करे, शेष आठ में से एक साधु वाचनाचार्य बने, शेष सात साधु या कोई एक साधु तपस्वी की सेवा करे। जब चार साधु तप करते हो, तब चार सेवक और एक वाचनाचार्य रोज आयंबिल करे। जब वाचनाचार्य को तप चलता हो, तब शेष आठ साधु प्रतिदिन आयंबिल करे। अर्थात् तप करने वाले के अलावा अन्य साधु रोज आयंबिल करे, कभी उपवास [2] भी करे। इस प्रकार यह तप 18 मास में पूर्ण होता है।

परिहारकल्प पूर्ण होने के बाद वे मुनि पुन: इस तप का सेवन कर सकते हैं अथवा जिनकल्प स्वीकार कर सकते हैं अथवा स्थविरकल्प स्वीकारते हैं। परिहार कल्प में रहे मुनि आँख में गिरे हुए तृण को भी स्वयं बाहर नहीं निकालते, किसी भी प्रकार के अपवाद का सेवन नहीं करते, तीसरे प्रहर में भिक्षाचर्या करते हैं। भिक्षा काल के अलावा काल में कायोत्सर्ग में रहते हैं। किसी को दीक्षा नहीं देते। क्वचित उपदेश देते हैं। नया अभ्यास नहीं करते, पढ़े हुए श्रुत का परावर्तन करते हैं।

जघन्य से नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु का ज्ञान हो और उत्कृष्ट से कुछ न्यून दस पूर्व का ज्ञान हो, ऐसे प्रथम संघयणवाले, जघन्य से 29 वर्ष गृहस्थपर्याय वाले और 20 वर्ष चारित्र पर्याय वाले मुनि ही यह संयम स्वीकार सकते हैं। तीर्थंकर के पास अथवा तीर्थंकर के पास जिन्होंने चारित्र स्वीकारा हो ऐसे मुनि के पास ही इस चारित्र को स्वीकार सकते हैं। यह चारित्र स्थितकल्प में ही (अर्थात् भरत–ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के तीर्थ में) दो पुरुषयुग (= पाटपरंपरा) तक ही होता है। जैसे इस तीर्थ में श्री जंबूस्वामी तक यह चारित्र था। उनके निर्वाण के बाद इस चारित्र का विच्छेद हुआ।

(4) सूक्ष्मसंपराय – 'सूक्ष्मसंपराय' पद 'सूक्ष्म और संपराय' दो शब्दों से मिलकर बना है। संपराय यानी लोभ। जब चार कषायों में से कवेल लोभ ही होता है और वह भी केवल सूक्ष्म हो, तब यह चारित्र होता है। केवल सूक्ष्म लोभ दसवें गुणस्थानक में ही होता है। इसलिए यह चारित्र भी दसवें गुणस्थानक में ही होता है। दसवें गुणस्थानक में मोहनीय की 27 प्रकृतियों का क्षय या उपशम हो चुका होता है, मात्र लोभ का ही उदय होता है। लोभ भी सूक्ष्म (अत्यंत अल्प) होता है। 10 वां गुणस्थानक श्रेणि में होता है। वर्तमान में श्रेणि का अभाव होने से सूक्ष्मसंपराय चारित्र का भी अभाव है।

(5) यथाख्यात – यथाख्यात यानी जैसा कहा गया है वैसा। जिनेश्वर भगवंतों ने जिस प्रकार का चारित्र कहा है, उस प्रकार का जो चारित्र वह यथाख्यात चारित्र है। जिनेश्वर भगवंतों ने श्रेष्ठ चारित्र रूप में अकषाय चारित्र (कषाय रहित) कहा है। अत: कषाय के उदय से सवर्था रहित चारित्र यथाख्यात है। 11–12–13–14 इन चार गुणस्थानकों में कषाय के उदय का बिलकुल अभाव [3] होता है। इसलिए इन चार गुणस्थानों में यथाख्यात चारित्र होता है। वर्तमान में चार गुणस्थानकों का अभाव होने से यथाख्यात चारित्र का अभाव है।

---

① देखें प्रवचनसारोद्धार, पंचसंग्रह इत्यादि ग्रंथ।
② देखें विशेषावश्यक गा. 1274 टीका ।
③ 11वें गुणस्थानक में कषायों का उपशम है। 12–13–14, इन तीन गुणस्थानकों में क्षय होता है।

इन पाँच चारित्र में पूर्व–पूर्व चारित्र से उत्तर–उत्तर चारित्र अधिक विशुद्ध है। सामायिक से छेदोपस्थापनीय अधिक विशुद्ध, उससे परिहारविशुद्धि अधिक विशुद्ध...।

प्रश्न – चारित्र का गुप्ति–समिति में समावेश कर देना चाहिए क्योंकि समिति–गुप्ति बिना चारित्र का पालन संभव न होने से चारित्र समिति–गुप्ति स्वरूप है।

उत्तर – सूक्ष्म दृष्टि से चारित्र को समिति–गुप्ति स्वरूप कह सकते हैं लेकिन स्थूल दृष्टि से चारित्र और समिति–गुप्ति में भेद है। चारित्र कार्य है और समिति–गुप्ति कारण [1] है।

यद्यपि 10 यतिधर्म में चारित्र का भी समावेश हो जाता है। इसलिए यहाँ चारित्र को अलग दर्शाने की आवश्यकता नहीं है, तो भी अन्य धर्मों से चारित्र की महत्ता बताने के लिए यहाँ चारित्र का पृथग् निर्देश किया है। चारित्र सभी कर्मों का क्षय करता है और मोक्ष का साक्षात् कारण है। अत: चारित्र श्रेष्ठ धर्म है।

('**स गुप्ति...**(सूत्र 9–2)' में गुप्ति आदि संवर के उपाय हैं, ऐसा निर्देश कर '**सम्यग्योगनिग्रहो...** (सूत्र 9–4)' से यहाँ तक गुप्ति आदि का वर्णन किया। उसमें '**तपसा निर्जरा च** (सूत्र 9–3)' में तप को संवर और निर्जरा का उपाय बताया। अत: अब तप के वर्णन का प्रारंभ करते हैं। तप के दो भेद हैं–बाह्य और अभ्यंतर। इसमें प्रथम बाह्य तप का वर्णन करते हैं–)

बाह्य तप के छह भेद –

अनशना-ऽवमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ।।९-१९।।

बाह्य तप छह प्रकार का है– अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश।

जो कर्म के रस को तपाए=जलाए, वह तप। इसलिए संयमरक्षा, संवर, कर्मनिर्जरा आदि आत्मकल्याण के ध्येय से किया जाता तप ही वास्तविक तप है। रोग, पराधीनता, आहार की अप्राप्ति वगैरह कारणों से किया जाता तप कायक्लेश है।

(1) अनशन – अनशन यानी आहार का त्याग। अनशन तप के दो भेद हैं– इत्वर और यावज्जीव। कुछ समय के लिए आहार का त्याग करना इत्वर अनशन है। जीवनपर्यंत आहार का त्याग करना यावज्जीविक अनशन है।

चोविहार [2], तिविहार, नवकारसी, पोरसी, एकासना, आयंबिल, उपवास, छट्ठ यावत् 6मास के उपवास तक का तप इत्वर अनशन है। यावज्जीविक अनशन के तीन भेद हैं –

(क) भक्तप्रत्याख्यान – जीवनपर्यंत भक्त (तीन प्रकार के आहार अथवा चारों प्रकार के आहार) का प्रत्याख्यान भक्तप्रत्याख्यान है। इस तप में शरीर परिकर्म (उठना, बैठना वगैरह शारीरिक चेष्टा) स्वयं कर सकते हैं और अन्य से भी करवा सकते हैं। तथा किसी निश्चित प्रदेश में ही जा सकते हैं, ऐसा प्रतिबंध नहीं है।

---

① **एताश्चारित्रगात्रस्य जननात्...** (योगशास्त्र प्रकाश–1, सू–45)
② चोविहार आदि पच्चक्खाण के विशेष वर्णन के लिए देखें 'प्रत्याख्यान भाष्य'।

(ख) इंगिनीमरण – इंगिनी यानी चेष्टा। जिसमें प्रतिनियत देश में ही रहना, घूमना वगैरह चेष्टा हो सकती है, वह इंगिनीमरण। इसमें चारों प्रकार के आहार का त्याग होता है। शरीर परिकर्म स्वयं कर सकते हैं, लेकिन दूसरे द्वारा नहीं करवा सकते। तथा नियत किए हुए प्रदेश (जगह) के बाहर नहीं जा सकते।

(ग) पादपोपगमन – पादप यानी वृक्ष, उपगमन यानी समानता। जिसमें वृक्ष की तरह जीवनपर्यंत निश्चल रहना हो, वह पादपोपगमन अनशन है। जैसे गिरा हुआ वृक्ष जिस स्थिति में पड़ा रहता है, सदा वैसी ही स्थिति में पड़ा रहता है, वैसे इस अनशन में प्रथम जैसी स्थिति में स्थिर होते हैं, वैसी ही स्थिति में जीवनभर स्थिर रहना होता है। अंगोपांग जरा भी नहीं हिला सकते हैं, सदा एक जैसा सोकर ध्यान में लीन रहते हैं। इसमें भी चारों आहार का त्याग होता है।

इन तीन प्रकार के अनशन में उत्तर–उत्तर अनशन अधिक श्रेष्ठ है। धैर्यवान साधक ही इन अनशनों का स्वीकार कर सकते हैं। उनमें भी बाद वाले अनशन को स्वीकारने वाले साधक अधिक धैर्यवान होते हैं। धैर्यवान महापुरुष रोगादि के कारण धर्म का पालन करने में असमर्थ हो जाते हैं तब अथवा मृत्यु समीप हो तब स्वयं की धीरतानुसार तीन में से किसी एक अनशन को स्वीकारते हैं। ये अनशन निर्व्याघात [1] में संलेखना [2] पूर्वक करना चाहिए। व्याधि, विद्युत्पात, सर्पदंश, सिंहादि उपद्रव इत्यादि व्याघात में संलेखना बिना भी अनशन स्वीकार सकते हैं। इन तीन में से किसी भी अनशन को स्वीकारने वाले जीव अवश्य वैमानिक देवलोक या मोक्ष में जाते हैं।

(2) अवमौदर्य – भूख से कुछ कम आहार लेना अवमौदर्य तप (ऊणोदरी) है। किसे कितना आहार चाहिए, इसका माप भूख के आधार पर निश्चित होता है। तो भी सामान्य से पुरुष को 32 कवल और स्त्री को 28 कवल जितना आहार पर्याप्त है। कवल का माप मूर्गी के अंडे जितना अथवा सुखपूर्वक (मुख विकृत किए बिना) मुख में प्रवेश कर सके उतना होता है। 31 कवल (स्त्री के लिए 27 कवल) जघन्य ऊणोदरी है। तत्पश्चात् 30,29.... यावत् 8 कवल ही आहार लेना उत्कृष्ट ऊणोदरी है। ऊणोदरी तप से शरीर में स्फूर्ति रहती है। फलत: संयम में अप्रमत्तता, अल्पनिद्रा, संतोष वगैरह गुणों का लाभ होने से स्वाध्याय आदि सभी साधना सुखपूर्वक होती है। इस तरह ऊणोदरी तप संयम की रक्षा आदि के लिए अतिशय आवश्यक है।

(3) वृत्तिपरिसंख्यान – वृत्ति यानी आहार, उसका परिसंख्यान यानी गिनती करना वृत्तिपरिसंख्यान है। अर्थात् आहार की लालसा कम करने के लिए 'इस प्रकार का ही आहार लेना' ऐसा नियमन करना वृत्तिपरिसंख्यान या वृत्तिसंक्षेप तप है। द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से विशिष्ट अभिग्रह धारण करने से यह तप होता है।

(क) द्रव्य से – कुछ ही द्रव्य लेना, उससे अन्य द्रव्यों का त्याग अथवा 4–5–6.... कुछ संख्या में ही द्रव्य लेना, इससे अधिक द्रव्यों का त्याग, यह द्रव्य से अभिग्रह है।

(ख) क्षेत्र से – इस क्षेत्र के अलावा अन्य क्षेत्र का त्याग अथवा इन घरों की ही गोचरी लेना, इनके अलावा घरों का त्याग, अथवा गृहस्थों के घर में इस वस्तु का त्याग, घर के बाहर इस वस्तु का त्याग इत्यादि।

(ग) काल से– दोपहर में ही भिक्षा ग्रहण करना इत्यादि काल से अभिग्रह है। गृहस्थ भी 'यह वस्तु शाम को न लेना, गर्मी में न लेना' इत्यादि काल से अभिग्रह कर सकते हैं।

(घ) भाव से – हँसता हुआ पुरुष व्होराए तो ही लेना इत्यादि भाव से अभिग्रह है। गृहस्थ भी 'स्वास्थ्य ठीक न हो तो ही यह वस्तु लेना अन्यथा नहीं, यह व्यक्ति परोसे तो ही लेना' इत्यादि भाव से अभिग्रह ले सकते हैं।

---

① निर्व्याघात यानी कोई आपत्ति, व्याघात न होने पर ।
② संलेखना यानी अनशन स्वीकारने की पूर्व तैयारी ।

इस तप के सेवन से आपत्ति आने पर धीरता रखने का सत्त्व प्रगट होता है। आहार की लालसा क्षीण होती है। अशुभ कर्मों की खूब निर्जरा होती है। अत: यह तप संयम में बहुत साधक है।

(4) रसपरित्याग – मधुर स्वादिष्ट रसवाले पदार्थों का त्याग रस परित्याग तप है अर्थात् इन्द्रिय और संयम को विकृत (दूषित) करने वाली विगई का त्याग रसपरित्याग है। जो आहार इन्द्रिय और संयम को विकृत करे, उसे विगई कहते हैं। विगई के मुख्य दो भेद हैं – (1) महाविगई और (2) लघुविगई। महाविगई चार हैं – मदिरा, माँस, मक्खन और शहद। लघुविगई [1] छह हैं– दूध, दहीं, घी, तेल, गुड़ और कड़ा विगई (तली हुई वस्तु)। देह के पोषण के लिए अनिवार्य विगई के अलावा अन्य विगई का साधक को अवश्य त्याग करना चाहिए। विगई के त्याग से इन्द्रिय काबू में रहती है, निद्रा अल्प होती है, शरीर में स्फूर्ति रहने से स्वाध्यायादि में उत्साह रहता है। इस तरह रस परित्याग से अनेक लाभ होते हैं। अनावश्यक विगई का उपयोग करने से इन्द्रियाँ पुष्ट होकर अनियंत्रित हो जाती हैं, शरीर में जड़ता (स्थूलता) आती है, स्वाध्यायादि में शिथिलता आती है। फलत: आत्मा का संयम से च्युत होना भी संभव है। अत: अनशनादि तप न हो सके तो भी इस तप का सेवन अवश्य करना चाहिए।

(5) विविक्तशय्यासन – विविक्त यानी एकांत। एकांत में शय्या, आसनादि रखना। अर्थात् एकांत में रहना विविक्तशय्यासन है। स्त्री–पशु–नपुंसक से रहित तथा संयम में बाधक न हो ऐसे शून्यगृहादि एकांत स्थल में ज्ञानादि की आराधना में लीन रहना विविक्तशय्यासन है। अन्य कुछ ग्रंथों में विविक्तशय्यासन की जगह 'संलीनता' तप का निर्देश है। संलीनता यानी संयम। संलीनता के चार भेद हैं – (1) इन्द्रिय संलीनता (2) कषाय संलीनता (3) योग संलीनता और (4) विविक्तचर्या संलीनता। इन्द्रिय, कषाय और योग पर संयम रखना क्रमश: इन्द्रिय संलीनता, कषाय संलीनता, योग संलीनता है। संयम में बाधा न हो ऐसे एकांत स्थल में ज्ञानादि की आराधना में लीन रहना विविक्तचर्या संलीनता [2] है। इस प्रकार विविक्तचर्या संलीनता और विविक्तशय्यासन का अर्थ समान होने से विविक्तशय्यासन का विविक्तचर्यासंलीनता में समावेश हो जाता है। इन्द्रियसंलीनतादि तीन संलीनता बिना विविक्तचर्या संलीनता निरर्थक [3] है। इसलिए यहाँ विविक्तशय्यासन के निर्देश से गर्भित रूप से चार प्रकार की संलीनता का निर्देश किया है। इस दृष्टि से विविक्तशय्यासन, विविक्तचर्या संलीनता या संलीनता शब्द लगभग समान है।

इस तप के सेवन से संयम की रक्षा और वृद्धि होती है, ब्रह्मचर्य भंग का भय नहीं रहता, स्वाध्यायादि अनुष्ठान एकाग्रतापूर्वक होते हैं।

(6) कायक्लेश – जिससे काया को क्लेश=कष्ट, हो वह कायक्लेश तप है। वीरासन आदि आसन, कायोत्सर्ग, लोच, उग्रविहार आदि कायक्लेश तप हैं। इस तप के सेवन से शरीर का राग दूर होता है, सहन करने का सामर्थ्य प्रगट होता है, वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम तीव्र होता है, शासनप्रभावना होती है।

ये छह प्रकार का तप बाह्य लोग = जैनेतर दर्शन के अनुयायी भी करते हैं, इस तप को देखकर लोग तपस्वी कहते हैं, बाहर से तप रूप में दिखे, बाह्य शरीर को तपाता है इत्यादि अनेक कारणों से इस तप को बाह्य तप कहा जाता है। बाह्य तप के सेवन से शरीर की मूर्च्छा का त्याग, आहार की लालसा का त्याग, इन्द्रिय विजय,

---

① विगई के विशेष वर्णन के लिए देखें 'प्रत्याख्यान भाष्य'

② विशेष स्पष्टता के लिए देखें दशवैकालिक निर्युक्ति की हारिभद्रीय टीका तथा उत्तराध्ययन सूत्र की भाष्य टीका।

③ यह बात सभी आस्तिक दर्शनकारों को मान्य है। इसलिए गीता वगैरह ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है –

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ।। (गीता अ. 3 श्लो. 6)
जो मूढ पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर मन में इन्द्रिय के भोगों का स्मरण करता है, वह मिथ्याचारी =दंभी है।

शारीरिक रोगों का अभाव, शरीर हल्का होता है, संयम की प्रत्येक क्रिया उल्लासपूर्वक होती है, संयम रक्षा–वृद्धि, निकाचित कर्मों की भी निर्जरा इत्यादि अनेक लाभ होते हैं।

अभ्यंतर तप के छह भेद –

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ।। ९-२०।।

उत्तर (बाद वाले अभ्यंतर तप) के छह भेद – प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान।

(1) प्रायश्चित्त – प्रायश्चित्त शब्द में दो शब्द हैं – 'प्राय:' और 'चित्त'। प्राय: यानी अपराध, चित्त यानी शुद्ध करने वाला। जो अपराध शुद्धि करे, वह प्रायश्चित्त तप है। प्रायश्चित्त तप के नौ भेद हैं।[①]

(2) विनय – गुण और गुणी के प्रति आशातना के त्यागपूर्वक भक्ति–बहुमान विनय है।

(3) वैयावृत्त्य – आचार्य आदि महापुरुषों की सेवा वैयावृत्य या वैयावच्च है।

विनय में आदर सत्कार की प्रधानता है जबकि वैयावृत्य में बाह्य कायचेष्टा की और आहारादि द्रव्य की प्रधानता है। वैयावृत्य शब्द 'व्यावृत्त' शब्द से बना है। व्यावृत्त यानी व्यापार में प्रवृत्त। व्यापार में प्रवृत्त का भाव = परिणाम वैयावृत्य है। अर्थात् आचार्य आदि की सेवा के लिए जिनोक्त शास्त्रानुसार क्रिया में प्रवृत्ति करना वैयावृत्य है।

(4) स्वाध्याय – श्रुत का अभ्यास।

(5) व्युत्सर्ग – व्युत्सर्ग यानी त्याग। साधना में अनावश्यक वस्तु का त्याग।

(6) ध्यान – ध्यान यानी चित्त की एकाग्रता। विविध विषयों में भटकते चित्त की किसी एक विषय में स्थिरता = एकाग्रता ध्यान है।

ध्यान के अलावा अन्य अभ्यंतर तप के पेटाभेदों की संख्या –

नव-चतु-र्दश-पञ्च-द्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानाद् ।। ९-२१।।

ध्यान के पहले अर्थात् प्रायश्चित से व्युत्सर्ग तक के प्रत्येक अभ्यंतर तप के क्रमश: 9, 4, 10, 5, 2 भेद हैं।[②]

प्रायश्चित्त के भेदों का वर्णन –

आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनानि ।।९-२२।।

प्रायश्चित के 9 भेद हैं – आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय (आलोचना+प्रतिक्रमण), विवेक, व्युतसर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापन।

(1) आलोचना – आत्मसाधना में हुए दोष गुरु आदि के समक्ष प्रगट करना।

---

① प्रायश्चितादि छह प्रकार के तप के अवांतर भेदों का निर्देश ग्रंथकार स्वयं करेंगे।

② ध्यान के भेदों के भी अवांतर भेद होने से तथा ध्यान के विषय में अधिक कथन होने से ध्यान के भेद होने पर भी उनका यहाँ निर्देश नहीं किया।

(2) प्रतिक्रमण – किए हुए दोषों के लिए मिच्छामिदुक्कडं देना अर्थात् भूल को हार्दिक स्वीकार कर 'यह अयोग्य किया है' ऐसा पश्चात्ताप करना और भविष्य में पुन: दोष नहीं करने की प्रतिज्ञा करना।

(3) तदुभय – आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से दोष की शुद्धि करना अर्थात् दोष गुरु आदि के समक्ष प्रगट करना और अंत:करण से मिच्छामिदुक्कडं देना।

(4) विवेक – विवेक यानी त्याग। आहार आदि उपयोगपूर्वक लेने पर भी अशुद्ध आ जाए तो विधिपूर्वक उसका त्याग करना।

(5) व्युत्सर्ग – विशेष प्रकार से (उपयोग पूर्वक) उत्सर्ग (त्याग) करना अर्थात् उपयोग पूर्वक वचन–काया के व्यापार का त्याग व्युत्सर्ग (काउसग्ग) है। अनेषणीय या जंतु मिश्रित आहार–पानी, मल–मूत्र वगैरह के त्याग में तथा गमनागमनादि क्रिया में हुए दोषों की शुद्धि कायोत्सर्ग से की जाती है।

(6) तप– प्रायश्चित की शुद्धि के लिए बाह्य–अभ्यंतर तप का सेवन।

(7) छेद– दीक्षा पर्याय के छेद से दोषों की शुद्धि।

(8) परिहार – गुरु ने दिया हुआ प्रायश्चित जब तक पूर्ण न हो तब तक दोषित के साथ जघन्य से एक मास और उत्कृष्ट से 6 मास तक वंदन, अन्न–पानी का आदान–प्रदान, आलाप आदि का परिहार (त्याग) करना परिहार प्रायश्चित्त है।

(9) उपस्थापन – दोषों की शुद्धि के लिए दीक्षा के पूर्वपर्याय का त्याग कर नए पर्याय में उपस्थापना करना अर्थात् फिर से बड़ी दीक्षा देना उपस्थापन प्रायश्चित है।

नवतत्त्वप्रकरणादि ग्रंथों में परिहार और उपस्थापन इन दो प्रायश्चित की जगह मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक ऐसे तीन भेद हैं –

मूल – मूल से (सर्वथा) चारित्र पर्याय का छेद करना अर्थात् पुन: बड़ी दीक्षा देना।

अनवस्थाप्य – शुद्धि के लिए गुरु ने दिया हुआ प्रायश्चित पूर्ण न हो तब तक महाव्रत नहीं उच्चराना।

पारांचिक – साध्वी का शीलभंग वगैरह बड़े दोष की शुद्धि के लिए गच्छ के बाहर रहकर 12 वर्ष तक गुप्त वेश में विचरे तथा शासन प्रभावना करे, फिर पुन: बड़ी दीक्षा लेकर गच्छ में प्रवेश करे।

तत्त्वार्थ में नवतत्त्वप्रकरणादि की तरह प्रायश्चित्त के दस भेद नहीं बताकर नौ भेद ही क्यों बताए, यह सोचने पर लगता है कि वर्तमान में अनवस्थाप्य और पारांचिक का विच्छेद होने से उन दो का निर्देश नहीं किया तथा मूल और उपस्थापन का अर्थ समान होने से मूल की जगह ही उपस्थापन का निर्देश किया है। इस दृष्टि से नौ भेद का निर्देश भी उचित है।

विनय के भेद –

ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचारा : ।। ९-२३।।

विनय के चार भेद हैं – ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, उपचार विनय।

विनय के मुख्य दो भेद हैं – (1) तात्त्विक और (2) उपचार । मोक्षमार्ग (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) की स्वयं आराधना करना तात्त्विक विनय है। ज्ञानादि गुणों से युक्त अन्य आराधक का यथायोग्य विनय करना उपचार विनय है। मोक्षमार्ग के तीन भेद होने से तात्त्विक विनय के ज्ञानविनयादि तीन भेद हैं।

(1) ज्ञानविनय – मति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान की तथा उस–उस ज्ञान के विषय की श्रद्धा करना, भक्ति करना, ज्ञान पर बहुमान भाव रखना, ज्ञेय पदार्थों का चिंतन करना, विधिपूर्वक नया ज्ञान ग्रहण करना, पढ़े हुए ज्ञान का परिशीलन करना इत्यादि ज्ञानविनय है।

(2) दर्शनविनय – तत्त्वभूत अर्थों की श्रद्धा करना, शम आदि लक्षणों से आत्मा को वासित करना, देव–गुरु की आशातना का त्याग करना इत्यादि दर्शन विनय है।

(3) चारित्र विनय – पाँच प्रकार के चारित्र पर श्रद्धा रखना, यथाशक्ति चारित्र का पालन करना, अन्य को चारित्र का उपदेश करना इत्यादि चारित्र विनय है।

(4) उपचार विनय – सम्यग्दर्शन आदि गुणों में जो पुरुष स्वयं से बड़े हो, वे पधारे तब यथायोग्य सन्मुख जाना, हाथ जोड़ना, खड़े होना, आसन देना, वंदन करना, प्रायोग्य वस्त्रादि देकर सत्कार करना, सद्भूत गुणों की प्रशंसा करना इत्यादि उपचार विनय है। परोक्ष गुर्वादिक की मन में धारणा कर हाथ जोड़ना, वंदन करना, स्तुति करना इत्यादि भी उपचार विनय है।

वैयावच्च के भेद –

आचार्यो-पाध्याय-तपस्वि-शैक्षक-ग्लान-गण-कुल-सङ्घ-साधु-समनोज्ञानाम् ।।९-२४।।

वैयावच्च के दस भेद हैं – आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, समनोज्ञ इन दस की वैयावच्च।

सेवा के योग्य दस भेद के आश्रय से वैयावच्च के दस भेद हैं –

(1) आचार्य – साधुओं को चारित्र का पालन कराए, वे आचार्य।

(2) उपाध्याय– साधुओं को श्रुत प्रदान करे, वे उपाध्याय।

(3) तपस्वी –उग्र तपश्चर्या करने वाले।

(4) शैक्षक – जिसे ग्रहणशिक्षा और आसेवन शिक्षा देने की आवश्यकता है, वह नूतनदीक्षित साधु।

(5) ग्लान – ज्वर आदि रोग से पराभूत।

(6) गण– एक आचार्य का समुदाय।

(7) कुल– अनेक गच्छ (गण) का समुदाय।

(8) संघ – साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविका चार प्रकार का संघ।[1]

(9) साधु – मोक्ष की साधना करने वाले पंचमहाव्रतधारी मुनि।

(10) समनोज्ञ – सांभोगिक साधु अर्थात् परस्पर गोचरी–पानी आदि का व्यवहार जिनके साथ हो, ऐसे समान सामाचारी वाले साधु।

स्वाध्याय के भेद –

---

① **कुलं चान्द्रादिके साधुसमुदायविशेषरूपं प्रतीतं, गण: कुलसमुदाय:, सङ्घो गणसमुदाय: ।** (स्थानांग पाँचस्थान प्रत भाग –2, पृ. 299)

वाचना-पृच्छना-ऽनुप्रेक्षा-ऽऽम्नाय-धर्मोपदेशाः ।।९-२५।।

स्वाध्याय के 5 प्रकार हैं – वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश।

(1) वाचना – शिष्य आदि को आगम आदि का पाठ देना।

(2) पृच्छना – सूत्र और अर्थ संबंधी प्रश्न पूछना।

(3) अनुप्रेक्षा – पढ़े हुए श्रुत का चिंतन करना।

(4) आम्नाय –मुख के उच्चार पूर्वक अभ्यास करना, नया श्रुत कंठस्थ करना या पढ़े हुए श्रुत का परावर्तन करना।

(5) धर्मोपदेश – सूत्र के अर्थ का व्याख्यान करना, शिष्य वगैरह को धर्म का उपदेश देना। वर्तमान में श्रावकों को दिया जाता व्याख्यान भी धर्मोपदेश रूप स्वाध्याय है।

व्युत्सर्ग के भेद –

बाह्या-ऽभ्यन्तरोपध्योः ।।९-२६।।

व्युत्सर्ग (त्याग) दो प्रकार का है – बाह्य और अभ्यंतर उपधि का त्याग।

(1) बाह्योपधि – संयम के निर्वाह के लिए आवश्यक पात्र आदि चौदह उपधि से अतिरिक्त उपधि का या अकल्प्य उपधि का और उपलक्षण से अनेषणीय या जीवसंसक्त आहार–पानी आदि का त्याग।

(2) अभ्यन्तरोपधि – रोगादि से संयम का निर्वाह न हो सके तब अथवा मृत्यु समीप में हो तब शास्त्रोक्त विधि पूर्वक काया और कषायों का त्याग।

ध्यान का लक्षण –

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ।।९-२७।।

किसी एक विषय में चित्त की स्थिरता ध्यान है। ऐसा ध्यान उत्तम संघयण वाले को होता है।

यहाँ सूत्र में **'एकाग्रचिन्तानिरोध'** को ध्यान कहा है। **एकाग्र** यानी आलंबन, एक विषय। **चिंता** यानी चलचित्त। **निरोध** यानी स्थिरता। चलचित्त की किसी एक विषय में स्थिरता ध्यान है।

प्रश्न – चारों गति में निर्बल संघयण वाले जीवों को भी आर्त–रौद्र ध्यान तो होता ही है। यहाँ की गई ध्यान की व्याख्यानुसार निर्बल संघयण वाले को तो ध्यान नहीं हो सकता। अत: व्याख्या में विरोध है।

उत्तर – इस सूत्र में प्रबल कोटि का ध्यान ही विवक्षित है। यहाँ सामान्य कोटि के ध्यान की ध्यानरूप में गणना ही नहीं की है। जैसे– लोक में अधिक लक्ष्मी वाले को ही श्रीमंत =धनवान कहा जाता है, वैसे यहाँ प्रबल कोटि की एकाग्रता को ध्यान कहा गया है। अत: चारों गति में निर्बल संघयण वाले जीवों को भी ध्यान होता है, इससे इस व्याख्या में विरोध नहीं है।

इस भरतक्षेत्र में वर्तमान काल में सामान्य कोटि का ध्यान है। इस सूत्र में कथित प्रबल कोटि का ध्यान नहीं है क्योंकि ऐसे ध्यान के लिए प्रबल मानसिक एकाग्रता चाहिए। प्रबल मानसिक एकाग्रता मानसिक बल पर आधारित

है। मानसिक बल निश्चित प्रकार के शारीरिक बल बिना नहीं आ सकता। ध्यान के लिए आवश्यक शारीरिक बल मजबूत संघयण की अपेक्षा रखता है।

इसलिए इस सूत्र में उत्तमसंघयण वाले को ध्यान होने की बात कही है। छह प्रकार के संघयण में से प्रथम चार संघयण [1] उत्तम हैं। उनमें भी शुक्लध्यान तो प्रथम संघयण वाले को ही होता है। वर्तमान काल में केवल सेवार्त नामक छठा संघयण [2] होने से उत्तम संघयण का अभाव है। इसलिए इस काल में ऐसा ध्यान नहीं हो सकता।

चलचित्त की एक विषय में स्थिरता रूप ध्यान छद्मस्थ जीवों को ही होता है। केवलीभगवंतों को मन न होने से यह ध्यान नहीं होता। उन्हें योग–निरोध रूप ध्यान (शुक्लध्यान के अंतिम दो भेद) होता है।[3]

ध्यान के काल का प्रमाण –

आ मुहूर्तात् ।।९-२८।।

ध्यान लगातार अंतर्मुहूर्त तक ही होता है।

मुहूर्त यानी दो घड़ी। दो घड़ी की 48 मिनट होती है। मुहूर्त के अंदर = मुहूर्त से कम अंतर्मुहूर्त। मुहूर्त (48 मिनट में) एक समय भी न्यून हो तो अंतर्मुहूर्त कहलाता है। इस तरह एक–एक समय न्यून करते हुए अंतर्मुहूर्त के असंख्य भेद होते हैं क्योंकि एक मुहूर्त में असंख्य समय हो जाते हैं। जघन्य अंतर्मुहूर्त नौ समय का है और उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त एक समय न्यून एक मुहूर्त जितना है। अंतर्मुहूर्त बाद चित्त अवश्य चंचल होता है। चित्त अंतर्मुहूर्त तक स्थिर रहकर चलित होने के बाद पुन: अंतर्मुहूर्त तक स्थिर हो सकता है। पुन: अंतर्मुहूर्त के बाद अवश्य चलित होता है। स्थूलदृष्टि से हमें लगता है कि घंटों तक लगातार ध्यान चल रहा है लेकिन सूक्ष्मदृष्टि से चित्त अंतर्मुहूर्त के बाद अवश्य चलित होता है।

प्रश्न – यदि ध्यान अंतर्मुहूर्त तक ही हो सकता है तो घंटों या दिनों तक ध्यान में रहने के समाचार या उल्लेख असत्य हैं?

उत्तर – नहीं, पूर्व में कहे अनुसार व्यवहार से ध्यान घंटों या दिनों तक भी रह सकता है। यहाँ कहा गया ध्यान का काल सूक्ष्मदृष्टि (निश्चय) से है।

ध्यान के भेद –

आर्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि ।।९-२९।।

ध्यान के चार भेद हैं – आर्त, रौद्र, धर्म्य, शुक्ल।

(1) ऋत यानी दु:ख। दु:ख के कारण होने वाला ध्यान आर्तध्यान है। यह ध्यान सांसारिक दु:ख के कारण उत्पन्न होता है और पुन: दु:ख का अनुबंध करवाता है।

(2) रुद्र यानी क्रूर परिणाम वाला। हिंसा आदि के क्रूर परिणाम से युक्त जीव का ध्यान रौद्र ध्यान है। अथवा रुद्र यानी दूसरे को दु:ख देने वाला। दूसरे के दु:ख में कारण हो ऐसे हिंसादि के परिणाम से युक्त जीव का ध्यान रौद्रध्यान है।

(3) क्षमा आदि दस प्रकार के धर्म से युक्त ध्यान धर्म्य (या धर्म) ध्यान है।

① दिगंबर ग्रंथों में प्रथम तीन संघयण उत्तम होने का निर्देश है।
② संघयण का वर्णन देखें सूत्र 8–12 के विवेचन में।
③ शुक्लध्यान का वर्णन देखें सूत्र 9–40 और सूत्र 9–46 के विवेचन में।

(4) शुक्ल यानी निर्मल। जो सभी कर्मों का क्षय करे, वह ध्यान निर्मल = शुक्ल है। यद्यपि धर्मध्यान भी निर्मल है लेकिन धर्मध्यान आंशिक कर्मक्षय करता है जबकि शुक्लध्यान सभी कर्मों का क्षय करता है। अत: शुक्ल ध्यान अत्यंत निर्मल है।

ध्यान का फल –

परे मोक्षहेतू ।।९-३०।।

अंतिम दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं।

यहाँ 'अंतिम दो (धर्म और शुक्ल) ध्यान मोक्ष के हेतु हैं' ऐसा कहकर यह सूचित कर दिया है कि प्रथम दो (आर्त और रौद्र) ध्यान संसार के हेतु हैं। धर्मध्यान परंपरा से (शुक्लध्यान की प्राप्ति कराने से) मोक्ष का हेतु है। शुक्लध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है।

(आर्तध्यान आदि प्रत्येक ध्यान के चार–चार भेद हैं। अब क्रमश: उन भेदों के वर्णन का प्रारंभ करते हैं और भेदों के वर्णन के साथ–साथ ये भेद किसे होते हैं, ऐसे ध्यान के स्वामी का भी वर्णन करेंगे [1]।)

आर्तध्यान के प्रथम भेद का वर्णन –

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार: ।।९-३१।।

अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर उसे दूर करने का तथा उसे दूर करने के उपाय का एकाग्रचित्त से विचार आर्तध्यान का 'अनिष्ट वियोग चिंता' रूप प्रथम भेद है।

जैसे – पास वाले घर से रेडियो की आवाज आती है, वह आवाज प्रतिकूल=अनिष्ट लगने पर 'रेडियो बंद हो तो अच्छा' ऐसा विचार तथा 'वह कैसे बंद हो?' इस विषयक विचार आर्तध्यान है। प्रतिकूल मकान मिलने पर मकान बदलने के उपाय के विविध विचार आर्तध्यान है।

आर्तध्यान का दूसरा भेद –

वेदनायाश्च ।।९-३२।।

रोग से होने वाली वेदना को दूर करने का तथा उसके उपाय का एकाग्रचित्त से विचार 'वेदनावियोग चिंता' रूप आर्तध्यान का द्वितीय भेद है।

यद्यपि वेदनावियोग चिंता एक प्रकार की अनिष्टवियोग चिंता ही होने से उसका आर्तध्यान के प्रथम भेद में समावेश हो जाता है तो भी उसकी संभावना अधिक होने से पृथग निर्देश किया है। जीवों को अन्य वस्तु की अपेक्षा शरीर पर अधिक ममत्व होता है। इसलिए रोग सबसे अधिक अनिष्ट है।

अन्य अनिष्टों की अपेक्षा रोग अधिक संताप देता है। अन्य अनिष्टों में भिन्न–भिन्न मनुष्यों की अपेक्षा से कुछ अनिष्टों का संयोग न भी हो जबकि यह वेदना रूप अनिष्ट का संयोग तो न्यूनाधिक प्रमाण में सबको होता है।

आर्तध्यान का तृतीय भेद –

विपरीतं मनोज्ञानाम् ।।९-३३।।

---

[1] ध्यान के उन भेदों के वर्णन से उपुर्यक्त उस–उस ध्यान का लक्षण बराबर समझ में आ जाएगा ।

इष्ट वस्तु प्राप्त करने का और प्राप्ति के उपाय का एकाग्रचित्त से विचार आर्तध्यान का 'इष्ट संयोग चिंता' रूप तीसरा भेद है।

जैसे – धन की प्राप्ति का तथा धन प्राप्ति के विविध उपाय का विचार आर्तध्यान है। इस तरह सभी इष्ट वस्तु में समझना।

आर्तध्यान का चतुर्थ भेद –

निदानं च ।।९-३४।।

निदान आर्तध्यान का चौथा भेद है।

निदान यानी काटने का साधन। जिससे आत्मसुख कट जाए वह निदान है। धर्म के फल रूप में इसलोक या परलोक के सुख की इच्छा करने से आत्मसुख कट जाता है। इसलिए वह निदान है।

चारों प्रकार का आर्तध्यान दु:ख में से उत्पन्न होता है। प्रथम दो भेदों में स्पष्ट रूप से दु:ख का संयोग है। तीसरे भेद में इष्ट वस्तु के वियोग का मानसिक दु:ख है। चौथे भेद में इष्ट वस्तु अप्राप्ति का दु:ख है। दु:ख के कारण होने वाली अशुभ विचारणा पुन: नए अशुभ कर्मों का बंध करवाती है। इसलिए यह ध्यान दु:ख का अनुबंध कराता है। इस तरह आर्तध्यान से आदि में, मध्य में और अंत में दु:ख ही है।

आर्तध्यान के स्वामी –

तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम् ।।९-३५।।

यह आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयमी को होता है।

अर्थात् प्रथम गुणस्थानक से लेकर छठे गुणस्थानक तक के जीवों को आर्तध्यान हो सकता है। सातवें गणुस्थानक से आर्तध्यान का अभाव है।

रौद्रध्यान के भेद और स्वामी –

हिंसा-ऽनृत-स्तेय-विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-देशविरतयो: ।।९-३६।।

रौद्र ध्यान चार प्रकार का है– हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण, इन चार का एकाग्रचित्त से विचार। यह अविरत और देशविरत जीवों को होता है।

हिंसा आदि चार का एकाग्रचित्त से विचार क्रमश: हिंसानुबंधी, असत्यानुबंधी, स्तेयानुबंधी और विषयसंरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान है। हिंसा कब करना, कैसे करना, उसके साधन क्या हैं, साधन का उपयोग कैसे करना इत्यादि हिंसा का एकाग्रचित्त से विचार करना **हिंसानुबंधी** रौद्रध्यान है। असत्य कैसे बोलना, कैसे असत्य बोलने से छूट जाएँगे, कैसे असत्य बोलने से अन्य को ठग सकते हैं इत्यादि असत्य का एकाग्रचित्त से विचार करना **असत्यानुबंधी** रौद्रध्यान है। चोरी कैसे करना, कैसे चोरी करने से पकड़ा न जाए, चोरी के साधन कौन से हैं, चोरी के साधन कहाँ मिलते हैं, कैसे साधन लाना, कहाँ–कैसे चोरी करना इत्यादि चोरी का एकाग्रचित्त से विचार करना **स्तेयानुबंधी** रौद्रध्यान है। रूप आदि इष्ट विषय का या विषय के साधन के रक्षण करने का एकागग्रचित्त से विचार करना **विषयसंरक्षणानुबंधी** रौद्र ध्यान है।[1]

[1] विषय और विषय के साधनों को प्राप्त करने के विचार आर्तध्यान है और उनके रक्षण के विचार रौद्रध्यान है। विषयों की प्राप्ति में और सेवन में आनंद आर्तध्यान है। आर्त–रौद्र ध्यान के इस स्वरूप को जानने वाले व्यक्ति को लगभग सभी जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यान ही करते रहते हैं, ऐसा ज्ञात हुए बिना नहीं रहेगा ।

यह ध्यान अविरत और देशविरत जीवों को अर्थात् प्रथम गुणस्थानक से पाँचवें गुणस्थानक तक के जीवों को होता है। बाद वाले गुणस्थानकों में यह ध्यान नहीं होता।

धर्मध्यान के भेद और स्वामी–

आज्ञा-ऽपाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य ।।९-३७।।

आज्ञा–अपाय–विपाक–संस्थान इन चार के विचय संबंधी एकाग्र मनोवृत्ति चार प्रकार का धर्मध्यान है। यह ध्यान अप्रमत्तसंयत को होता है।

विचय यानी पर्यालोचन चिंतन। मन की एकाग्रता से आज्ञा आदि चार का पर्यालोचन, चिंतन क्रमश: आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय है।

(1) आज्ञा विचय – जिनेश्वर भगवान की आज्ञा सभी जीवों को हितकर है, सर्व दोषों से रहित है। उनकी आज्ञा में बहुत गूढ़ रहस्य हैं। इससे अतिलघुकर्मी निपुण पुरुष ही उनकी आज्ञा समझ सकते हैं इत्यादि चिंतन तथा साधु और श्रावक के लिए भगवान की कौन–कौन सी आज्ञा है, इस विषय में एकाग्रता पूर्वक पर्यालोचन=चिंतन आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

(2) अपाय विचय – अपाय यानी दु:ख। संसार के जन्म–जरा–मरण, आधि–व्याधि–उपाधि वगैरह शारीरिक ओर मानसिक दु:खों का तथा दु:ख के कारण अज्ञान, अविरति, कषाय आदि का एकाग्रचित्त से विचार अपायविचय धर्मध्यान है।

(3) विपाक विचय – विपाक यानी फल। कर्म के उदय से होने वाले फल का विचार विपाकविचय है। वह इस प्रकार– ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव अज्ञानी रहता है। दर्शनावरण कर्म के उदय से वस्तु को देख नहीं सकते, निद्रा का उदय होता है। सातावेदनीय कर्म से सुख का और असातावेदनीय कर्म से दु:ख का अनुभव होता है। विपरीत ज्ञान, अविरति, रति, अरति वगैरह मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। आयुष्य कर्म के उदय से नरकादि गति में जाना पड़ता है। नामकर्म के उदय से शुभ या अशुभ देहादि मिलते हैं। गोत्रकर्म के उदय से उच्च या नीच गोत्र में जन्म होता है। अंतराय कर्म के उदय से दान, लाभ आदि में अंतराय= विघ्न होता है।

(4) संस्थान विचय – संस्थान यानी आकार। लोक के तथा लोक में रहे द्रव्यों के आकार–स्वरूप का चिंतन संस्थान विचय है। लोक, जगत, दुनिया, विश्व आदि एकार्थक हैं। लोक चौदह राजलोक जितना है, अर्थात् लोक को उपर के अंत से नीचे तक नापा जाए तो 14 राज होते हैं। उसका आकार पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखकर खड़े पुरुष के समान है। उसके ऊर्ध्व, अधो और तिर्च्छा तीन भाग हैं। अधोलोक उल्टे रखे हुए कुंड के समान है। तिर्च्छालोक थाली की आकृति जैसा गोल है। ऊर्ध्वलोक मृदंग के समान आकार वाला है। तिर्च्छालोक के निचले भाग में व्यंतर तथा उपर के भाग में ज्योतिष्क देव हैं। मध्य भाग में चूड़ी के आकार जैसे असंख्य द्वीप–समुद्र हैं। प्रारंभ में ढाई द्वीप में मनुष्य–तिर्यंचों का वास है। शेष सभी द्वीप में केवल तिर्यंच हैं। ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देव हैं। अधोलोक में भवनपति देव और नारक हैं। इस प्रकार जिनोपदिष्ट शास्त्रों के आधार पर लोक के आकार, स्वरूप का विचार संस्थानविचय धर्मध्यान है।[①]

① लोक के स्वरूप का विस्तृत वर्णन अध्याय –5 में आ चुका है।

यह ध्यान अप्रमत्त संयत को होता है। इससे नीचे वाले छठे वगैरह गुणस्थानक में तात्त्विक धर्मध्यान नहीं होता [1], यह स्पष्ट है। नीचे के छठे वगैरह गुणस्थानकों में अभ्यासरूप धर्मध्यान होता है लेकिन पारमार्थिक धर्मध्यान नहीं होता।

धर्मध्यान के स्वामी –

उपशान्त-क्षीणकषाययोश्च ।।९-३८।।

उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय वाले मुनि को भी धर्मध्यान होता है।

उपर्युक्त सूत्र में अप्रमत्त संयत को धर्मध्यान होने की बात कही। इस सूत्र में उपशांत कषाय और क्षीण कषाय संयत को भी धर्मध्यान होने की बात कही। 11वें गुणस्थानक वाले मुनि उपशांत कषाय और 12वें गुणस्थानक वाले मुनि क्षीण कषाय है। इससे 7 से 12 गुणस्थानक तक धर्मध्यान होता है, यह सिद्ध हुआ [2]

शुक्ल ध्यान के प्रथम दो भेद के स्वामी –

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ।।९-३९।।

पूर्व के ज्ञाता उपशांत कषाय और क्षीणकषाय मुनि को शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद होते हैं।

अर्थात् उपशांत कषाय और क्षीण कषाय मुनि यदि पूर्वधर न हो तो उन्हें 11–12 वें गुणस्थानक में धर्मध्यान होता है और यदि पूर्वधर हो तो शुक्लध्यान (के प्रथम दो भेद) हो सकते हैं।

यहाँ 38 और 39 वें सूत्र के भाष्य और भाष्य टीका को देखने पर ज्ञात होता है कि दोनों श्रेणि (उपशम और क्षपक) में धर्म–शुक्ल दोनों प्रकार का ध्यान होता है।

दोनों प्रकार की श्रेणि का आरंभ आठवें गुणस्थानक से होता है परंतु कर्मों के क्षय या उपशम का प्रारंभ नौवें गुणस्थानक से होता है। 11वें गुणस्थानक में उपशमश्रेणि की तथा 12 वें गुणस्थानक में क्षपकश्रेणि की समाप्ति होती है (क्षपक श्रेणि में 11वां गुणस्थान नहीं होता)। दोनों श्रेणि में 8–9–10वें गुणस्थानक में धर्मध्यान होता है और 11–12 वें गुणस्थान में शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद हो सकते हैं। श्रेणि में आरोहण करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं – (1) पूर्वधर (श्रुतकेवली = संपूर्ण चौदह पूर्वधर) (2) अपूर्वधर (चौदह पूर्व से न्यून श्रुत के ज्ञाता)। दोनों प्रकार की श्रेणि में यथासंभव 11वें–12वें गुणस्थानक में पूर्वधर को शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद हो सकते हैं और अपूर्वधर को धर्मध्यान होता है।

शुक्लध्यान के अंतिम दो भेद के स्वामी –

परे केवलिनः ।।९-४०।।

शुक्लध्यान के अंतिम दो भेद केवली भगवंत को होते हैं।

13वें गुणस्थान के अंतिम अंतर्मुहूर्त में मन–वचन इन दो योगों का सर्वथा निरोध होने के बाद बादर–काययोग का निरोध होने पर मात्र सूक्ष्म–काययोग शेष रहता है। तब तीसरा भेद होता है। सूक्ष्म–काययोग का निरोध होने पर अर्थात् संपूर्ण योगनिरोध होने पर चौदहवें गुणस्थानक में आत्मा की निष्प्रकंप अवस्था रूप चौथा भेद होता है।

---

① दिगंबर ग्रंथों में चौथे से सातवें गुणस्थानक तक धर्मध्यान होने का निर्देश है।

② दिगंबर ग्रंथों में दोनों प्रकार की श्रेणि में (8 से 12 गुणस्थानक तक) शुक्लध्यान का ही स्वीकार किया है। उसमें उपशम श्रेणि में 8 से 11 गुणस्थान तक और क्षपकश्रेणि में 8 से 10 गुणस्थान तक शुक्लध्यान का प्रथम भेद और 12 वें गुणस्थानक में दूसरा भेद माना गया है ।

शुक्लध्यान के चार भेद –

पृथक्त्वै-कत्ववितर्क-सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति-व्युपरतक्रियाऽनिवृत्तीनि ॥९-४१॥

शुक्लध्यान के चार भेद हैं – पृथक्त्ववितर्क (सविचार), एकत्ववितर्क (अविचार), सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति और व्युपरतक्रिय-अनिवृत्ति।

(1) पृथक्त्व वितर्क सविचार – पृथक्त्व यानी भेद, अंतर। वितर्क यानी पूर्वगतश्रुत। विचार यानी द्रव्य-पर्याय की, शब्द-अर्थ की या मन आदि तीन योगों की संक्रांति=परावर्तन। विचार से सहित, वह सविचार ①।

यहाँ तीन शब्दों से तीन बिंदुओं को दर्शाया है – (1) पृथक्त्व शब्द से भेद (2) वितर्क शब्द से पूर्वगतश्रुत और (3) सविचार शब्द से द्रव्य-पर्याय आदि का परावर्तन तथा 'एकाग्रतापूर्वक चिंतन'। यह अर्थ आगे से चला आ रहा है। इससे पृथक्त्ववितर्कसविचार ध्यान का अर्थ इस प्रकार होता है – जिस ध्यान में पूर्वगतश्रुत ② के आधार पर आत्मा आदि किसी एक द्रव्य ③ के आश्रय से उत्पादादि अनेक पर्यायों का एकाग्रतापूर्वक भेद ④ (द्रव्य-पर्याय का भेद) प्रधान चिंतन ⑤ हो और द्रव्य-पर्याय आदि का परावर्तन ⑥ हो, वह पृथक्त्ववितर्कसविचार ध्यान ⑦ है।

इसका भावार्थ इस प्रकार है – पूर्वधर मुनि पूर्वगतश्रुत के आधार पर, आत्मा या परमाणु किसी एक द्रव्य के आश्रय से विविध नयों के अनुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, मूर्तत्व-अमूर्तत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि पर्यायों का भेद से (भेद प्रधान) चिंतन करते हैं। तब एक द्रव्य को छोड़कर दूसरे द्रव्य या पर्याय का अथवा एक पर्याय को छोडकर अन्य पर्याय या अन्य द्रव्य का आलंबन लेते हैं। तथा शब्द से अर्थ पर और अर्थ से शब्द पर जाते हैं। इसी तरह काययोग का त्यागकर वचनयोग या मनोयोग का आलंबन लेते हैं अथवा वचनयोग का त्यागकर मनोयोग या काययोग का आलंबन लेते हैं अथवा मनोयोग का त्यागकर काययोग या वचनयोग का आलंबन लेते हैं। इस प्रकार अर्थ, व्यंजन और योगों का परिवर्तन करते हैं।

(2) एकत्ववितर्क अविचार – एकत्व यानी अभेद। शुक्लध्यान के इस भेद में द्रव्य-पर्याय का अभेदरूप में चिंतन होता है। वितर्क और विचार का अर्थ प्रथम भेद में दर्शाया गया ही है। विचार का अभाव वह अविचार। इस भेद में विचार का अभाव होता है। जिस ध्यान में पूर्वगत श्रुत के आधार पर आत्मा या परमाणु किसी एक द्रव्य के आश्रय से उत्पादादि किसी एक पर्याय का अभेद से (अभेदप्रधान) चिंतन हो और अर्थ-व्यंजन-योग के परावर्तन का अभाव हो, वह एकत्ववितर्कअविचार ध्यान ⑧ है। यह ध्यान विचार रहित होने से वायुरहित स्थान पर रहे दीपक की तरह निष्प्रकंप = स्थिर होता है।

---

① यहाँ मूलसूत्र में सविचार शब्द नहीं है लेकिन आगे सूत्र 9-44 में दूसरे भेद को विचाररहित कहा है। इससे अर्थापत्ति से यह सिद्ध होता है कि प्रथमभेद विचार सहित है। विचार का अर्थ ग्रंथकार स्वयं सूत्र 9-46 में कहेंगे। वही अर्थ यहाँ कहा गया है।

② यह अर्थ 'वितर्क' शब्द से द्योतित होता है।

③ इस अर्थ के लिए 'पृथक्त्ववितर्क सविचार' इस नाम में कोई शब्द नहीं है लेकिन आगे सूत्र 9-43 में इस अर्थ का सूचन किया है।

④ यह अर्थ 'पृथक्त्व' शब्द से ज्ञात होता है।

⑤ यह अर्थ सूत्र 9-31 से चला आ रहा है।

⑥ इस अर्थ का द्योतक 'सविचार' शब्द है।

⑦ **पृथक्त्वेन=एकद्रव्याश्रितानामुत्पादादिपर्यायाणां भेदेन पृथुत्वेन वा, विस्तीर्णभावेनेत्यन्ये, वितर्को = विकल्प: पूर्वगतश्रुतालम्बनो नानानयानुसरणलक्षणो यस्मिंस्तत्तथा, पूज्यैस्तु (श्रीमदुमास्वातिवाचकै:) वितर्क : श्रुतालम्बनतया श्रुतमित्युपचारादधीत: तथा विचरणम् = अर्थाद् व्यञ्जनादर्थे तथा मन: प्रभृतीनां** (स्थानांगसूत्र,पद-4)

⑧ **एकत्वेन = अभेदेनोत्पादादिपर्यायाणामन्यतमैकपर्यायालम्बनतयेऽत्यर्थ: । वितर्क: पूर्वगतश्रुताश्रयो व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो यस्य तदेकत्ववितर्कम् ।** (स्थानांगसूत्र,पद-4)

(3) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति – यह शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – 'सूक्ष्मक्रिय' और 'अप्रतिपाति'। सूक्ष्म क्रिय यानी जिसमें क्रिया सूक्ष्म= अतिअल्प हो। अप्रतिपाति यानी पतन रहित। जिसमें मात्र श्वासोच्छ्वास रूप सूक्ष्मक्रिया ही रही है और ध्यान करने वाले के बढते हुए परिणाम का पतन नहीं होता, वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान है। स्वयं का आयुष्य एक अंतर्मुहूर्त जितना ही शेष हो तब केवली योगनिरोध की प्रक्रिया का प्रारंभ करते हैं। उसमें वचनयोग और मनोयोग का सर्वथा निरोध हो जाने पर मात्र श्वासोच्छ्वास रूप सूक्ष्मकाययोग अवशेष रहे तब यह ध्यान होता है। योगनिरोध 13वें गुणस्थानक के अंत में (अंतिम अंतर्मुहूर्त) होता है इसलिए यह ध्यान भी 13वें गुणस्थानक के अंत में होता है।

(4) व्युपरतक्रियानिवृत्ति – इसमें भी दो शब्द हैं – 'व्युपरतक्रिय' और 'अनिवृत्ति'। जिसमें क्रिया सर्वथा रुक गई हो, वह व्युपरतक्रिय। जिसमें निवृत्ति (रुकना) नहीं है, वह अनिवृत्ति। जिसमें मन आदि तीनों योगों का सर्वथा निरोध हो जाने से किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं है तथा जो ध्यान आत्मा मोक्ष में जाए तब तक रुकता नहीं है, वापस नहीं आता, वह ध्यान व्युपरतक्रियानिवृत्ति है। यह भेद 14वें गुणस्थानक में होता है।

ध्यान में योग की विचारणा –

तत् त्र्येक-काययोगा-ऽयोगानाम् ।।९-४२।।

वह (चार प्रकार का शुक्लध्यान) क्रमश: तीन योग, एकयोग, काययोग और अयोग (योग रहित) को होता है।

शुक्लध्यान का प्रथम भेद मन आदि तीनों योग के व्यापार वाले को, द्वितीय भेद तीन में से किसी भी एक योग वाले को, तृतीय भेद काययोग वाले को और चतुर्थ भेद योगव्यापार रहित जीव को होता है। अर्थात् ध्यान के प्रथम भेद में तीनों योगों का व्यापार होता है, दूसरे भेद में तीनों में से किसी एक योग का व्यापार है। तीसरे भेद में काययोग का व्यापार होता है। चौथे भेद में योगव्यापार का अभाव है।

प्रश्न – चित्त का निरोध (निश्चलता) ध्यान है। केवली भगवंत को चित्त नहीं होता। इससे उन्हें ध्यान कैसे होता है? यहाँ तो केवली को दो ध्यान कहे गए हैं?

उत्तर – जैनशासन में चित्त का निरोध ही ध्यान नहीं है। किंतु मन–वचन–काया रूप योगों का निरोध करना भी ध्यान है। इससे केवली को योगनिरोध रूप ध्यान होता है।

प्रश्न – 'ध्यान' शब्द 'ध्यै धातु' से बना है। ध्यै धातु का अर्थ चित्त का निरोध करना है, योग का निरोध करना नहीं। इससे योग निरोध को ध्यान कैसे कहेंगे?

उत्तर – ध्यै धातु के अनेक अर्थ हैं। इससे ध्यै धातु का योगनिरोध करना अर्थ भी है।

पूर्वपक्ष –केवली को अंतिम दो ध्यान होते हैं। इसमें तेरहवें गुणस्थानक में होने वाले तीसरे भेद में काययोग का निरोध होने से योगनिरोध होता है। लेकिन चौदहवें गुणस्थानक में योगनिरोध पहले ही हो गया होने से योगनिरोध नहीं है। इससे ध्यै धातु का 'योगनिरोध' अर्थ भी चौदहवें गुणस्थानक में घटित नहीं होगा।

उत्तरपक्ष – पूर्व में कहे अनुसार ध्यै धातु के अनेक अर्थ हैं। इससे ध्यै धातु का 'अयोगावस्था' भी अर्थ है। अर्थात् ध्यै धातु के तीन अर्थ हुए– मनोनिरोध, योगनिरोध और अयोगावस्था। छद्मस्थ के ध्यान में ध्यै धातु का मनोनिरोध अर्थ है, तेरहवें गुणस्थानक में ध्यान का योगनिरोध अर्थ है और चौदहवें गुणस्थानक में ध्यान का अयोगावस्था अर्थ है।

प्रश्न – इस तरह ध्यै धातु के प्रसिद्ध अर्थ के अलावा अन्य अर्थ करने में अन्याय नहीं होता?

उत्तर – नहीं, जिनवचन का अनुसरण करने के लिए अन्य अर्थ करने में अन्याय नहीं होता।

शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों की विशेषता –

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ।।९-४३।।

पूर्व के दो भेद एकाश्रय और सवितर्क होते हैं।

एकाश्रय यानी आत्मा या परमाणु आदि किसी एक आलंबन सहित। सवितर्क यानी श्रुतसहित=पूर्वगतश्रुत के आधार वाला । शुक्लध्यान के प्रारंभ में दो भेद में आत्मा या परमाणु आदि किसी एक द्रव्य का आलंबन लिया जाता है अर्थात् किसी एक द्रव्य संबंधी ध्यान किया जाता है। तथा पूर्वगतश्रुत का आधार होता है अर्थात् पूर्वगतश्रुत के आधार पर ध्यान किया जाता है।

पहले और दूसरे भेद में फर्क –

अविचारं द्वितीयम् ।।९-४४।।

शुक्लध्यान का द्वितीय भेद विचाररहित होता है।

इससे अर्थापति द्वारा सिद्ध होता है कि प्रथमभेद विचारसहित होता है। द्रव्य–पर्याय, शब्द–अर्थ और योगों का संक्रमण=परिवर्तन विचार है, ऐसा पूर्व में कहा जा चुका है।

प्रथमभेद एकाश्रय–पृथक्त्व–सवितर्क–सविचार है और द्वितीय भेद एकाश्रय–एकत्व–सवितर्क–अविचार है। इस तरह दो भेदों में एकाश्रय–सवितर्क की समानता है और पृथक्त्व–एकत्व एवं विचार की असमानता है।

वितर्क की व्याख्या –

वितर्कः श्रुतम् ।।९-४५।।

वितर्क यानी (पूर्वगत) श्रुत।

यद्यपि वितर्क का अर्थ विकल्प=चिंतन होता है तथापि यहाँ वितर्क (विकल्प) पूर्वगतश्रुत के आधार पर विविध नय के अनुसार किया जाता होने से उसमें (विकल्प में) पूर्वगतश्रुत का आलंबन होने से उपचार से वितर्क का श्रुत अर्थ किया गया है।[1] यहाँ श्रुत शब्द से सामान्यश्रुत नहीं, पूर्वगतश्रुत समझना।

विचार की व्याख्या –

विचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिः ।।९-४६।।

अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रांति विचार है।

अर्थ यानी द्रव्य या पर्याय। व्यंजन यानी ध्येय पदार्थ का वाचक शब्द=श्रुतवचन। मन–वचन–काया, तीन योग हैं। संक्रांति यानी संक्रमण=परिवर्तन। किसी एक द्रव्य का ध्यान कर उसके पर्याय का ध्यान करना अथवा किसी एक पर्याय के ध्यान को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना, इस तरह द्रव्य–पर्याय का परिवर्तन अर्थ (द्रव्य–पर्याय) संक्रांति है। किसी एक श्रुतवचन का आलंबन लेकर ध्यान करने के बाद अन्य श्रुतवचन का आलंबन लेकर ध्यान

[1] **वितर्को विकल्पः पूर्वगतश्रुतालम्बनो नानानयानुसरणलक्षणो यस्मिंस्तत्तथा, पूज्यैस्तु वितर्क : श्रुतालम्बनतया श्रुतमित्युपचारादधीतः।** (स्थानांग पद –4)

करना व्यंजनसंक्रांति है। काययोग का त्यागकर मनोयोग या वचनयोग का स्वीकार करना इत्यादि योगसंक्रांति [1] है। इस प्रकार अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रांति विचार है।

इस प्रकार बाह्य–अभ्यंतर तप का वर्णन समाप्त हुआ। दोनों प्रकार के तप संवर और निर्जरा का कारण होने से मोक्षमार्ग के साधक को उनका सेवन अवश्य करना चाहिए। तप से सर्वकर्मों का क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रश्न – तप निर्जरा का कारण कैसे है? उसमें भी बाह्य तप से निर्जरा कैसे होती है? बाह्य तप में तो मात्र कायक्लेश है। यदि कायकष्ट से निर्जरा होती है जैसे–जैसे कायकष्ट अधिक, वैसे–वैसे निर्जरा अधिक होना चाहिए। इससे साधुओं से भी ज्यादा निर्जरा तिर्यंच और नारकों को होना चाहिए क्योंकि वे अधिक कष्ट सहन करते हैं। इसलिए साधु की अपेक्षा उनका मोक्ष पहले होना चाहिए। मात्र कायकष्ट से तपस्वी कहलाते हैं तो तिर्यंच और नारकों को महान तपस्वी कहना चाहिए।

उत्तर – इस प्रश्न के समाधान के लिए पहले निर्जरा का अर्थ बराबर समझ लेने की आवश्यकता है। निर्जरा के दो भेद हैं– द्रव्य और भाव। आत्मा से कर्मप्रदेशों का अलग होना द्रव्य निर्जरा है। कर्मप्रदेशों को अलग करने वाले आत्मा के शुद्ध परिणाम =अध्यवसाय भाव निर्जरा है। इनमें भावनिर्जरा ही मुख्य निर्जरा है। भावनिर्जरा के बिना होने वाली द्रव्यनिर्जरा दो कारणों से होती है– (1) कर्म की स्थिति का परिपाक होने से और (2) आत्मा के शुद्ध परिणाम रूप भावनिर्जरा से। कर्म की स्थिति के परिपाक से होने वाली निर्जरा तो प्रत्येक जीव को हो रही है। इस निर्जरा का जरा भी महत्व नहीं है। शुद्ध परिणामरूप भावनिर्जरा से होने वाली द्रव्यनिर्जरा ही महत्वपूर्ण है। इसलिए प्रस्तुत में यही निर्जरा इष्ट है।

यहाँ निर्जरा के दो कारण बताए, उसमें तप का समावेश तो हुआ नहीं जबकि शास्त्रकार तो तप को निर्जरा का कारण कहते हैं। इसमें तथ्य क्या है? यह प्रश्न उपस्थित होना सहज है। इसका समाधान इस प्रकार है – तप भावनिर्जरा यानी आत्मा के शुद्ध परिणामों का कारण होने से निर्जरा का कारण है। तप से भावनिर्जरा= आत्मा के परिणाम शुद्ध होते हैं और इससे द्रव्यनिर्जरा होती है। तप का सेवन करने पर भी यदि भाव निर्जरा न हो तो प्रस्तुत अधिकार में इष्ट निर्जरा नहीं होती। अत: भाव निर्जरा में कारण नहीं बनने वाला तप वास्तविक तप नहीं है किंतु मात्र कायक्लेश है। भावनिर्जरा में कारण बनने वाला तप ही वास्तविक तप है। यहाँ उस तप की गणना की गई है।

अब यह प्रश्न बाकी रहता है कि अभ्यंतर तप की आत्मा पर असर होने से आत्मा में शुद्ध परिणाम होते हैं, इसलिए अभ्यंतर तप निर्जरा का कारण है। लेकिन बाह्य तप की केवल शरीर पर असर होने से उससे आत्मा के शुद्ध परिणाम कैसे उत्पन्न होंगे? और उससे निर्जरा भी कैसे होगी? इस प्रश्न का समाधान यह है कि बाह्य तप की असर केवल काया पर होती है, यह बात असत्य है। जिस बाह्य तप की केवल काया पर असर हो, आत्मा पर असर न हो, वह वास्तविक बाह्य तप ही नहीं है किंतु कायक्लेश ही है। इसलिए ही प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि **'सम्यग्योग...** (सूत्र 9–4)' सूत्र में से सम्यग् शब्द का अनुसंधान इस सूत्र में भी लेना। अत: यहाँ मात्र बाह्य तप का निर्देश नहीं है किंतु सम्यग्बाह्यतप का निर्देश है। आत्मशुद्धि के आशय से जिनेश्वर की आज्ञा अनुसार किया जाता बाह्य तप सम्यग् यानी उत्तम है।

आत्मा में शुद्ध परिणाम जागृत नहीं होते तब तक सम्यग् बाह्यतप करने की भावना नहीं होती, यह निश्चित है क्योंकि जब तक देह का ममत्व, आहार की लालसा, इन्द्रियों का असंयम, संसारसुख का राग वगैरह दोष दूर

[1] **अर्थो ध्येयो द्रव्यं पर्यायो वा। व्यञ्जनं वचनम्। योग: कायवाङ्मन:कर्मलक्षण:। संक्रांति: परिवर्तनम्। द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थ संक्रान्ति:। एकं श्रुतवचनमुपादाय वचनानन्तरमालम्बते, तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्ति:। काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गृह्णाति, योगान्तरं त्यक्त्वा काययोगमिति योगसंक्रान्ति: ।** (सर्वार्थसिद्धि:)

नहीं होते, न्यून नहीं होते, तब तक सम्यग् बाह्य तप करने की भावना प्रगट नहीं होती। तथा जब तक आत्मा में शुद्ध परिणाम उत्पन्न नहीं होते, तब तक देह का ममत्व आदि दोष दूर नहीं होते, हीन नहीं होते। अत: बाह्य तप की प्रवृत्ति से देह का ममत्व हीन हुआ है, यह सूचित होता है। दोषों की हानि आत्मा में शुद्ध परिणाम प्रगट होने का सूचन करती है । आतमा में शुद्ध परिणाम प्रगट होने से कर्म निर्जरा होती है तथा जैसे–जैसे बाह्य तप का सेवन होता है, वैसे–वैसे ममत्व आदि दोष हीन हो जाते हैं। इससे आत्मा में शुद्ध परिणाम की वृद्धि से निर्जरा की वृद्धि होती है। इस तरह सम्यग् बाह्यतप शुद्ध परिणाम होने पर ही हो सकता है और तप के सेवन से वे परिणाम अधिक–अधिक शुद्ध होते हैं।

इससे अभ्यंतर तप की तरह बाह्य तप से भी निर्जरा होती है। इस वास्तविकता से 'बाह्य तप मात्र कायकष्ट है' इस प्रश्न का भी समाधान हो जाता है क्योंकि उपर कहे अनुसार सम्यग् बाह्यतप केवल कायकष्ट रूप है ही नहीं। असम्यग् तप ही कायकष्ट रूप है। तथा मात्र कायकष्ट से निर्जरा होती है, यह बात भी एकदम झूठ है। कायकष्ट द्वारा उत्पन्न होते शुभ परिणाम से निर्जरा होती है। तथा अज्ञान लोग चाहे जिसे तपस्वी भले कह दे लेकिन शास्त्र तो सम्यग् तप करने वाले को ही तपस्वी कहता है। इसलिए 'जैसे–जैसे कायकष्ट अधिक...' उस प्रश्न का भी अवकाश नहीं रहता।

किसे कितनी निर्जरा होती है ? –

सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरता-ऽनन्तवियोजक-दर्शनमोहक्षपको-पशमको-पशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिना: क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा: ।।९-४७।।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनंतानुबंधीवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशांतमोह, मोहक्षपक, क्षीणमोह, जिन, ये दस क्रमश: पूर्व–पूर्व से असंख्य गुण निर्जरा करते हैं।

सम्यग्दृष्टि जितनी निर्जरा करता है, उससे श्रावक असंख्यगुण निर्जरा करता है। श्रावक की निर्जरा से असंख्यगुण निर्जरा विरत मुनि करते हैं। इस प्रकार पूर्व–पूर्व से उत्तर–उत्तर की निर्जरा असंख्यगुना होती है। कर्मों का सर्वथा क्षय मोक्ष है। कर्मों का आंशिक क्षय निर्जरा है। कर्म का आंशिक क्षय प्रत्येक साधक को समान नहीं होता क्योंकि कर्म का आंशिक क्षय आत्मा की विशुद्धि पर आधारित है। आत्मा की विशुद्धि जितनी अधिक, निर्जरा उतनी अधिक। प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट सम्यग्दृष्टि आदि साधक की आत्मविशुद्धि क्रमश: असंख्य गुना होने से निर्जरा भी असंख्य गुना होती है। आंशिक[①] निर्जरा की शुरुआत मुख्यतया सम्यग्दृष्टि से होती है और तेरहवें गुणस्थानक में उसका अंत होता है। चौदहवें गुणस्थानक में सर्वकर्म का क्षय होता है।

(1) सम्यग्दृष्टि – विरति से रहित और सम्यग्दर्शन से युक्त।

(2) श्रावक– सम्यग्दर्शन और देशविरति युक्त।

(3) विरत – महाव्रतों को धारण करने वाले मुनि।

(4) अनंतानुबंधिवियोजक – चार अनंतानुबंधी कषायों का (वर्तमान में) क्षय करने वाले।

(5) दर्शनमोहक्षपक – दर्शनमोह का (वर्तमान में) क्षय करने वाले । अनंतानुबंधी चार कषाय, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय,मिथ्यात्व मोहनीय, ये सात प्रकृति दर्शनमोह है।

(6) मोहोपशमक – मोह की प्रकृतियों का उपशम करने वाले।

① यहाँ सकाम निर्जरा अपेक्षित है। अकाम निर्जरा पहले गुणस्थानक में भी होती है। योगशास्त्र में **'सकामा यमिनां'** कहकर सकाम निर्जरा मुख्यतया साधुओं को बताई है।

(7) उपशांतमोह – जिन्होंने मोह की सभी (28) प्रकृतियों का उपशम किया है।

(8) मोहक्षपक – मोह की सभी प्रकृतियों का क्षय करने वाले।

(9) क्षीणमोह – जिन्होंने मोह की सभी प्रकृतियों का क्षय किया है ।

(10) जिन – जिन्होंने चार घाती कर्म का क्षय कर दिया है, ऐसे केवली।

चारित्र में भेद की दृष्टि से निर्ग्रंथ के भेद –

पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः ।।९-४८।।

निर्ग्रन्थ=साधु 5 प्रकार के हैं – पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक।

(1) पुलाक – पुलाक यानी नि:सार, साररहित। फल के गर्भ = सार से रहित छिलका जैसे नि:सार होता है, वैसे जिन साधु के ज्ञान–दर्शन–चारित्र अतिचारों से नि:सार होते हैं, वह पुलाक। ये पुलाक दो प्रकार के हैं –

(क) लब्धिपुलाक – लब्धिपुलाक अनेक प्रकार की लब्धियाँ धारण करते हैं। वे चाहे तो लब्धि से चक्रवर्ती और उसकी पूरी सेना का चूरा कर सकते हैं। वे तप और श्रुत के प्रभाव से प्रगट हुई लब्धियों का निष्कारण स्वयं की महत्ता बताने तथा स्वयं की ख्याति बढ़ाने के लिए उपयोग करने से संयम के सार से रहित होते हैं। उनमें श्रद्धा पूरी होती है, चारित्र के परिणाम भी होते हैं तथापि प्रमादवश होकर लब्धियों का उपयोग कर आत्मा को चारित्र के सार से रहित कर देते हैं।

(ख) सेवापुलाक – सेवा पुलाक के पांच भेद हैं –

(1) ज्ञानपुलाक – काल में न पढे, अविनय से पढे, विद्यागुरु का बहुमान न करे, योगोद्वहन किए बिना पढे, सूत्र का उच्चार और अर्थ अशुद्ध करे इत्यादि ज्ञान के अतिचार लगाए।

(2) दर्शनपुलाक – शंका आदि से दर्शनगुण में अतिचार लगाए।

(3) चारित्रपुलाक – पाँच महाव्रत रूप मूलगुणों में और पिंडविशुद्धि आदि उत्तरगुणों में अतिचार लगाए।

(4) लिंगपुलाक – निष्कारण शास्त्रोक्त लिंग (वेश) से अन्य लिंग धारण करे।

(5) सूक्ष्मपुलाक – मन से सूक्ष्म अतिचार लगाए।

(2) बकुश– बकुश यानी शबल, चित्रविचित्र। विशुद्धि और अविशुद्धि से जिसका चारित्र चित्रविचित्र हो, वह बकुश। बकुश दो प्रकार के हैं –

(क) शरीर बकुश – ये हाथ–पैर धोना, शरीर से मैल निकालना, मुँह धोना, दांत साफ करना, बाल जमाना इत्यादि शरीर की विभूषा की ओर लक्ष्य रखते हैं।

(ख) उपकरण बकुश – ये विभूषा के लिए दंड–पात्र आदि को रंग, तैल से चमकते हुए रखना, कपड़े साफ रखना, सुविधा के लिए अधिक उपकरण रखना इत्यादि की ओर लक्ष्य रखते हैं।

दोनों प्रकार के बकुश क्रिया में शिथिल होते हैं। उनका चित्त शरीर और उपकरणों की विभूषा की ओर होता है। बाह्य आडंबर, मान–सन्मान और ख्याति वगैरह की कामना वाले होते हैं। सुख और आराम की इच्छा वाले होते हैं। उनका परिवार (शिष्य परिवार) भी देशछेद या सर्वछेद प्रायश्चित के योग्य होता है।

अन्य तरह से भी इनके पाँच प्रकार होते हैं–

(1) आभोग – जानबूझकर दोष का सेवन करे।

(2) अनाभोग – अनजानपन से दोष का सेवन करे।

(3) संवृत– गुप्त रीति से दोष का सेवन करे ।

(4) असंवृत– प्रकट रीति से दोष का सेवन करे ।

(5) सूक्ष्म – थोड़ा प्रमाद करे।

(3) कुशील – कुशील यानी अयोग्य आचरण वाले। उत्तरगुण के दोषों से या संज्वलन कषाय के उदय से जिनका चारित्र दूषित हो, वे कुशील निर्ग्रंथ हैं। इनके दो भेद हैं –

(क) प्रतिसेवनाकुशील– पिंडविशुद्धि, भावना आदि उत्तरगुणों में अतिचार का प्रतिसेवन करे, अतिचार लगाए।

(ख) कषायकुशील – संज्वलन कषाय के उदय से चारित्र को दूषित करे, वह कषायकुशील। इनके ज्ञानकुशील, दर्शनकुशील, चारित्रकुशील, लिंगकुशील और सूक्ष्मकुशील, ये पांच भेद हैं। इन पांचों का स्वरूप पांच प्रकार के सेवापुलाक की तरह समझना।

(4) निर्ग्रंथ – ग्रंथ यानी गांठ, ग्रंथि। गांठ=ग्रंथि से रहित, वह निर्ग्रंथ । जिनकी मोह की ग्रंथि छिन्न–भिन्न हो चुकी है, वे निर्ग्रंथ अर्थात् जिनके मोह का सर्वथा क्षय हो चुका है या उपशम हो चुका है, वे निर्ग्रंथ हैं। मोह का सर्वथा उपशम 11 वें गुणस्थान में और सर्वथा क्षय 12 वें गुणस्थानक में होता है। अत: 11 वें गुणस्थानक के जीव उपशमक निर्ग्रंथ और 12 वें गुणस्थानक में रहे जीव क्षपक निर्ग्रंथ हैं।

(5) स्नातक – स्नातक यानी मैल को दूर करने वाले। जिन्होंने रागादि दोष रूप मल को दूर कर दिया है, वे स्नातक। स्नातक के दो भेद हैं – (1) सयोगी स्नातक (2) अयोगी स्नातक। 13वें गुणस्थानक में रहे सयोगी केवली सयोगी स्नातक हैं। 14वें गुणस्थानक वाले अयोगी केवली अयोगी स्नातक हैं।

पुलाकादि पांच निर्ग्रंथ संबंधी विशेष विचारणा –

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-लेश्यो-पपात-स्थानविकल्पत: साध्या: ॥९-४९॥

इन आठ द्वारों से निर्ग्रंथ संबंधी विशेष विचारणा करना चाहिए–संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपात, स्थान।

(1) संयम – पाँच चारित्र में से किसे कितने चारित्र होते हैं, इसकी विचारणा। पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील इन तीन को सामायिक और छेदोपस्थापनीय संयम होता है। कषायकुशील को परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय, ये दो संयम होते हैं। निर्ग्रंथ और स्नातक को यथाख्यात चारित्र होता है। अन्य मत में कषायकुशील को यथाख्यात सिवाय चार संयम होते हैं।

(2) श्रुत – किसे कितना श्रुतज्ञान होता है, उसकी विचारणा। उत्कृष्ट से पुलाक–बकुश–प्रतिसेवनाकुशील इन तीनों को संपूर्ण दस पूर्व का, कषायकुशील और निर्ग्रंथ को चौदह पूर्व का श्रुत होता है। जघन्य से पुलाक को आठ पूर्व संपूर्ण और नौवें पूर्व के तीसरे आचार वस्तु नामक प्रकरण तक का श्रुत होता है। बकुश–कुशील

और निर्ग्रंथ को अष्टप्रवचन माता (पाँच समिति और तीन गुप्ति) का श्रुत होता है। स्नातक केवली होने से श्रुत रहित होते हैं।

(3) प्रतिसेवना – कौन कैसे दोषों का सेवन करते हैं, इसकी विचारणा। पुलाक राजा आदि के बलात्कार से अहिंसा आदि का व्रत खंडन करते हैं लेकिन स्वयं की इच्छा से नहीं करते। उपकरण बकुश विविध रंग के, विविध आकार के, बहुमूल्य वस्त्र–पात्र आदि को प्राप्त करने के लक्ष्य वाले होते हैं, आवश्यकता से अधिक उपकरण रखते हैं, बार–बार साफ–सफाई करते हैं, अच्छे उपकरण मिलने पर खुश होते हैं, नहीं मिलने पर खिन्न होते हैं। शरीरबकुश शरीर की साफ–सफाई का ध्यान रखते हैं। उत्तरगुणों में अतिचार लगाते हैं लेकिन मूलगुण की विराधना नहीं करते। कषायकुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक में प्रतिसेवना का अभाव है।

(4) तीर्थ – तीर्थ में होते हैं या अतीर्थ में इसकी विचारणा। जब तीर्थंकर चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं, तब तीर्थ का प्रारंभ होता है और जब चतुर्विध संघ रहता है, तब तक तीर्थ रहता है। इसलिए चतुर्विध संघ की स्थापना के पहले और संघ का विच्छेद होने के बाद में अतीर्थ = तीर्थ का अभाव होता है। सभी प्रकार के निर्ग्रंथ सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में होते हैं।

मतांतर– पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील तीर्थ में ही होते हैं। कषायकुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक तीर्थ में भी होते हैं और अतीर्थ में भी होते हैं क्योंकि मरुदेवी माता वगैरह अतीर्थ में हुए हैं।

(5) लिंग – लिंग यानी निर्ग्रंथ का चिह्न। लिंग के दो प्रकार हैं – द्रव्य और भाव। रजोहरण, मुहपत्ति वगैरह द्रव्यलिंग और ज्ञान–दर्शन–चारित्र भावलिंग हैं। पांचों प्रकार के निर्ग्रंथों को भावलिंग अवश्य होता है, द्रव्यलिंग हो भी या न भी हो। मरुदेवी माता वगैरह को द्रव्यलिंग का अभाव था।

(6) लेश्या – किसे कौन–सी लेश्या होती है, इसकी विचारणा। पुलाक को तथा परिहारविशुद्धि चारित्र वाले कषायकुशील को तीन शुभ लेश्या होती है। बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील को छहों लेश्या होती है। सूक्ष्मसंपराय संयम वाले कषायकुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक को शुक्ल लेश्या होती है। अयोगी स्नातक को लेश्या का अभाव होता है।

(7) उपपात – मृत्यु पाकर कौन कहाँ उत्पन्न होते हैं, इसकी विचारणा। पुलाक आठवें सहस्रार देवलोक में उत्कृष्ट स्थिति वाले देव बन सकते हैं। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील क्रमश: 21 और 22 सागरोपम की स्थिति वाले 11–12वें देवलोक के स्थानों में उत्पन्न होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रंथ सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होते हैं। जघन्य से सभी सौधर्म देवलोक में दो से नौ पल्योपम की स्थितिवाले देव बनते हैं। स्नातक मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(8) स्थान – स्थान यानी आत्मा के संक्लेश–विशुद्धि के पर्यायों का भेद। पाँच प्रकार के निर्ग्रंथ जब तक सर्वथा मुक्त नहीं होते तब तक उन प्रत्येक में अन्य निर्ग्रंथों की अपेक्षा से विशुद्धि का भेद रहता ही है क्योंकि आत्मविशुद्धि में कषायों का ह्रास कारण है। जैसे–जैसे कषायों का ह्रास (हानि) अधिक, वैसे–वैसे विशुद्धि अधिक तथा संक्लेश न्यून। जैसे–जैसे कषायों की हानि न्यून, वैसे–वैसे विशुद्धि न्यून और संक्लेश अधिक। प्रत्येक संयमी में कषायों की हानि समान नहीं होती। निर्ग्रंथ और स्नातक में कषायों का अभाव होने से कषायरहितपन रूप विशुद्धि समान होने पर भी योग के भेद से आत्मविशुद्धि में भेद होता है। 13वें गुणस्थानक में योगव्यापार होता है। चौदहवें गुणस्थान में योग का सर्वथा अभाव होता है। पांचों प्रकार के संयमी में संयमस्थान निम्नलिखित हैं–

प्रारंभ के सबसे जघन्य संयमस्थान पुलाक और कुशील को होते हैं। वे दोनों एक साथ असंख्य संयम स्थान तक जाते हैं। फिर पुलाक रुक जाते हैं जबकि कषायकुशील पुन: असंख्य संयम स्थान तक जाते हैं। तत्पश्चात् कषायकुशील–प्रतिसेवनाकुशील–बकुश, ये तीनों असंख्य संयमस्थान तक जाते हैं। बाद में बकुश रुक जाते हैं लेकिन प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील उनके आगे भी असंख्य संयम स्थान तक जाते हैं। फिर प्रतिसेवनाकुशील रुक जाते हैं और कषायकुशील वहां से भी असंख्य संयमस्थानों तक जाकर रुकते हैं। तत्पश्चात् अकषाय (कषायरहित) संयम स्थान आते हैं। वे निर्ग्रंथ को होते हैं। निर्ग्रंथ असंख्य अकषाय संयम स्थान तक जाकर रुकते हैं। तत्पश्चात् एक ही संयमस्थान अवशेष रहता है। स्नातक इस अंतिम एक संयम स्थान को प्राप्त कर मोक्ष पाते हैं। इन संयमस्थानों में पूर्व–पूर्व के संयमस्थानों से बाद–बाद वाले संयम स्थान में अनंत गुना विशुद्धि होती है।

निर्ग्रंथ	चारित्र	श्रुत		लेश्या	उपपात	
		उत्कृष्ट	जघन्य		उत्कृष्ट	जघन्य
पुलाक	सामायिक छेदोपस्थाप्य	10 पूर्व	9 पूर्व की तीसरी वस्तु	3 शुभ लेश्या	8वां देवलोक	पहला देवलोक
बकुश	सामायिक छेदोपस्थाप्य	10 पूर्व	अष्ट प्रवचन माता	6	11वां देवलोक	पहला देवलोक
प्रतिसेवना कुशील	सामायिक छेदोपस्थाप्य	10 पूर्व	अष्ट प्रवचन माता	6	12वां देवलोक	पहला देवलोक
कषाय कुशील	परिहारविशुद्धि सूक्ष्म संपराय	14 पूर्व	अष्ट प्रवचन माता	3 शुभ (परिहार विशुद्धि वाले) 1 शुक्ल (सूक्ष्म संपराय वाले)	सर्वार्थ सिद्ध विमान	पहला देवलोक
निर्ग्रंथ	यथाख्यात	14 पूर्व	अष्ट प्रवचन माता	1 शुक्ल	सर्वार्थ सिद्ध विमान	पहला देवलोक
स्नातक	यथाख्यात	केवली	केवलज्ञान	1शुक्ल(सयोगी) अलेश्य (अयोगी)	निर्वाण	

प्रश्न – संवर और निर्जरा, दो अलग तत्त्व होने पर भी दोनों का निरूपण स्वतंत्र न करके एक ही अध्याय में क्यों किया?

उत्तर– प्राय: संवर के कारणों से निर्जरा भी होती है। अर्थात् जो–जो संवर के कारण हैं, वे निर्जरा के भी कारण हैं। इसलिए जैसे–जैसे संवर अधिक, वैसे–वैसे निर्जरा भी अधिक। इस वास्तविकता को बताने यहाँ संवर और निर्जरा का निरूपण एक ही अध्याय में किया गया है । यद्यपि यहाँ निर्जरा का कारण तप ही बताया है

लेकिन वह मुख्यता की दृष्टि से या स्थूलदृष्टि से है। सूक्ष्मता से संवर के कारणों से भी निर्जरा [1] होती है। संवर के कारण गुप्ति–समिति आदि चारित्र रूप हैं। चारित्र संयम और तप दोनों स्वरूप है। इसलिए **'सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः** (सूत्र 1–1)' में तप का निर्देश नहीं है। संयम से संवर होता है और तप से निर्जरा [2] होती है। तप चारित्र का ही एक विभाग या चारित्र स्वरूप [3] होने पर भी सामान्यबुद्धि वाले जीव संवर और निर्जरा के कारणों को जल्दी और सरलता से समझ सके, इसलिए तप का अलग निर्देश किया है, ऐसा संभवित है। जैनशासन में प्रसिद्ध अरिहंत आदि नवपदों में चारित्रपद से तपपद की पृथग् गणना की गई है।

* * *

① देखें राजवार्तिक सू. 10–1।
② देखें विशेषावश्यक गा. 1174 टीका।
③ देखें हारिभद्रीय अष्टक में प्रत्याख्यान अष्टक।

दशम अध्याय

निर्जरा से कर्म का क्षय होता है लेकिन आठों कर्मों का एक साथ क्षय नहीं होता। पहले चार घाती कर्मों का क्षय होता है, फिर चार अघाती कर्मों का क्षय होता है। इसलिए यहाँ चार घाती कर्मों के क्षय से आत्मा में कौन–सा गुण प्रगट होता है, वह कहते हैं –

मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणा-ऽन्तरायक्षयाच्च केवलम् ।।१०-१।।

मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, इन चार कर्मों के क्षय से केवलज्ञान [1] प्रगट होता है।

यद्यपि चार कर्म के क्षय से आत्मा में चार गुण उत्पन्न होते हैं तथापि आठ कर्मों में ज्ञानावरण कर्म पहला होने से और ज्ञान आत्मा का लक्षण होने से यहाँ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय ये उत्पन्न होने वाले गुण का निर्देश किया है। इन चार कर्मों के क्षय में पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है। अंतर्मुहूर्त के बाद ज्ञानावरण आदि तीनों कर्म का एक साथ क्षय होता है। इसलिए ही सूत्र में **'मोहक्षयाद्'** पद से मोह के क्षय का पृथग् निर्देश किया है। आठ कर्मों में ज्ञानावरण आदि चार घाती कर्म मुख्य हैं। इसलिए घाती कर्म के क्षय के बाद ही अघाती कर्मों का क्षय होता है। चार घाती कर्म में भी मोहनीय कर्म प्रधान है। इसलिए मोहनीयकर्म का क्षय होने के बाद ही अन्य तीन का क्षय संभव है।

मोहनीय आदि कर्मों के क्षय का हेतु –

बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्याम् ।।१०-२।।

बंध के हेतु के अभाव अर्थात् संवर से और निर्जरा से मोहनीय आदि कर्मों का क्षय होता है।

कर्म रोग है। रोग मिटाने के लिए दो वस्तु आवश्यक है (1) रोग के हेतु का त्याग (पथ्यपालनादि), जिससे रोग की वृद्धि रुक जाए (2) रोग के नाश के लिए औषधी का सेवन। वैसे ही यहाँ कर्म रूप रोग को दूर करने के लिए उसके हेतु मिथ्यात्व आदि का त्याग (संवर के सेवन) रूप पथ्यपालनादि और बंधे हुए कर्मरूप रोग को दूर करने के लिए निर्जरा रूप औषध का सेवन अनिवार्य है। संवर और निर्जरा से पहले चार घाती कर्मों का क्षय होता है, फिर चार अघाती कर्मों का क्षय होता है।

मोक्ष की व्याख्या –

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष : ।।१०-३।।

सभी कर्मों का क्षय मोक्ष है।

मोक्ष होने पर जन्म–मरण आदि दु:खों का विच्छेद होता है। जैसे बीज जल जाने से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे कर्मरूपी बीज जल जाने से जन्मादि रूप अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

---

[1] केवलज्ञान के स्वरूप का वर्णन अध्याय –1 में आ चुका है।

पाँच प्रकार के भाव [1] में से किन भावों का अभाव होने पर मोक्ष होता है? –

औपशमिकादि-भव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन सिद्धत्वेभ्यः ।। १०-४।।

केवल (क्षायिक) सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व के अलावा औपशमिक आदि भावों के तथा भव्यत्व के अभाव से मोक्ष होता है।

सभी कर्मों के क्षय से मोक्ष होने से सभी कर्मों का क्षय मोक्ष का कारण है। सभी कर्मों का क्षय होने पर जीव के औपशमिकादि भाव का भी अभाव होता है। इसलिए औपशमिकादि भावों का अभाव भी मोक्ष में कारण है। सभी कर्मों का क्षय होने पर औपशमिक–क्षायोपशमिक–औदयिक इन तीन भावों का सर्वथा अभाव होता है क्योंकि ये भाव कर्मजन्य है। पारिणामिक भाव में से भव्यत्व का अभाव होता है लेकिन जीवत्वादि भावों का नहीं। क्षायिक भाव का अभाव नहीं होता क्योंकि सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सिद्धत्व आदि क्षायिक भाव सिद्ध को होते हैं। सूत्र में भव्यत्व का उल्लेख किए बिना आदि शब्द से भव्यत्वरूप पारिणामिक भाव का ग्रहण कर सकते थे लेकिन पारिणामिक भाव में से केवल भव्यत्व की ही निवृत्ति होती है, शेष जीवत्वादि की नहीं, यह दर्शाने सूत्र में भव्यत्व शब्द का उल्लेख किया है।

सभी कर्म के क्षय से होने वाला आत्मा का ऊर्ध्वगमन –

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छन्त्यालोकान्तात् ।।१०-५।।

सभी कर्मों का क्षय होने पर आत्मा उपर लोकांत तक जाती है।

जिस समय सभी कर्म नष्ट होते हैं, उसी समय देह का वियोग, ऊर्ध्वगमन की गति और लोकान्त पर गमन होता है। अर्थात् सर्वकर्मक्षय, देहवियोग, ऊर्ध्वगति और लोकान्तगमन चारों एक ही समय में होते हैं।

सिद्धों की अवगाहना –

लोक के उपर के अंतिम एक गाउ के छठे भाग में अर्थात् 333 $^{1}/_{3}$ धनुष जितने भाग में सिद्धों का वास होता है अर्थात् लोकाकाश की अंतिम प्रतर श्रेणि से 333 $^{1}/_{3}$ धनुष तक सिद्ध जीव हैं। प्रत्येक सिद्ध भगवंत के मस्तक का अंतिम प्रदेश लोकाकाश के अंतिम प्रदेश को स्पर्श कर रहता है क्योंकि कर्मक्षय होते ही जीव जहाँ होता है, वहाँ से सीधी ऊर्ध्वगति करता है। लेकिन अलोक में गतिसहायक धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकाकाश के अंतिम प्रदेश में अटक जाते हैं। सिद्धों की अवगाहना स्वयं के पूर्व शरीर का $^{2}/_{3}$ भाग होती है क्योंकि शरीर में $^{1}/_{3}$ भाग वायु भरी है। योगनिरोध होने से वायु निकल जाने से $^{1}/_{3}$ भाग का संकोच हो जाता है। इससे शरीर के $^{2}/_{3}$ भाग जितनी अवगाहना शेष रहती है।

अधिकतम 500 धनुष की काया वाले जीव मोक्ष में जा सकते हैं। 500 धनुष का $^{2}/_{3}$ भाग 333 $^{1}/_{3}$ धनुष्य अर्थात् 333 धनुष्य और 32 अंगुल होता है। इसलिए आकाश के उपर के अंतिम प्रदेश से नीचे 333 $^{1}/_{3}$ धनुष में सिद्ध रहते हैं। इस तरह लोकाकाश के सबसे उपर के 333 $^{1}/_{3}$ धनुष क्षेत्र को लोकाग्र या सिद्धिक्षेत्र कहा जाता है।

---

[1] पाँच प्रकार के भावों का स्वरूप सूत्र 2–1 आदि में देखें।

सिद्धशिला और सिद्धिक्षेत्र का प्रमाण –

लोकाकाश के अंतिम छोर से एक योजन नीचे और सर्वार्थसिद्ध विमान से 12 योजन उपर सिद्धशिला या इषत्प्राग्भारा नामक पृथ्वी है। जैसे अधोलोक में रत्नप्रभा वगैरह सात पृथ्वीयाँ हैं, वैसे सिद्धशिला ऊर्ध्वलोक में आठवी पृथ्वी है। यह पृथ्वी स्फटिक जैसी श्वेत है। उपर से सपाट है, थाली जैसी गोल है। उसका विष्कंभ (लंबाई–चौड़ाई) 45 लाख योजन है। वह मध्य–भाग में 8योजन मोटी है। मध्यभाग के बाद सभी ओर उसकी मोटाई क्रमश: कम होती है। अंत में वह मक्खी के पंख से भी पतली होती है। इससे उसका आकार दूज के चांद जैसा है।

सिद्धशिला और सिद्धों के बीच में 3 $^{5}/_{6}$ गाउ की दूरी है अर्थात् सिद्धशिला की उपर वाली सतह से सिद्ध जीवों का सबसे निचला भाग 3 $^{5}/_{6}$ गाउ दूर है। इसका मतलब यह हुआ कि सिद्धशिला के उपर 3 $^{5}/_{6}$ गाउ (3 गाउ, 1666 धनुष, 2 हाथ और 16 अंगुल) जाने पर सिद्ध जीव आते हैं। जीवों का मोक्ष 2½ द्वीप का विष्कंभ में ही होता है । 2½ द्वीप (व्यास) 45 लाख योजन है। 45 लाख योजन के बाहर सिद्धि में जाने वाला कोई नहीं होने से उपर सिद्ध के जीव भी 45 लाख योजन में ही होते हैं। सिद्धशिला का व्यास भी 45 लाख योजन ही है। अत: शिद्धशिला के क्षेत्रफल जितने क्षेत्र में ही उपर सिद्ध के जीव हैं।

ज्योति में ज्योति का मिलन –

जीव जहाँ सभी कर्मों का क्षय करता है, वहीं से सीधा उपर जाता है। एक ही स्थान से अनंत जीव मोक्ष में गए हैं। इसलिए मोक्ष में जहाँ सिद्ध भगवंत है, वहीं अनंत सिद्ध भगवंत हैं। किसी एकाध जगह से अनंत जीव मोक्ष में गए हैं, ऐसा नहीं है। सभी जगह से अनंत जीव मोक्ष में गए हैं। 45 लाख योजन के ढाई द्वीप में तृण जितनी भी ऐसी कोई जगह नहीं है, जहाँ से अनंत जीव मोक्ष में न गए हो। अत: सिद्ध जीवों के 45 लाख योजन क्षेत्र में एक–एक प्रदेश में अनंत सिद्ध भगवंत विराजमान हैं। तथापि थोड़ी भी जगह कम नहीं होती क्योंकि सिद्ध अरूपी हैं। जैसे ज्योति में ज्योति मिल जाती है, वैसे सिद्ध भी एक–दूसरे में परस्पर मिल जाते हैं।

आत्मा की ऊर्ध्वगति षका कारण –

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धविच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः ।।१०-६।।

सर्वकर्मक्षय होने पर जीव की ऊर्ध्वगति के चार हेतु हैं – पूर्वप्रयोग, असंग, बंधविच्छेद और तथागतिपरिणाम।

यहाँ तीन प्रश्न होते हैं –

(1) सर्वकर्मक्षय होने पर आत्मा की गति उपर ही क्यों होती है? तिर्च्छी या अधोगति क्यों नहीं होती?

(2) संसारी जीव की गति ऊर्ध्व, अधो और तिर्च्छी, तीनों क्यों हाती है?

(3) आत्मा को गति करने में योग सहायक है। योग बिना जीव की गति नहीं होती। तो सर्वकर्मक्षय होने पर योग रहित आत्मा की गति कैसे होती है?

इन तीनों प्रश्न के उत्तर इस सूत्र में दिए हैं। **'तथागतिपरिणामात्'** पद से प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया है। दूसरे प्रश्न का उत्तर **'असंगत्वाद् बन्धविच्छेदात्'** इन दो पदों से दिया है। तथा तृतीय प्रश्न का उत्तर **'पूर्वप्रयोगात्'** पद से दिया है।

प्रथम प्रश्न का उत्तर– पाँच द्रव्यों में से दो द्रव्यों का ही गतिशील स्वभाव है – जीव और पुद्गल। इनमें पुद्गल का तीनों (ऊर्ध्व–अधो–तिर्च्छी) गति करने का स्वभाव है। जैसे– दीपक ज्योत, अग्नि आदि का ऊर्ध्वगति करने का स्वभाव है। हवा का तिर्च्छी गति करना स्वाभाविक है। पत्थर आदि अधोगति के स्वभाव वाले हैं। लेकिन आत्मा का केवल ऊर्ध्वगतिशील स्वभाव है। ऊर्ध्वगति के स्वभाव से आत्मा सर्वकर्मक्षय होने पर ऊर्ध्वगति करती है।

द्वितीय प्रश्न का उत्तर – यदि आत्मा का केवल ऊर्ध्वगतिशील स्वभाव है तो संसारी आत्मा तीनों गति क्यों करती है? यह प्रश्न विद्वानों के मन में होना सहज है। इसका समाधान यह है कि संसारी आत्मा को कर्म का संग है, कर्म का बंधन है। इसलिए उसे कर्म के अनुसार गति करना पड़ती है। संग (बंधन) दूर होने पर आत्मा सीधी ऊर्ध्वगति ही करती है। तुंबडे के सूखे फल का स्वभाव जल में डूबने का न होने पर उसे मिट्टी का लेप लगाने से वह जल में डूब जाता है। कुछ देर बाद पानी से मिट्टी का लेप धुल जाने पर वह उपर तैरने लगता है। ऐसे ही प्रस्तुत में संसारी जीव को कर्मरूप मिट्टी का लेप होने से वह संसाररूप जल में डूबा हुआ है। उस लेप का संग दूर होने पर संसाररूप पानी से बाहर निकलकर लोकांत पर आ जाता है।

इस प्रश्न का अन्य रीति से समाधान इस प्रकार है – अरंडी का फल पक जाने पर उसके उपर का पड़ (परत) सूख जाने से वह फल फट जाता है। इससे उसके बीज उपर उछलते हैं। जब तक फल फटता नहीं है, तब तक बीज अंदर ही रहते हैं क्योंकि उसे (परत) पड़ का बंधन है। ऐसे ही संसारी जीव को कर्म का बंधन है। कर्म के बंधन का वियोग होने पर जीव अरंडी के बीज की तरह ऊर्ध्वगति करता है।

तृतीय प्रश्न का उत्तर – सर्वकर्मक्षय में योग का अभाव होने पर भी योगनिरोध से पूर्व के योग के संस्कार आत्मा में होने से ऊर्ध्वगति होती है। जैसे कुम्हार चक्र को दंड से गतिमान कर दंड हटा लेता है फिर भी पूर्व प्रयोग के संस्कार से चक्र घूमते रहता है, वैसे यहाँ योग का अभाव होने पर भी पूर्व के योग के संस्कार से जीव ऊर्ध्वगति करता है। ऊर्ध्वगति से आत्मा लोकांत पर अटक जाता है क्योंकि आगे अलोक में धर्मास्तिकाय की सहायता नहीं है। जैसे जल में डूबे हुए तुंबडे का लेप धुल जाने पर वह जल की उपरी सतह तक आकर अटक जाता है क्योंकि उपर जल न होने से उससे उपर वह नहीं जा सकता, वैसे ही अलोक में गति सहायक धर्मास्तिकाय न होने से जीव लोकांत पर आकर रुक जाता है।

सिद्ध जीवों संबंधी विशेष विचारणा के द्वार –

क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञाना-ऽवगाहना-ऽन्तर-संख्या-ऽल्पबहुत्वतः साध्याः ।।१०-७।।

बारह द्वारों से सिद्ध जीवों की विशेष विचारणा करना चाहिए – क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अंतर, संख्या, अल्पबहुत्व।

यहाँ भाष्य में प्रत्येक द्वार की विचारणा वर्तमान और भूत, इन दो काल की दृष्टि से की गई है–

(1) क्षेत्र – किस क्षेत्र में सिद्ध होते हैं, इसकी विचारणा। वर्तमान काल की दृष्टि से सभी जीव सिद्धिक्षेत्र (लोकांत) में सिद्ध होते हैं। भूतकाल के आश्रय से जन्म और संहरण, इन दो दृष्टि से विचारणा हो सकती है।

(क) जन्म से – पंद्रह कर्मभूमि में ही जन्मे हुए जीव सिद्ध होते हैं।

(ख) संहरण से – ढाई द्वीप में सिद्ध होते हैं।

संहरण यानी एक क्षेत्र से लेकर जीव को अन्य क्षेत्र में रखना। देशविरति और प्रमत्तसंयत का संहरण होता है। अन्य मत से अविरत सम्यग्दृष्टि का भी संहरण होता है। साध्वी, अवेदी, परिहारविशुद्धि संयत, पुलाक, चौदह पूर्वधर, आहारक शरीरी और अप्रमत्त संयत का कभी भी संहरण नहीं होता।

(2) काल – किस काल में सिद्ध होते हैं, इसकी विचारणा। वर्तमानकाल की दृष्टि से अकाल में सिद्ध होते हैं क्योंकि वर्तमान काल की दृष्टि से जीव सिद्धिक्षेत्र में सिद्ध होते हैं, वहाँ काल नहीं है। भूतकाल के आश्रय से पूर्व में कहे अनुसार जन्म और संहरण , इन दो दृष्टि से विचारणा हो सकती है। जन्म से अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी रहित, तीनों काल में जन्मे हुए जीव सिद्ध हो सकते हैं। यह सामान्य विचार हुआ। विशेष से अवसर्पिणी मे ंतीसरे आरे के संख्यात वर्ष शेष हो तब जन्मे हुए और चौथे आरे में जन्मे हुए जीव सिद्ध होते हैं। अर्थात् पहले, दूसरे आरे में, तीसरे आरे के अंतिम संख्यात वर्ष के अलावा काल में और पाँचवें–छठे आरे में जन्मे हुए जीव सिद्ध नहीं होते। चौथे आरे में जन्मे हुए पाँचवें आरे में सिद्ध हो सकते हैं लेकिन पाँचवें आरे में जन्मे हुए पाँचवें आरे में सिद्ध नहीं हो सकते। उत्सर्पिणी में दूसरे, तीसरे और चौथे आरे में जन्मे हुए जीव सिद्ध होते हैं [1]। संहरण से सर्वकाल में सिद्ध होते हैं।

(3) गति – किस गति में सिद्ध होते हैं, इसकी विचारणा। वर्तमानकाल की दृष्टि से सिद्धिगति में सिद्ध होते हैं। भूतकाल के आश्रय से दो प्रकार से विचारणा होती है – अनंतरगति और परंपरगति। अनंतरगति की दृष्टि से मनुष्यगति में से ही सिद्ध होते हैं। परंपरगति में चारों गति से सिद्ध होते हैं अर्थात् नरकादि किसी भी गति में से मनुष्य गति में आकर सिद्ध होते हैं।

(4) लिंग – पुरुष आदि किस लिंग से सिद्ध होते हैं, इसकी विचारणा। वर्तमानकाल की दृष्टि से लिंगरहित जीव सिद्ध होते हैं। भूतकाल के आश्रय से दो प्रकार से विचारणा की जाती है – अनंतरलिंग और परंपरलिंग। इन दोनों प्रकार से तीनों लिंग (पुरुष, स्त्री, नपुंसक) से सिद्ध होते हैं अर्थात् पूर्वभव में किसी भी लिंग वाला जीव वर्तमान भव में किसी भी लिंग से सिद्ध हो सकता है।

अथवा द्रव्य लिंग और भाव लिंग की दृष्टि से विचारणा हो सकती है। द्रव्यलिंग के तीन भेद हैं – (1) स्वलिंग – रजोहरण, मुहपत्ति वगैरह साधुवेश। (2)अन्यलिंग–परिव्राजक आदि का वेश (3) गृहस्थलिंग – गृहस्थ का वेश। वर्तमानकाल की दृष्टि से द्रव्यलिंग रहित ज्ञान–दर्शन–चारित्र रूप भावलिंग से सिद्ध हो सकते हैं। भूतकाल की दृष्टि से भावलिंग के आश्रय से (ज्ञान–दर्शन–चारित्र रूप)स्वलिंग से सिद्ध होते हैं और द्रव्यलिंग के आश्रय से स्वलिंग आदि तीन लिंग से सिद्ध होते हैं।

(5) तीर्थ – तीर्थ में सिद्ध होते हैं या अतीर्थ में, इसकी विचारणा। तीर्थ में भी सिद्ध होते हैं और अतीर्थ में भी सिद्ध होते हैं। मरुदेवी माता वगैरह अतीर्थ सिद्ध हैं।

(6) चारित्र – किस चारित्र में सिद्ध होते हैं, इसकी विचारणा। वर्तमानकाल की दृष्टि से जीव नोचारित्री–नोअचारित्री रूप सिद्ध होता है क्योंकि मोक्ष में पाँच चारित्र में से एक भी चारित्र नहीं होता है और चारित्र का अभाव होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते। भूतकाल की दृष्टि से दो प्रकार से विचारणा होती है– अनंतरचारित्र और परंपरचारित्र। अनंतर चारित्र की दृष्टि से यथाख्यात चारित्र में ही सिद्ध होते हैं। परंपरचारित्र की अपेक्षा से सामायिक, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात ये तीन अथवा छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात ये तीन अथवा सामायिक, छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात ये चार अथवा छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि,

---

[1] अवसर्पिणी के तीसरे–चौथे आरे के 89 पक्ष बाकी हो तब क्रमश: प्रथम और अंतिम तीर्थंकर का मोक्ष होता है। उत्सर्पिणी में तीसरे–चौथे आरे के 89 पक्ष व्यतीत होने पर क्रमश: प्रथम और अंतिम तीर्थंकर का जन्म होता है।

सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात ये चार अथवा सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात इन पांच चारित्रों में सिद्ध हो सकते हैं।

(7) प्रत्येक-बुद्धबोधित – स्वयं बोध प्राप्तकर सिद्ध होते हैं या अन्य से बोध प्राप्तकर सिद्ध होते हैं, इसकी विचारणा। कोई स्वयंबुद्ध रूप में अर्थात् किसी के उपदेश बिना किसी निमित्त से स्वयं बोध पाकर सिद्ध होते हैं। कोई बुद्धबोधित रूप में अर्थात् किसी के उपदेश से बोध पाकर सिद्ध होते हैं। तीर्थंकर और प्रत्येकबुद्ध स्वयंबुद्ध होते हैं। अन्य जीव बुद्धबोधित होते हैं।

(8) ज्ञान- किस ज्ञान से सिद्ध होते हैं, इसकी विचारणा। वर्तमानकाल की दृष्टि से केवलज्ञानी सिद्ध होते हैं। भूतकाल की दृष्टि से मति-श्रुतज्ञान इन दो ज्ञान से अथवा मति-श्रुत-अवधिज्ञान इन तीन ज्ञान से अथवा मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यावज्ञान इन चार ज्ञान से सिद्ध होते हैं अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त होने के पहले इतने ज्ञान हो सकते हैं।

(9) अवगाहना – कितनी अवगाहना वाले जीव सिद्ध होते हैं, इसकी विचारणा। अवगाहना यानी आत्मप्रदेशों के रहने की जगह अथवा शरीर की ऊँचाई। उत्कृष्ट 502 से 509 धनुष की काया वाले जीव सिद्ध हो सकते हैं। जघन्य से 2 से 9 अंगुल न्यून दो हाथ की काया वाले जीव सिद्ध हो सकते हैं। यह भूतकाल की दृष्टि से विचारणा हुई। वर्तमानकाल की दृष्टि से स्वयं की काया की 2/3 अवगाहना वाले जीव सिद्ध होते हैं।

(10) अन्तर – लगातार हर समय सिद्ध होते हैं या अंतर होता है? यदि अंतर होता है तो कितना होता है, इसकी विचारणा। जीव अनंत (अंतररहित, लगातार) भी सिद्ध होते हैं, और अंतर से भी सिद्ध होते हैं। कभी सतत अनेक समय तक सिद्ध होते हैं। लगातार सिद्ध जघन्य से दो समय तक और उत्कृष्ट से आठ समय तक होते हैं अर्थात् एक समय में सिद्ध हो, तुरंत दूसरे समय कोई जीव सिद्ध हो, तुरंत तीसरे समय कोई जीव सिद्ध हो... ऐसे लगातार सिद्ध हो तो अधिकतम आठ समय तक ही होते हैं, नौवें समय में अंतर होता ही है। लगातार आठ समय तक सिद्ध होने के बाद नौवें समय में किसी क्षेत्र से कोई भी जीव सिद्ध नहीं होता। यह अंतर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से 6 मास होता है अर्थात् किसी एक समय कोई जीव सिद्ध न हो, फिर दूसरे समय में भी कोई सिद्ध न हो, तीसरे समय में सिद्ध न हो... ऐसे लगातार 6 मास तक कोई भी मोक्ष में नहीं जाता। 6 मास बाद अवश्य कोई जीव सिद्ध होता है।

(11) संख्या – किसी एक समय में एक साथ कितने जीव सिद्ध होते हैं, इसकी विचारणा। एक समय में जघन्य से एक और उत्कृष्ट से 108 जीव सिद्ध होते हैं।

सतत कितने समय तक	कितने जीव सिद्ध होते हैं
8समय	1 से 32
7 समय	33 से 48
6समय	49 से 60
5 समय	61 से 72
4 समय	73 से 84
3 समय	85 से 96
2 समय	97 से 102

1 समय	103 से 108

(12) अल्पबहुत्व – क्षेत्रादि 11 द्वारों के आश्रय से किस द्वार में कौन–से सिद्ध न्यून या अधिक है, इसकी विचारणा। जैसे– क्षेत्र द्वार में संहरण–सिद्धों से जन्मसिद्ध संख्यात गुना हैं। कालद्वार में उत्सर्पिणीकाल के सिद्धों से अवसर्पिणीकाल के सिद्ध विशेषाधिक हैं, अवसर्पिणीकाल सिद्धों से अनुत्सर्पिणी काल सिद्ध संख्यात गुना हैं। इस प्रकार अन्य गति आदि द्वारों में भी अल्प–बहुत्व का विचार हो सकता है। विशेष जिज्ञासुओं को मूलग्रंथ की टीका देखना चाहिए।

***

अन्तिमोपदेशः

एवं तत्त्वपरिज्ञानाद् विरक्तस्यात्मनो भृशम्।

निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ ।।1।।

पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।

संसारबीजं कात्स्न्र्येन मोहनीयं प्रहीयते।।2।।

इस प्रकार तत्त्वों को सम्यक् जानने से सर्वथा विरक्त जीव आस्रवों का सर्वथा निरोधकर नए कर्मों का बंध नहीं करता और पूर्व में बांधे हुए कर्मों का शास्त्रोक्त कर्मक्षय के हेतुओं से क्षय कर देता है। इससे संसार का बीज मोहनीयकर्म सर्वथा नष्ट होता है।

ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम्।

प्रहीयतेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः।।3।।

तत्पश्चात् तुरंत ही (अंतर्मुहूर्त में) ज्ञानावरण – दर्शनावरण – अंतराय, ये तीन कर्म एकसाथ नष्ट होते हैं।

गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा तालो विनश्यति।

तथा कर्मक्षयं याति मोहनीये क्षयंगते ।।4।।

जैस गर्भसूचि = मध्य में रहे तंतु का नाश होने पर संपूर्ण ताड़वृक्ष नष्ट होता है, वैसे मोहनीयकर्म का क्षय होने पर शेष सभी कर्मों का क्षय होता है।

ततः क्षीणचतुष्कर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम्।

बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः।।5।।

शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली।।6।।

तत्पश्चात् चार घाती कर्मों से रहित, यथाख्यात संयम को प्राप्त और बीजरूप मोहनीयादि कर्म के बंधन से मुक्त वे मुनि स्नातक (अंतर्मल दूर करने से स्नान किए हुए) और परमेश्वर (केवलज्ञान रूप ऋद्धि, ऐश्वर्य वाले) होते हैं। इस अवस्था में वे मुनि चार अघाती कर्म के उदयवाले होते हैं, तथापि (मोहादि मैल दूर होने से) शुद्ध, (केवलज्ञानी होने से) बुद्ध, (बाह्य–अभ्यंतर सभी रोग दूर होने से) निरामय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिन और केवली होते हैं।

कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति।

यथा दग्धेन्धनो वह्नि–र्निरूपादानसन्ततिः।।7।।

डाले हुए सभी काष्ठ जल जाने से इन्धन रहित हुई अग्नि की तरह सभी कर्मों का क्षय होने से संसार के मूल कारणों की परंपरा से रहित हो चुके वे मुनि उपर (सिद्धिक्षेत्र में) निर्वाण = मोक्ष पाते हैं।

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।

कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवाङ्कुरः।।8।।

जैसे बीज सर्वथा जल जाने से उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता, वैसे कर्मरूप बीज सर्वथा जल जाने से पुन: भव रूप अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात् स गच्छति।

पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवै:[1]।।9।।

संपूर्ण कर्मक्षय के बाद तुरंत ही वे मुनि पूर्वप्रयोग – असंगत्व – बंधच्छेद ओर ऊर्ध्वगौरव (गति के इन चार कारणों) द्वारा लोकान्त तक उपर जाते हैं।

पूर्वप्रयोग –

कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्यते।

पूर्वप्रयोगात् कर्मेह तथा सिद्धगति: स्मृता।।10।।

जैस कुम्हार का चक्र प्रेरणा बिना भी पूर्व–प्रयोग (पूर्व के वेग) से भ्रमण करता है एवं बाण भी छूटने के बाद पूर्वप्रयोग से आगे गति करता है, वैसे योग न होने पर भी पूर्वप्रयोग से (पूर्व के योग की असर से) सिद्ध जीवों की ऊर्ध्वगति होती है।

असंग–

मृल्लेपसङ्गविनिर्मोक्षाद् यथा दृष्टाऽप्स्वलाबुन:।

कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात् तथा सिद्धगति: स्मृता।।11।।

जैसे मिट्टी का लेप दूर होने पर हल्का होने से तुंबा पानी में उपर आता है, वैसे कर्म का लेप दूर होने पर सिद्ध परमात्मा की ऊर्ध्वगति होती है।

बंधछेद –

एरण्डयन्त्रपेडासु बन्धच्छेदाद् यथा गति:

कर्मबन्धविच्छेदात्, सिद्धस्यापि तथेष्यते।।12।।

अरंडी का फल, यंत्र और पेडा (?) का बंधन टूटने पर क्रमश: बीज, काष्ठ और पेडापुट (?) की गति होती है, वैसे कर्म का बंधन टूटने पर सिद्धजीव की गति होती है।

ऊर्ध्वगौरव (गतिस्वभाव)–

ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमै:।

अधोगौरवधर्माण: पुद्गला इति चोदितम्।।13।।

जीव ऊर्ध्वगति के स्वभाववाले और पुद्गल अधोगति के स्वभाव वाले हैं, ऐसा जिनेश्वरों द्वारा कहा गया है।

यथाऽधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निवीतय:।

स्वभावत: प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वं गतिरात्मनाम्।।14।।

जैस पाषाण स्वभाव से नीचे जाता है, वायु तिर्यग् = तिच्छीं गति करती है और अग्नि उपर गति करती है, वैसे आत्मा की ऊर्ध्वगति स्वभाव से ही होती है। (वीतय: = गतय:)

① ऊर्ध्वगमनमेव गौरवम्।

संसारी जीव आदि की स्वभावविरूद्ध गति होने का कारण–

अतस्तु गतिवैकृत्यमेषां यदुपलभ्यते।

कर्मण: प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते।।15।।

आत्मा आदि की स्वयं के स्वभाव से विरूद्ध जो गति दिखती है, वह कर्म (= क्रिया), प्रतिघात (= दीवाल वगैरह की टक्कर) और प्रयोग (पुरुष की इच्छानुसार) इन तीन कारणों से होती है।

कर्म से स्वभावविरूद्ध गति–

अधस्तिर्यगथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गति:।

ऊर्ध्वमेव तु तद्धर्मा भवति क्षीणकर्मणाम्।।16।।

कर्मयुक्त जीवों की कर्म के कारण तीन गति होती हैं – ऊर्ध्व, अधो और तिर्च्छी। लेकिन कर्मरहित जीवों की स्वाभाविक ऊर्ध्वगति ही होती है।

द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतय:।

समं तथैव सिद्धस्य गतिमोक्षभवक्षया:।।17।।

जैसे द्रव्य की क्रिया की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश एकसाथ (एक ही समय में) होता है; वैसे सिद्ध जीव के (लोकांत पर) गति, मोक्ष और भवक्षय एकसाथ होते है।

उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह।

युगपद् भवतो यद्वत् तथा निर्वाणकर्मणो:।।18।।

जैसे प्रकाश की गति और अंधकार–नाश एक–साथ होता है, वैसे निर्वाण = मोक्ष की उत्पत्ति और कर्म का नाश एकसाथ होता है।

सिद्धों का स्थान –

तन्वी मनोज्ञा सुरभि: पुण्या परमभास्वरा।

प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता।।19।।

नृलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा।

ऊर्ध्वं तस्या: क्षिते: सिद्धा लोकान्ते समवस्थिता:।।20।।

लोक के अग्र भाग पर सूक्ष्म, मनोहर, सुगंधी, पवित्र और परम प्रकाशमय प्राग्भारा नामक पृथ्वी है। यह शुभ पृथ्वी मनुष्यलोक के समान विष्कंभ (व्यास) वाली (= 45 लाख योजन) और सफेद छत्री जैसे आकार वाली है। इस पृथ्वी के उपर लोकांत पर सिद्ध भगवंत विराजमान हैं।

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञान–दर्शनै:।

सम्यक्त्वसिद्धतावस्था हेत्वभावाच्च निष्क्रिया:।।21।।

सिद्ध तादात्म्य भाव से ही (स्वभाव से ही) केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग वाले हैं, सम्यक्त्व एवं सिद्धत्व में अवस्थित हैं तथा क्रिया का कारण नहीं होने से क्रियारहित हैं।

ततोऽप्यूर्ध्वं गतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मति:।

धर्मास्तिकायस्याभावात् स हि हेतुर्गते: पर:।।22।।

प्रश्न – लोकांत से भी उपर उनकी गति क्यों नहीं होती?

उत्तर – लोकांत से उपर गति में सहायक धर्मास्तिकाय न होने से वहाँ सिद्धों की गति नहीं होती। गति में धर्मास्तिकाय ही मुख्य कारण है।

संसारविषयातीतं मुक्तानामव्ययं सुखम्।

अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभि:।।23।।

सिद्धों को संसार के विषयसुख से अतीत, शाश्वत और दु:ख से रहित सुख होता है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

मोक्षसुख की सिद्धि–

स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मण:।

कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्यत्र मे शृणु।।24।।

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्द: प्रयुज्यते।

विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ।।25।।

सुखो वह्निर्सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते।

दु:खाभावे च पुरुष: सुखितोऽस्मीति मन्यते।26।।

पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम्।

कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम्।।27।।

प्रश्न – आठ कर्म और शरीर से रहित मुक्त जीव को सुख कैसे होता है?

उत्तर – लोक में 'सुख' शब्द का प्रयोग चार अर्थों में होता है – विषय, दु:ख का अभाव, विपाक और मोक्ष।

1. 'अग्नि सुखकारी है, वायु सुखकारी है' इस प्रकार लोक में विषयों में 'सुख' शब्द का प्रयोग होता है।

2. दु:ख न हो तो पुरुष 'मैं सुखी हूँ' ऐसा मानता है।

3. पुण्यकर्म के विपाक (फल) के कारण इन्द्रिय के इष्ट विषय से होने वाले अनुभव को सुख कहा जाता है।

4. कर्म और क्लेश से मुक्त होने के कारण मोक्ष में सबसे उत्तम सुख होता है।

सुखप्रसुप्तवत् केचिदिच्छन्ति परिनिवृत्तिम्।

तदयुक्तं क्रियावत्त्वात् सुखानुशयतस्तथा।।28।।

श्रमक्लममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात्।

मोहोत्पत्तेर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मण:।।29।।

कुछ दर्शनकार मोक्ष = मोक्षसुख को सुखपूर्वक गाढ़ निद्रा में सोए हुए पुरुष के सुख की तरह मानते हैं। यह योग्य नहीं है क्योंकि निद्रा में क्रिया होती है और सुख में अंतर होता है । तथा श्रम – खेद – मद – रोग – मैथुन

क्रिया से, रति–अरति आदि मोह से और दर्शनावरण कर्म के उदय से निद्रा आती है। (मोक्ष में क्रिया नहीं होती, सुख में अंतर नहीं होता अर्थात् सभी सिद्धों को सर्वदा समान सुख होता है, श्रमादि में से कोई कारण नहीं होता।)

लोके तत्सदृशो ह्यर्थ: कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।

उपमीयेत तद् येन तस्मान्निरूपमं सुखम्।।30।।

संपूर्ण विश्व में मोक्ष के समान अन्य कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा मोक्ष सुख को दी जा सके। इसलिए मोक्षसुख निरूपम = अनुपम (उपमा रहित) है।

लिङ्गप्रसिद्धे: प्रामाण्यादनुमानोपमानयो:।

अत्यन्तं चाप्रसिद्धं तद् यत् तेनानुपमं स्मृतम्।।31।।

मोक्षसुख को अनुमान और उपमान प्रमाण से भी नहीं जान सकते क्योंकि उसे जानने का कोई लिंग = चिह्न प्रसिद्ध नहीं है। जिन पदार्थों का (अनुमान में अन्वयव्यतिरेकी लिंग और उपमान में सादृश्य लिंग) लिंग प्रसिद्ध होता है, वे ही पदार्थ अनुमान और उपमान का विषय होते हैं।

प्रत्यक्षं तद् भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम्।

गृह्यतेऽस्तीत्यत: प्राज्ञैर्न छद्मस्थपरीक्षया।।32।।

मोक्षसुख अरिहंत को प्रत्यक्ष है और उन्होंने उसका उपदेश दिया है इसलिए बुद्धिमान पुरुष उसे स्वीकारते हैं, छद्मस्थ जीवों की परीक्षा से नहीं स्वीकारते।

तत्त्वार्थसूत्रप्रशस्तिः

वाचकमुख्यस्य शिवश्रिय: प्रकाशयशस: प्रशिष्येण।

शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविद:।।1।।

वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।

शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्न: प्रथितकीर्त्ते:।।2।।

न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।

कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्ध्यम्।।3।।

अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।

दु:खार्त्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य।।4।।

इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम्।।5।।

जिनका यश जगत् में प्रगट है, ऐसे शिवश्री नामक वाचकमुख्य के प्रशिष्य, ग्यारह अंग के ज्ञाता घोषनंदि क्षमाश्रमण के शिष्य, वाचना से (पढ़ाने वाले की अपेक्षा से) महावाचक क्षमण मुंडपाद के शिष्य–विस्तृतकीर्ति वाले मूल नामक वाचकाचार्य के शिष्य, कौभीषण गोत्र वाले, स्वाति नामक पिता और वात्सी गोत्रवाली (उमा नाम क) माता के पुत्र, न्यग्रोधिका नगरी में उत्पन्न, कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) नामक श्रेष्ठ नगर) में विचरते, उच्चनागर शाखा के वाचक श्री उमास्वातिजीने गुरु परंपरा से प्राप्त अरिहंत के मूल्यवान् वचनों को अच्छी तरह समझकर, जगत् को (शारीरिक – मानसिक) दु:खों से पीड़ित तथा असत्य आगम से नष्टबुद्धि वाला देखकर जीवों की अनुकंपा से स्पष्ट अर्थ वाले इस तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र की रचना की।

यस्तत्त्वार्थाधिगमाख्यं ज्ञास्यति करिष्यते च तथोक्तम्।

सोऽव्याबाधं सौख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम्।।6।।

जो तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र को जानेगा और उसमें कहे अनुसार करेगा, वह अव्याबाध सुखरूप परमार्थ (मोक्ष) को अल्पकाल में प्राप्त करेगा।

परिशिष्ट-1: मूलसूत्राणि

* प्रथम अध्याय *

gå`½XeZ-kmZ-Mm[aÌm{U _mj_mJ: &&1&& VÎdmWlÕmZ gå`½XeZ_ &&2&& VpÝZgJmX{YJ_mX dm &&3&& OrdmOrdmgd~ÝYgda{ZOam_mjmñVÎd_ &&4&& Zm_-ñWmnZm-Ðì`-^mdVñVÝÝ`mg: &&5&& à_mUZ`a{YJ_: &&6&& {ZXe-ñdm{_Ëd-gmYZm{YH$aU-pñW{V-{dYmZV:&&7&&gV-gL»`m-jÌ-ñneZ-H$mbm@ÝVa-^mdmën~hËdíM &&8&& _{V-lVm-@d{Y-_Z:n`m`-H$dbm{Z kmZ_ &&9&& VËà_mU &&10&& AmÚ namj_ &&11&& àË`j_Ý`X &&12&& _{V: ñ_{V: gkm {MÝVm{^{Z~mY BË`ZWmÝVa_ &&13&& V{XpÝÐ`m[ZpÝÐ`{Z{_Îm_ &&14&& AdJhhmnm`YmaUm: &&15&& ~h-~h{dY-{jàm-@{Z{lVm-@g{X½Y-YdmUm gVamUm_&&16&& AWñ` &&17&& ì`ÄOZñ`mdJh:&&18&& Z Mja{Z{ÝÐ`mä`m_&&19&& lV _{Vnd Û`ZH$-ÛmXe^X_ &&20&& {Û{dYm@d{Y: &&21&& ^dàË``m ZmaH$XdmZm_&&22&& `WmŠV{Z{_Îm: fpSdH$ën: efmUm_ &&23&& F$O-{dnb_Vr _Z:n`m`: &&24&& {deXÜ`à{VnmVmä`m V{Ûef:&&25&& {de{Õ-jÌ-ñdm{_-{df`ä`m@d{Y_Z:n`m``m: &&26&& _{VlV`m{Z~ÝY: gdÐì`îdgdn`m`f &&27&& ê${nîddY: &&28&& VXZÝV^mJ _Z: n`m`ñ` &&29&& gdÐì`n`m`f H$dbñ` &&30&& EH$mXr{Z ^mÁ`m{Z `JnXH$pñ_ÝZmMVä`: &&31&& _{VlVmdY`m {dn``íM &&31&& gXgVma{defmX `XÀNmnbãYéÝ_ÎmdV &&33&& ZJ_-gJh-ì`dhmaOgÌeãXm Z`m: &&34&& AmÚeãXm {Û{Ì^Xm &&35&&

* द्वितीय अध्याय *

Amne{_H$-jm{`H$m ^mdm {_líM Ordñ` ñdVÎd_mX{`H$-nm[aUm{_H$m M &&1&& {Û-Zdm-@îQmXeH$qde{V-{Ì^Xm `WmH$__ &&2&& gå`ŠËdMm[aÌ &&3&& kmZ-XeZ-XmZ-bm^-^mJmn^mJdr`m{U M &&4&& kmZm-@kmZ-XeZ-XmZm{XbãY`íMV{ó{ÌnÄM^Xm: gå`ŠËd-Mm[aÌ-g`_mg`_míM &&5&& J{V-H$fm`-{bLJ-{_Ï`mXeZm-@kmZm-@g`Vm-@{gÕËd-bí`míMV-íMVñÍ`H$H$H$H$fS^Xm: &&6&& Ord-^ì`m^ì`ËdmXr{Z M &&7&& Cn`mJm bjU_ &&8&& g {Û{dYm@îQMV^X:&&9&& ggm[aUm _ŠVmíM &&10&&

g_ZñH$m@_ZñH$m: &&11&& ggm[aUógñWmdam: &&12&& nÏì`ãdZñnV`: ñWmdam: &&13&& VOmdm` ÛrpÝÐ`mX`íM Ìgm: &&14&& nÄMpÝÐ`m{U &&15&& {Û{dYm{Z &&16&& {ZdÎ`nH$aU Ðì`pÝÐ`_&&17&& bãÜ`n`mJm ^mdpÝÐ`_ &&18&& Cn`mJ: ñnem{Xf &&19&& ñneZ-agZ-KmU-Mj:-lmÌm{U &&20&& ñne-ag-JÝY-dU-eãXmñVfm-_Wm: &&21&& lV_{ZpÝÐ`ñ` &&22&& dmædÝVmZm_H$_ &&23&& H$[_-{nnr{bH$m-^_a-_Zî`mXrZm_HHdÕm{Z &&24&& g{kZ: g_ZñH$m: &&25&& {dJhJVm H$_`mJ: &&26&& AZl{U J{V: &&27&& A{dJhm Ordñ` &&28&& {dJhdVr M ggm[aU: àmH$ MVä`:&&29&& EH$g_`m@[dJh: &&30&& EH$ Ûm dm@ZmhmaH$: &&31&& g_ÀN>ZJ^mnmVmÁOÝ_ &&32&& g{MÎmerVgdVm: gVam: {_lmíMH$e: VX`mZ`: &&33&& OamædÊS>nmVOmZm J^: &&34&& ZmaH$-XdmZm_nnmV:&&35&& efmUm g_ÀN>Z_&&36&& AmXm[aH$-d{H$`m@@hmaH$-VOg-H$m_Um{Z earam{U &&37&& na na gú__ &&38&& àXeVm@g»``JU àmH$ VOgmV &&39&& AZÝVJU na &&40&& Aà{VKmV &&41&& AZm{Xg~ÝY M &&42&& gdñ` &&43&& VXmXr{Z ^mÁ`m{Z `JnXH$pñ_ÝZmMVä`:&&44&& {Zén^mJ_ÝË`_&&45&& J^g_ÀN>ZO_mÚ_ &&46&& d{H$`_mnnm{VH$_ &&47&& bpãYàË`` M &&48&& e^ {deÕ_ì`mKm{V MmhmaH$ MVXendYañ`d &&49&& ZmaH$ - g_pÀN>Zm ZngH$m{Z &&50&& Z Xdm: &&51&& Amnnm{VH$-Ma_XhmÎm_néfm-@g»``dfm`fm@ZndË`m`f: &&52&&

✻ तृतीय अध्याय ✻

aËZ-eH$am-dmbH$m-nLH$-Üm_-V_m-_hmV_:à^m^_`m KZmå~-dmVm-H$meà{VîRm: gßVmYm@Y: nWVam: &&1&& Vmg ZaH$m: &&2&& {ZË`me^Vabí`m-n[aUm_-Xh-dXZm-{d{H$`m: &&3&& nañnamXr[aVX: lm: &&4&& gpŠbîQmgamXr[aVX: lmíM àmH$ MVÏ`m: &&5&& VîdH$-{Ì-gá-Xe-gßVXe-Ûmqde{V-Ì`qóeËgmJamn_m: gÎdmZm nam pñW{V: &&6&& Oå~ÛrnbdUmX`: e^Zm_mZm Ûrng_Ðm: &&7&& {Û{Û{dîH$å^m: ndndn[aj{nUm db`mH$V`: &&8&& VÝ_Ü`_éZm{^dÎmm `mOZeVghg{dîH$å^m Oå~Ûrn: &&9&& ^aV-h_dV-h[a-{dXh-aå`H$-haÊ`dVamdVdfm: jÌm{U &&10&& V{Û^m{OZ: ndmnam`Vm {h_dÝ_hm{h_dpÝZfYZrbépŠ_{elI[aUm dfYandVm: &&11&& {ÛYmVH$slÊS> &&12&& nîH$amY M &&13&& àmJ_mZfmÎmamÝ_Zî`m:&&14&& Am`måbÀNmíM &&15&& ^aVamdV{dXhm: H$_^_`m@Ý`Ì XdH$éÎmaH$éä`: &&16&& ZpñWVr namna {Ìnë`mn_mÝV_hV &&17&&

{V`½`mZrZm M &&18&&

✻ चतुर्थ अध्याय ✻

XdmíMV{ZH$m`m:&&1&& VVr`: nrVbí`: &&2&& Xem-@îQ>-nÄM-ÛmXe{dH$ënm: H$ënmnnÝZn`ÝVm: &&3&& BÝÐ-gm_m{ZH$-Ìm`qóe-nm[afÚm-@@Ë_aj-bmH$nmbm-@ZrH$-àHsUHm-@@{^``m½`-{H$pë~{fH$míMH$e:&&4&& Ìm`qóe-bmH$nmbdÁ`mì`ÝVa-Á`m{VîH$m:&&5&& nd`mÛuÝÐm: &&6&& nrVmÝVbí`m: &&7&& H$m`àdrMmam Am EemZmV&&8&& efm: ñne-ê$n-eãX-_Z:àdrMmam Û`mÛ`m: &&9&& na@àdrMmam: &&10&& ^dZdm{gZm @gaZmJ{dÚËgnUm{½ZdmVñV{ZVmX{YÛrn{XHH_mam:&&11&& ì`ÝVam: {H$ÝZa-qH$néf-_hmaJ-JmÝYd-`j-amjg-^V-{nemMm:&&12&& Á`m{VîH$m: g`míMÝÐ_gm-Jh-Zjì-àH$sUVmaH$míM &&13&& _éàX{jUm{ZË`JV`mZbmH$ &&14&& VËH$V: H$mb{d^mJ:&&15&& ~{hadpñWVm: &&16&& d_m{ZH$m: &&17&& H$ënmnnÝZm: H$ënmVrVmíM &&18&& Cn`n[a &&19&& gmY_emZ-gZËH$_ma-_mhÝÐ-~÷bmH$-bmÝVH$-_hmeH$-ghgmaîdmZV-àmUV`mamaUmÀ`V`mZdg Jd`H$f {dO`-dO`ÝV-O`ÝVm-@nam{OVf gdmW{gÕ M &&20&& pñW{V-à^md-gI-Ú{V-bí`m{deÕrpÝÐ`m-@d{Y-{df`Vm@{YH$m: &&21&& J{V-eara-n[aJhm{^_mZVm hrZm: &&22&& nrV-nÙ-eŠbbí`m {Û-{Ì-eff &&23&& àmJ Jd`H$ä`: H$ënm:&&24&& ~÷bmH$mb`m bmH$mpÝVH$m: &&25&& gmañdVm-@@{XË`-dhÝ`éU-JXVm`-V{fVm-@ì`m~mY-_éVm-@[aîQmíM &&26&& {dO`m{Xf {ÛMa_m:&&27&& Amnnm{VH$-_Zî`ä`: efmpñV`½`mZ`: &&28&& pñW{V: &&29&& ^dZf X{jUmYm{YnVrZm në`mn__Ü`Y_ &&30&& efmUm nmXmZ &&31&& AgaÝÐ`m: gmJamn__{YH$ M &&32&& gmY_m{Xf `WmH$__ &&33&& gmJamn_ &&34&& A{YH$ M &&35&& gßV gmZËH$_ma &&36&& {def-{Ì-gßV-XeH$mXe-Ì`mXe-nÄMXe{^a{YH$m{Z M &&37&& AmaUm@À`VmXÜd-_H$H$Z Zdg JdH$f {dO`m{Xf gdmW{gÕ M &&38&& Anam në`mn__{YH$ M &&39&& gmJamn_ &&40&& A{YH$ M &&41&& naV: naV: ndm-ndm@ZÝVam &&42&& ZmaH$mUm M {ÛVr`m{Xf &&43&& Xedfghgm{U àW_m`m_ &&44&& ^dZf M &&45&& ì`ÝVamUm M&&46&& nam në`mn__ &&47&& Á`m{VîHmUm_{YH_ &&48&& JhmUm_H$_ &&49&& ZjìmUm_Y_ &&50&& VmaH$mUm MV^mJ: &&51&& OKÝ`m ËdîQ>^mJ: &&52&& MV^mJ: efmUm_ &&53&&

✻ पंचम अध्याय ✻

AOrdH$m`m Y_mY_mH$menXJbm: &&1&& Ðì`m{U OrdmíM &&2&& {ZË`m@dpñWVmÝ`ê$nm{U M &&3&& ê${nU: nXJbm: &&4&& Am@@H$memXH$Ðì`m{U&&5&& {ZpîH$`m{U M &&6&& Ag»``m: àXem Y_mY_`m:&&7&& Ordñ` M&&8&& AmH$meñ`mZÝVm:&&9&& g»``m-@g»``míM nXJbmZm_ &&10&& ZmUm:&&11&& bmH$mH$me@dJmh: &&12&& Y_mY_`m: H$ËñZ&&13&& EH$àXem{Xf ^mÁ`: nXJbmZm_ &&14&& Ag»``^mJm{Xf OrdmZm_ &&15&& àXeghma{dgJmä`m àXrndV&&16&& J{VpñWË`nJhm Y_m@Y_`ménH$ma:&&17&& AmH$meñ`mdJmh: && 18&& eara-dmL›-_Z:-àmUmnmZm: nXJbmZm_ &&19&& g I -X: I -Or{dV-_aUmnJhmíM&&20&& nañnamnJhm OrdmZm_ &&21&& dVZm n[aUm_: {H$`m naËdmnaÎd M H$mbñ`&&22&& ñne-ag-JÝY-dUdÝV: nXJbm: &&23&& eãX-~ÝY-gmúå`-ñWmë`-gñWmZ-^X-V_íNm`m@@VnmÚmVdÝVíM &&24&& AUd: ñH$ÝYmíM &&25&& gKmV^Xä` CËnÚÝV &&26&& ^XmXU: &&27&& ^XgKmVmä`m Mm j fm: &&28&& CËnmX-ì``-Ymì``ŠV gV && 29&& VX^mdmì`` {ZË`_&&30&& A{nVm@Z{nV{gÕ: &&31&& pñZ½Yê$ j ËdmX ~ÝY: &&32&& Z OKÝ`JUmZm_ &&33&& JUgmå` gXemZm_ &&34&& Û`{YH$m{XJUmZm V &&35&& ~ÝY g_m{YH$m nm[aUm{_H$m &&36&& JUn`m`dX Ðì`_ &&37&& H$mbíMË`H$ && 38&& gm@ZÝVg_`: && 39&& Ðì`m I `m {ZJUm JUm: && 40&& VX^md: n[aUm_: && 41&& AZm{Xam{X_míM && 42&& ê${nîdm{X_mZ && 43&& `mJmn`mJm Ordf && 44&&

✻ षष्ठ अध्याय ✻

H$m`-dmL-_Z:H$_ `mJ: && 1&& g Amgd: && 2&& e^: nÊ`ñ` && 3&& Ae^: nmnñ` && 4&& gH$fm`m@H$fm``m: gmånam{`H$`mnW`m: &&5&& BpÝÐ`-H$fm`m-@dV-{H$`m: n#m-MV:-n#m-n#mqde{V-g»`m: ndñ` ^Xm: &&6&& Vrd-_ÝX-kmVm-@kmV^md-dr`m{YH$aU{defä`ñV{Ûef:&&7&&A{YH$aU Ordm@Ordm: &&8&&AmÚ gaå^-g_maå^m-@@aå^-`mJ-H$V-H$m[aVm@Z_V-H$fm`{def{ó-{ó{óíMVíMH$e: &&9&&{ZdVZm-{Zjn-g`mJ-{ZgJm {Û-MV-{Û-{Ì^Xm: na_&&10&& VËàXmf-{Z•d-_mËg`m-@ÝVam`m-@@gmXZmnKmVm-kmZXeZmdaU`m: &&11&& X: I -emH$-Vmnm-@@H$ÝXZ-dY-n[aXdZmÝ`mË_nam^`ñWmÝ`gÛÚñ` &&12&& ^V-dË`ZH$ånm XmZ gamJg`_m{X`mJ:

j‰ÝV: e‰M{_{V gÛÚñ` &&13&& H$d{b-lV-gL›K-Y_-Xd‰@dUd‰X‰ XeZ_‰hñ` &&14&& H$f‰`‰X`‰V VrdëË_n[aU‰_íM‰[aÌ_‰hñ` &&15&& ~^‰aå^-n[aJhËd M Z‰aH$ñ`‰`f:&&16&& _‰`‰V`½`‰Zñ` && 17&& Aën‰@@aå^-n[aJhËd ñd^‰d_‰Xd‰-@@Od M _‰Zfñ` &&18&& {Z:erb-dVËd M gdf‰_ &&19&& ga‰Jg`_-g`_‰g`_-@H$‰_{ZOa‰-~‰bVn‰{g Xdñ` &&20&& `‰JdH$V‰ {dgd‰XZ M‰e^ñ` Z‰åZ:&&21&& V{ÛnarVe^ñ`&&22&&XeZ{de{Õ{dZ`gnÝZV‰erb-dVîdZ{VM‰a‰@^rúUk‰Z‰n`‰J-gdJ‰ ep‹VVñË`‰J-Vngr gK-g‰Y-g_‰{Y-d`‰dË`H$aU_hX‰M‰`-~hlV-àdMZ^p‹Va‰dí`H$‰n[ah‰{U-_‰Jà^‰dZ‰ àdMZdËgbËd{_{V VrWH$Îdñ` &&23&& na‰Ë_{ZÝX‰àeg gXgXJU‰À‰XZ‰X^‰dZ M ZrMJ‰Ìñ` &&24&& V{Ûn``‰ ZrMdÎ`ZËgH$‰ M‰Î‰añ` &&25&& {d¿ZH$aU_ÝVa‰`ñ` &&26&&

✻ सप्तम अध्याय ✻

ghg‰-@ZV-ñV`‰-@~÷-n[aJhä`‰ {da{VdV_ &&1&& Xe-gdV‰@U-_hVr &&2&& VËñW`‰W ^‰dZ‰: nÄM nÄM && 3&& ghg‰{Xpîdh‰_Ì M‰n‰`‰dÚXeZ_ && 4&& X:l_d d‰ && 5&& _Ìr-à_‰X-H$‰éÊ`-_‰Ü`ñÏ`‰{Z gÎdJU‰{YH$-p‹Sbí`_‰Z‰-@{dZ`f && 6&& OJËH$‰`ñd^‰d‰ M gdJda‰½`‰W_ && 7&& à_Î‰`‰JËà‰Uì`na‰nU ghg‰ && 8&& AgX{^Y‰Z_ZV_ && 9&& AXÎ‰X‰Z ñV`_ && 10&& _WZ_~÷ && 11&& _À›‰ n[aJh: &&12&& {Z:eë`‰ dVr &&13&&AJ‰`ZJ‰aíM &&14&& AUdV‰@J‰ar &&15&& {XJ-Xe‰-@ZWXS{da{V-g‰_‰{`H$-n‰fY‰nd‰g‰n^‰J-n[a^‰Jn[a_‰U‰{V{Wg{d^‰JdVgånÞíM &&18&& _‰aU[ÝVH$sgblZ‰O‰{fV‰&&17&&eL›H$‰-H$‰L›j‰-{d{M{H$Ëg‰-@Ý`X{ï›àeg‰-gñVd‰: gå`½Xï›a{VM‰a‰: &&16&& dVerbf nÄM nÄM `W‰H$__ &&19&& ~Y-dY-N{dÀN›X‰-@{V^‰a‰a‰nU‰-@ÝZn‰Z{Za‰Y‰: &&20&& {_Ï`‰nXe-ahñ`‰ä`‰»`‰Z-H$Q›blH{H$`‰-Ý`‰g‰nh‰a-g‰H$‰a_Ì^X‰: &&21&& ñVZà`‰J-VX‰öV‰X‰Z-{déÕa‰Á`‰{VH$_-hrZ‰{YH$_‰Z‰Ý_‰Z-à{VênHì`dh‰a‰: &&22&& na{dd‰h-H$aUËda-n[aJhrV‰n[aJhrV‰J_Z‰-@ZLJH$rS‰-VrdH$‰_‰{^{Zde‰: &&23&& jÌd‰ñV-[haÊ`gdU -YZY‰Ý`-X‰grX‰g-H$ß`à_‰U‰{VH$_‰: &&24&& D$Üd‰YpñV`½ì`{VH$_-jÌd{Õñ_Ë`ÝVY‰Z‰{Z &&25&& A‰Z`Z-àî`à`‰J-eãX-ê$n‰Zn‰V-nXJbj‰n‰: &&26&& H$ÝXn-H$‰ËH$À`-_‰l`‰-@g_rú`‰{YH$aU‰n^‰J‰{YH$Ëd‰{Z &&27&&

`mJXîà{UYmZm-@ZmXa-ñ_Ë`ZnñWmnZm{Z &&28&& AàË`d{jVmà_m{OVmËgJm-@@XmZ{Zjn-gñVmamnH$_mUm@ZmXa-ñ_Ë`ZnñWmnZm{Z && 29&& g{MÎmg~Õ-g{_lm-@{^fd-XînŠdmhma: &&30&& g{MÎm{Zjn-{nYmZ-naì`nXe-_mËg`-H$mb{VH$_m: &&31&& Or{dV-_aUmegm-{_ÌmZamJ-glmZ~Y-{ZXmZH$aUm{Z &&32&& AZJhmW ñdñ`m{VgJm XmZ_ &&33&& {d{Y-Ðì`-XmV-nmÌ{defmÀM V{Ûef: &&34&&

✲ अष्टम अध्याय ✲

{_Ï`mXeZm-@{da{V-à_mX-H$fm`-`mJm ~ÝYhVd: && 1&& gH$fm`ËdmÁOrd: H$_Um `m½`mZ nXJbmZmXÎm &&2&& g ~ÝY: &&3&& àH${V-pñWË`Z^md-àXemñV{ÛY`: &&4&& AmÚm kmZ-XeZmdaU-dXZr`-_mhZr`m-@@`îH$-Zm_-JmÌm-@ÝVam`m: &&5&& nÄM-Zd-Û`ïmqde{V-MV-{ÛMËdm[aeX-{Û-nÄM^Xm `WmH$__ &&6&& _Ë`mXrZm_ &&7&& MjaMjad{YH$dbmZm {ZÐm-{ZÐm{ZÐm-àMbm-àMbmàMbm-ñË`mZ{ÕdXZr`m{Z M &&8&& gXgXdÚ &&9&& XeZ-Mm[aÌ_mhZr`-H$fm`-ZmH$fm`dXZr`m»`m{ó-{Û-fmSe-Zd^Xm: gå`H$Ëd-{_Ï`mËd-VX^`m{Z, H$fm`-ZmH$fm`m, AZÝVmZ~ÝÜ`-àË`m»`mZ-àË`m»`mZmdaU-gÁdbZ-{dH$ënmíMH$e: H$mY-_mZ-_m`m-bm^m: hmñ`aË`a{V-emH$-^`-OJßgm: ór-n-ZngH$dXm: &&10&& ZmaH$-V`½`mZ-_mZf-Xdm{Z&&11&& J{V-Om{V-earam-@LJmnmLJ-{Z_mU-~YZ-gKmV-gñWmZ-ghZZ-ñne-ag-JY-dUm-@@Znì`-@JébKnKmV-namKmVm-@@VnmÚmVmÀN›dmg-{dhm`mJV`: àË`H$eara-Ìg-g^J-gñda-e^-gú_-n`má-pñWam-@@X`-`em{g gVam{U VrWH$Îd M &&12&& CƒZuMíM &&13&& XmZmXrZm_ &&14&& Am{XVpñVgUm_ÝVam`ñ` M qÌeËgmJamn_H$mQ>rH$mQ`: nam pñW{V:&&15&& gá{V_mhZr`ñ` &&16&& Zm_JmÌ`m{de{V: &&17&& Ì`qóeËgmJamn_Ê`m`îH$ñ` &&18&& Anam ÛmXe _hVm dXZr`ñ` &&19&& Zm_JmÌ`maïm &&20&& efmUm_ÝV_hV_ &&21&& {dnmH$m@Z^md: &&22&& g `WmZm_ &&23&& VVíM {ZOam &&24&& Zm_àË``m: gdVm `mJ{defmV gú_H$jÌmdJmTpñWVm: gdmË_àXef AZÝVmZÝVàXem: &&25&& gÛÚ-gå`ŠËd-hmñ`-a{V-néfdX-e^m`Zm_-JmÌm{U nÊ`_ &&26&&

❊ नवम अध्याय ❊

AmgdZamY: gda: 1 g JágV_Y_m@ZàjmnarfhO`Mm[aÌ: 2 VngmZOam M 3 gå`½`mJZJhm Já: 4 B`m^mffUm@@XmZZjnmËgJm: g_V`: 5 CÎm_: j_m_mXdm@@Odem M gË`g`_Vnñ`mJm@@H$ÄMÝ`~ô_M`m U Y_: 6 AZË`m@eaUggmaH$Ëdm@Ý`Ëdm@ímMËdm@@gdgda-ZOambmH$~m YXb^Y_ñdm»`mVVÎdmZqMVZ_Zàjm: 7 _mJm@À`dZZOamW n[afmT›ì`m: narfhm: 8 jV-nnmgmerVmîUXe_eH$-Zm½Ý`m@a{V-ór-M`m-ZfÚm-eæ`m@@H$me-dY-`mMZm@bm^amJVUñne-_b-gËH$ma-àkm@kmZm-@XeZm{Z 9 gú_gnam`-N›X_ñWdrVamJ`míMVXe 10 EH$mXe {OZ 11 ~mXa gånam` gd 12 kmZmdaU àkm@kmZ 13 XeZ_mhmÝVam``maXeZmbm^m 14 Mm[aÌ_mh Zm½Ý`m@a{V-ór-{ZfÚm@@H$me-`mMZm-gËH$manañH$mam: 15 dXZr` efm: 16 EH$mX`m ^mÁ`m `JnXH$mZqdeV: 17 gm_m{`H$-N›XmnñWmß`-n[ahma{de{Õ-gú_gånam`-`Wm»`mVm{Z M[aÌ_ 18 AZeZm@d_mX`-d{Îmn[ag»`mZagn[aË`mJ{d{dº$eæ`mgZH$m`Šbem ~mô` Vn: 19 àm`píMÎm-{dZ`d`mdË`ñdmÜ`m`ì`ËgJÜ`mZmÝ`Îma_ 20 Zd-MV-Xe-nÄM-{Û^X `WmH$_ àm½Ü`mZmX 21 AmbmMZà{VH$_U-VX^`-{ddH$-ì`ËgJ-VníN›X-n[ahmamnñWmnZm{Z 22 kmZ-XeZ-M[aÌmnMmam: 23 AmMm`m-nmÜ`m`-Vnpñd-ejH$-½bmZ-JU-H$b-gLK-gmY-g_ZmkmZm_ 24 dmMZm- nÀN›Zm@Zàjm-@@åZm`-Y_mnXem: 25 ~mô`m-@ä`VamnÜ`m: 26CÎm_ghZZñ`H$mJ{MÝVm{ZamYm Ü`mZ_ 27 Am _hVmV 28 AmV-amÐ-Yå`-eŠbm{Z 29 na _mjhV 30 AmV__ZmkmZm gåà`mJV{Ûà`mJm` ñ_{Vg_Ýdmhma: 31 dXZm`míM 32 {dnarV _ZmkmZm_ 33 {ZXmZ M 34 VX{daV-Xe{daV-à_Îmg`VmZm_ 35 qhgm-@ZV-ñV`-{df`gajUä`m amÐ_{daV-Xe{daV`m: 36 Amkm@nm`-{dnmH$-gñWmZ{dM`m` Yå`_à_Îmg`Vñ` 37 CnemV-jrUH$fm``míM 38 eŠb MmÚ nd{dX: 39 na H$d{bZ: 40 nWŠËdH$Ëd{dVH$-gú_{H$`m@à{Vnm{V-ì`naV{H$`m@{ZdÎmr{Z41 VV Í`H$-H$m``mJm@`mJmZm_ 42 EH$mI` g{dVH$nd 43 A{dMma {ÛVr`_ 44 {dVH$:IV_ 45 {dMmam@W-ì`ÄOZ-`mJgH$mpÝV:

&&46&& gå`½X{ï›-lmdH$-{daVm-@ZÝV{d`mOH$-XeZ_mhjnH$m-ne_H$m-nemÝV_mh-jnH$-jrU_mh-{OZm: H$_em@g»``JU{ZOam: &&47&& nbmH$-~H$e-H$erb-{ZJÝW-ñZmVH$m {ZJÝWm: &&48&&g`_-lV-à{VgdZm-VrW-{b“-bí`m-nnmV-ñWmZ{dH$ënV: gmÜ`m: && 49&&

✲ दशम अध्याय ✲

mhj`mÁkmZ-XeZmdaUm-@ÝVam`j`mf H$db_ &&1&& ~ÝYhËd^md-{ZOamä`m &&2&& H$ËñZH$_j`m _mj: &&3&& Amne{_H$m{X-^ì`mËdm^mdmÀMmÝ`Ì H$dbgå`H$Ëd-kmZ-XeZ-{gÕËdä`: && 4&& VXZÝVa_Üd JÀN›ÝË`mbmH$mÝVmV &&5&& ndà`mJmXgLJËdmX~ÝY{dÀN›XmÎmWmJ{Vn[aUm_mÀM VXJ{V: &&6&& jÌ-H$mb-J{V-{b“-VrW-Mm[aÌ-àË`H$~Õ~m{YV-kmZm-@dJmhZm-@ÝVa-g»`m-@ën~hVËdV: gmÜ`m: &&7&&

* * *

परिशिष्ट-2: चित्रसंग्रह

* परभव जाते हुए एकवक्रा आदि गति *

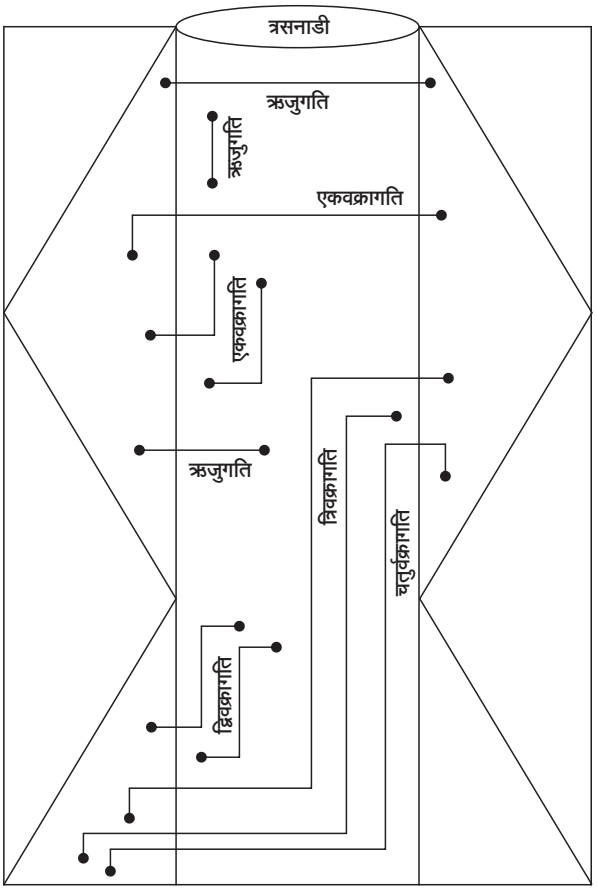

* औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का क्रम *

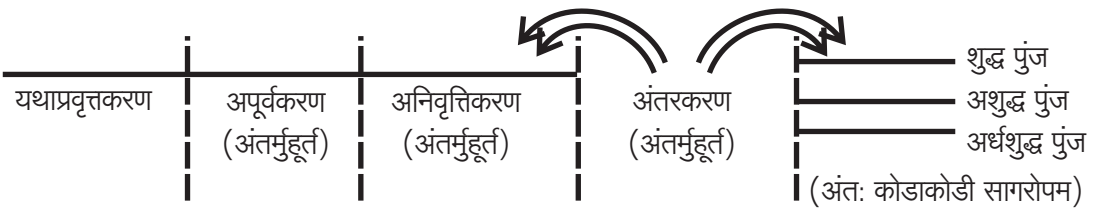

* चौदह राज लोक *

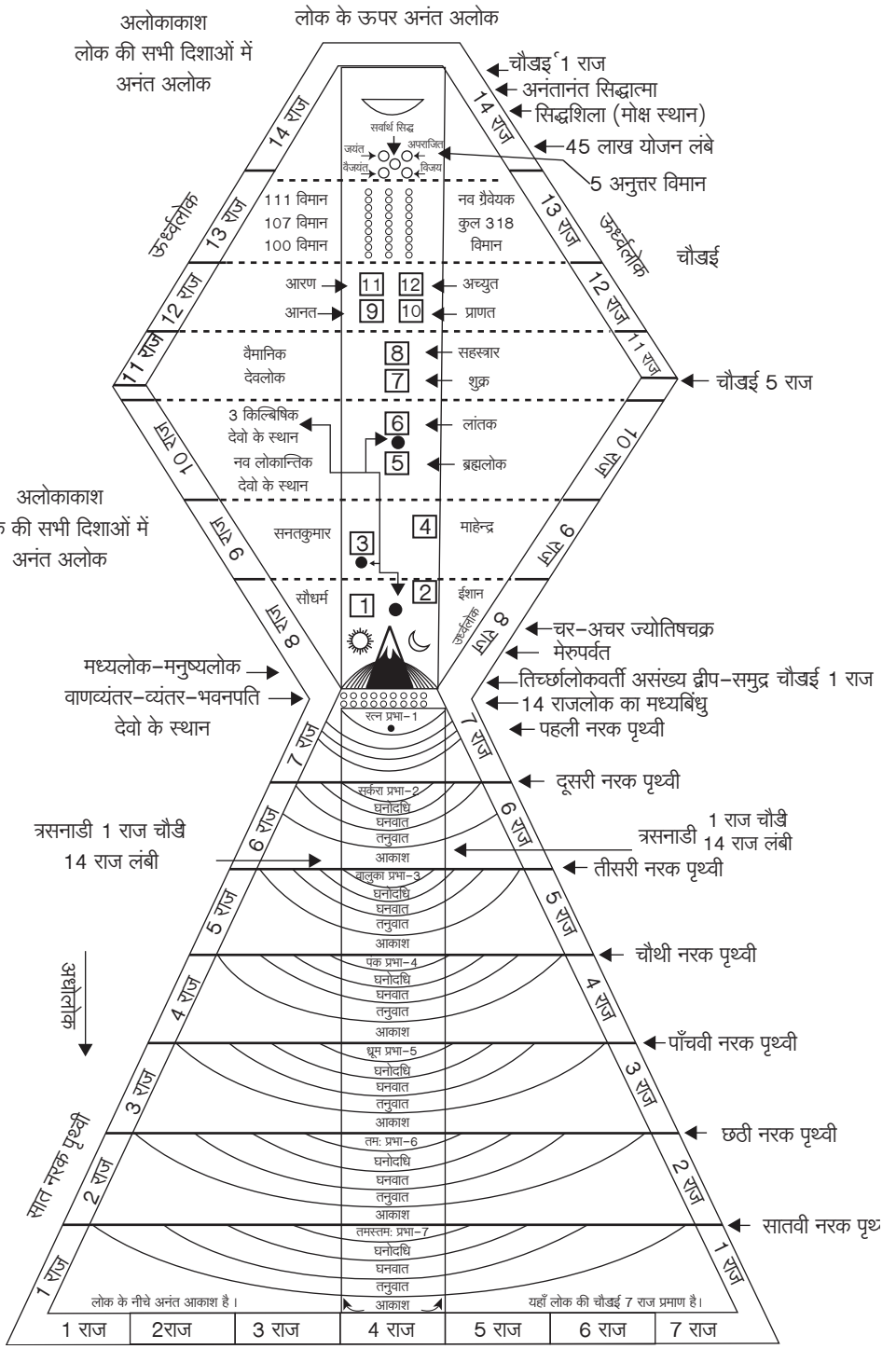
अलोकाकाश
लोक की सभी दिशाओं में
अनंत अलोक
लोक के ऊपर अनंत अलोक
चौड़ाई 1 राज
अनंतानंत सिद्धात्मा
सिद्धशिला (मोक्ष स्थान)
45 लाख योजन लंबे
5 अनुत्तर विमान
सर्वार्थ सिद्ध
अपराजित
जयंत
वैजयंत
विजय
111 विमान
107 विमान
100 विमान
नव ग्रैवेयक
कुल 318
विमान
ऊर्ध्वलोक
चौड़ई
आरण
अच्युत
आनत
प्राणत
वैमानिक
देवलोक
सहस्त्रार
शुक्र
चौड़ई 5 राज
3 किल्बिषिक
देवो के स्थान
नव लोकान्तिक
देवो के स्थान
लांतक
ब्रह्मलोक
अलोकाकाश
लोक की सभी दिशाओं में
अनंत अलोक
सनतकुमार
माहेन्द्र
सौधर्म
ईशान
चर-अचर ज्योतिषचक्र
मेरुपर्वत
मध्यलोक-मनुष्यलोक
वाणव्यंतर-व्यंतर-भवनपति
देवो के स्थान
तिच्छ्रलोकवर्ती असंख्य द्वीप-समुद्र चौड़ई 1 राज
14 राजलोक का मध्यबिंधु
रत्न प्रभा-1
पहली नरक पृथ्वी
दूसरी नरक पृथ्वी
त्रसनाडी 1 राज चौड़ी
14 राज लंबी
1 राज चौड़ी
14 राज लंबी
घनोदधि
घनवात
तनुवात
आकाश
वालुका प्रभा-3
तीसरी नरक पृथ्वी
चौथी नरक पृथ्वी
पंक प्रभा-4
पाँचवी नरक पृथ्वी
धूम प्रभा-5
छठी नरक पृथ्वी
तमः प्रभा-6
सातवी नरक पृथ्वी
तमस्तमः प्रभा-7
सात नरक पृथ्वी
अधोलोक
लोक के नीचे अनंत आकाश है।
यहाँ लोक की चौड़ई 7 राज प्रमाण है।
1 राज
2राज
3 राज
4 राज
5 राज
6 राज
7 राज

* असंख्य द्वीप और समुद्र *

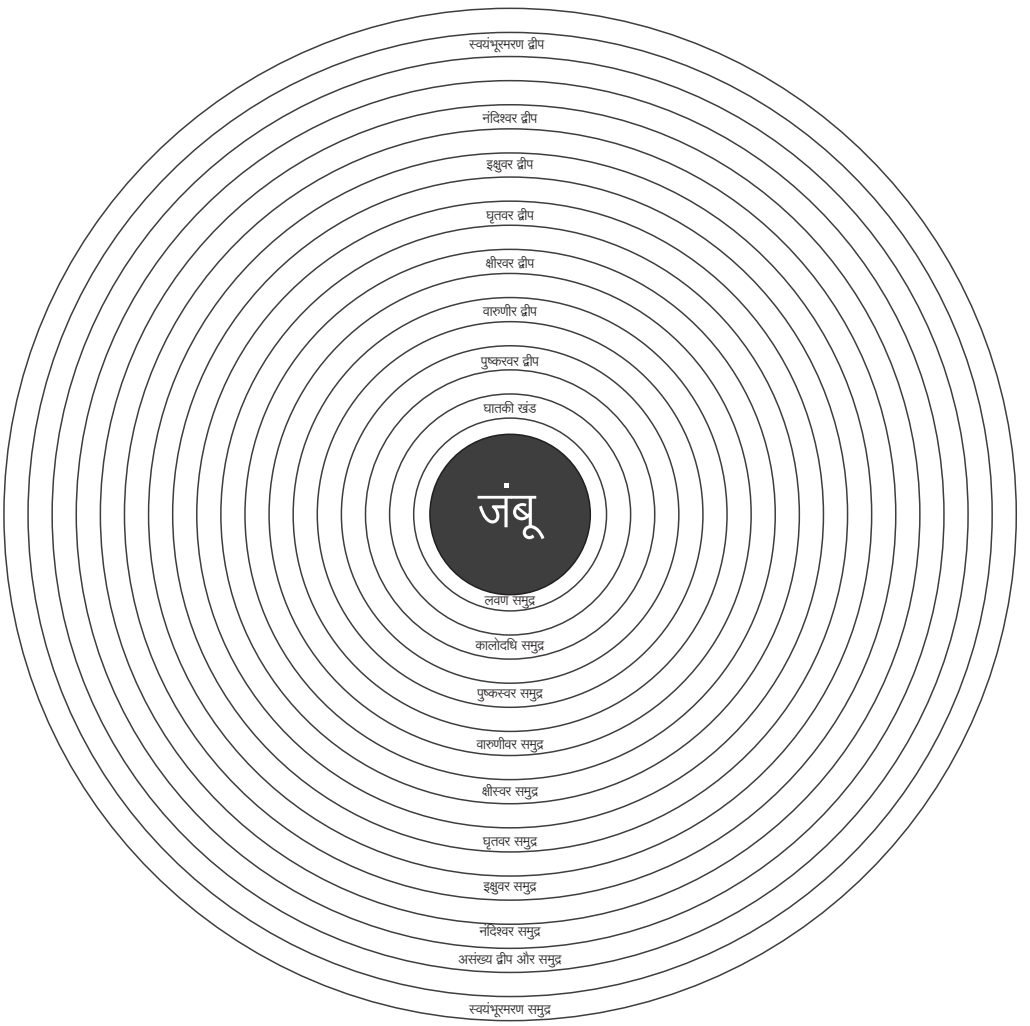

* मेरु पर्वत और गतिशील ज्योतिषचक्र *

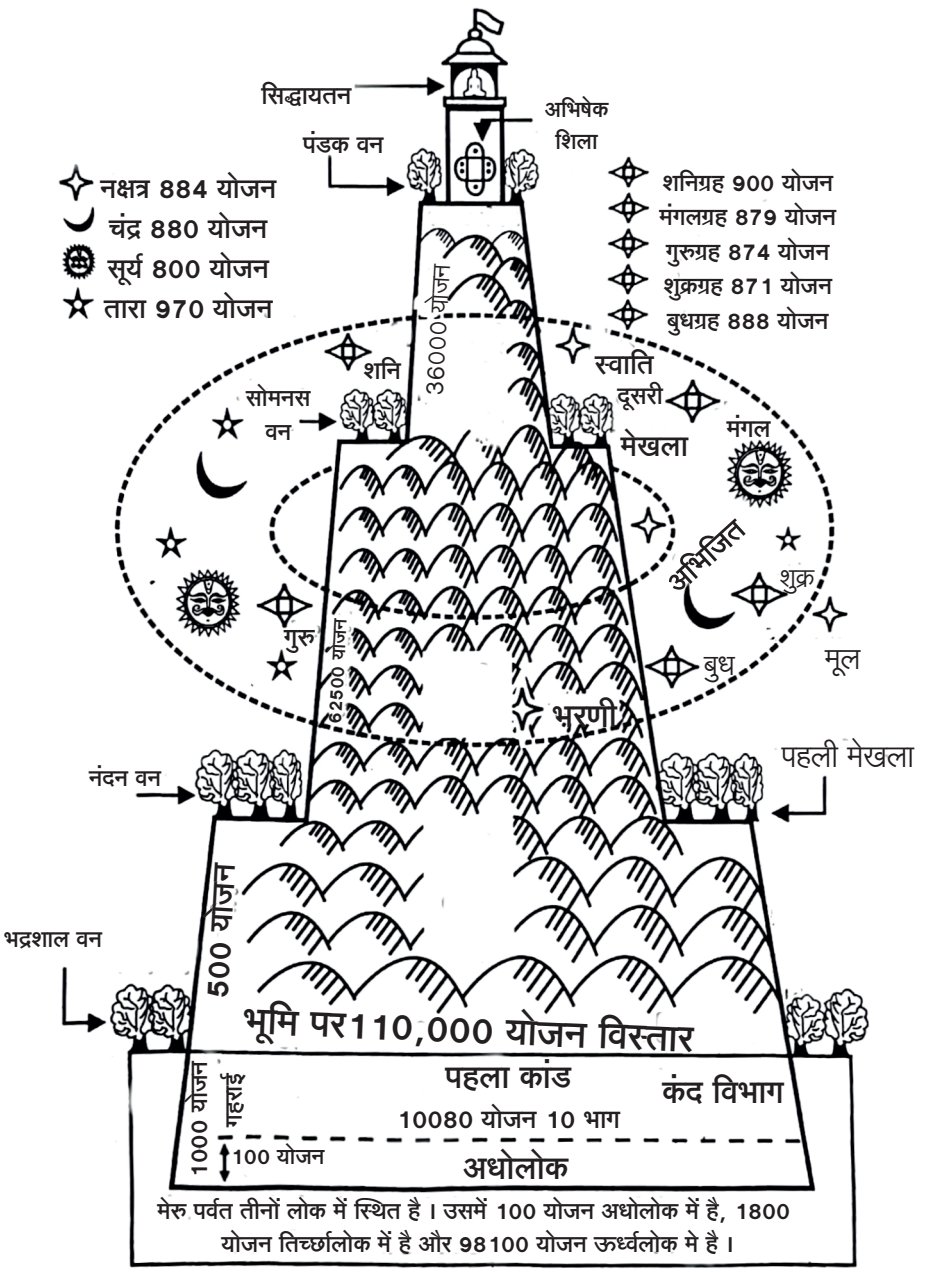

* पांडुक वन का उपरी दृश्य *

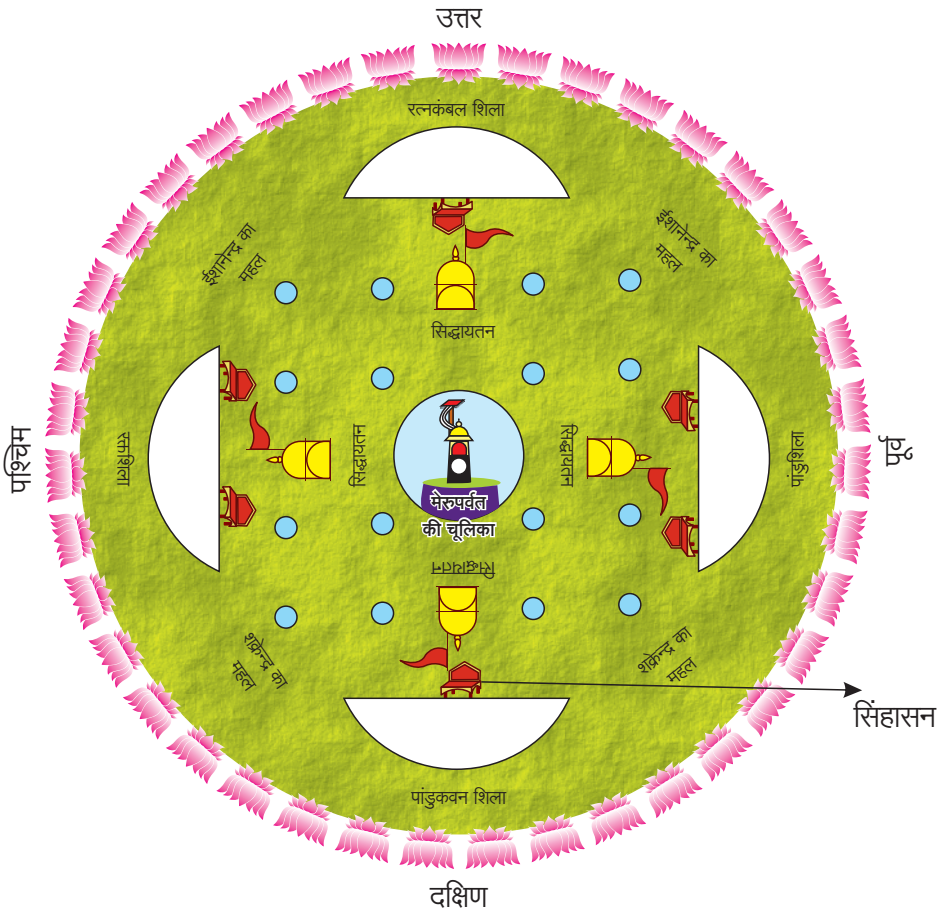

* जंबूद्वीप की जागती का उपरी दृश्य *

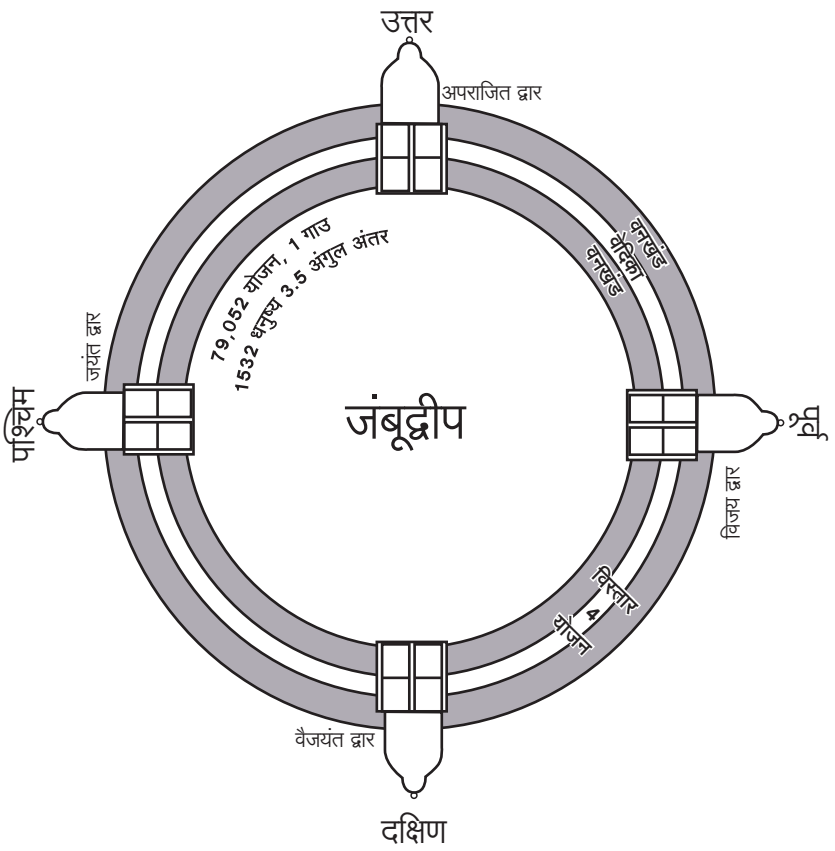

* जंबूद्वीप की जागती का ऊर्ध्व-अधो विच्छेद *

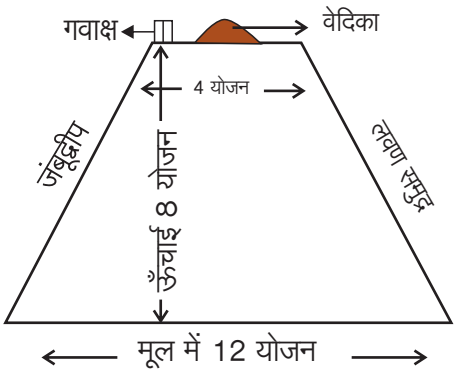

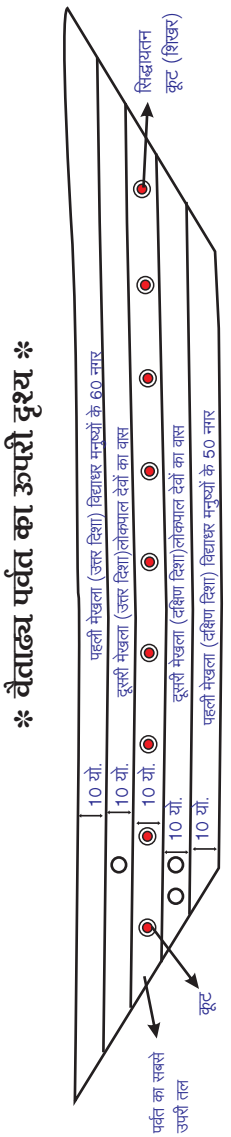
* वैताढ्य पर्वत का ऊपरी दृश्य *
10 यो.
10 यो.
10 यो.
10 यो.
10 यो.
पहली मेखला (उत्तर दिशा) विद्याधर मनुष्यों के 60 नगर
दूसरी मेखला (उत्तर दिशा)लोकपाल देवों का वास
दूसरी मेखला (दक्षिण दिशा)लोकपाल देवों का वास
पहली मेखला (दक्षिण दिशा) विद्याधर मनुष्यों के 50 नगर
सिद्धायतन कूट (शिखर)
कूट
पर्वत का सबसे ऊपरी तल

* दीर्घ वैताढ्य पर्वत *

नोट : पर्वत पूर्व-पश्चिम हजारों योजन लंबा समझना ।

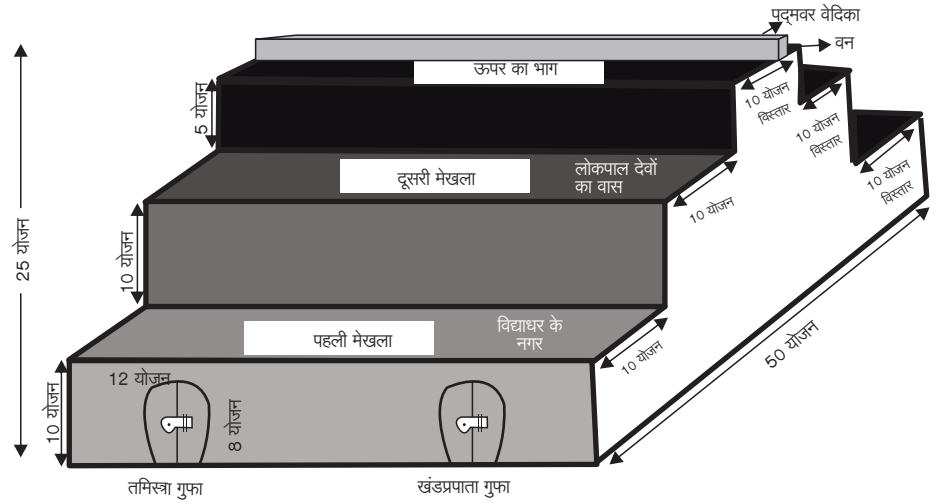

* सौधर्म देवलोक की एक प्रतर *

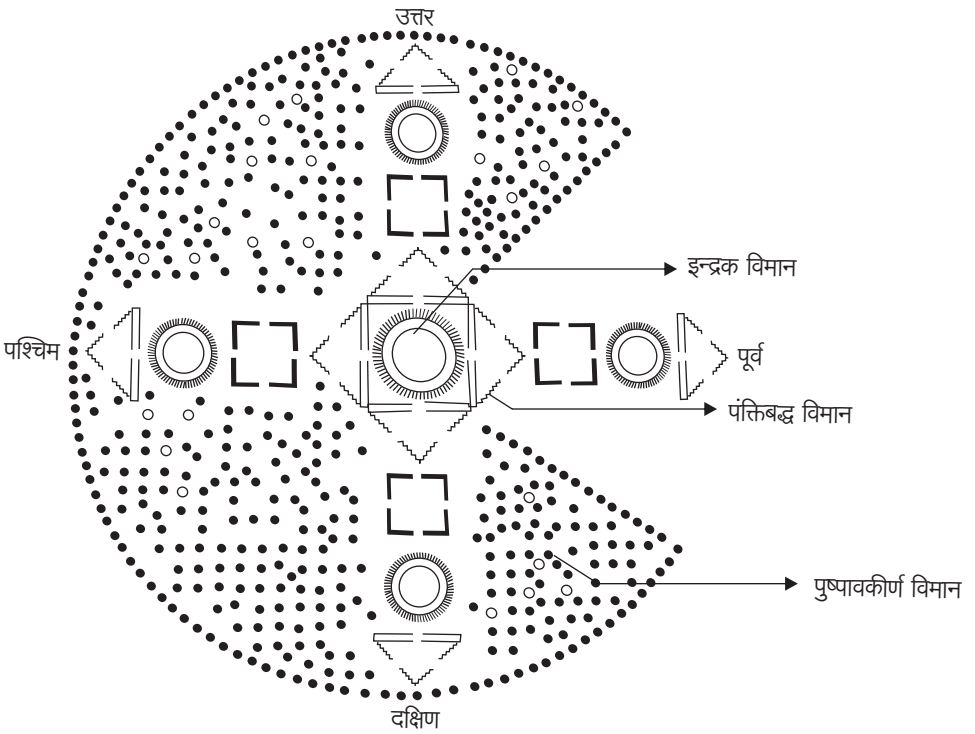

* छह संघयण*

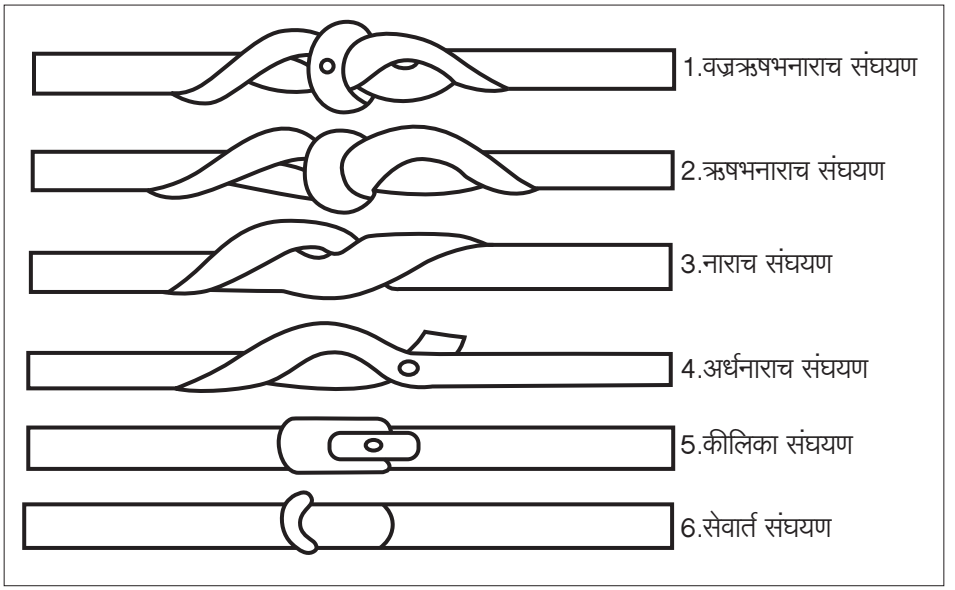

* जंबूद्वीप का भरतक्षेत्र *